निबन्ध - रत्नाकर

देखा जाता है, वह गद्य में नहीं मिलता। इसलिए किसी गद्य लेख में दो-चार पंक्तियाँ यदि नीरस हों, तो हों, परन्तु यदि अधिकांश भाग आकर्षक नहीं होगा, तो पाठक ऐसे गद्य से उकता जायेंगे और रसात्मकता के गुण की कमी से वह रचना काव्य की उत्तम कोटि में रखने योग्य न हो सकेगी। कदाचित् इसी कठिनाई को अनुभव करते हुए किसी विद्वान् ने कहा था—

गद्यं कवीनां निकषं वदंति।

अर्थात् किसी भी उत्तम काव्य-लेखक की कसौटी गद्य ही है। यदि कोई लेखक सरस गद्य लिखने में समर्थ है, तो वह सफल माना जायेगा। परन्तु गद्य के भी अनेक अंग ऐसे हैं, जिनमें रसात्मकता लाना कोई कठिन नहीं। जैसे कहानी या उपन्यास लिखना अथवा जीवन-चरित आदि। इन मे कथावस्तु का आधार रहने से लेख को सरस बनाया जा सकता है और ऐसी कहानियां, उपन्यास या जीवनियां अधिक मिल भी सकती हैं जो रसात्मकता के अनुपात से किसी भी पद्यात्मक काव्य की टक्कर ले सकती हैं। किन्तु निबन्ध गद्य का ऐसा अङ्ग है, जिसमें उक्त गुण लाना कुछ अधिक कठिन है, क्योंकि निबन्ध में कहानी-उपन्यास जैसी सुविधाएं नहीं रहतीं। परन्तु निबन्ध को सरस बनाए बिना उसे काव्य के अन्तर्गत भी तो नहीं माना जा सकता है। अतएव बिबन्ध तभी काव्य का अंग कहला सकता है, जबकि उस मे भी आनन्द प्राप्ति का गुण विद्यमान हो। इसी प्रयत्न में जो कठिनाई एक निबन्धकार को होती है, उसी का ध्यान रखकर आचार्य शुक्ल ने कहा है कि गद्य यदि कवियों की कसौटी है तो निबन्ध गद्य की कसौटी है। जो व्यक्ति सफल निबन्ध लिख सकता है, वह निःसन्देह सफल गद्य लेखक कहा जा सकता है।

गद्य लेखन एक साधना की वस्तु है जबकि कविता, कहानी आदि में विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता। गंवारू से गंवारू भाषा में भी कविता लिखी जा सकती है, परन्तु गद्य के लिए स्टैंडर्ड भाषा अपेक्षित है। यही कारण है कि जहां किसी भी देश के साहित्य में पद्य प्रारम्भ काल से ही उपलब्ध होता है, वहां गद्य के दर्शन बहुत समय पश्चात् ही होते हैं। हिन्दी साहित्य में गद्यकाल उसके जन्म के लगभग एक हजार वर्ष पश्चात् आरम्भ

हुआ। गद्य के लिए जिस भाषा की आवश्यकता है, उसके निर्माण में पर्याप्त समय लगता है, इस कारण भी निबन्ध साहित्य का अपना विशेष महत्व है। निबन्ध ही किसी अच्छे साहित्य की कसौटी मानी जाती है। जिस साहित्य मे उच्चकोटि का निबन्ध साहित्य मिलता है, निःसन्देह वह साहित्य उन्नत और गौरवशाली कहा जायेगा। अंग्रेजी या फ्रेंच साहित्य का आज जो संसार भर मे महत्त्वपूर्ण स्थान है वह उसके काव्यो, नाटको या उपन्यासों के कारण नहीं, अपितु उच्चकोटि के गम्भीर निबन्ध-साहित्य के ही कारण। हिन्दी मे अभी निबन्ध-साहित्य पूर्ण-रूप से विकसित नहीं हुआ। इसमें साहित्यिक ( आलोचनात्मक ) निबन्धों की तो बहुलता है, परन्तु वैज्ञानिक, शास्त्रीय या पारिभाषिक निबन्धों का अब भी अभाव मिलता है।

निबन्धकार का महत्त्व एक और कारण से भी स्पष्ट हो जाता है कि उसका उत्तरदायित्व और पद दोनों ही साहित्यिक क्षेत्र मे महान् हैं। साहित्य के दिशा-निर्माण में जितना हाथ निबन्धकार का होता है, उतना अन्य किसी का नहीं। यही निबन्ध लेखक होते हैं, जो कवियों, उपन्यासकारों, नाटककारों अथवा कहानी लेखकों के गुण-दोषों का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करके एक ओर जनरुचि का परिष्कार करते रहते हैं, और दूसरी ओर कलाकारो का समुचित पथ-प्रदर्शन भी। आज किसी भी साहित्य में जो बड़े-बड़े साहित्यकार हुए हैं या हैं, वे सब उन्हीं निबंधकारों की कृपा से ही बने हैं। तुलसी हो या सूर, शेक्स-पियर हो या मिल्टन, गालिब हो या हाली, प्रसाद हो या पंत-निराला-महादेवी, इन सबको यशस्वी बनाने का श्रेय आलोचक निबंध-कारों को ही है। वह साहित्यकार सौभाग्यशाली है, जिसे अच्छा निबंध-कार मिल जायें। जायसी को हिन्दी साहित्य के गगन में चढ़ाने वाले आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ही तो थे। इसी प्रकार केशव को पदच्युत करने वाले भी तो यही क्रूर (?) लेखक ही हैं। अच्छे से अच्छा कलाकार भी मामूली निबंधकार के हाथों में पड कर गुमनाम बना रहता है और साधारण कलाकार एक अच्छे निबंधकार के द्वारा असाधारण मान और ख्याति प्राप्त कर लेता है। अत. निबंधकार की पदवी साहित्य के क्षेत्र में अतुलनीय है। परन्तु पदवी

की महत्ता के साथ उत्तरदायित्व की महत्ता भी आ जाती है। निबंधकार के हाथ में असाधारण अधिकार और शक्ति है, उसे इसका सदुपयोग करने की योग्यता भी रखनी होगी, उसकी लेखनी के एक साधारण कंपन पर साहित्यकार का भाग्य निर्भर होता है और साहित्य का भविष्य आधारित रहता है, अतः निबंधकार को निबंध क्षेत्र मे बढ़ने से पहले अपने आपको योग्य बना लेना भी उतना ही आवश्यक है, अन्यथा भयानक हानि की सम्भावना बनी रहती है। अस्तु

प्रकार—निबंध का क्षेत्र व्यापक है अतः संसार की किसी भी वस्तु और विषय पर निबंध लिखे जा सकते हैं। अनेक आचार्यों ने निबंध के अनेक भेद माने हैं। एक विद्वान् के मतानुसार निबंध चार प्रकार के होते हैं—(१) भावात्मक, (२) विचारात्मक (३) वर्णनात्मक (४) विवरणात्मक।

१. भावनात्मक निबन्ध—जिन निबंधों मे लेखक किसी विषय विशेष का विवेचन न कर उसका भावपूर्ण चित्र खींच देते हैं, अपनी रंगीन कल्पनाओं के इंद्रधनुषी रंगो से उसे रंगीन बना देते हैं, उन्हें भावात्मक निबंध कहते हैं। ऐसे निबंध लिखने के लिए कवित्वमय व्यक्तित्व की आवश्यकता पड़ती है। भावुक हृदय की सरस अनुभूतियां ही साकार बन कर 'भावात्मक निबंध' कहलाती है। लेखक किसी विषय का साधारण रीति से वर्णन न करके रूपक आदि की सहायता से उस की आलंकारिक व्याख्या कर देता है। आशा, चिन्ता आदि पर मानवीकरण के द्वारा लिखे हुए निबंध इसी कोटि में आते हैं। आशा और चिन्ता जैसे अमूर्त भावो को मूर्त नारी का रूप देकर उसका जीता-जागता चित्र देना ही लेखक को अभीष्ट रहता है।

२. विचारात्मक निबन्ध—ऐसे निबंध जिनमें किसी विषय का प्रतिपादन, विवेचन, निरूपण, विश्लेषण आदि बौद्धिक दृष्टि से किया जाय, विचारात्मक कहलाते हैं। इन निबंधों में आलोचक का मस्तिष्क चाहिये, कवि का हृदय नहीं। विचारात्मक निबंधों में अनुभूति के स्थान पर चिन्तन रहता है। यद्यपि भावात्मक निबंधों में भावों के साथ-साथ विचार भी रहते हैं तथा विचारात्मक निबंधों में विचारों

के साथ भाव भी, किन्तु एक की प्रधानता से ही किसी को विचारात्मक और दूसरे को भावात्मक कहा जाता है। विचारात्मक निबंधों का क्षेत्र बड़ा विस्तृत रहता है। जैसे भावात्मक निबंधो के लिए कवि के सामने भौतिक और मानवीय दोनो प्रकार की प्रकृति सामग्री जुटाती है, उसी प्रकार विचारात्मक निबंधो की सामग्री राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, आर्थिक स्थितियों और समस्याओं से ग्रहण की जाती है। लेखक किसी एक विषय, सिद्धान्त या समस्या का सर्वांगीण मनन करके उसका यथोचित रीति से विश्लेषण करता है।

ये निबंध दो प्रकार के होते हैं–(१) निरूपणात्मक, (२) आलोचनात्मक। निरूपणात्मक निबंधों मे किसी विषय या समस्या का सिद्धांत रूप से प्रतिपादन किया जाता है। ऐसे निबंधों में विषयगत शैली रहती है। लेखक का ध्यान उसके पक्ष-विपक्ष पर न जाकर केवल उस विषय को स्वयं समझ कर दूसरों को समझाने पर ही रहता है। उसके बारे में ईमानदारी से यथापेक्षित जानकारी करा देना, विश्लेषणात्मक ढंग से उसके सभी अंगों पर प्रकाश डालना, तथा उसका विकास, इतिहास आदि क्रम बता देना ही उसमे अभीष्ट रहता है। किन्तु आलोचनात्मक निबंधों में उस विषय के पक्ष-विपक्ष को स्थापित करना, उस पर आलोचक की दृष्टि से विचार करना, युक्तियों और तर्क के द्वारा उसका मूल्यांकन करना, उसके गुण-दोष, हानि-लाभ आदि दिखाना, निदान उस विषय का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करके देश-काल के अनुरूप उसका स्वरूप प्रदर्शित करना ही आलोच्य निबंध का प्रधान गुण रहता है। अर्थशास्त्र क्या है, विकासवाद क्या है, छायावाद या रहस्यवाद किसे कहते हैं, इन विषयों पर तात्त्विक चिंतन तथा विषयगत प्रकाश डाल देना मात्र निरूपणात्मक निबंधकार का काम होता है। किंतु उस के स्वरूप के साथ-साथ उसके विषय में उठने वाले आक्षेपों का भी विवेचन करके उसके पक्ष-विपक्ष का सम्यक् रीति से प्रतिपादन कर उसके अंगों का विश्लेषणात्मक ढंग से परिशीलन करना आलोचनात्मक निबंधों की विशेषता रहती है।

आलोचनात्मक निबंध भी २ प्रकार के होते हैं—(१) तुलनात्मक, (२)

निर्णयात्मक। आलोचना के लिए दो विषयों का तुलनात्मक अध्ययन भी बड़ा आवश्यक होता है। छायावाद को स्पष्ट करने के लिए रहस्यवाद या प्रगतिवाद से उसका अन्तर भी व्यक्त करना पड़ता है। इसी प्रकार किसी भी सिद्धांत का परिचय देते हुए उसके विरोधी सिद्धांत का भी प्रतिपादन कर उन दोनों की तुलना भी की जाती है। परन्तु तुलनात्मक निबन्धो में लेखक का ध्यान केवल दो समान या भिन्न विशेषताएँ रखने वाले विषयों की विशेषताएँ प्रदर्शित करने पर ही रहना चाहिये। उन दोनो में स्वयं लेखक किस को अच्छा या बुरा समझता है, इस बात को स्पष्ट करने का यत्न नहीं करना चाहिये। अन्यथा वह निबंध 'तुलनात्मक' न होकर 'निर्णयात्मक' बन जायेगा। छायावाद-रहस्यवाद या छायावाद-प्रगतिवाद निबंधो में दोनो वादो की विशेषताएँ बता देना तुलनात्मक निबंधकार का काम है। किंतु छायावाद या प्रगतिवाद में से किसी को अच्छा या बुरा सिद्ध कर देना 'निर्णयात्मक आलोचना' का विषय है। 'सूर-सूर तुलसी ससी' में यदि निबंधकार दोनों की विशेषताएँ मात्र दिखा देता है, तो उस अंश तक यह निबंध तुलनात्मक ही कहा जाएगा, परन्तु उक्त पंक्ति को सिद्ध कर देना या इस के विपरीत भी तुलसी को सूर्य और सूरदास को चन्द्र बना देना भी 'निर्णयात्मक' निबंध का विषय हो जायेगा।

३. वर्णनात्मक—वर्णनात्मक निबंधों में किसी वस्तु का धारात्मक शैली से वर्णन किया जाता है। ऐसे निबंधों में, निर्धनता, अमीरी, रुपया, ताजमहल, काश्मीर की घाटी, गंगा के तीर्थ, संध्या समय, बाजार का दृश्य आदि होते हैं। वर्णनात्मक निबंधों की विशेषताएँ भावात्मक निबंधों जैसी होती हैं। इन निबंधों में भी अतिरंजित शैली तथा कल्पनाप्रधान पद्धति का आश्रय लिया जाता है। कवित्वमय भावनाओं के साथ अलङ्कारों की छटा भी उल्लेखनीय है। अतः कुछ विद्वानों की सम्मति में वर्णनात्मक और भावात्मक निबंधों को एक ही कोटि में रख लेना उचित है। भावात्मक निबंध भी एक प्रकार के वर्णनात्मक निबंध ही होते हैं अतः वे विद्वान् निबंधों के केवल तीन प्रकार ही मानते हैं—(१) वर्णनात्मक, (२) विचारात्मक, (३) विवरणात्मक।

४. विवरणात्मक—निबंधों का एक प्रकार विवरणात्मक भी होता है। ऐसे

निबंधो मे किसी पर्वतीय यात्रा अथवा रेल आदि का सफ़र एक विवरण के रूप मे उपस्थित किया जाता है। लेखक का ध्यान आलङ्कारिकता या कविकल्पना की ओर अधिक न जाकर विषय की ओर ही रहता है। शिकार सम्बन्धी अनेक निबंध इसी कोटि में आते हैं। परन्तु अनेक आचार्य विवरणात्मक और वर्णनात्मक निबंधों का भेद भी नही मानते। उन के मतानुसार दोनो प्रकार के निबंधों मे थोड़ी-बहुत समान विशेषताएँ पाई जाती हैं। अतः ऐसे आचार्यों की दृष्टि में निबंध केवल दो ही प्रकार के माने जाते हैं (१)—भावात्मक, जिसमे वर्णनात्मक और विवरणात्मक सभी प्रकार के निबन्ध सम्मिलित हैं और (२) दूसरे विचारात्मक।

तालिका
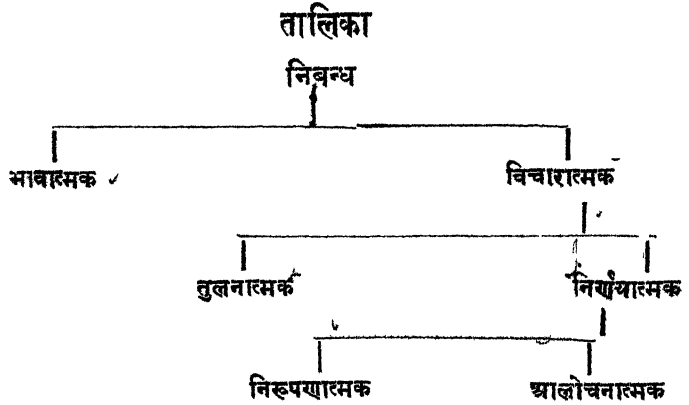
## हिन्दी निबन्ध का विकास

हिन्दी में निबंध साहित्य का अभी पूर्ण रूप से विकास नहीं हुआ। केवल साहित्यिक निबंधों की भरमार तो है, परन्तु हिन्दी में पारिभाषिक और वैज्ञानिक निबंधो की ओर अभी तक उचित ध्यान नहीं दिया गया। हिन्दी के राष्ट्रभाषा बन जाने पर यह काम और भी आवश्यक हो गया है। स्वतन्त्र भारत में हिन्दी को शिक्षा का माध्यम स्वीकार किया जा चुका है, अतः उसमें सर्वतोमुखी विकास योजना की आवश्यकता है। हर्ष का विषय है कि अब इस अभाव की पूर्ति का प्रयत्न होने लगा है। हमें आशा रखनी चाहिए कि शीघ्र

ही हिन्दी भी अंग्रेजी और फ्रेंच भाषा के समान उच्च कोटि के निबंध साहित्य से सम्पन्न हो जायेगी ।

हिंदी मे निबंध का विकास आधुनिक काल से ही माना जाता है। गद्य के विकास मे ही निबंध का विकास छिपा है। भारतेन्दु युग से पूर्व हिंदी गद्य की जो रूपरेखा विद्यमान थी, उसकी प्रगति धीरे-धीरे होने लगी। आधुनिक काल से पूर्व तो गद्य नाम मात्र का ही था। सैंकड़ो वर्षों तक हिन्दी में पद्य-काव्य का तो विकास होता रहा, किन्तु गद्य की ओर किसी ने भी ध्यान न दिया। मुद्रणालय का अभाव भी इस दिशा मे एक कारण कहा जा सकता है। जो हो आधुनिक काल मे अंग्रेजी के सम्पर्क, वैज्ञानिक आविष्कारों की सहायता तथा परिस्थितियो की मांग से हिन्दी मे भी गद्य को अपनाया जाने लगा। द्यगके अन्य अंगों के साथ-साथ निबंध की भी प्रगति स्वाभाविक थी। अत भारतेन्दु युग से निबंध का प्रथम रूप दिखाई देता है।

भारतेन्दु युग में अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रचलन हुआ था, जिनमें साहित्यिक निबंधो के लिखने का प्रचार होता रहा। इस युग मे आनन्द-कादंबिनी, हिन्दी प्रदीप, ब्राह्मण, भारतेन्दु मेगजीन, कवि वचन सुधा, पत्रिकाएं मुख्य थी, जिनमें बद्रीनारायण चौधरी, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे हिन्दी प्रेमियों के उत्साह से हिन्दी निबंध साहित्य का भी श्री गणेश हो गया। इस युग के श्रेष्ठ निबंधकारो में भट्ट जी और मिश्र जी के नाम उल्लेखनीय हैं। मिश्र जी की शैली में विनोद और व्यंग्य की मात्रा अधिक रहती थी। भट्ट जी आलंकारिक शैली को पसन्द करते थे। उस युग के निबंधों मे यद्यपि उतनी गंभीरता और विचारशीलता नहीं मिलती, जितनी आगे के निबंधों में दृष्टिगोचर होती है, तथापि निबंध साहित्य के शैशवकाल में इन दो महान् साहित्यकारो का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आचार्य शुक्ल ने इन दोनों निबंधकारों की तुलना अंग्रेजी के श्रेष्ठ निबंध-लेखकों से की है। भट्टजी की 'भट्टनिबंधावली' इस विषय की आदर्श पुस्तक कही जा सकती है।

भारतेन्दु युग मे विचार प्रतिपादन या विवेचन की अपेक्षा आलंकारिकता का चमत्कार ही अधिक प्रिय रहा। लच्छेदार भाषा और नृत्य करते शब्दों में

कल्पनाप्रधान निबन्ध ही अधिक लिखे गए। किन्तु द्विवेदी युग मे निबंध साहित्य का दूसरा युग आरम्भ हुआ। इस युग मे आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के प्रभुत्व मे भाषा के संस्कार का जो महत्वपूर्ण कार्य आरम्भ हुआ उससे निबंध साहित्य मे कुछ निखार आया। भाषा की शुद्धता के साथ-साथ विचारात्मकता भी आने लगी। स्वयं द्विवेदी जी के सम्पादन मे 'सरस्वती' पत्रिका ने इस दिशा में बडा काम किया। द्विवेदीजी ने हिन्दी जगत् को विदेशी निबंध लेखनशैली का परिचय कराने के लिए 'बेकन विचार रत्नावली' का प्रकाशन किया। भाषा की दृष्टि से निबंधो में सरलता का गुण उल्लेखनीय है। कठिन से कठिन विषयो को भी सरल से सरल रूप से अभिव्यक्त करने की कला द्विवेदी जी में प्रशंसनीय और अनुसरणीय थी। विदेशी भाषाओ के भी हिन्दी में प्रचलित शब्दो का उपयोग द्विवेदीजी ने किया और कराया।

द्विवेदी जी के अतिरिक्त पद्मसिह शर्मा, मिश्रबन्धु, श्यामसुन्दरदास, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, अयोध्यासिह उपाध्याय 'हरिऔध' आदि के नाम भी उल्लेखनीय है। अध्यापक पूर्णसिंह के भावात्मक निबन्धों का भी विशेष स्थान है। पूर्णसिह की शैली अत्यन्त हृदयस्पर्शी है। उन्होंने संख्या में थोड़े निबन्ध लिख कर भी जो गौरवपूर्ण स्थान पाया उससे यह सिद्ध है कि 'कितना लिखा' यह प्रश्न चिंतनीय नहीं, 'कैसा लिखा' यह प्रश्न ही विशेष है। द्विवेदीयुग के निबन्धकारों के निबन्ध अधिकतर विचारात्मक ही कहे जायेंगे। यद्यपि पद्मसिंह शर्मा के निबन्धों मे भावात्मकता की झलक भी दिखाई देती है।

हिन्दी निबन्ध का वास्तविक विकास आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा ही हुआ। आचार्य शुक्ल की शैली व्याख्यात्मक, गम्भीर और व्यंग्यपूर्ण है। 'चिन्तामणि' मे शुक्ल जी के उच्च कोटि के विचारात्मक निबन्धो का संग्रह है। क्रोध, प्रेम, लज्जा, ग्लानि जैसे सूक्ष्म मनोभावात्मक निबन्ध लिखकर शुक्ल जी ने एक महान् आदर्श की स्थापना की है। भाषा की प्रांजलता, विषय की सूक्ष्मता, अभिव्यक्ति की स्पष्टता और शैली की व्यंग्यपूर्णता उनके निबन्धों की प्रमुख विशेषताएँ हैं। उनके अतिरिक्त हिन्दी के सर्वतोमुखी प्रतिभासम्पन्न कलाकार जयशंकरप्रसाद भी कुशल कवि, नाटककार, कहानी-

लेखक होने के साथ-साथ सफल निबन्धकार भी थे। 'काव्य और कला' नामक पुस्तक मे प्रसाद जी के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचारात्मक निबन्धो का संग्रह है।

आधुनिक निबन्धकारो में गुलाबराय ने भावात्मक और विचारात्मक दोनो प्रकार के निबन्ध लिखे हैं। वियोगी हरि के भावात्मक तथा हजारी-प्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र, नन्ददुलारे वाजपेयी, सत्येन्द्र, प्रभाकर माचवे, जैनेन्द्र, हरिभाऊ उपाध्याय आदि के विचारात्मक निबन्ध भी कुछ पुस्तकाकार में तथा कुछ फुटकर रूप से पत्र-पत्रिकाओ में प्रकाशित हो चुके हैं। शान्तिप्रिय द्विवेदी के निबन्धो में रसात्मकता का गुण प्रधान विशेषता रखता है।

## निबंध लिखने की विधि

लेखन शैली—निबन्ध लिखने के अनेक उपाय भिन्न-भिन्न निबन्धो की पुस्तकों में दिए गए हैं। प्रायः प्रत्येक निबन्ध-पुस्तक की भूमिका में इस विषय की लम्बी-चौड़ी चर्चा की जाती है। किन्तु अभी तक निबन्ध लिखने का कोई भी उचित, सरल, मनोवैज्ञानिक मार्ग निश्चित नहीं हो सका। क्योंकि आज तक भी विद्यार्थियो के इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर नहीं मिल सका। उनकी भीषण कठिनाई का निश्चित समाधान नहीं हुआ। उनके हृदय में अब भी आशंका विद्यमान है। उनका मस्तिष्क आज भी संदेह से भरा है। यदि उनके सामने केवल एक सुनिश्चित और प्रामाणिक मार्ग खोल दिया जाये तो उनको रोज़-रोज़ की चिंता से छुटकारा मिल जाये। निबन्ध प्रायः सभी परीक्षाओं में पूछे जाते हैं। छोटी से छोटी और बड़ी से बडी सभी कक्षाओं में १५ नं० से १०० नं० तक के निबन्ध परीक्षाओ में आते हैं। इसलिए उन अबोध बालक-बालिकाओं की चिंता स्वाभाविक है। यही नहीं, निबन्ध के लिखने से जो लेखनकला विद्यार्थी को आ जाती है, उसकी सहायता से वह किसी भी विषय के जटिल से जटिल प्रश्न का भी समुचित उत्तर समुचित शैली से देकर समुचित अंक प्राप्त कर लेता है। गणित आदि कुछ विषयों को छोड़ कर कला सम्बन्धी किसी भी विषय को लीजिये, लेखन कला की सर्वप्रथम आवश्यकता होती है। एक सुयोग्य विद्यार्थी भी लेखन कला की त्रुटि के कारण परीक्षा मे सफलता प्राप्त नहीं कर पाता

और दूसरा वह विद्यार्थी, जिसने पूर्ण रीति से पुस्तकों का पाठ तक भी नहीं किया, अपनी लेखनकला की कुशलता के कारण अपनी प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के सहारे थोड़ी सामग्री को भी इस रीति से सजा बढाकर प्रस्तुत करता है कि पास होने योग्य ही नहीं, प्रथम श्रेणी ( First division ) को प्राप्त करने योग्य अंक प्राप्त कर लेता है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि जो विद्यार्थी निबन्ध अच्छी प्रकार से लिख सकता है उसे अन्य पत्रों में भी विशेष कठिनाई नहीं हो सकती।

भारी उलझन—निबन्ध लिखने के सीधे-सादे उपाय को यहां समझाया जाता है। यदि विद्यार्थी एक बार भी उसका ठीक रूप से मनन, स्मरण और फिर आचरण करले, तो अभ्यास के द्वारा उसे लेखन कला पर पूर्ण अधिकार होते देर नहीं लगेगी। यद्यपि प्रायः सभी लेखक निबन्ध लिखने के लिये तीन बातों का वर्णन किया करते है कि सर्वप्रथम भूमिका होनी चाहिये, जिससे विषय का प्रवेश हो, फिर उस विषय का विस्तार होना चाहिये। अनेक उदाहरण तथा युक्तियां देकर उस विषय की पुष्टि करनी चाहिये तथा फिर उस निबन्ध का सुन्दर अन्त कर देना चाहिये। ये सब बातें प्रत्येक लेखक लिखता है, प्रत्येक अध्यापक समझाता है, प्रत्येक पाठक पढ़ता और प्रत्येक विद्यार्थी सुनता है। किन्तु फिर भी उसे निबन्ध लिखना नहीं आता। वह यह नहीं जान पाता कि भूमिका मे क्या लिखे और कैसे लिखे ? आरम्भ किस प्रकार करे। बस इस स्थान पर वह ज्यों अटकता है, बस अटक के ही रह जाता है। पहले आरम्भ करें, तो कैसे, एक बार आरम्भ हो जाए, फिर तो कुछ न कुछ लिखा ही जाता है, पर आरम्भ कैसे करें। यह समस्या, यह उलझन, यह प्रश्न, यह कठिनाई उसको आज भी बनी हुई है। तभी तो विद्यार्थी परीक्षा में पास होने के लिये चार-पांच या दस-बीस निबन्ध रट लेते है। यदि उनमें से कोई निबन्ध प्रश्न पत्र में आगया, फिर तो कहना ही क्या अन्यथा सिर पकड़ कर बैठ जाते हैं। फिर रटे हुए का भी क्या भरोसा, एक पंक्ति भूली नहीं कि सारा निबन्ध चौपट। अतः इस उलझन को कैसे सुलझाया जाये, इसी का एक सरल उपाय नीचे दिया जाता है. यदि उस उपाय को समझ लिया गया और दो-चार बार अभ्यास करके उसी रीति पर कुछ

निबन्ध लिख डाले तो फिर सदा-सदा के लिये निश्चिन्तता आ जायेगी। फिर यह आवश्यक नही कि आपकी परीक्षा मे लिखे, सुने या पढे हुए निबन्ध ही आएँ तो आप लिख सकेगे अन्यथा नहीं। नहीं, यह बात न होगी। नीचे दिए गए मार्ग पर चलकर इतना साहस और इतनी आशा स्वयं आप को हो जायेगी कि निबन्ध कितना कठिन और कैसा भी क्यों न हो, उसे निम्न रीति के सहारे सफलता पूर्वक आप लिख लेंगे।

आरम्भ—प्राय. देखा जाता है कि सभी पुस्तकों में निबन्ध का आरम्भ विषय के नाम से ही किया जाता है। जिस विषय का निबन्ध हो उसी के नाम से ही उसका आरम्भ होता है। उदाहरणार्थ 'महात्मा गांधी' पर निबन्ध है तो लिखा होगा—'महात्मा गांधी का जन्म २ अक्तूबर १८६९ को पोरबन्दर मे हुआ। उनके पिता का नाम कर्मचन्द गांधी था। वह एक रियासत के दीवान थे। गांधी जी ने अमुक संवत् में मैट्रिक परीक्षा पास की। अमुक संवत् मे वह विलायत गए। अमुक संवत् में उन्होने बैरिस्टरी की डिग्री ली। अमुक संवत् मे वह भारत लौटे। अमुक संवत् मे दक्षिणी अफ्रीका गए। अमुक संवत् में सत्याग्रह आन्दोलन छेड़ा, फिर अमुक संवत् में वे भारत लौटे, अमुक-अमुक संवतों में डांडो मार्च, साबरमती आश्रम या 'भारत छोड़ो' की घोषणा की। इतनी बार जेल गए। इतनी बार मरणव्रत रखे और फिर ३० जनवरी १९४८ को गोडसे की गोली से वे चल बसे।' बस निबन्ध समाप्त हो गया। किन्तु क्या यह निबन्ध कहा जायेगा? यह इतिहास है या साहित्य? यह जीवनी है या निबन्ध? इतिहास के संवतो की रट लगाने तथा केवल जीवन घटनाओं को गिना देने को तो 'निबन्ध' लिखना नहीं कहते। निबन्ध साहित्य का अंग है, जब तक साहित्य का मूल लक्षण 'रसात्मकता' निबन्ध मे नहीं होगी, उस निबन्ध को साहित्य की कोटि में कैसे रखा जा सकेगा? इसलिये प्रयत्न ऐसा करना चाहिये कि निबन्ध की सरसता के साथ-साथ उसकी साहित्यिकता भी स्थिर रहे। उसके लिये भूमिका विषय के नाम से नही एक भिन्न रूप से आरम्भ करनी चाहिये।

भूमिका—साहित्य का एक सर्वसम्मत लक्षण यह किया गया है कि 'वह रचना जिसे पढ़कर ( या देख कर ) मन आनन्द का अनुभव करे और जिसमे

मानवजीवन की सरस व्याख्या की गई हो, साहित्य कहलाता है ।' इस लक्षण से स्पष्ट है कि साहित्य में सरसता का होना आवश्यक है । एक शुष्क रचना या सूखे उपदेश को हम कदापि साहित्य नहीं मान सकते । यही कारण है कि विज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र, गणित आदि नीरस विषयों को साहित्य के अन्तर्गत नहीं माना जाता । यदि उक्त विषयों मे आनन्द मिलता भी है तो वह आनन्द हृदयगत न हो कर बुद्धिगत (Intellectual Pleasure) होता है । साहित्य का मनोरंजक होना अनिवार्य है, अतः यदि निबंध साहित्य का अंग है, तो निबन्ध मे भी मनोरञ्जकता का गुण होना चाहिये । परन्तु अब प्रश्न यह है कि यह मनोरञ्जकता या सरसता निबन्ध मे कैसे लाई जाए । यद्यपि साधारण छात्र-छात्राओं के लिये यह अभी सम्भव नही कि वे ऐसे सरस निबन्ध लिखने लग जायें कि जिनको एक बार पढ़कर भी दुबारा पढने की इच्छा मन में जागती रहे अथवा जब तक आदि से अन्त तक उस निबन्ध को पढ़ न लिया जाए, पाठक का मन अशांत रहे, अतृप्त रहे । किन्तु प्रत्येक छात्र को ऐसे उच्चकोटि के उत्कृष्ट साहित्यिक निबन्ध लिखने की चेष्टा तो अवश्य करते रहना चाहिए । ऐसे सरस निबन्ध लिखने में प्रयत्नशील तो सदा रहना चाहिए । एक दिन उनको अपनी साधना मे सफलता भी मिल जायेगी ।

अतः समस्या यह है कि निबन्ध में सरसता कैसे लाई जाय । निबन्ध को सरस बनाने के लिये सबसे पहले जिसकी आवश्यकता है, वह है उत्सुकता । संसार मे यह उत्सुकता ही मनोरञ्जन का सब से बडा साधन मानी जाती है । जितने समय तक मन मे उत्सुकता रहेगी, मन का रंजन होता चला जायेगा । ज्यो ही उत्सुकता टूटी कि उल्लास और आनन्द का महल भी धड़ाम से नीचे आ गिरा । आप किसी नाटक या फिल्म को देख रहे हैं । जब तक आप के मन में यह उत्सुकता बनी रहती है कि अब आगे कहानी का मोड़ कहाँ पर होगा ? नायक के प्रयत्नों में सफलता कब और कैसे मिलेगी ? मिलेगी भी या उसे निराश होना पड़ेगा ? प्रियतम और प्रियतमा का मिलन कब होगा ? आदि-आदि विचार जब तक आप के भीतर उठते रहेंगे, आप की उत्सुकता भी बनी रहेगी और उसी उत्सुकता के फल-स्वरूप आप अमन्द आनन्द की उपलब्धि भी कर रहे होंगे । किन्तु ज्यो ही

किसी साथ बैठे हुए अधीर व्यक्ति ने ( जिसने पहले भी वह फिल्म या नाटक देखा हुआ था ) सारा भेद कह डाला और आप को बता दिया कि वह नायक या नायिका तो मर जायेगी, इस कहानी का अन्त ऐसा हो जाएगा, तभी आप के मन मे सारी उत्सुकता मिटा कर वह आप के मनोरंजन का भी घातक बन जायेगा। अतः सरसता के लिए उत्सुकता का होना बडा आवश्यक है और यह उत्सुकता भी तभी तक बनी रहती है, जब तक कि वास्तविक बात आप से अज्ञात रहे। यदि वस्तु पर्दे में है, तो उसके बारे मे उत्सुकता जागेगी, और जब तक वह वस्तु पर्दे मे है, अज्ञात है, उत्सुकता बनी रहेगी और फलस्वरूप आनन्द भी आता रहेगा। एक उदाहरण और लीजिए।

आप रात्रि श्रेणी मे पढ़ रहे हैं। रात्रि के ८ बजे है, अध्यापक आप को पढ़ा रहा है, आप भी एकाग्र मन हो कर पढ रहे हैं। इतने में एक चपरासी आकर आप से कहता है कि 'बाहर आप को कोई युवति बुला रही है।' बस फिर तो कहना ही क्या। आप के मन मे एक प्रकार की हल-चल, उथल-पुथल सी मच उठेगी, एक तूफान सा पैदा हो जाएगा। एक हल्की गुदगुदी सी होने लगेगी। कौन युवति है? मुझसे क्यो मिलना चाहती है? इस समय? इस स्थान पर? क्या बात होगी? मेरी परिचित भी है या नहीं? न जाने आप कितने विचारो में डूब-डूब जायेंगे और उस डूबने में भी एक तरह का आप को मज़ा आ रहा होगा। आप की उत्सुकता तीव्र हो जायेगी, उस लडकी को देखने के लिये, उससे मिलने और उस का परिचय पाने के लिए। भले ही वह लडकी बाद में आप की प्यारी बहन ही निकले।

अब जरा सोचिए, यदि चपरासी आप से आकर इतना कह देता है कि आपकी बहन बुला रही है, तो आप के मन में उत्सुकता कदापि जागृत न होती और न ही आप को आनन्द का अनुभव होता। उत्सुकता तभी उत्पन्न हुई, जब कि आप को वास्तविक स्थिति का परिचय न था। इससे मालूम होता है कि उत्सुकता से ही मनोरञ्जन होता है और वह उत्सुकता प्राप्त होती है असली बात को छुपा देने से, उसे पूर्णतया स्पष्ट न करने से। यदि बात जाहिर हो जाए तो सारा मज़ा जाता रहा। यही है वह सत्य और

मनोवैज्ञानिक उपाय कि असली बात को छुपाने से उत्सुकता जागती है, उत्सुकता जागने से आनन्द मिलता है और आनन्द देने वाली वस्तु को ही साहित्य कहते हैं।

आधुनिक प्रायः सभी लेखक विषय के नाम से ही निबन्ध का आरम्भ करते है, जिससे उत्सुकता का एक दम नाश हो जाने से पाठक को आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। यह पद्धति रस की विरोधी है।

इसलिए यदि निबन्ध को सरस और मनोरंजक बनाना है, तो आरम्भ से पाठक के मन मे उत्सुकता उत्पन्न करे और यदि उत्सुकता उत्पन्न करनी है, तो निबन्ध के असली विषय (subject) का पहले नाम मत लो। क्योंकि उसका पहले नाम बता देने से उत्सुकता मिट जायेगी। विषय को उपस्थित करने अथवा उसको उतारने के लिए पहले भूमि या भूमिका बनानी चाहिए। बिना भूमि या भूमिका के यदि विषय उतारा जायेगा तो वह गिर जायेगा। जब कभी पंडित नेहरू का भाषण होता है, सब से पहले कितने दिनो तक तो उसका प्रचार किया जाता है। बड़े-बड़े विज्ञापन छापे जाते हैं। जिस दिन भाषण होना होता है पहले झाडू से भूमि साफ़ की जाती है। फिर पण्डाल बनाया और सजाया जाता है। चारो ओर दूर-दूर तकल ाउड-स्पीकर लगा दिये जाते हैं, जिनके द्वारा लाखो श्रोतागणों को जल्सा सुनने के लिए उत्सुक किया जाता है। झंडे और झडियो की कतारें सजा कर चारों ओर जगमगाते हुए बिजली के बल्ब शोभा को चार चॉद लगा देते हैं। चारों ओर मनुष्यों का सागर लहराता हुआ पण्डित जी के आने की प्रतीक्षा मे उत्सुक हो जय-जयकार की तुमुल ध्वनि कर रहा होता है। इतने में समाचार सुनाया जाता है कि पण्डित जी आ गए, बस दर्शकगण दर्शन के लिए व्याकुल हो जाते है। फिर सूचना मिलती है—पण्डित जी पंडाल की ओर आ रहे हैं......उत्सुकता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है...... पंडित जी पंडाल के मंडप पर चढ़ रहे हैं......जनता प्रेम और हर्ष से दीवानी हो उठती है और जब पण्डित जी सचमुच स्टेज पर सामने आजाते हैं, तो आनन्द का पारावार नहीं रहता। उनके भाषण की एक-एक बात को ध्यान से सुना जाता है, उनके एक-एक शब्द का बड़ा मूल्य लगाया जाता

है, बीच-बीच मे करतल ध्वनि से उनकी बातो का समर्थन होता है। इस प्रकार उनका भाषण सफल औ श्रोताओं का मन आनन्द विभोर हो जाता है।

किन्तु आधुनिक लेखकगण ऐसा नही चाहते। वह कहते है कि पंडित नेहरू ( विषय ) को तो पहले बुला लिया जाए, और फिर झाड़ू आदि लगा कर मैदान साफ़ किया जाये, भूमि ( या भूमिका ) तैयार की जाये। यह कितना असंगत और अस्वाभाविक है।

निष्कर्ष—निबन्ध की भूमिका मे विषय को पहले पहल उपस्थित नही करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करने से उत्सुकता का नाश और आनन्द का भंग होता है। विषय को उपस्थित करने से पूर्व पाठक के मन में उस विषय के जानने, समझने और पढने की उत्सुकता जागृत करनी चाहिये। उसके लाने के लिये एक सुन्दर भूमि ( भूमिका ) तैयार करनी चाहिये। उस विषय के लिये आरम्भ ( भूमिका ) मे बड़ा प्रचार करना चाहिये, विज्ञापन करके उसको प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण सिद्ध करना चाहिए। भूमिका में ऐसी बाते लिखनी चाहियें, जिन्हे पढ़ कर पाठक को अनुभव हो कि विषय बहुत ही महत्वपूर्ण और आवश्यक है। विषय की महत्ता और आवश्यकता को जल्द लाने के लिये किसी बडे भारी प्रयोजन ( जैसे आनन्द की कामना, सुख की सहज अभिलाषा, शान्ति स्थापना, रोटी का प्रश्न आदि ) को रख कर अपने विषय को उस प्रयोजन की प्राप्ति का एक मात्र साधन घोषित कर देना चाहिये। ऐसा करने से विषय का उपयोगी और महत्त्वपूर्ण होना सिद्ध हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि 'विद्या' पर निबन्ध लिखना है, तो यूं नहीं लिखना चाहिये कि विद्या बडी अच्छी वस्तु है। विद्या पढ़ने से मनुष्य मनुष्य कहलाता है। पशु और मनुष्य में यही तो अन्तर है कि मनुष्य विद्या सीखता है। विद्याविहीन मनुष्य तो पशु के समान है। आदि बल्कि इसके विपरीत विद्या का नाम पहले न लेकर उसका महत्त्व प्रमाणित करना चाहिये। जैसे—

'संसार के सभी प्राणी आनन्दपूर्वक जीवन बिताना चाहते हैं। जिस किसी को देखिए वह उसी आनन्द को प्राप्त करने के लिए सिर तोड़ परिश्रम कर रहा है। कोई बेचारा कड़ाके की सर्दी में ठिठुर कर हल चला रहा है तो

कोई कड़कती धूप मे अपना खून पसीना एक कर मजदूरी कर रहा है। बालक से लेकर वृद्ध सभी इसी रत्न को पाने के लिए दौड़ते जा रहे हैं। निर्धन हो या धनी, नर हो या नारी, संसार के सभी प्राणी सुख और आनन्द के लिये मतवाले हो रहे है। यह भी कितना विचित्र है कि उसी सुख के लिये मानव कितने भयानक दुःख उठा रहा है। किन्तु इतना परिश्रम करने के पश्चात्, इतने दुःख उठाने से भी क्या उसको सुख-सम्मान मिला? इसका उत्तर है नही। तब प्रश्न होता है कि आखिर क्या कारण है? वह कौनसा साधन है, जिस के द्वारा हम सुखी और सम्मानित जीवन व्यतीत कर सकते है। धन? नही, धन से सब कुछ खरीदा जा सकता है, किन्तु सच्चा सुख नही। फिर धन भी तो स्थिर रहने वाली वस्तु नही। आज है, कल नहीं। धन से सुख और सम्मान मिल सकता है किन्तु अस्थायी रूप से ही। किन्तु क्या हम अस्थायी सुख सम्मान चाहते है? नहीं, कदापि नहीं। तो फिर उसकी प्राप्ति का क्या साधन है? शक्ति? जो वस्तु धन से भी नहीं खरीदी जा सकती, उसे शक्ति से प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु विवशता तो सच्चे सुख का नाम नहीं। बलपूर्वक कराया गया मान मान नहीं हो सकता। मान तो तब है, जब लोगों के हृदय मे आपके लिये स्थान हो। यह बात शक्ति से नहीं हो सकती। फिर शक्ति भी तो सदा साथ नहीं देती। अवसर या आयु बीत जाने पर शक्तिशाली भी शक्तिहीन बन जाते हैं। अतः शक्ति भी स्थायी सुख सम्मान का कारण नहीं कही जा सकती। तब फिर जिज्ञासा उत्पन्न होती है, कि वह कौनसा साधन है जिसके द्वारा मनुष्य संसार मे जहां कहीं भी जाये, सुख-सम्मान के साथ जीवन बिता सकता है। इतने में एक ओर से तुमुल ध्वनि सी आती है कि सच्चे सुख और सम्मान की प्राप्ति का एक मात्र साधन है—विद्या—विद्या और केवल विद्या।'

इस प्रकार विद्या का महत्त्व बतला कर फिर जो कुछ भी आप लिखना चाहते हैं, लिख सकते हैं। इस प्रकार की शैली अपनाने से दो बड़े लाभ होंगे। पहला लाभ तो यह कि निबन्ध सचमुच साहित्यिक निबन्ध बन पड़ेगा, क्योंकि विषय की भूमिका मे उत्सुकता जागृत होने से रसास्वाद की

प्राप्ति होगी। और दूसरा विद्यार्थियो को एक दो पृष्ठ अधिक लिखने से सामग्री मिल जायेगी जो भूमिका के लिए आवश्यक बतलाई गई है।- क्योंकि प्रायः साधारण विद्यार्थिया के सामने एक समस्या यह भी रहती है कि लिखने के लिए उसके पास सामग्री (Matter) थोडी होती है। निबन्ध लिखने की उक्त शैली से भूमिका का भाग इस आवश्यकता को पूर्ति करेगा।

विस्तार—इस भाग मे विद्यार्थी को वही कुछ लिखना चाहिये, जिसको वह आरंभ से लिखना चाहता था। उक्त भूमिका-भाग मे तो उसे विषय को न छूकर विषय को महत्त्वपूर्ण बनाने के लिये उसके सम्बन्ध मे कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण विज्ञापनसूचक बाते लिखनी होगी। किन्तु धीरे धीरे जब विषय को स्टेज पर उतार लिया जाये, तब उस पर प्रकाश डालना होगा। भाषणकर्त्ता का वास्तविक भाषण इसी भाग मे सुना जाता है। अतः उस भाग मे ही विषय का निरूपण, उसकी व्याख्या और उसका सांगोपांग विवेचन किया जाता है।

इस अंश मे विद्यार्थी निबन्ध के अङ्कों के अनुसार विषय का विस्तार या संक्षेप कर लेता है। इसी भाग मे विद्यार्थी इधर-उधर की प्रसंगानुकूल बातें भी लिख सकता है। निदान यह अंश विद्यार्थियो की अपनी योग्यता को दिखाने का अच्छा अवसर प्रदान करता है। विषय की पुष्टि के लिए जहां विद्यार्थी को युक्तियां तथा तर्क उपस्थित करने चाहियें वहां कुछ ऐतिहासिक उदाहरणों को भी देकर अपने मत का समर्थन करना चाहिये। इतिहास के उदाहरणो के लिये सर्वाधिक सहायता रामायण, महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थो से तथा महात्मा बुद्ध, हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद, पृथ्वीराज चौहान, जयचन्द, शिवाजी, राणा प्रताप, अकबर, औरंगजेब, दुर्गाबाई, झांसी की रानी लक्ष्मी बाई, आदि मध्य युग राजपूत युग के महान् वीरों और वीरांगनाओं से ली जा सकती हैं। आधुनिक काल मे महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, सुभाषचन्द्र बोस, सरदार पटेल, तिलक, सरोजिनी नायडू, विजयलक्ष्मी पंडित, स्टालिन, हिटलर आदि देशी-विदेशी सुप्रसिद्ध महापुरुषों व राजनीतिक नेताओं के जीवन चरित्र भी इस भाग मे विषय के अनुमोदनार्थ उद्धृत किए जा सकते हैं। युरोप आदि देशों में राजनीतिक सामाजिक या धार्मिक क्रांतियां कराने वाले पुरुष या स्त्रियों का भी उल्लेख करना चाहिये। जैसे नेपो-

क्रोन, जोन आफ आर्क, फ्लोरेंस नाइटंगेल, जार्ज वाशिंगटन, ड्यूक आफ वेंडसर, कार्ल मार्क्स आदि।

कभी-कभी विषय की पुष्टि के लिए प्राकृतिक या प्रतीकात्मक उदाहरण भी दिये जा सकते हैं। जैसे सुख दुःख की तुलना के लिए लिखा, जा सकता है-

"संसार में प्रत्येक रात के पश्चात् दिन का प्रकाश आता है। हर पतझड के अन्त में वसन्त की सुन्दर बहार दिखाई देती है। उसी प्रकार दुःख के पश्चात् सुख भ अवश्यम्भावी है।"

अथवा

"संसार के उद्यान मे फूल भी होते है कांटे भी धूप भी। होती है, चांदनी भी। जीवन मे सुख भी आता है, दुःख भी। यहां हलाहल विष भी है और मधुर मादक मदिरा भी। मृत्यु का घना अंधकार भी है और जीवन का सुनहरा प्रभात भी।"

'विस्तार भाग' के लिए यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि इस में केवल शुष्क और नीरस तर्क ही तर्क न हो, सूखा विचार विवेचन ही न हो। कहीं-कहीं सरस उदाहरणों के साथ साथ आवश्यक दो-चार पद्यात्मक दृष्टांत भी प्रमाण के रूप मे उपस्थित कर देने चाहिएं। हिन्दी के पद्यो का महत्व अधिक होता है। संस्कृत के दो चार श्लोक याद हो, तो सोने पर सुगन्ध का काम देंगे। जैसे-'सत्यमेव जयते','अहिंसा परमो धर्मः','यतो धर्मस्ततो जयः,''धर्म एव हतो हन्ति,' धर्मो रक्षति रक्षितः, 'विद्या विहीनः पशुः,'नरत्वं दुर्लभं लोके,' 'भिन्न रुचिर्हि लोकः', 'मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना' (इनके क्रमशः अर्थ हैं—सत्य की ही विजय होती है। अहिंसा परम धर्म है। जिस ओर धर्म होगा, उसी ओर जीत होगी। जो धर्म की रक्षा करता है धर्म उसकी रक्षा करता है और जो धर्म का नाश करता है, धर्म भी उसका नाश कर देता है। विद्या से रहित मनुष्य पशु के समान है। संसार में मनुष्य जीवन दुर्लभ है। संसार मे भिन्न-भिन्न रुचि के लोग होते हैं। हर मनुष्य के विचार अलग-अलग होते हैं) आदि।

इसी प्रकार अंग्रेजी के भी छोटे-छोटे वाक्य लोकोक्तियां जैसे Might is Right, Truth is God, Beauty is Truth, Truth is Beauty आदि। उर्दू कविता के भी कुछ अंश यथास्थान दे दिए जांय, तो

विशेष आपत्ति नहीं, किन्तु अधिक नहीं होने चाहिएं। पद्यो को नई पंक्ति से ही लिखना चाहिये और विशेष रूप से यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि वे पद्य गद्य के सन्दर्भों में से स्पष्ट पहचाने जा सकें।

अन्त—निबंध के मध्य भाग मे अधिक विचार-विमर्श होने से विद्यार्थी प्रायः मुख्य विषय से कभी-कभी दूर चले जाते है जिससे विषयान्तर होने का दोष उनकी अंक प्राप्ति में बाधक हो जाता है। विस्तार के समय इधर-उधर की बातो मे पड जाना कोई अस्वाभाविक भी नही होता। उदाहरणार्थ कभी पण्डित नेहरू का गांधी जी की बरसी या जन्म दिन पर कोई भाषण सुना हो, जिसके आरम्भ में तो पण्डित जी गांधी जी विषयक कुछ अवश्य बोलते है, किन्तु फिर धीरे-धीरे अपने भाषण के विस्तार में वे संसार की समस्याओ पर अपने विचार प्रकट करने लग जाते हैं। कोरिया, काश्मीर, पाकिस्तान, साम्प्रदायिकता, अन्न संकट आदि देशी-विदेशी समस्याओ का गांधी जी के जन्म दिवस को मनाने के लिए किए गए उत्सव से साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता। परन्तु फिर भी न तो वक्ता महोदय को यह विषयांतर होना अनुभव होता है और न ही श्रोतागण को ही वह अखरता है। क्योंकि भाषण के मध्य प्रवाह धारा मे मन उत्सुक होकर आनन्द का अनुभव कर रहा होता है। किन्तु जैसे अपने भाषण के अन्त में पंडित नेहरू पुनः अपने मुख्य विषय-गांधी जी-का स्मरण करा के श्रोतागण को चौंका देते है और उन्हे विचित्र विस्मयदायक और सुखद कराते हैं, ठीक उसी प्रकार विद्यार्थी को भी निबन्ध के अन्त में भूमिका मे प्रकट किए गए विचारो को दूसरे शब्दो मे अवश्य दोहरा देना चाहिये। इस प्रकार पाठक पर यह अच्छा प्रभाव जम जाता है कि विद्यार्थी विषयांतर नहीं हुआ, वह अपने विषय को नहीं भूला। मध्य भाग मे यदि भूल से कुछ इधर-उधर की बातें लिख भी दी गई होंगी, तो भी अन्त में भूमिका सम्बन्धी बातें लिख देने से पाठक को मुख्य विषय और पहली बातों का स्मरण करा देने से निबन्ध की सफलता स्वय सिद्ध हो जाती है। दूसरा लाभ यह भी होता है, कि कुछ समय तक प्रारंभिक बातों के भूल जाने से और विस्तार भाग के विवेचन मे पड़े रहने से पाठक जब अचानक पूर्वोक्त अंशो को पढता है, विचित्र आनन्द का

अनुभव उसे होता है। जिससे निबन्ध की सरसता बनी रहती है।

निबन्ध के अन्तिम भाग को भी सरस बनाना आवश्यक है। यह ठीक है कि भूमिका की कही हुई बातें ही दुबारा कहनी चाहिये। किन्तु यह ध्यान रहे कि भाव या विचार तो वहीं हो, किन्तु शब्द या वाक्य-वही न हों। भाषा भिन्न हो, वाक्यरचना नवीन हो। इस के अतिरिक्त किसी सुन्दर कवितांश या दोहे आदि से भी निबन्ध का अन्त हो सकता है। निबन्ध के अन्त करने पर पाठक के मन मे यदि अतृप्ति बनी रहे, तो समझ लीजिये कि वह निबन्ध पूर्ण सफल है। निबन्ध का अन्त अचिंतनीय भले हो, किन्तु अस्वाभाविक कभी न होना चाहिये।

## विशेष ध्यान देने योग्य बातें

१. निबन्ध लिखने से पूर्व पांच मिनट कम से कम अवश्य यह सोचना चाहिये कि आप किस विषय पर निबन्ध लिखना पसंद करते हैं? कौन से विषय पर आप अच्छा और विस्तृत निबन्ध लिख सकते हैं? उस विषय के लिए आप को कितने उदाहरण मिल सकते हैं? उस विषय के समर्थन में आप को कितने हिन्दी संस्कृत या अंग्रेजी के उद्धरण याद हैं? यदि बिना सोचे-विचारे किसी भी निबन्ध पर आप लिखना आरम्भ कर देंगे, तो आगे जाकर व्यर्थ कठिनाइयों का सामना होगा। प्रायः देखा जाता है कि विद्यार्थी पहले कोई एक निबन्ध लिखना आरम्भ कर देते है। जब दो-तीन पृष्ठ लिख चुकते हैं, तो सामग्री के अभाव में या किसी और कारण से वे उसे छोड कर दूसरा विषय पसन्द करते हैं और इस प्रकार समय के थोड़ा रह जाने से चिंतित मन होने से भी वे दूसरा निबन्ध भी उतनी सफलता से नहीं लिख पाते, और परिणाम जो कुछ होता है, वह सभी जानते है। कभी-कभी विद्यार्थी एक विषय को कुछ लिख कर व्यर्थ दूसरे विषय को सोचते रहते हैं कि यदि हम ने वह दूसरा विषय लिया होता, तो बडा अच्छा होता। इस प्रकार यद्यपि वे पहले विषय को छोड़ नहीं देते, तो भी अन्यमनस्कता के कारण उनका ध्यान उस विषय पर नहीं रहता और फल स्वरूप विषय की एकता और विचार-साम्य में विघ्न आता रहता है। इसलिए प्रत्येक विद्यार्थी को पहले ही कुछ देर तक सोचने के पश्चात् अपने विषय का निश्चित चुनाव कर लेना चाहिये

ताकि मध्य में किसी भी प्रकार की बाधा या संदेह का शिकार न बनना पड़े।

२. निबंध लिखने से पूर्व उसके आरम्भ करने का मार्ग अवश्य सोच लेना चाहिये। संक्षेप से अपने मस्तिष्क मे सारे निबंध की रूप रेखा बना लेनी चाहिये। यदि असुविधा हो, तो पत्र पर उसके संकेत लिख लेने चाहियें, ताकि विचारों मे विशृंखलता उत्पन्न न होने पावे। भूमिका मे लिखने का ढंग विशेष रूप से सोच कर ही तैयार करना चाहिये। कहाँ से और कैसे आरम्भ करके धीरे धीरे विषय का नाम लिया जायेगा, कम से कम कितने स्थान तक भूमिका का वह अंश समाप्त हो जायेगा, इन बातों को अवश्य ध्यान मे रख लेना चाहिये। भूमिका का भाग न अधिक सक्षिप्त हो, न अधिक विस्तृत। एक पृष्ठ तक तो निश्चित रूप से भूमिका सम्बंधी विचार उपस्थित करते रहना चाहिये। किंतु भूमिका इतनी न बढानी चाहिये कि पाठक को प्रस्तुत विषय का ज्ञान ही बहुत देर तक न हो सके और वह भ्रम में पड़ जाये कि लेखक कौनसा निबंध लिख रहा है। औचित्य का सदा ध्यान रहे।

३. भूमिका, विस्तार, अंत आदि शब्द नहीं लिखने चाहियें। भूमिका कहाँ समाप्त हुई और विस्तार कहाँ से आरम्भ हुआ, इसका भी स्पष्ट रूप से ज्ञान न होने देना ही लेखक की कला है। भूमिका के अन्त में ही विस्तार का आरम्भ छुपा देना चाहिये और विस्तार के अन्त में ही उपसंहार का आरम्भ निहित कर देना चाहिये।

४. काव्यात्मक या भावात्मक शैली केवल उन विद्यार्थियों को अपनानी चाहिये, जिनको यह पूर्ण विश्वास हो कि वे इसका सफल प्रयोग करना जानते है। यह साहित्यिक शैली भावुक, सहृदय, कविहृदय छात्र-छात्राओं के लिये ही लाभप्रद हो सकती है। अधिक उनके लिये भी नहीं, क्योंकि ऐसे रमणीय स्थल एक दो बार तो रखे जा सकते हैं, परन्तु समस्त निबंध में उस स्तर को बनाये रखना उनके लिये भी विशेष रूप से परीक्षाभवन में कठिन हो जाता है। इसलिये भावात्मक या कल्पनाप्रधान जैसे मृत्यु, संध्या का सौंदर्य, ताजमहल, आशा जैसे विषयों के स्थान पर परीक्षोपयोगी दृष्टिकोण से सब से प्राथमिकता 'साहित्यिक' निबंधों को और वे भी इतिहास आदि मे सुने, लिखे या पढ़े निबन्धों को ही देनी चाहिये। अन्यथा राजनीतिक, सामाजिक, विशेष रूप से

किसी व्यक्तिप्रधान निबन्धों को ही लेना चाहिये। क्योंकि इन निबन्धो के लिये विद्यार्थियो को सामग्री जुटाने की आवश्यकता नहीं पडती, केवल उस सामग्री को सजा कर प्रस्तुत करने का ही यत्न करना होता है।

५. निबन्ध मे सुलेख का सबसे बड़ा महत्त्व है। किसी अन्य पत्र में सुलेख पर इतना ध्यान नहीं दिया जाता, जितना उसके विचारों या सिद्धान्तों आदि पर। केवल इसी निबन्ध के पत्र मे ही परीक्षक विद्यार्थियों के सुन्दर लेख, शब्दों की त्रुटियाँ, वाक्य रचना, विराम चिह्न, शुद्धता, स्पष्टता, भाषा, शैली आदि पर विशेष दृष्टि रखते हैं और उसी क्रम से अंक प्रदान करते हैं। विद्यार्थियों को भी प्रायः यह अनुभव हो चुका है कि इसी पत्र मे ही अधिक छात्रों को निराशा का मुख देखना पडता है। कभी-कभी तो अच्छे प्रतिभासम्पन्न और समझदार और खूब पढ़े-लिखे विद्यार्थी भी इस पत्र मे असफल होते देखे गए हैं, इसका भी मुख्य कारण उनके लेखन और अभिव्यक्ति का त्रुटिपूर्ण होना ही समझना चाहिए।

६. शैली कृत्रिम न होकर सहज स्वाभाविक होनी चाहिए। रटे-रटाये विचारों की अपेक्षा विद्यार्थी यदि अपने शब्दों में खुलकर विचार प्रकट करें तो सरलता और सुविधा रहेगी। कहीं-कहीं अवश्य आलंकारिक ढंग से और लोकोक्ति मुहावरों से भी काम लेते रहना चाहिये। संस्कृत के कठिन शब्दों से अपनी भाषा को लादने की कोई आवश्यकता नहीं। भाषा जितनी भी सरल हो उतनी ही अच्छी होती है। किन्तु अशुद्ध न होनी चाहिये।

७. निबंध लिखने का अभ्यास कभी नहीं छोडना चाहिये। परीक्षार्थी को यह कभी नहीं मान लेना चाहिये, कि अब तो उसे निबंध लिखना आता है, फिर विचार कर लिखने की क्या आवश्यकता है। ऐसी मनोवृत्ति हानिकारक है। अभ्यास से शैली निखर उठती है और 'अधिकस्याधिक फलं' के अनुसार बडा लाभ होता है।

८ निबंध मे किसी पक्ष के खंडन या मंडन में आवेशपूर्ण वाक्यों का यथाशक्ति बहिष्कार करना चाहिये। मैं, या 'मेरा विचार है' आदि शब्दो का प्रयोग भी अच्छा नही समझा जाता है। उत्तम पुरुष के स्थान पर प्रथम पुरुष का ही प्रयोग अच्छा माना जाता है। किसी व्यक्ति विशेष या

संप्रदाय विशेष का भी अपमान करना आपत्तिजनक समझा जाता है। शैली मधुर और विधेयात्मक होनी चाहिये, कटु और निषेधात्मक नहीं।

## प्रस्तुत संग्रह की कुछ विशेषताएं

१. इस संग्रह मे हिन्दी की सभी उच्च परीक्षाओ तथा अंग्रेजी परीक्षाओं के भी हिन्दी पत्रों मे आने वाले प्राय: सभी निबंधो पर प्रकाश डाला गया है।

२. विद्यार्थियो की हित कामना को सामने रखकर परीक्षोपयोगी दृष्टि से ही विवेचन करने का सिद्धांत हर निबंध की प्रमुख विशेषता है। अनावश्यक वादविवाद या व्यर्थ चिंतन तथा दुर्बोध विश्लेषण का त्याग किया गया है।

३. साहित्यिक निबंधो की मांग अधिक होने से और परीक्षा मे भी सदा इन के प्रश्नों को देखते हुए इस संग्रह मे विशेष रूप से उन निबंधो की संख्या बढा दी गई है। हिन्दी साहित्य के सभी प्रष्टव्य और महत्त्वपूर्ण विषयों, कवियो, काव्यो और सिद्धांतों का समावेश इस संग्रह की प्रधान विशेषता है।

४. साहित्यिक निबंधो के अतिरिक्त राजनीतिक, सामाजिक, आदि सभी प्रकार के निबंध इसमे पढने को मिल सकते हैं, जिससे इस निबंध-संग्रह को 'सर्वांगीण' कहने का गौरव प्राप्त हो गया है। धाराप्रवाह शैली, विक्षिप्त शैली, भावात्मक शैली के भी निबंध निर्देशन के रूप से दे दिये गये हैं।

५. निबंधो के शीर्षक तो सभी पुस्तको मे प्राय: एक या दूसरे रूप मे मिल ही जाते है, किन्तु उनके अन्दर सामग्री का अभाव, सिद्धान्त-निरूपण व विचार प्रतिपादन की शिथिलता, व्यर्थ दुरूहता, क्लिष्ट भाषा, अनावश्यक विचार जैसे दोष अधिक मिलते हैं। प्रस्तुत संग्रह मे केवल निबंधो के शीर्षक ही नही, उन पर किया गया विचार-विवेचन भी ऊँचे स्तर का और ठोस है। किंतु भाषा सर्वत्र सरल और शैली सुबोध रही है। अत. परीक्षोपयोगी दृष्टिकोण से विशेष रूप से केवल यही संग्रह विद्यार्थियो के लिए लाभदायक सिद्ध होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

६ राजधानी मे हिन्दी क्षेत्र के सिद्धहस्त लेखक प्रसिद्ध विद्वान् और अनुभवी अध्यापको की सहायता लेकर इस संग्रह की 'अद्वितीयता' और 'प्रामाणिकता निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाती है।

---

# साहित्य का स्वरूप

जिस दिन से मनुष्य ने आंख खोली और प्रकृति सुन्दरी की दिव्य छटा का दर्शन किया, उसी दिन से उसके कोमल भावुकता पूर्ण हृदय मे भावनाओं का सागर ठाठे मारता हुआ उमड पड़ा। विश्वदेव की मधुर मुरली में से काव्य की स्वर लहरी दिग्दिगंत मे गूंज उठी। सृष्टि एक काव्य और स्रष्टा एक कवि बन गया। 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः'।

सत, चित,आनन्द स्वरूप परमात्मा का अंश होने से मनुष्य में भी उक्त गुण न्यूनाधिक रूप मे अवश्य प्रतिफलित हुए। मनुष्य ने भी अपने चारों ओर के वातावरण से प्रभावित होकर अपने मन की अनुभूतियो का प्रदर्शन किया। शब्द द्वारा इसी प्रदर्शन या अभिव्यक्ति को ही विद्वानों ने 'साहित्य' का नाम दिया है।

संसार के सभी पदार्थों के प्रति मनुष्य की प्रतिक्रिया तीन प्रकार की होती है—ज्ञान प्रधान, भाव प्रधान और संकल्प प्रधान। पहले किसी व्यक्ति विशेष का ज्ञान होता है, फिर उस व्यक्ति के सम्बन्ध के अनुसार मन में प्रेम आदि भाव उत्पन्न होता है, तदनन्तर आदर-सत्कार आदि संकल्प अर्थात् क्रिया का नम्बर आता है। कवि भी संसार के प्रति अपनी मानसिक प्रतिक्रियाओं को शब्द द्वारा प्रकट करता है, परन्तु उसके काव्य मे ज्ञान तथा संकल्प की अपेक्षा भाव का अधिक स्थान होता है। आनन्द प्राप्ति का साधन होने से भी भाव वैसे भी महत्वपूर्ण माने जाते हैं। मनुष्य भी आनन्द प्राप्ति के लिये ही काव्य की रचना करता है, अतः उसके हृदय का भावुक और संवेदनशील होना स्वाभाविक है।

साहित्य शब्द का स्वरूप जानने के लिये बड़ी उलझनों का सामना करना

पड़ता है। साहित्य के विषय मे 'इदमित्थं' नहीं कहा जा सकता। साहित्य का स्वरूप समझाने की अपेक्षा समझने का ही अधिक विषय है। कुछ आचार्यों ने तो साहित्य की इसी रहस्यमयता को देखकर यहाँ तक कह दिया कि जो समझ मे न आये वही साहित्य है। साधारण बालक को समझाने के लिये 'नेति नेति प्रक्रिया' प्रयोग में लाई जाती है, उसी प्रक्रिया की सहायता साहित्य को समझने के लिये भी ली जायेगी। 'साहित्य क्या है' ऐसा न बताकर 'साहित्य क्या नहीं है' यह बताना अधिक सुगम होगा।

साहित्य व्यापक अर्थ में तो सभी वाङ्मय को कहते हैं। जैसे अंग्रेजी शब्द 'लिटरेचर' का एक व्यापक अर्थ लगाया जाता है कि जो कुछ सामग्री लैटर अर्थात् वर्णों में पाई जाए; वह सब 'लिटरेचर' नाम से पुकारी जाती है। इस सामग्री मे कथा, उपन्यास, काव्य, नाटक आदि आनन्ददायक साहित्य के साथ-साथ दर्शन, विज्ञान, गणित, अर्थशास्त्र जैसे नीरस विषयो का भी ज्ञान सम्मिलित है, जो शुद्ध और नीरस होता है। प्राचीनकाल मे सरस सामग्री को 'काव्य' तथा नीरस सामग्री को 'शास्त्र' का नाम दिया गया था। आधुनिक अंग्रेजी साहित्य में भी इन दो भागो को 'आर्ट्स' अर्थात् कला और 'साईंस' अर्थात् विज्ञान नाम से पुकारा जाता है। वाङ्मय अथवा साहित्य के व्यापक अर्थ मे विद्या और शास्त्र अथवा कला और विज्ञान दोनों प्रकार की सामग्री गृहीत होती है। इस दृष्टि से बीमा कम्पनी का साहित्य, सिनेमा साहित्य, वैज्ञानिक साहित्य आदि सभी कुछ साहित्य कहा जाएगा। किंतु कोई भी साहित्य का विद्यार्थी आज इस प्रकार के शुष्क साहित्य को 'शुद्ध साहित्य' कहने को तैयार नहीं है। उसका कारण यह है कि इतिहास, गणित, अर्थ-शास्त्र, भूगोल, दर्शन, धर्म, विज्ञान आदि की पुस्तकों मे ज्ञान योग की चर्चा भले की गई हो, परन्तु साहित्य मे ज्ञान योग की अपेक्षा भावयोग का अधिक महत्त्व होता है। साहित्य मे सत्य की अपेक्षा सुन्दर की मात्रा अधिक रहती है। यही कारण है कि जिन रचनाओ मे कोरा ज्ञान, शुष्क उपदेश, नीरस विश्लेषण इतिवृत्तात्मक ढंग से सीधी-सीधी भाषा में वर्णित किया जाए, वह 'साहित्य' नहीं कहला सकता।

साहित्य के लिए उसका आनन्दमय होना तथा आनन्दप्रद होना बड़ा

आवश्यक है। आनन्द की खोज में ही मनुष्य ने 'कला' का आविष्कार किया, जिसमे 'साहित्य कला' को श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया गया। साधारण व्यक्ति और कवि में यही तो अन्तर होता है। साधारण व्यक्ति किसी भी पदार्थ का ऊपरी ज्ञान प्राप्त करके उसका विषयगत वर्णन मात्र कर सकता है, जब कि एक कवि उसको अपने हृदय की गहराइयो में उतार कर, भावनाओ के रंगों में रंग कर और कल्पना की तूलिका से सजा कर अलौकिक आनन्द का स्रोत बना देता है। एक वैज्ञानिक और साहित्यकार में भी यही अन्तर पाया जाता है। वैज्ञानिक भी सत्य का अन्वेषी होता है, परन्तु उसका विश्लेषण निर्जीव होता है। उसके लिए प्रकृति जड है। फूल केवल कार्बन, लोहा और हाइ-ड्रोजन का संयोग मात्र है, किन्तु कवि के लिए वह फूल किसी सहृदय मनुष्य की भांति कभी हंसता सा, कभी नाचता और उछलता सा दिखाई पडता है। वह कवि पुष्प मे किसी के कोमल कपोल, मधुर अधर और मादक नयनों की छवि देख कर झूम उठता है। वैज्ञानिक के लिए सूर्य और चन्द्रमा प्रकाश के स्थावर या जंगम पदार्थ हैं जो दिन और रात्रि के काल कम विभाजन का कार्य-सम्पादन करते हैं। परन्तु कवि क्या कल्पना करता है, यह जरा देखिये—

रात कैसे हुई? कवि कल्पना करता है कि दिन भर का थका-मांदा सूर्यदेव अनन्त पथ को पार कर के जब घर को जाने लगा, तो उसकी प्रेमिका संध्या-सुन्दरी रङ्ग-बिरङ्गी साडी पहने हुए अपने प्रियतम की अगमनी करने को गृह-द्वार पर आ खडी हुई। सूर्यदेव अपने स्वर्णिम रथ से उतरे और प्रेयसी के साथ गाढालिंगन मे बंध गए। प्रेमियो का यह एकांत मधुर मिलन अत्यन्त रमणीय था, जिसे चुपके मे देखने का लोभ लोभी संसार संवरण न कर सका। अकिंचन संसार को अपनी ओर ताकता देख कर सूर्यदेव के मुख पर लज्जा की लाली दौड गई। चतुर प्रियतमा ने जब अपने प्रियतम की समस्या को समझा, तो झट उन पर अपनी काली चुनरिया, जिस पर तारे टके हुए थे, डाल दी और इस प्रकार उसे संसार को दृष्टि से ओझल कर दिया।

फिर दिन कैसे हुआ? इस विषय मे भी उसकी सुन्दर कल्पना ध्यान देने योग्य है—वह समझता है, कि रजनी देवी अपने प्रियतम सूर्यदेव के विरह

मे म्लानमुखी और श्याम वस्त्र पहने जुदाई की घड़ियां गिन-गिन कर काट रही थी, कि इतने मे रम्यरूप का अभिमानी लंपटराज चन्द्र उधर से आ निकला। अकेली रजनी को पा कर उस कामुक ने उसके साथ छेड़-छाड़ आरम्भ कर दी। उसके केशों मे चमकते हुए फूल सजाये और उसके साथ रात भर स्वच्छन्द विहार करता रहा। पूर्व दिशा से उषा यह प्रेमलीला देख कर लाल-पीली हो गई और अपने भाई सूर्य को इस की सूचना देने चली गई। सूचना पाते ही क्रोध से तमतमाता हुआ सूर्य घर से बाहर निकल आया और अपने प्रतिद्वंद्वी चन्द्र पर उसने तप्त शरो से वार कर दिया। बेचारा चन्द्रमा सूर्य के ओज के सामने निस्तेज हो गया और मुँह मे कालिख लगाए वहाँ से चंपत हो गया। बेचारी रजनी का शरीर भी लाज के मारे पानी-पानी हो गया।

यह है कवि और वैज्ञानिक मे अतर। वैज्ञानिक कोरा सत्य उपस्थित करता है, परन्तु कवि सत्य को सुन्दर बना कर उपस्थित करता है। दूसरी विशेषता एक कवि मे यह भी पाई जाती है कि जहां वैज्ञानिक अपने व्यक्तित्व को अपनी रचना मे अछूता रख सकता है, वहां कवि की प्रति पंक्ति मे उसका व्यक्तित्व प्रतिबिम्बित रहता है। व्यक्तित्व-ग्रहण की इसी विशेषता के कारण ही कवि की रचना का पूर्ण स्वाद केवल कवि की मूल पुस्तक पढ़ने से होता है, उसके अनुवाद मे भी कवि का वास्तविक स्वरूप नहीं झलकता। कालिदास या शैक्सपियर का सच्चा काव्य सौंदर्य संस्कृत और अंग्रेजी जाने बिना ज्ञात नहीं हो सकता। परन्तु न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त को जानने के लिए किसी को न्यूटन की अपनी पुस्तक को पढ़ने की विशेष आवश्यकता नही। यह वैज्ञानिक सिद्धान्त किसी भी अन्य पुस्तक को पढ़ने से ज्ञात हो सकता है। अतः सिद्ध हुआ कि काव्य या साहित्य मे व्यक्तित्व मुद्रण की कला रहती है।

जैसा कि बताया जा चुका है कि साहित्य अपने व्यापक क्षेत्र मे तो विज्ञान, शास्त्र आदि का भी द्योतक हो सकता है, परन्तु आज साहित्य शब्द रूढ और सीमित हो चुका है। साहित्य शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार से की जाती है—'सहितस्य भावः साहित्यम्' किन्तु 'सहित' शब्द के दो अर्थ माने

जाते हैं। एक तो 'हितेन सहितं' अर्थात् हितकाक वचन या हित की भावना से युक्त वस्तु को साहित्य कहते हैं। इस प्रकार साहित्य का लक्षण मैथ्यू-आर्नल्ड आदि आदर्शवादी आचार्यों के विचार में, 'जीवन की व्याख्या' माना जाता है—

"The Poetry is at the bottom a true criticism of life ."

साहित्य में सत्य की प्रधानता स्वीकार करनी पड़ती है तथा साहित्यकार थोड़ा बहुत उपदेशक का काम करने वाला बन जाता है। दूसरा अर्थ 'सहित का भाव' है अर्थात् एकता या साम्य का होना। साहित्य में पाठक और रच-यिता की भावनाओं का साहित्य (एकीभाव) रहता है। अथ ाा साहित्य में शब्द और अर्थ का भो सहित भाव विद्यमान रहता है। कालिदास ने भी कहा है—

शब्दार्थाविव संपृक्तौ शब्दार्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥

तुलसीदास जी ने तभी कहा था—

गिरा अर्थ जल वीचि सम,
कहियत भिन्न न भिन्न ॥

साधारणीकरण की मूल भावना में भी साहित्य शब्द का यही अर्थ काम करता दिखाई देता है। आनन्द प्राप्ति के लिए ऐसा आवश्यक भी है।

साहित्य का विश्लेषण करने से उसके दो पक्ष ज्ञात होते हैं। एक को भाव पक्ष या अनुभूति पक्ष कहते हैं और दूसरे को कला पक्ष या अभि-व्यक्ति पक्ष का नाम दिया जाता है। भाव पक्ष साहित्य की आत्मा है और कला पक्ष उसका शरीर। यद्यपि शरीर का स्थान आत्मा को और आत्मा का दर्जा शरीर को नही दिया जा सकता, तथापि इन दोनो का 'अन्योन्याश्रय भाव' तो सिद्ध ही है। शरीर के बिना आत्मा की सत्ता तक प्रमाणित नहीं हो सकती और आत्माहीन शरीर भी बेकार है।

साधारण पुरुष और कवि में यही एक अन्तर पाया जाता है कि साधारण मनुष्य जहां सांसारिक पदार्थों का यथार्थ अनुभव करता है, वहां वह उस

अपने अनुभव को तदवत् रूप मे दूसरों के सामने अभिव्यक्त करने मे समर्थ नहीं हो पाता। एक अन्तर तो उसके दृष्टिकोण का भी हो सकता है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि कवि अपनी आत्मा का दर्शन विश्व में सर्वत्र करता है, जिससे उसे जड़-प्रकृति तक भी चेतन प्रतीत होती है। कवि आत्मा की एकता और व्यापकता का विश्वासी होता है, वह अपने को सब मे और सब मे अपने को देखने का अभ्यासी होता है, यही कारण है कि वह ससार के सुख-दुःखों को भी अपना सुख-दुःख समझता है और उसका यथार्थ वर्णन भी कर देता है। परन्तु साधारण व्यक्ति अपने संकुचित क्षेत्र मे अहंवादी बना रहता है। वह अपनी आत्मा का अनुभव व्यापक रूप में नही कर पाता, यही कारण है कि वह दूसरे मनुष्यो के सुख दुःख की अवस्था से भी विचलित नहीं होता, जड़ पदार्थों का तो कहना ही क्या। उसके साथ ही साधारण मनुष्य 'अभिव्यक्ति पक्ष' मे भी हीन होता है। वह कलाकार नहीं होता। उसे अपने अनुभवो को उसी रूप मे प्रकट करने की कला ( अभिव्यंजना ) नही आती। परन्तु साहित्यकार के लिए दोनों का होना आवश्यक रहता है। भाव पक्ष के अंतर्गत भाव-तत्त्व, कल्पना तत्त्व और बुद्धि-तत्त्व पाये जाते हैं। दूसरे शब्दो में कवि या साहित्यकार की विचार-धारा, कल्पना, सिद्धान्त, भाव धारा अर्थात् वर्ण्य सामग्री या दातव्य संदेश सब कुछ भावपक्ष या अनुभूति-पक्ष कहलाता है। यही साहित्य का सार है, उसकी आत्मा है। परन्तु यह सब कुछ जिस भाषा, छंद, अलंकार और शैली में अभिव्यक्त किया जाता है, उसे 'कलापक्ष या अभिव्यक्ति-पक्ष' कहते हैं।

इस प्रकार साहित्य का थोड़ा बहुत विश्लेषण करने के पश्चात् अब उसकी निश्चित परिभाषा देने योग्य सामग्री मिल जाती है। भारतीय और युरोपियन विद्वानों ने साहित्य के बारे में भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए हैं। उनके दिए गए लक्षणों में कहीं भावपक्ष की प्रधानता मिलती है, तो कहीं कला पक्ष की। भरत मुनि और विश्वनाथ जैसे विद्वान् यदि काव्य की आत्मा रस को मानते हैं, (वाक्यं रसात्मकम् काव्यम् ) तो निःसन्देह वे साहित्य के भावपक्ष का ही प्रबल समर्थन करते हैं। परन्तु वामन, कुन्तल, भामह आदि विद्वान् रीति, वक्रोक्ति या अलंकारो को ही काव्य का मूलधर्म स्वीकार करते

हैं, जो 'कलापक्ष' के ही अन्तर्गत आता है। इसी प्रकार वर्ड्सवर्थ ने काव्य का जो लक्षण दिया है, वह भी भावपक्ष का प्रभाव लिए हुए है—

'शान्ति के समय स्मरण किए हुए प्रबल मनोवेगों मे के स्वतंत्र प्रवाह का नाम काव्य है।' किन्तु कालरिज ने अभिव्यक्ति पक्ष पर जोर देते हुए लिखा है—

'उत्तोत्तम शब्दो की उत्तमोत्तम रचना को काव्य कहते हैं।'

इस प्रकार अनेक विचारशील काव्यशास्त्रियो ने अपना अलग-अलग राग अलापा है। एमर्सन भव्य विचारों के लेखे को साहित्य मानता है, तो रस्किन आनन्ददायक और शिक्षाप्रद वचनों मे ही साहित्यिकता के दर्शन करता है। इन सब बातों को ध्यान मे रखते हुए यह निष्कर्ष सहज ही निकाला जा सकता है कि साहित्य में आनन्द प्राप्ति की योग्यता का होना तो अनिवार्य गुण है। इसके बिना तो साहित्य साहित्य कहला ही नहीं सकता। परन्तु केवल मनोरंजन को सामग्री भी साहित्य के गौरव को ऊंचा उठाने मे असमर्थ है। मनोरंजन तो सिर नीचा कर के चलने से भी हो सकता है, या ताश के पत्तो तथा फुलझड़ियो के खेल मे से प्राप्त किया जा सकता है। अतः मनोरञ्जन के साथ-साथ मानव जीवन की व्याख्या का भी साहित्य में होना आवश्यक है। इस तत्त्व के होने से काव्य की उपादेयता सिद्ध होती है और प्रथम गुण के कारण उसका विज्ञान आदि से पृथक् स्थान का पता चलता है। अतः साहित्य मनोवेगो को तरंगित करने वाली भाषा या रसात्मक वाक्य को कहते हैं और जिसमें मानव जीवन की सरस व्याख्या भी की जाती है।

साहित्य के भेद—पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार साहित्य के दो भेद होते हैं—(१) विषयगत (२) विषयीगत। विषयगत को Objective तथा विषयीगत को Subjective कहते है। विषयगत या अनुकृत काव्य मे कवि जातीय जीवन और सामाजिक आदर्शों की व्याख्या करता है। परन्तु विषयीगत या प्रगीत काव्य मे कवि आपबीती को ही प्रधानतः उपस्थित करता है। यद्यपि स्थूल दृष्टि से कवि की आत्मा विश्वात्मा होने के कारण कवि की आपबीती और जगबीती मे कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती

क्योंकि जो कवि की आपबीती है, वह जगबीती और जो जगबीती है वह आदर्श कवि की आपबीती बन सकती है, किन्तु विषयगत काव्य मे कवि अपने को पीछे हटा कर प्रधानता जगत् को देता है और विषयीगत काव्य मे जगत् को गौण स्थान देकर आत्म-सुख-दुःख की अनुभूति को ही प्रधान रूप से अभिव्यक्त करता है।

भारतीय दृष्टिकोण से साहित्य या काव्य के दो भेद किए जाते हैं—एक श्रव्य काव्य, दूसरा दृश्य काव्य। दृश्य काव्य का सम्बन्ध नेत्र और कर्ण दोनों इन्द्रियो से रहता है। इस का पूर्ण रसास्वाद रंगमंच पर अभिनय देखने से मिलता है। दृश्य काव्य के अन्तर्गत दस रूपक और अठारह उप-रूपक माने गए हैं, जिन में नाटक ही प्रधान है। श्रव्य काव्य का सम्बन्ध प्राचीनकाल में केवल श्रवणेन्द्रिय से ही था। प्रेस के अभाव मे लिखित पुस्तकें दुष्प्राप्य होती थी। अत: इन काव्यों को गा कर सुनाया जाता था, अतः इन्हें 'श्रव्य काव्य' का नाम मिला। श्रव्य काव्य भी तीन प्रकार का होता है-(१) गद्य अर्थात् छंदोरहित रचना, (२) पद्य अर्थात् छन्दाबद्ध रचना, (३) चंपू अर्थात् गद्य तथा पद्य मिश्रित रचना। चम्पू काव्य का उदाहरण केवल नल चम्पू सस्कृत मे तथा यशोधरा हिन्दी में मिलता है। गद्य के अनेक अग है जिन में कहानी, उपन्यास, निबन्ध, आलोचना, जीवनी, पत्र प्रसिद्ध हैं।

पद्य के दो भेद माने गए हैं—प्रबन्ध काव्य तथा मुक्तक काव्य। कथा सूत्र जिसमे अटूट गति से बना रहे, उसे प्रबन्ध काव्य कहते हैं, तथा जिसमे प्रत्येक छंद या पद्य अपने आप में पूर्ण और स्वतंत्र या निरपेक्ष हो, उसें मुक्तक काव्य कहते है। प्रबन्ध काव्य फिर दो प्रकार का माना गया है (१) महाकाव्य, (२) खण्डकाव्य। स्थूल रूप से महाकाव्य में मानव जीवन की सर्वाङ्गीणता रहती है और खण्डकाव्य में मानव जीवन का एकांगी चित्रण होता है। रामायण महाकाव्य है और पंचवटी खण्डकाव्य। मुक्तक भी दो प्रकार के होते हैं—(१) पाठ्य, जिन के पढने से आनन्द मिले. (२) गेय, जिन को राग-रागनियों में गा कर आनन्द प्राप्त किया जा सके। पाठ्य के दो भेद होते हैं एक सूक्ति अर्थात् नीति आदि के दोहे जैसे कबीर, रहीम या

वृन्द की रचनाएँ, तथा दूसरे रसमय मुक्तक जिनमे सरलता और सुन्दर कल्पनाएँ भी मिली हो जैसे बिहारी के दोहे। गेय मुक्तक भी दो प्रकार के होते हैं—(१) लोकगीत, (२) साहित्यिक गीत। लोकगीत अनंत हैं। साहित्यिक गीत भी दो प्रकार के मिलते हैं। मीरा और सूरदास के गीत 'कथात्मक' हैं अर्थात् इन में कथा की क्षीण धारा भी बहती है। और पंत, निराला, बच्चन या महादेवी आदि के गीत 'संवेदनात्मक' कहलाते है।

# सत्यं शिवं सुन्दरम्

लक्ष्य ही मानव जीवन का प्राण है। बिना किसी निर्दिष्ट ध्येय के चलने वाला मानव शून्य में चले हुए तीर के सदृश निष्फल नहीं तो क्या है ? मनुष्य चेतना युक्त है, उसके पास बुद्धि-वैभव है जिसके कारण ही वह इतर प्राणियों से श्रेष्ठतम है। नहीं तो 'आहार-निद्रा-भय-मैथुन' में तो उसमें और अन्य चौरासी लक्ष प्राणियो में कोई भी भिन्नता नही है। चेतना ही उसे समग्र प्राणियो और प्रकृति का अधिपति बनाये हुए है। इसके द्वारा ही वह शरीर-यात्रा मात्र के लिए प्रयत्न नहीं करता, जब तक उसके मस्तिष्क और हृदय के लिए भी खाद्य वस्तु नही मिलती उसकी तृप्ति नहीं होती। वह अतृप्त, असन्तोषी बना हुआ अपने शारीरिक सुखो को तिलांजलि देता हुआ किसी अनुसन्धान मे संलग्न रहता है। यह अनुसन्धान क्या है ? वही जो चिरन्तन सत्य है, मानव-मात्र के लिए कल्याणकारी है और हृदय की सौंदर्य-तृषा को शान्त करने वाला है।

"सत्यं शिवं सुन्दरं" की ध्वनि अतीव मनोहर है। अनुप्रासिक सौंदर्य के साथ तीनो शब्दों का अर्थ-सौरस्य उसमे अनुपम छटा उत्पन्न कर देता है। तीनो ही शब्द भारतीय दर्शन और विचारा-धारा के सूत्र से प्रतीत होते हैं। ये शब्द 'सच्चिदानन्द' के रूपान्तर प्रतीत होते हैं क्योंकि सत्-चित् और और आनन्द का समन्वित अर्थ ही सत्य-शिव-सुन्दर से भिन्न नही है। भारतीय दर्शन का अद्वैत सिद्धान्त 'सत्य' का ही प्रतिपादक है, भारतीय धर्मशास्त्र 'शिवं' को ही सामने रख कर सारी व्याख्या प्रस्तुत करता है और कला जो यहाँ की

मूल प्रकृति है 'सुन्दरं' से परिपूर्ण है। समष्टि रूप से यहाँ का सारा धार्मिक-विन्यास, समाज-विन्यास और साहित्यिक-विन्यास सत्यं शिवं सुन्दरं का समन्वित रूप है। यही कारण है कि ये शब्द भारतीय विचार-धारा के सूत्र या उपनिषद् के मन्त्र से प्रतीत होते है। यद्यपि वास्तव मे इनकी उत्पत्ति भारत मे न होकर यूनान में हुई। The True, the Good, the Beautiful के सीधे अनुवाद के रूप मे ही ये शब्द गृहीत हैं। ब्रह्मसमाज के प्रणेता राजा राममोहन राय ने इन शब्दो को भारत मे प्रचलित किया। निश्चय ही उन्होंने इन शब्दो को पश्चिम से उधार ही लिया था पर जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है भारतीय विचार-धारा के लिए ये शब्द इतने अनुकूल हैं, इनकी ध्वनि और इनका विन्यास इतना मनोहर है कि इनके प्रचलित होते देर न लगी और किसी को इन्हे अपनाने में हिचक न हुई। बहुत से परम्परा-वादी विद्वानो ने कभी-कभी इनको अग्राह्य बताया क्योंकि वस्तुतः ये विदेशी है, पर "परो अपावन ठौर में कंचन तजत न कोय" फिर ऐसे सुन्दर शब्द सहृदयो के कण्ठहार क्यो न बनते ? विदेशी होते हुए भी अपनी मनोहारिता के कारण इनके स्वदेशी बनते देर न लगी।

सत्यं शिवं सुन्दरं आरम्भ मे धार्मिक और दार्शनिक क्षेत्र ब्रह्म-समाज में अवतरित हुआ। कारण यह है कि ये तीनो ब्रह्म की विभूतियों के द्योतक हैं। ब्रह्म सत्य है—स्वामी शंकराचार्य ने कहा है "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" जो कुछ सत्य है वह ब्रह्म है, उसके अतिरिक्त सब असत्य है। सत्य पर ही हमारा विश्व अवलम्बित है। जो सत् नहीं वही अलीक और क्षण भगुर है।

ब्रह्म शिव रूप है कल्याणकारी है। उसका एकमात्र कार्य सृष्टि की रचना-भरण-पोषण है। वह आनन्दस्वरूप है—आनन्द की स्थिति वहीं है जहाँ शिवत्व है। अणु-अणु मे उसकी कल्याण-योजना चलती रहती है। शिवरूप होने के साथ ही वह सुन्दर रूप से युक्त है, नयनाभिराम है। जो कुछ इस विश्व में सुन्दर दिखाई पडता है उसी का स्वरूप है। जो श्रेष्ठ है, जो उदात्त है, जो सुन्दर और मोहक है उसी का अंश या वर है—

"नयन जो देखा कमल भा, निर्मल नीर सरीर।
हंसत जो देखा हंस भा, दसन ज्योति नगहीर॥"—जायसी

गीता मे भी भगवान् कहते है कि जो कुछ महत्त्वपूर्ण है वह उन्हीं का रूप है—

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसंभवम् ॥

साहित्य मे सत्यं शिवं सुन्दरं की व्यापकता का कारण यह भी है कि तीन शब्द होते हुए भी ये एक ही है, क्योकि जो सत्य है वही शिव है और वही सुन्दर है। सत्य ही स्थायित्व का द्योतक है। बिना सत्यता के कोई भी वस्तु स्थायी नहीं हो सकती। जिसे काल और देश की सीमा मे रहना पडता है वह सत्य का स्वरूप नहीं प्राप्त कर सकता। यदि कोई वस्तु या कार्य किसी एक देश या काल विशेष मे महत्व प्राप्त करता है पर इसके देश या काल मे उसका मूल्य नहीं होता तो उसे हम सत्य नही कह सकते। कालिदास की कविता, शेक्सपियर का नाटकत्व, सूर का सौष्ठव और प्रसाद की उद्भावना न तो एकदेशीय है और न काल की सीमा इनके महत्व को कम कर सकती है। इसका अर्थ है कि इनके पीछे कोई सत्य है। सत्य वही है जो शाश्वत है, चिरन्तन है और देश-काल की परिधि से परे है। शाश्वत और सनातन वही होता है जिसके मूल मे शिव या कल्याण की भावना होती है। बिना कल्याण-भावना के महत्त्वपूर्ण से महत्त्वपूर्ण वस्तु भी व्यर्थ हो जाती है। स्थायित्व देने का श्रेय शिवत्व को ही है। अकल्याण कभी टिकाऊ नहीं होता। तात्पर्य यह कि जो भी सत्य होगा उसमें शिवत्व अवश्य होगा। शिवत्व सत्य की कसौटी है। फिर जो कल्याणकारी है वही 'सु' है। अकल्याण कर ही को हम 'कु' कहते है। जहां शिव नही वह सुन्दर नही। शिवत्व से हीन जो सुन्दर है वह सर्वत्र सुन्दर नहीं कहा जाता, वह तो किसी वासना का भ्रूकुटि-विलास मात्र है। सुन्दर वही है जो आनन्दस्वरूप है। आनन्द में शिवत्व और सत्यत्व अन्तर्भूत हैं। सारांश यह कि जिसे हम सत्यं शिवं सुन्दरं कहते हैं वह आनन्द का पर्याय मात्र है, सत्यं शिवं सुन्दरं अलग-अलग शब्द न होकर एक ही भावना के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों के प्रतीक हैं। अर्थ की दृष्टि में शब्द अखण्ड है।

सत्यं शिवं सुन्दरं का प्रयोग धार्मिक-क्षेत्र की अपेक्षा साहित्यिक-क्षेत्र में अधिक प्रचलित हो उठा है। बात यह है कि ये शब्द साहित्य की विचारधारा के लिए अधिक उपयुक्त है भी। काव्य जन-जीवन का दर्पण है। उसमे मानव की शाश्वत अनुभूतियो का संचयन होता है। जो कुछ भी शाश्वत ज्ञानराशि है वही तो स्थायी साहित्य मे धरोहर के रूप मे एकत्रित होती है। इसी लिए जिसे हम साहित्य कहते हैं उसमे स्थायित्व का गुण अत्यन्त आवश्यक है। जो सामग्री शाश्वत और सनातन नही होती वह काल-कवलित हो जाती है। उसे साहित्य के भण्डार मे स्थान नही मिलता। इसमे कोई सन्देह नही कि साहित्य में कल्पनाप्रसूत सामग्री ही होती है पर उस कल्पना के मूल मे सत्य ही होता है। प्रेमचन्द जी के उपन्यासो की घटनाये और पात्र कल्पित ही है पर उन घटनाओ और पात्रो के पीछे सत्य ही झाँक रहा है। सार वस्तु विन्यास शुद्ध सत्य का ही अङ्कन करता है। साहित्य के सत्य और इतिहास या विज्ञान के सत्य मे कुछ अन्तर होता है। इतिहास और विज्ञान की दृष्टि स्थूल होती है पर साहित्य की सूक्ष्म होती है। जो कुछ जीवन मे घटित हुआ है या होता है इतिहास उतने ही को सत्य मानता है। उसमे आगे वह सत्य नहीं मानता। पर साहित्य स्थूल को महत्व नहीं देता उसमे व्यञ्जना का महत्व होता है। शब्द और अर्थ से परे जो व्यञ्जना होती है वही साहित्य की आत्मा कही गई है। इसलिए जो कुछ होता है या हुआ है वही साहित्य का सत्य नहीं है, सत्य वह है जो हो सकता है। इसी लिए कहा जाता है कि इतिहास मे तिथि, घटनाओ और पात्रो के अतिरिक्त कुछ भी सत्य नहीं होता और साहित्य मे तिथि, घटनायें और पात्र ही सत्य नहीं होते, शेष सब सत्य ही होता है। इतिहास को पढ़ कर किसी काल विशेष या समाज विशेष का कोरा लेखा हम भले ही जान ले पर उसका जीता जागता वह स्वरूप हम नहीं देख सकते जो महाकाव्य, उपन्यास या नाटक में देखते हैं। साहित्य पात्रों और घटनाओं के पीछे जो वास्तविक तथ्य है उसे साकार कर देता है। विज्ञान का सत्य भी साहित्य के सत्य से बहुत भिन्न है। विज्ञान सत्य का अनुसन्धान तर्क और परीक्षा से करता है। वह शल्य विधान द्वारा सजीव को चीर-फाड कर उसको समाप्त करके तब सन्तुष्ट होता है। भाव

यह कि सप्राण को प्राणविहीन करने के पश्चात् ही उसे सत्य का अनुभव होगा। किसी तत्व, जीव या पुष्प को वह लेगा उसे टुकडे-टुकड़े करेगा, अग्नि परीक्षा करेगा, चखेगा, उसका रस निकालेगा, आदि अनेक प्रक्रिया करेगा तब कहीं उसे सन्तोष होगा। पर साहित्य ठीक उसके विपरीत उसको देख कर उसमें मानवीकरण करेगा। निर्जीव वस्तु को भी वह तो सजीव मानता है, उस पर मानवीय भावो का आरोप करता है। कालिदास का मेघ पुञ्जीभूत वाष्प नहीं है, प्रियतमा के पास प्रणय-सदेश ले जाने वाला दूत है। हरिऔध की राधिका पवन को दूत बनाती है। जायसी के पद्मावत मे विरहिणी नायिका नागमती को देख कर पक्षी कहता है:—

"तू फिरि फिरि दाहै सब पांखी। केहि दुख रैनि न लावई आंखी।"

और नागमती कौए और भौंरो से सन्देशा भेजती हैं कि—

पिउ से कहेउ सदेसड़ा, रे भौंरा रे काग।
सो धनि विरहै जरि मुई तेहि क धुँआ हम लाग॥

तुलसी के रामचरित मानस में राम भी कहते हैं कि—

"हे खग मृग हे मधुकर श्रेणी। तुम देखी सीता मृग नैनी।"

छायावादी कवि पन्त प्रकृति में सुन्दरी का रूप देखता है और उस पर इतना मुग्ध है कि रमणी के स्थूल सौंदर्य की ओर वह आँख भी नहीं उठाता—

'छोड प्रकृति की माया
बाले तेरे बाल जाल मे कैसे उलझा दूँ लोचन।'

कविवर निराला वसन्त ऋतु के लता-पुष्प, तृण और वृक्षों को प्राकृतिक वस्तु मात्र नहीं समझते, उस पर मानवीय आरोप करते है—

'सखि वसन्त आया
वसन्त नव वय लतिका मिली मधुर प्रिय उर तरु पति का।'

महादेवी जी रात्रि को वैज्ञानिक पृथ्वी की दैनिक गति के परिणाम स्वरूप प्राकृतिक अवस्था मात्र नही मानती, वरन् उसमें सौंदर्य और सहानुभूति से समन्वित नारी का दर्शन करती हैं —

धीरे-धीरे उतर क्षितिज से
आ वसन्त रजनी
तारकमय नव वेणी बन्धन
शीशफूल लेकर शशि का नूतन
रश्मि वलय सित घन अवगुण्ठव
मुक्ताहल अभिराम बिछा दे
चितवन से अपनी।

शिवत्व साहित्य की धुरी है। "हितेन साहित्यं" हित या कल्याण से युक्त वाक्य ही साहित्य बन सकता है। "हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः" ही वाणी का प्रधान लक्षण है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी रामायण में मानव कल्याण को प्रधान माना है—

"कीरति भनित भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई।"

साथ ही मानस के मंगलाचरण मे ही वाणी विनायक के रूप में काव्य का स्वरूप बताते हुए वे कहते हैं कि—

वर्णानामर्थसंघानाम् रसानां छन्दसामपि।
मंगलानां च कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ।"

स्पष्ट है वर्ण, अर्थ, रस और छन्द के होते हुए भी मङ्गलरूप शिवत्व की स्थिति गोस्वामी जी काव्य के लिये अनिवार्य समझते थे। काव्य का अन्तिम लक्ष्य ब्रह्मानन्द की प्रतीति है। कविता के द्वारा कवि शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध का निर्वाह करता है। शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध तभी स्थापित होगा जब काव्य के पीछे विश्व-कल्याण की भावना हो। भावों का सम्पूर्ण क्षेत्र ही शिवत्व से सम्बद्ध है। हृदय की मुक्तावस्था में ही रसदशा होती है। हृदय की मुक्तावस्था से तात्पर्य है कि हृदय व्यक्तिगत लाभालाभ और सुख-दुःखों की परिधि से परे हो जाय। निश्चय ही व्यक्तिगत परिधि से परे की स्थिति वही है जो मानव-कल्याण में निहित होती है। जब भावक या साहित्यकार इस प्रकार की भावनाओं का उद्गार करता है तभी काव्य होता है। अंग्रेज कवि वर्ड्स्वर्थ के शब्दों में कविता मनोवेगों का सहज प्रवाह है (Poetry is the spontaneous overflow of

powerful feelings.)। प्रबल मनोवेग वे ही हैं जो व्यक्तिगत मनोविकारों से परे हैं और उनका सहज प्रवाह विश्व-कल्याण की अजस्त्र धारा ही है। तात्पर्य यह कि काव्य में हम जिसे रस कहते हैं, आनन्द की अभिव्यक्ति कहते हैं वह मङ्गल या शिवत्व से भिन्न नहीं है। जिस काव्य में लोकहित नही है वह काव्य कहे जाने का अधिकारी नहीं है। अनेक लोग काव्य को कला मानते हैं और कला काव्य के लिए (Art for Art's sake) कहकर उसमे लोक-हित का समावेश नही मानते। पर यह मत भ्रामक है। कला तो अभिव्यक्ति है, शरीर है प्राण नहीं। जिसकी अभिव्यक्ति कला है, वह तो लोकहित ही है। लोकहित के बिना कला प्राणहीन हड्डियो का ढाँचा मात्र है। लोकहित से हीन कला अस्थायी चमत्कार तो प्रदर्शित कर सकती है पर स्थायित्व को प्राप्त नहीं कर सकती। सारांश यह कि शिवत्व काव्य या साहित्य के लिए अनिवार्य है।

काव्य कला है और कला के पाँच रूपों वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य में सर्वश्रेष्ठ है। कला मे सौंदर्य का उपकरण अनिवार्य है। सौंदर्य की मनस्तुष्टि के लिए ही कला का जन्म हुआ। कम से कम बाह्य उपकरणों से अधिक से अधिक सौंदर्य का उत्पन्न करना, हृदय को भौतिक क्षेत्र से मुक्ति दिलाना कला ही का कार्य है। मानव मन कला के कारण ही उपयोगता के दृष्टिकोण को छोड कर लालित्य को प्रधानता देता है। यही कारण है कि काव्य के लिए कला अनिवार्य है। काव्य मानव को उदात्त भावो की ओर अग्रसर करता है, उसमे रसत्व उत्पन्न करता है, उसका उद्देश्य आनन्द की सृष्टि करना है पर उसका एक मात्र आधार शब्द और अर्थ है। श्रेष्ठ भाव तभी रसात्मक हो सकता है जब उसके अनुरूप शब्दावली, ध्वनि और रस के अवयव हों। अभिव्यक्त महान् तो होता ही है, अभिव्यक्ति भी महान् होती है। दोनो को भिन्न नहीं कहा जा सकता। कविपुंगव कालिदास ने ठीक ही कहा था—

"वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये"

वाणी ( भाषा ) और अर्थ दोनो ही समन्वित हैं, अलग नही किये जा सकते। इसी लिए काव्य की परिभाषा देते हुए पंडितराज जगन्नाथ ने कहा "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादन

करने वाला शब्द ही काव्य है। स्पष्ट है काव्य वही है जिसमे अर्थ सौरस्य है, पर साथ ही उसमे उसके अनुरूप ही रमणीय शब्द है। काव्य मे भाव-पक्ष की जितनी महत्ता है उससे कम महत्ता कला-पक्ष की नही है। अलंकार, शब्दशक्ति, ध्वनि, रस और लय (छन्द, गीत) इसीलिए कविता के लिए अनिवार्य बताये गये हैं।

'अलंकार भूषण सुरस जीव छन्द तन भाख"—देव

अर्थात कविता के भूषण अलंकार है, जीव रस है और छन्द उसका शरीर है। कविता और कामिनी का सम्बन्ध सौंदर्य से नित्य चिरन्तन और शाश्वत है।

मनुष्य का ऐसा कोई क्षेत्र नही जहाँ इन तीनों तत्त्वो का समावेश न हो। धर्म और साहित्य मे तो इनका दिग्दर्शन ऊपर किया जा चुका है। सामाजिक जीवन मे पद-पद पर इसके दर्शन होते है। वस्त्र हम पहनते हैं उसका मूल्य तथ्य है शरीर की रक्षा, उसके लिए हम कपड़ा खरीदते है। कपड़ा खरीदते समय हम उसकी मजबूती पर ध्यान देते हैं साथ ही यह भी दीखते है कि उसका प्रयोग अगों को सुखमय है या नही और सुन्दर लगता है या नहीं। कपड़े से भी अधिक रुपये का व्यय उसकी सिलाई और सौंदर्य पर करते हैं। भोजन करते है शरीर को खाद्य देने क लिए पर साथ ही उसके स्वाद और उसके बनावट कौशल पर भी ध्यान देते है। किसी से बातें करते है तो बात भी वही अच्छी होती हैं जिसमे मधुर भाषण, आकर्षक शैली साथ ही तथ्य पूर्ण व्यक्त हो। साराश यह कि जीवन मे पद-पद पर हमें तीनो ही तथ्यो का समन्वय मिलता है। तीनो ही तथ्य एक-दूसरे के सहायक हैं एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही शका मे पड़ जाता है। इसीलिए विश्व के एक छोर से दूसरी छोर तक आज भिन्न-भिन्न देशों की विभिन्न वाक्यावली में व्याप्त है 'सत्यं शिवं सुन्दरम्।'

# कला और जीवन

प्रकृति सत् है, मनुष्य सत् और चित् है, परमात्मा सत्-चित्-आनंद है। प्रकृति में चित् और आनन्द का अभाव है, किन्तु मनुष्य में केवल आनन्द का, इसी कारण मनुष्य को आनन्द की खोज रहती है क्योंकि वह अपनी अपूर्णता को पूर्ण करना चाहता है। आनन्द प्राप्त करना सभी चाहते है, परन्तु क्यों चाहते है ? यह इस प्रश्न का तात्त्विक उत्तर है।

मनुष्य ने आदिकाल से इस आनन्द की खोज की और ऋषियों मुनियों ने अनेक प्रकार के कठिन तप, व्रत, यज्ञ, हवन, योग, समाधि आदि साधनों को ढूँढ निकाला। परन्तु ये सभी साधन कठिन, कष्टसाध्य और इसी कारण सर्वसुलभ तथा सहज गम्य भी नहीं थे। दार्शनिक विद्वानों का पथ कंटकाकीर्ण देखकर मानव ने मस्तिष्क की बजाय हृदय को उस आनन्द की खोज मे लगाया। मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय अधिक सरल है। इसलिए उसने आनन्द प्राप्ति का भी एक सरल मार्ग खोज निकाला। वह था सौन्दर्य। हृदय ने सुन्दरता देखी और उसके चिर अभाव की पूर्ति हो गई।

कहते है सौन्दर्य में इतनी शक्ति और ऐसा प्रभाव है कि स्वयं स्रष्टा भी इसके सामने पराजय स्वीकार कर बैठा था। जब ईश्वर ने तन्मय होकर सौंदर्य की सृष्टि की, तो उसके मूल्यांकन के लिए उसे सामने रख कर दूर से उसे देखा। देखते ही ईश्वर की संज्ञा लुप्त हो गई। वह सामने खड़ा न रह सका। मूर्छित होते-होते बचा। स्रष्टा ने सोचा, सौंदर्य जब इतना भयानक है कि सर्वशक्तिमान् मुझे भी विचलित कर सकता है, तो मनुष्यों का क्या बनेगा। यह सोच ईश्वर ने उस शुभ्रता से चमचमाते हुए सौंदर्य पुंज की जगमगाहट को कम करने के लिए काले मसीपात्र मे में कूची भर कर एक बड़े झटके के साथ स्याही उस पर डाली और फिर दूर खड़े होकर परिणाम देखने लगा। स्रष्टा के आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा, जब कि उसने देखा कि वे स्याही के दो धब्बे उस सौंदर्य पुंज मे दो काली-काली आंखें बन

कर उसके प्रभाव को दुगना बढ़ा रही हैं। खीज कर ईश्वर ने एक और झटका दिया और अपने प्रयत्न की सफलता को देखने के लिये दूर जाकर उसे देखा। परन्तु एं · यह""क्या? सौंदर्य का प्रभाव कम होने की बजाय चौगुना बढ़ गया था. क्योंकि वह स्याही का दूसरी बार फैंका हुआ धब्बा उस सौंदर्य सार के एक कोने में नीचे की ओर छोटा सा तिल बनकर शोभा दे रहा था। दूसरी बार अपने प्रयत्न की विफलता देखकर स्रष्टा मारे क्रोध के पागल हो उठा और कहते है, अब की बार उसने सारे मसीपात्र को उठाकर अपने पूर्ण वेग के साथ उस सौंदर्य पुंज पर झटका दिया और प्रसन्न होकर ज्यों ही दूर से उसे देखा, उस के पांव में से धरती निकल गई। वे सारी स्याही के बड़े-बड़े छींटे उस सौंदर्यसार मे काली-काली जुल्फे बनकर लहरा रहे थे और उसके घातक प्रभाव को सौगुना बडा रहे थे।

सचमुच सौंदर्य मे असीम शक्ति और अपार प्रभाव है। जो भी सुन्दर वस्तु को देखता है, बस देखता ही रह जाता है। उसकी सुध-बुध ही खो जाती है। इन्द्रियां निर्जीव और चेतना लुप्त हो जाती है। किसी ऐसी ही सुन्दरी नायिका के विषय मे कविवर बिहारीलाल ने भी कहा था—

"लिखन बैठे जाकी छविहिं, गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के, चतुर चितेरे कूर॥"

बस संसार के पदार्थों में इसी सौंदर्य की अभिव्यक्ति करने वाले को 'कलाकार' तथा उसके साधन को 'कला' कहते हैं। कलाकार असुन्दर में से भी सुन्दर की सृष्टि कर दिखाता है। यही तो उसकी विशेषता है, कला है। मिट्टी, जिसे हम पांवो से रोंदते है और अशुद्ध होने के भय से जिससे दूर भागते है, वही मिट्टी कलाकार के हाथो मे पडकर जब एक सुन्दर घड़े का रूप धारण कर लेती है, तो गांवो की तन्वंगी सुन्दरियां भी उसे अपने भुजपाशो मे बांध कर चलने में गर्व का अनुभव करती हैं। इसी प्रकार स्याही का धब्बा कपड़ो पर पड़ जाने से हम आवेश में आ जाते है, किंतु उन्हीं सियाही के बिन्दुओं से जब कलाकार किसी युवति का मोहक रूप अंकित करता है, तो उसे घंटों देखते हुए भी नहीं थकते। यह है कला का चमत्कार।

वस्तुतः जैसे एक मस्तिष्क के विचारों को दूसरे मस्तिष्क तक पहुँचाने का साधन भाषा है, उसी प्रकार एक हृदय के भावों को दूसरे हृदय तक तद्वत् पहुँचाने का साधन कला है। यह कला दो प्रकार की होती है, एक उपयोगी कला, दूसरी ललित कला। उपयोगी कला में उपयोग की मात्रा प्रधान रहती है तथा ललित कला मे सौंदर्याभिव्यक्ति द्वारा आनन्द प्रदान करने की योग्यता मुख्य रहती है। यद्यपि उपयोगी कला में भी सुन्दरता और ललित कला में भी उपयोगिता का गुण पाया जा सकता है, तथापि किसी एक कला में एक गुण की ही प्रधानता रहती है। मेज़ या कुर्सी कितनी ही सुन्दर क्यों न बनी हो, उसमे उपयोगिता का गुण ही प्रधान रहता है और संगीत या चित्रकला मे उपयोग की अपेक्षा सौंदर्य की अभिव्यक्ति तथा आनन्द की अनुभूति मुख्य रहती है। इसलिये अधिकतर कला शब्द के अन्तर्गत ललित-कलाओं का ही ग्रहण होता है क्योंकि कला के मुख्य प्रयोजन की पूर्त्ति इनके द्वारा ही अधिक होती है।

कलाकार अपने भावों को दूसरों तक उसी प्रकार पहुँचाकर लोगों को भी अपने हृदय का आनन्द अनुभव करा देता है। किसी सुन्दर वस्तु को देखने से जो आनन्द कलाकार को मिला है, उसी को उसी रूप मे दूसरों के हृदय तक पहुंचा देने के साधन को कला कहते है। जब कलाकार अपने भावों की प्रेषणीयता के लिये पत्थर को माध्यम बनाता है, तो वह मूर्त्तिकार कहलाता है, किसी कागज या वस्त्र को साधन बनाता है, तो चित्रकार कहलाता है। ध्वनि के द्वारा ही अभिव्यक्ति करने वाले को संगीतकार तथा नाच कर अपना भाव समझाने वाले को नृत्यकार या नट कहते हैं। अभिनेता अभिनय के द्वारा एवं कवि वाणी के द्वारा अपने हृदय की भावनाओं को दूसरों पर प्रकट करता है।

विज्ञान की तरह कला भी असंभव को संभव कर दिखाती है। कल्पना के सहारे कलाकार स्वर्ग के दृश्य धरती पर दिखा देता है, घर बैठे प्रलय का तूफान प्रस्तुत कर देता है, हजारों वर्ष पहले उत्पन्न हुए भगवान् राम, कृष्ण, बुद्ध, शिवाजी, प्रताप के अलौकिक रोमांचकारी जीवन की घटनाएँ सजीव रूप

मे और मूर्त रूप मे सामने दिखा देता है। जिस तरह स्वप्न लोक में असंभव भी संभव हो जाता है, उसी प्रकार कलाकार के मायालोक मे भी भूत वर्तमान बन जाता है, अप्रत्यक्ष प्रत्यक्ष और असत्य सत्य प्रतीत होता है। भला ऐसे कलाकार का कोई मूल्यांकन करे भी तो कैसे ? इस कला को कोई कीमत दे भी तो कितनी। जिस कला के प्रभाव से, चाहे वह संगीत हो या चित्र, मूर्ति हो या काव्य, मनुष्य क्षण भर के लिये अपने आप को भूल जाता है, एक आनन्द जगत् मे पहुंच कल्पना के सहारे लोकोत्तर आनन्द के अपार सागर मे डूब जाता है। जहां शोक नही, चिन्ता नही, अभाव नही, आवश्यकताएं और समस्याये नही, विषमता नही, रोग नही, शत्रु नही, बाधाएं नही, उलटा सुख, शान्ति, आनन्द, मधुरता, सरलता, सरसता, मित्रता, प्रेम, सौंदर्य, यौवन, अमृत, जीवन का अखंड साम्राज्य होता है। उल्लास के नन्दन वन में आनन्द के झूले झूलता हुआ वह सहृदय व्यक्ति सच-मुच अपने-आप को 'पूर्ण' समझने लगता है। भला ऐसी कला और ऐसे कलाकार को कोई क्या पारिश्रमिक दे। उसकी प्रशंसा मे शेष के सहस्रमुखों से भी कुछ बोलते नहीं बनता। कलाकार अपने कला-जगत् का स्वयं सर्वशक्तिमान् स्रष्टा है, ईश्वर है। जगत् के स्रष्टा से कलाकार का स्थान ऊंचा है। क्योंकि जगत् के स्रष्टा द्वारा विरचित जगत् में तो जिधर देखो दुःख के बादल घिरे हुए है, चिन्ताओ का सागर उमड़ रहा है, शोक और मृत्यु से चीत्कार करते हुए मनुष्य तड़पते नजर आते हैं। कही सुख का नाम-निशान नहीं मिलता, शान्ति और आनंद को कोई जानता तक नहीं। रक्तपात और युद्ध की भयानक ज्वालाओं मे झूलती हुई मानवता जगत् के स्रष्टा को कोस रही है। किंतु इसके विपरीत कलाकार का जगत् आनन्द और केवल आनन्द का जगत् है। उस जगत् के कांटे भी फूल से कोमल हैं और रोना भी संगीत से कम मधुर नहीं—

> "मैं रोया इसको तुम कहते हो गाना।
> मै फूट पड़ा तुम कहते छन्द बनाना॥"

वस्तुतः कलाकार महान् है, असीम है। उसको देश, काल और व्यक्ति की सीमा में नहीं बांधा जा सकता। वह सब देशो का सभी कालो और सभी

व्यक्तियो का है। वह अजेय है, ज्योतिषी है, निर्माता है, स्रष्टा है, सर्वशक्तिमान् , अजर और अमर है। कोई उसको मोल नही ले सकता, भयभीत या ललचा नही सकता। वह किसी की शक्ति या दबाव के सामने नहीं झुकता। वह अगर झुकता है, तो अपनी कला के सामने। वह यथार्थवादी होने के नाते कटुता और असुन्दरता से भी नही घबराता। वह कला का अखंड उपारक और कठोर साधक होता है। कलाकार किसी का दास नही होता, वह किसी की प्रशंसा के गीत किसी को प्रसन्न करने या धन कमाने के लिये नही लिखता। जिस तरह जगत् को देखता है, उसका यथार्थ चित्रण निःसंकोच भाव से करता है। वह अपने मन का मालिक होता है, अपनी मौज मे रहता है। 'स्वान्तः सुखाय' लिखता और गाता है। वह स्वयं आनन्द लूटता है और दूसरो को लुटाता है, यही उसकी कला का प्रयोजन है। वह कला को कला के लिये मान उसका महत्त्व और गौरव बढ़ाता है। वह अपनी कला को किसी की दासी नहीं बनाना चाहता। वह स्वयं स्वतन्त्र तथा अपनी कला को भी स्वच्छन्द रखता है। जीवन के हितकारक उपदेश, नीति और धर्म की व्याख्या, दर्शन की शुष्क गुत्थियां सुलझाना उसका काम नही। इसकी आशा कलाकार से नही, किसी उपदेशक, दार्शनिक, धर्मात्मा महात्मा से रखनी चाहिये। कलाकार बंधन और नियमों से रहित है। उसका काम सौंदर्य की खोज करना, सौन्दर्य की अनुभूति करना और सौन्दर्य को अभिव्यक्ति करना है।

यह माना कि सौन्दर्य की कोई निश्चित व्याख्या नहीं। सौन्दर्य तो देखने वालो की आंख मे रहता है। भारतीय काले बालो को पसन्द करते हैं, परन्तु अंग्रेजो को सुनहले केश ही अच्छे लगते है। किसी नारी को विदेशी रीति से कटे-छटे केशो द्वारा और अर्ध नग्न रहकर अपने शरीर का सौन्दर्य भाता है, तो किसी प्राचीन सभ्यता की प्रशसा करने वाली महिला को सादे वेश मे तथा लम्बा घूंघट निकाल कर ही चलने में शोभा का अनुभव होता है। इसी प्रकार अच्छे और बुरे तथा पाप और पुण्य की भी निश्चित परिभाषा देना कठिन है। किन्तु किसी कठिनता को सरल, सरल ही नहीं सुन्दर बनाना कलाकार की कला का काम है। सच्चा कलाकार विषमता में सरलता,

कठोरता मे कोमलता और असुन्दरता मे सुन्दरता को प्रकट करता है। किन्तु सच्चा कलाकार सर्वांगीण होता है; एकांगी नही। अतः वह कला को कला के लिए मानता हुआ भी कला को जीवन के लिये भी मानता है। कला केवल कला के लिये भी नही और केवल जीवन के लिये भी नहीं। वह दोनों के लिये है। कला का महत्त्व कभी शुद्ध कला की दृष्टि से आंका जाता है और कभी जीवन के दृष्टिकोण से भी। जो कला जीवन के लिए उपदेश नहीं देती वह कला ही नही, यह कहना उतना ही अनुचित है जितना यह मानना कि जो कला केवल आनन्द प्राप्ति या सौन्दर्याभिव्यक्ति के लिये है; वह कला नहीं। वस्तुतः कलाकार कला के लिये होता हुआ भी जीवन की उपेक्षा नहीं करता और जीवन के लिए होता हुआ भी कला का तिरस्कार भी नहीं करता।

जरा सोचिये, यदि एक संगीतज्ञ अपनी कला का प्रदर्शन सबके सामने नहीं करता, केवल 'स्वान्तः सुखाय' की रट लगाता हुआ एकांत में अपने आप को ही सुनाता रहता है तो उसकी कला से क्या लाभ? तानसेन यदि अकबर के दरबार मे अपनी कला का प्रदर्शन न करता, तो संगीत मर जाता। इसी प्रकार एक महान् कवि अपनी रचनाओं को प्रकाशित न करके सोने चांदी की अलमारियो मे सजाकर ताले मे बन्द रखता है और किसी को पढ़ने की आज्ञा तक नहीं देता; तो उसकी काव्य-कला बेकार ही समझी जायेगी। जो कला केवल कलाकार के लिए ही होती है, सब के लिए नहीं वह स्वार्थिनी है—

> मानते है जो कला के अर्थ ही।
> स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही॥

मीठे-मीठे फल यदि वृक्षों की शोभा बढ़ाने के लिए ही होते और उनको खाकर भूख मिटाने की यदि किसी को आज्ञा न होती, तो भला उनकी मिठास का किसी को क्या ज्ञान होता। एक विशाल भवन; जिसके बनवाने पर लाखों रुपया लगा हो, यदि किसी के रहने के लिये न खुल सके, तो उसकी सारी सजावट से क्या लाभ। एक सौ रुपये की लागत का कीमती बूट यदि

पहनने वाले के पाँव मे नही आता, या उसे घायल करता है, तो उससे फटी-पुरानी चप्पल ही अच्छी समझी जायेगी। इसलिये जो कला जीवन को सुख और शान्ति नही पहुँचाती, उसे आदर्श नही बनाती, वह कला नही, बला है। सूरदास, तुलसीदास, वाल्मीकि और वेदव्यास आदि महाकवियो ने भले ही 'स्वान्तः सुखाय' कविता लिखी हो, परन्तु क्या उनकी कला ने जीवन को उन्नति का मार्ग नही दिखाया। क्या रावण और दुर्योधन के दुःखान्त जीवन ने यथार्थ से आदर्श की शिक्षा नही दी ? कुछ यथार्थवादी विद्वान् कहते हैं कि जिस प्रकार पानी केवल पीने के लिये, रोटी केवल खाने के लिये तथा कपड़ा केवल पहनने के लिए है, उसी प्रकार कला भी केवल कला के लिये है, जीवन के साथ उसका कोई सम्बन्ध नही। ऐसा मानना अनुचित है। क्योंकि पानी इसलिये केवल नही पिया जाता, कि वह पीने की वस्तु है, बल्कि इसलिये भी पिया जाता है कि उसके बिना हमारा जीवन असम्भव है। इसी प्रकार रोटी और कपड़ा भी केवल खाने या शरीर ढकने के निमित्त ही नही। उनका प्रयोग जीवन को स्थिर रखने तथा समाज मे आदर पाने के लिये भी होता है, बल्कि विशेष रूप से होता है।

केवल रूपसौन्दर्य नहीं, भावसौन्दर्य भी कला का प्रयोजन होना चाहिये। बाहर तडक-भडक या रंग-बिरंगे चित्रों को ही केवल सुन्दर न मानकर ऐसे चित्रों को अच्छा कहना चाहिये, जिनके द्वारा सुन्दर भावो की भी अभिव्यक्ति हो। जो सुन्दर सत्य को प्रकट नहीं करता, वह सुन्दर कहलाने योग्य नही। अंग्रेजी के महाकवि कीट्स ने कितना सही कहा है—

The truth is beauty, beauty truth

अर्थात् वह सुन्दर नहीं, जो सत्य नहीं और वह सत्य नहीं, जो सुन्दर नहीं। कला की व्याख्या इन शब्दो से अधिक और क्या हो सकती है। सागर को गागर मे भर कर रख दिया है। एक कलाकार दार्शनिक या उपदेशक की भांति नीति के वचन भले न कहे, परन्तु जीवन के आदर्श बनाने वाला सत्य उसकी कला मे अवश्य छिपा रहता है। वह कलाकार का सत्य वैज्ञानिक की तरह निर्जीव तथा दार्शनिक के समान नीरस न होकर सजीव तथा सरस होता है। वह कान्तोपदेश मे विश्वास करता है, गुरूपदेश मे नहीं।

"सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात्।" के सिद्धान्त पर आचरण करता हुआ सच्चा कलाकार अपनी कला को 'सत्यं शिवं सुन्दरं' का समन्वित रूप प्रदान करता है। सच्ची कला मे कुसुम जैसी कोमलता होती है, परन्तु उसके नीचे कठोर कांटे भी छिपे रहते है। उसमें उमडती भावनाओं का सागर भी होता है, तथा मंगलमय सत्य विचारों की चट्टानें भी। वास्तव में उसमें यथार्थवाद की सुन्दरता, कोमलता और मधुरता भी रहती है, एवं आदर्शवाद की दृढ़ता, कटुता और नीरसता भी। शुद्ध कला 'क्या' की व्याख्या के साथ 'क्यों' का उत्तर भी देती है। तभी हिन्दी के राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने कहा है—

हो रहा है जो जहाँ सो हो रहा।<br>
यदि वही हमने कहा तो क्या कहा॥<br>
किन्तु होना चाहिये कब क्या कहाँ।<br>
व्यक्त करती है कला ही यह यहाँ॥

# ललित कलाएं और काव्य

संकेत—१. कला की परिभाषा। २. कला का विभाजन। ३. ललित-कलाएं कितनी हैं। ४. कला की श्रेष्ठता का मानदण्ड क्या है। ५. ललित-कलाओं मे काव्य का स्थान। ६. कला की महत्ता।

भूमिका—भावों की अभिव्यक्ति ही कला है। प्रकृति ने स्वभावत: ही मनुष्य को अनुभूतिशील बनाया है। मनुष्य जो कुछ देखता और सुनता है उ..के विषय मे वह विचार भी करता है। जिसका कारण उसकी अनुभूति है। जैसी अनुभूति जिस वस्तु के प्रति मनुष्य को होती है, वैसे ही विचार भी उसके मन मे आते हैं। मानव-हृदय सम्वेदनशील होने के कारण मनुष्य किसी वस्तु के प्रति अधिक रागमय और किसी वस्तु के अति उदासीन होता रहता है। जिस वस्तु की अनुभूति उसे सुखद रूप मे होती है, उसके प्रति वह अधिक आकर्षित होता है, उसे पाने का प्रयत्न करता है तथा अपने मन में उठे हुए भावों को अभिव्यक्त करना चाहता है, जिसका माध्यम उसने कला को बनाया है।

कला को उपयोगी और ललित इन रूपों में विभाजित किया गया है। कला का उपयोगी रूप हमें सुनार, लुहार, बढ़ई, दर्जी आदि की कलाओं में देखने को मिलता है। ये कलाकार वस्तु विशेष का निर्माण करते समय लालित्य का उतना ध्यान नहीं रखते जितना उपयोगिता का। इसलिए इन कलाओं को उपयोगी कला की ही संज्ञा दी गई है। यद्यपि लालित्य (सौंदर्य) इन कलाओं में भी कुछ न कुछ रहता ही है।

ललित कलाएं पांच मानी गई हैं जिनको क्रमशः वास्तु, मूर्त्ति, चित्र, संगीत और काव्य नाम दिया गया है। वैसे तो पांचों कलाओ में ही भावों की अभिव्यक्ति प्रधान है, पर अभिव्यक्ति के रूप वैभिन्न्य को लेकर ललित कलाओं को पांच भागों में बांटा गया है। वास्तुकला भवन आदि निर्माण करने की कला को कहते हैं। जिसके अन्तर्गत विरला मन्दिर, ताजमहल

जैसी रचनाओं को लिया जाता है। इस प्रकार की रचनाओं में उपयोगिता की अपेक्षा लालित्य का ध्यान अधिक रखा जाता है। पत्थर, लकडी अथवा किसी धातु का सहारा लेकर जब भावो की अभिव्यक्ति किसी प्रतिमा के रूप में की जाती है तब उसे मूर्ति कला कहा जाता है। तूलिका के सहारे रंगों द्वारा पट विशेष पर भावो की अभिव्यक्ति का नाम चित्रकला है। इसी प्रकार स्वर के सहारे कण्ठ द्वारा भावो की अभिव्यक्ति को संगीत कला की संज्ञा दी गई है। भावों की यही अभिव्यक्ति जब लिपि बद्ध रूप से भाषा के द्वारा होती है, तब उसे काव्य कला की संज्ञा दी जाती है।

विस्तार—ललित कलाओं की श्रेष्ठता का मानदण्ड स्थूलता का अभाव, साधनो की न्यूनता और प्रभावाधिक्य को माना गया है। जिस कला में जितनी स्थूलता है और उसके निर्माण मे जितने अधिक साधन अपेक्षित हैं तथा जिस का प्रभाव जितना कम पड़ता है, उस कला को उतनी ही न्यून कोटि का माना जाता है। इस दृष्टि से वास्तुकला सबसे निम्न कोटि की कला मानी गई है। इस कला से हम अन्य ललित कलाओं की ओर जसे जैसे बढ़ते हैं, उतनी ही स्थूलता तथा साधनो की कमी और प्रभाव की अधिकता होती जाती है। वास्तुकलाकार के पास जहां अपने भावों की अभिव्यक्ति के लिए ईंट, गारा, चूना आदि अनेक साधन थे, वे मूर्तिकार के पास नहीं रह जाते। मूर्तिकार छैनी और हथौडे की सहायता से किसी प्रस्तर खण्ड अथवा धातु-विशेष में अपने भावों को आकार दिया करता है। पर फिर भी मूर्ति में कुछ न कुछ स्थूलता रह ही जाती है। जिसका लोप चित्रकला में बहुत कुछ हो जाता है।

मूर्तिकार की अपेक्षा चित्रकार की भावाभिव्यक्ति में अधिक सूक्ष्मता के दर्शन होते हैं। इससे भी अधिक आकारहीनता संगीतकला मे मिलती है। संगीत में केवल स्वर रह जाते हैं। स्वरो के उतार-चढ़ाव से ही संगीतकार जो वातावरण उपस्थित करता है वह पूर्व कलाकार नहीं कर पाते परन्तु संगीत में भी स्वर के रूप में कुछ न कुछ आकार की अनुभूति होती है जिसका लोप काव्य-कला में पहुंचकर सर्वथा हो जाता है। निःसन्देह काव्यकार भी लिपिबद्ध

भाषा के रूप में भावों की अभिव्यक्ति कर पाता है तथा इस लिपिबद्धता में आकार के दर्शन भी होते हैं। पर जिस वस्तु को काव्यकला कहा गया है वह इस लिपिबद्ध रूप में निहित भाव-सौंदर्य है, जिसका कोई आकार नही। काव्य कला के रूप में भावो की यह अभिव्यक्ति जितनी सजीव, मार्मिक और स्थायी हो पाती है, उतनी अन्य ललित कलाओ में नहीं।

संगीत का प्रभाव निसन्देह काव्य की अपेक्षा कहीं अधिक गहरा पड़ता है, परन्तु फिर भी संगीत-कला सापेक्ष कला है जो गाने वाले के कण्ठ से इतनी अधिक सम्बन्धित है कि उसके बिना उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। जब तक गाने वाले का स्वर मधुर नहीं होगा जब तक संगीत में आनन्द नहीं आ सकता। तानसेन के गाए हुए उन रागों का, जिनके द्वारा उसने दीपक जला दिए थे अथवा जल वृष्टि कर दी थी आज कोई मूल्य नही रह जाता। परन्तु सूर और मीरा के पदो का गौरव पहले से भी कहीं अधिक है। इसी प्रकार तुलसी, कवि प्रसाद आदि कवियो के विषय में भी कहा जा सकता है कि उनकी कला आज भी जीवित है।

इस प्रकार स्थायित्व, प्रभावाधिक्य और सूक्ष्मता के कारण काव्य कला को ललितकलाओं में सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है। काव्य कला अतीत का वर्तमान से और वर्तमान का भविष्य से सम्बन्ध जोड़ने में जितनी समर्थ है, उतनी अन्य कोई कला नहीं। इसके अतिरिक्त काव्य के अन्तर्गत शेष चारों कलाएँ योग देती हैं। चित्र और संगीत कला का तो काव्य से इतना गहरा सम्बन्ध है कि हम इन तीनों कलाओ को एक-दूसरे की पूरक कह सकते हैं। चित्रकार की भाँति कवि भी नाना दृश्यों के शब्द चित्र अंकित करता है। प्रकृति की उषाकालीन छवि, जगमगाती रजनी, कल-कल नाद करते हुए निर्झर, मदमाती सरिताओ, चहकते हुए पक्षियो, एवं खिले हुए पुष्पों के जो दृश्य चित्र कवियो के द्वारा शब्दों में चित्रित किए जाते है, वे चित्रकार की अपेक्षा कहीं सजीव और भावाभिव्यंजक होते हैं। मानव हृदय का जो तादात्म्य इन चित्रों में देखने को मिलता है तथा चित्र की मूकता इन दृश्यो में जितनी सुमुखरित की जा सकती है, उतनी तूलिका द्वारा अंकित चित्र मे नहीं

हो पाती। चित्रकार के चित्र मूक होते हैं। उनकी व्यंजना अस्पष्ट होती है तथा वे नेत्रेन्द्रिय की तृप्ति करके ही रह जाते है। हृदय पर उनकी छाप अंकित नहीं हो पाती। पर इसमे भी कोई संदेह नहीं कि कवि के दृश्य चित्र जब तूलिका द्वारा अंकित कर दिए जाते हैं, तो उनमें भाव सजीव हो उठते है। कवयित्री महादेवी वर्मा द्वारा अंकित तूलिका चित्र एवं कविताएं इस बात का प्रमाण हैं कि कविता और चित्रकला का सामंजस्य एवं सहयोग भावों की अभिव्यक्ति को सजीव, साकार और मुखरित करने में कहीं अधिक समर्थ है।

संगीत और काव्य कला तो एक-दूसरे के बिना चल ही नहीं पाते। संगीत कविता के योग के बिना मार्मिक नहीं बन पाता और कविता संगीत के बिना मधुर एवं रोचक नहीं हो पाती। छन्दोबद्ध कविता की अपेक्षा प्रगीतों का महत्त्व इसीलिये अधिक माना गया कि उनमें काव्य और संगीत दोनो का सम्मिश्रण रहता है। कविता के लिए गेयता आवश्यक मानी गई है। इस तत्त्व के बिना कविता में माधुर्य का अभाव रहता है। वास्तु और मूर्ति कला की सी कारीगरी, छन्दों की काट छांट, पदविन्यास आदि मे देखी जा सकती है। कवि भी वास्तुकार और मूर्तिकार की तरह शब्दो को चुन-चुन कर यथा स्थान बिठाता है, तथा बढ़े हुए पदों को मूर्तिकार की तरह गढ़ता है। इसलिये कहा जा सकता है कि काव्य अथवा काव्यकला में अन्य सभी कलाएँ समाहित हो जाती हैं।

उपसंहार—कोई भी कला क्यों न हो, उसकी महत्ता अभिव्यक्ति में न रह कर उपयोगिता में ही रहती है। अभिव्यक्ति को जब तक अनुभूति अनुप्राणित नहीं करती, तब तक वह केवल प्रदर्शन की वस्तु ही रहती है। इस लिए कला मे अनुभूति का होना आवश्यक है। ऐसा होने पर कला प्रदर्शन की वस्तु न रह कर जीवनोपयोगी सिद्ध होती है। पर यह उपयोगिता स्थूल-जगत् की सी उपयोगिता से भिन्न रूप लेकर ही कला मे विकसित होती है। इसलिए कला को विचारशील विद्वान् न तो जीवन से पृथक् मानते हैं और न उसकी संज्ञा केवल कला के लिए स्वीकार करते हैं।

उपयोगी तत्त्व की दृष्टि से ललित कलाओं पर विचार करने पर भी हम इसी

निर्णय पर पहुँचते हैं कि काव्य कला में अन्य कलाओं की अपेक्षा कहीं अधिक उपयोगिता है। काव्य कला का विकास जब अपने वास्तविक रूप में होता है। वह देश, जाति और व्यक्ति सभी का उत्थान करने वाली सिद्ध होती है, उसके साथ ही भावों का ललित रूप भी काव्य में ही अधिक देखने को मिलता है। इसीलिए ललित कलाओं में काव्यकला का स्थान सबसे ऊंचा उत्तरदायित्वपूर्ण है ।

# हिन्दी भाषा का विकास

कहा जाता है कि सृष्टि की आयु आज दो अरब वर्षों से भी आगे बढ़ चुकी है। डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त के अनुसार ईश्वरीय सृष्टि का विकसित रूप मनुष्य में दृष्टिगोचर होता है। कुरान मे भी मानव को 'अशरफ उल-मखलूकात' कहा है। भारतीय शास्त्र ता 'नरत्वं दुर्लभं लोके' आदि असंख्य सूक्तियो द्वारा मनुष्य की श्रेष्ठता सिद्ध कर चुके हैं। भाषा उसी मनुष्य के साथ चिर सम्बन्धित है। संसार के अन्य प्राणी जो कुछ बोलते हैं, उसे भाषा ( Language ) नहीं कहते। वे अव्यक्त ध्वनियाँ ( Animal cries ) मात्र कही जाती हैं। मनुष्य ही केवल भाषा बोलते हैं।

मनुष्य की भाषा का इतिहास बडा विस्तृत है। इसका आदि अविज्ञात है और अन्त अभी तक अपूर्ण ! प्रारम्भिक अवस्था में मनुष्य वाणी द्वारा कम और हाथ आदि के संकेतो या प्रकाश के इशारों से ही अधिक काम चलाया करता था। धीरे-धीरे अपने विचार दूसरों तक पहुँचाने के लिए अधिक निश्चित स्पष्ट और सरल साधन ध्वनि को माना गया और संकेतो का ह्रास होने लगा। परन्तु हमारी भाषा में संकेत थोडे बहुत विद्यमान रहे। आज भी जब भाषा अपने विकास की चरम सीमा तक पहुँची कही जाती है, मनुष्य ने सकेतों का पूर्णतया त्याग नहीं किया। भाषणकर्ता अपने भाषणों में और साधारण लोग बोलचाल में बातचीत करते समय अपने मुख को अनेक प्रकार से विकृत करते हैं तथा हाथ की विविध चेष्टाओ द्वारा अपने भाव की अभिव्यक्ति को अधिक स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। इससे सिद्ध होता है कि

हमारी भाषा अभी विकसित हो रही है। उसका विकास पूर्ण नहीं हुआ।

मनुष्य ने बोलना कब और कैसे सीखा, यह प्रश्न अत्यन्त जटिल और विवादास्पद भी है। आरम्भ में मनुष्यों की एक भाषा थी अथवा अनेक, इस विषय में यद्यपि एक मत तो सभी का नहीं मिलता, तथापि बहुमत यही है कि ससार की वर्तमान असंख्य भाषाओ का मूल १२ भाषायें थीं। आज की समस्त भाषाएं उन बारह भाषा-परिवारो के रूप में अपनी सत्ता का स्पष्ट संकेत भी करती हैं। उन १२ भाषा-परिवारों में सब से अधिक महत्त्व-पूर्ण और विशाल 'भारोपीय' ( Indo-European ) 'भाषा-परिवार है' इसका पूर्व नाम 'इंडो जर्मनिक' था। किन्तु आयरलैंड की 'कैल्टिक' भाषा को भी इसी परिवार की मान लेने पर उक्त नाम अपूर्ण और अव्याप्त दिखाई पड़ा, तभी 'भारोपीय' नाम रखा गया। यद्यपि इस नाम में भी दो मुख्य आपत्तियां उठाई जा सकती हैं—एक तो यह कि इसमें भारत और युरोप शब्द तो आये , ईरान का नाम नहीं आया। दूसरा यूरोप तथा भारत की सभी भाषायें इस परिवार में नहीं मानी जातीं। उदाहरणार्थ भारत के दक्षिण की भाषाओं को 'द्रविड परिवार' के अन्तर्गत माना जाता है और तुर्की भाषा भी उक्त परिवार की भाषा स्वीकार नहीं की जाती। तथापि यह नाम अधिक प्रचलित होने के कारण आदरणीय और विशेष स्वीकरणीय है। अस्तु—

भारोपीय भाषा परिवार के अन्तर्गत प्रायः समस्त यूरोप, ईरान तथा उत्तरी भारत की भाषाएँ गृहीत होती हैं। अत एव हिन्दी भाषा का सम्बन्ध भी इसी भाषा परिवार से है। भारोपीय भाषा के बोलने वाले आज से हजारों वर्ष पहले किसी एक स्थान पर निवास करते होगे। उस स्थान के विषय में विद्वानों का मतभेद है। कोई मध्य एशिया कहता है तो कोई भारतवर्ष। किसी के मत मे तिब्बत है तो किसी को कैस्पियन सागर या यूरोप के भिन्न-भिन्न स्थल मान्य हैं। परन्तु बहुमत 'वोल्गा नदी' के आस-पास ही भारोपीय लोगो की जन्मभूमि कहने वालों का है। वहां से कुछ विशेष अनिवार्य कारणों से उनके दो समूह होगए। एक दल तो वहीं यूरोप में फैलने लगा, जिसका वर्तमान रूप विभिन्न यूरोपियन देशों के निवासियों में

दिखाई पड़ता है और दूसरा दल पूर्व की ओर चल पडा। वह ईरान मे से होता हुआ अन्त मे भारतवर्ष पहुँचा। इस प्रकार मूल भारोपीय भाषा के दो रूप हो गये। एक पश्चिमी जिसे 'केण्टुम्' कहते है और दूसरा पूर्वी जिसे 'शतम्' कहा जाता है। आधुनिक यूरोप की भाषायें अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, इटालियन आदि 'केंटुम्' वर्ग के अन्तर्गत विभिन्न भाषा-कुलों की सन्तान हैं, तथा आधुनिक ईरानी और भारतीव भाषायें 'शतम्' वर्ग के अन्तर्गत विभिन्न भाषा-कुलों मे से एक 'आर्यभाषाकुल' की सन्तति मानी जाती हैं। इस 'आर्यभाषाकुल' में ईरान, उत्तरी भारत तथा इन दोनों देशों के मध्य उत्तर में स्थित दर्दिस्तान की भाषाये सम्मिलित हैं।

भारोपीय आर्य लोग ईरान मे जब बस गये, तो कारण विशेष तथा परिस्थिति विशेष से उनका एक दल फिर पूर्वोत्तर की ओर बढ़ा और दर्दिस्तान की दुर्लंघ्य एवं दुर्गम घाटियों में से गुजर कर भारतवर्ष पहुँचा। कुछ जन-समूह जो दर्दिस्तान की दुर्गम पर्वतमालाओ को पार करने में असमर्थ थे, वे वहीं रह गये और शेष साहसी वीर भारत के निवासी बने। इस प्रकार आर्यकुल की तीन शाखायें हो गई (१) ईरानी आर्य भाषाएँ, (२) दर्दी आर्य भाषाएँ, (३) भारतीय आर्य भाषाएँ। हिन्दी का सम्बन्ध भारतीय भाषाओं से है, अतः अब उसके इतिहास का वर्णन किया जायेगा।

भारतीय आर्यभाषाओं को कालक्रमानुसार तीन भागो में विभक्त किया जाता है—(१) प्राचीन भारतीय आर्यभाषायें, (२) मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषायें (३) आधुनिक भारतीय आर्यभाषायें। इनका पृथक्-पृथक् संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

### १. प्राचीन कालीन भारतीय आर्यभाषाएँ—

इनका विकास वैदिक काल से प्रारम्भ होता है। परन्तु विद्वानो में इस विषय में बड़ा मतभेद पाया जाता है कि आर्य भारत की पुण्यभूमि मे किस समय अवतरित हुए। कोई २ हजार वर्ष ई० पू० कहता है तो कोई १५०० वर्ष ई० पू०। तिलक जी ८००२ वर्ष ई० पू० मानते थे। कोई-कोई विद्वान् ४००० ई० पू० भी मानता है। परन्तु साधारणतया भाषा-विज्ञानी १५०० या १००० हजार वर्ष ईसा से पूर्व काल को ही अधिक उचित मानते हैं। इस

काल की अंतिम सीमा ईसा से ५०० वर्ष पूर्व मानी जाती है जो प्रायः संस्कृत भाषा के विश्वविख्यात सर्वश्रेष्ठ वैयाकरण तथा महात्मा बुद्ध का जीवन काल है। इस प्राचीन काल मे वैदिक भाषा का साहित्य मिलता है। किन्तु साहित्य की भाषा बोल-चाल की भाषा से विकसित तथा परिष्कृत होने के कारण कुछ भिन्न होती है। अतः आर्यों की मूल बोल-चाल की भाषा का रूप कैसा होगा, इसका अनुमान आर्यों की साहित्यिक वैदिक भाषा को देख कर कुछ-कुछ लगाया जा सकता है। आलङ्कारिक शब्दों मे पुत्री की आकृति देखकर उसकी माता के रूप का कुछ अनुमान लगाया जा सकता। आर्यों की बोल-चाल की मूल भाषा को विद्वान् लोग 'वैदिक प्राकृत' का नाम देते है।

प्राचीन काल मे जब आर्य लोग भारत में प्रविष्ट हुए तो उन्हे भारत के आदिवासियो के साथ संघर्ष करना पडा। साहसी वीर आर्यों ने उन पर विजय प्राप्त की। विजेताओं की भाषा और संस्कृति का प्रचार खूब बढने लगा किन्तु साथ ही विजित आदिवासियों की भाषा के कुछ शब्द भी आर्यों की भाषा मे मिलने-जुलने लगे और उनकी छाप वैदिक साहित्य पर भी पड़ने लगी। फलतः आर्यों की वैदिक भाषा का स्वरूप कुछ-कुछ बदलने लगा। इस का पुष्ट प्रमाण ऋग्वेद के आरंभिक और अन्तिम मंडलों की भाषा को पढ़कर सहज में मिल जाता है। उपनिषद् काल तक आते-आते वैदिक भाषा अपने प्राचीन रूप से पर्याप्त भिन्न हो गई थी। व्याकरण के कठोर नियन्त्रण का अभाव भी इस परिवर्तन का एक प्रमुख कारण कहा जा सकता है। (साधारणतया बोल-चाल की भाषा मे परिवर्तन होता रहता है, साहित्यिक भाषा सदा नियमित और स्थिर रहती है)। इस प्रकार की मिलावट बोल-चाल की भाषा में स्वाभाविक होती है अतः उसे सहन भी किया जाता है, किन्तु साहित्यिक भाषा मे ऐसा परिवर्तन विद्वानो को असह्य हो उठता है। इस कारण तात्कालिक व्याकरणाचार्यों द्वारा वैदिक भाषा को नियंत्रित करने का प्रयत्न किया गया। अनेक व्याकरण रचे गये। इन में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य पाणिनि ने किया। उनकी सुप्रसिद्ध रचना 'अष्टाध्यायी' द्वारा वैदिक भाषा की शुद्धि तथा संस्कार का प्रभावशाली कार्य सम्पन्न हुआ

तथा नई साहित्यिक भाषा जो व्याकरण नियमों से नियंत्रित और बोल-चाल के शब्दों से शुद्ध और परिष्कृत की गई—'संस्कृत भाषा' कहलाई, जिसका अर्थ है साफ की हुई, सुथरी और परिमार्जित भाषा।

२. मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषायें—

यह काल ५०० ई० पू० से १००० ईस्वी तक माना जाता है। आर्यों की साहित्यिक भाषा संस्कृत का स्वरूप ऐसा स्थिर हो गया कि आज हजारों वर्षों के बीत जाने पर भी उसमें तनिक परिवर्तन नहीं हो पाया। वह ज्यो की त्यो बनी हुई है। किन्तु तात्कालिक जनसमाज की बोलचाल की भाषा इतने समय तक 'वैदिक प्राकृत' से विकसित होती-होती पर्याप्त बदल चुकी थी, जिस के कारण उनके लिए 'संस्कृत भाषा' को समझना कठिन हो गया था। संस्कृत भाषा केवल शिक्षित समाज की भाषा रह गई थी। यही कारण था कि महात्मा बुद्ध ने अपने मत का प्रचार साधारण जनता में करने के लिए अपने उपदेश संस्कृत भाषा में न देकर 'प्राकृत भाषा' ( जनभाषा ) में दिये, जिसे उस समय 'पालीभाषा' कहा जाता था। पाली भाषा प्राकृत का प्रथम रूप है जो आज उपलब्ध हो .ा है। इस से पूर्व वैदिक प्राकृत का क्या रूप था, उसके लिए कोई प्रामाणिक रचना प्राप्त नही होती। अस्तु,

पाली में बुद्ध के प्रवचन हुए। पश्चात् उनका संग्रह भी किया गया। बौद्धों के लिए यह धर्मभाषा बन गई। धीरे-धीरे बौद्ध साहित्य की रचना भी इसमें होने लगी और यह शीघ्र प्राकृत भाषा से साहित्यिक भाषा बनने लगी। किन्तु बोलचाल की भाषा का रूप तो बहती सरिता के समान विकासशील होता है। अशोक के शिलालेखों में जिस प्राकृतभाषा का प्रयोग किया गया, वह पाली से कुछ भिन्न थी। विशाल भारत के विभिन्न प्रदेशों में जनभाषा के रूप भी भिन्न-भिन्न होने लगे थे। इसका स्पष्ट प्रमाण अशोक के पश्चात् ईस्वी के प्रारम्भ में प्राप्त हो गया। उस समय देश में चार-पांच प्राकृतों के विशिष्ट रूप स्पष्टतया दृष्टिगोचर हो रहे थे। उनके नाम स्थान के आधार पर विद्वानों ने रखे है-(१) मागधी, (२) शौरसेनी, (३) अर्धमागधी, (४) महाराष्ट्री, (५) पैशाची। मागधी मगध ( बङ्गाल, बिहार आदि ) की प्राकृतभाषा थी। शौरसेनी मथुरा के आस-पास की तथा महाराष्ट्री महाराष्ट्र

प्रदेश में बोली जाती थी। अर्धमागधी की शौरसेनी और मागधी के मध्य मे स्थित थी। इन प्राकृत भाषाओ का थोड़ा-बहुत प्रयोग संस्कृत साहित्य में विशेष रूप से नाटको मे किया जाने लगा था। फिर धीरे-धीरे प्राकृत भाषाओं के भी व्याकरण बनने लगे और इनमे साहित्य रचना भी आरम्भ होने लगी। फलत: मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतें साहित्यिक बन चली। पैशाची प्राकृत मे कोई विशेष साहित्य उपलब्ध नहीं होता। इन साहित्यिक प्राकृतों में महाराष्ट्री का महत्त्व सबसे अधिक था। यह प्राकृत-भाषा का द्वितीय रूप था।

तीसरी प्राकृत के रूप में-'अपभ्रंश भाषायें' आती हैं। इन अपभ्रंशों का विकास उक्त प्राकृतों से हुआ। जब प्राकृतें साहित्यिक भाषायें बन गईं तो उनका बोलचाल की भाषाओं से अन्तर बढ़ने लगा। यही बोलचाल की भाषायें आगे चल कर ( लगभग ५ वीं ईस्वी में ) अपभ्रंश के नाम से प्रसिद्ध हुईं। जिस प्रदेश में जो प्राकृत साहित्य की भाषा थी, उसी प्रदेश की बोलचाल की भाषा 'अपभ्रंश' कहलाई। इस प्रकार अपभ्रंशों के भी वही नाम रखे गए—(१) मागधी, (२) अर्धमागधी, (३) शौरसेनी (४) महाराष्ट्री अपभ्रंश। अपभ्रंश काल १००० ई० तक चलता रहा।

३—आधुनिक भारतीय आर्यभाषायें—

इनका समय १००० ई० से आज तक है। अपभ्रंशों का विकास प्राकृतों से हुआ था। क्रमशः अपभ्रशो में भी साहित्य लिखा जाने लगा और इन के भी व्याकरण बनने लगे। उस समय बोलचाल की भाषाओ का रूप फिर बदलने लगा। लगभग ७०० ई० से बोलचाल की भाषायें उक्त अपभ्रंशों मे से विकसित होनी शुरू हुईं। १००० ई० मे इन देश भाषाओं ने अपना पृथक् अस्तित्व भी बना लिया। उदाहरणार्थ मागधी अपभ्रंश से ७०० ईस्वी मे विकसित होकर १००० ई० तक अनेक भाषाओं ने अपना पृथक् रूप बना लिया; जो आजकल बंगाली, बिहारी, आसामी और उडिया भाषाओ में देखा जा सकता है। मराठी का विकास महाराष्ट्री अपभ्रंश से तथा पूर्ण हिन्दी का 'अर्समागधी' अपभ्रंश से हुआ। शौरसेनी अपभ्रंश मे से जिन देश भाषाओं

का विकास हुआ, उनमें पश्चिमी हिन्दी, पंजाबी, राजस्थानी, गुजराती प्रधान हैं। इस प्रकार हिन्दी भाषा का सम्बन्ध भारोपीय भाषा परिवार के 'शतम्' वर्ग के 'आर्यकुल' की भारतीय शाखा के अंतर्गत वैदिक प्राकृत से विकसित होने वाली क्रमशः पाली, शौरसेनी प्राकृत और उससे प्रादूर्भूत शौरसेनी अपभ्रंश के साथ है। यह बात अच्छी प्रकार से स्मरण रहे कि हिंदी भाषा संस्कृत से कदापि नहीं निकली। क्योंकि संस्कृत एक शुद्ध साहित्यिक भाषा रही है जो बांझ स्त्री के समान कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकती। भाषा का विकास सदा बोलचाल की ( प्राकृत ) भाषा से ही होता है। संस्कृत भाषा तो हिन्दी की दादी (प्राकृत भाषा) की चचेरी बहन कही जा सकती है। हाँ, आर्यों की साहित्यिक और विशेषतः धर्मभाषा होने के नाते उसका प्रभाव हिंदी तथा अन्य देश भाषाओं पर व्यापक रूप से पड़ता रहा।

हिन्दी की विभाषाएँ—

हिन्दी के दो भेद कहे गये है—(१) पश्चिमी हिन्दी, जिसका विकास शौरसेनी अपभ्रंश से हुआ, (२) पूर्वी हिन्दी, जिसका विकास अर्धमागधी से हुआ। पूर्वी हिन्दी के अन्तर्गत तीन भाषायें हैं, बघेली, छत्तीसगढ़ी तथा अवधी। इनमें अवधी भाषा मे हिन्दी साहित्य की उत्तम रचनायें मिलती हैं। जायसी के पद्मावत के अतिरिक्त तुलसी की श्रेष्ठ रचना 'रामचरित मानस' अवधी भाषा में रची गई। अन्य भाषाओ में उल्लेखनीय साहित्यिक रचना नहीं है।

पश्चिमी हिन्दी की पांच विभाषायें मानी जाती हैं—(१) व्रजभाषा, (२) खड़ी बोली, (३) बांगर, (४) बुंदेली, (५) कन्नौजी। इनमे व्रजभाषा और खड़ी बोली का साहित्य विशेष महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण भक्तों ने अपनी समस्त रचनायें व्रजभाषा में लिखीं, जिनमें सूरदास, मीरा, रसखान जैसे कृष्णभक्त विशेष उल्लेखनीय हैं। रीतिकालीन साहित्य की भाषा व्रज रही। खड़ी बोली आधुनिक साहित्य की प्रधान भाषा है। इसका गद्य और पद्य आज अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। अमीर खुसरो खड़ी बोली के प्रथम कवि माने जाते है। परन्तु इसका व्यापक प्रचार भारतेन्दु युग से ही हुआ। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी जैसे महाकवियों तथा प्रेमचन्द, आचाय शुक्ल जैसे गद्य लेखको ने खड़ी बोली के विशाल भंडार का गौरव खूब बढ़ाया है। आज भारतीय गण-राज्य की राष्ट्रभाषा बनने का श्रेय भी इसी को प्राप्त है।

# —साहित्य और समाज—

कलायें दो प्रकार की मानी गई हैं—एक ललित कलाएँ, दूसरी उपयोगी कलाएँ। ललित कलाओ की विशेषता यह है कि उनसे उपयोग की अपेक्षा हृदय मे आनन्द प्राप्ति प्रधान रूप से होती है और उपयोगी कलायें आनन्द प्राप्ति की अपेक्षा व्यावहारिक जीवन के उपयोग मे ही अधिक आती है। साहित्य को ललित कलाओ में गिना जाता है अतः इसका प्रयोजन भी स्पष्ट है कि इसके द्वारा आनन्द प्राप्ति हो होती है, किन्तु इससे किसी और प्रकार का व्यावहारिक लाभ प्राप्त नहीं किया जा सकता। किन्तु मानव-जीवन की श्रेष्ठता ने इस प्रश्न को उठाया है कि जब विधाता की समस्त सृष्टि में सारे पदार्थ मानव-समाज की सेवा करने और उसके उपयोग की वस्तु हैं, तो साहित्य को भी उसी मे क्यो न सम्मिलित कर लिया जाये ? यह कोई बात है कि साहित्य में केवल मन बहलाने और अपनी मस्ती में मस्त रहने का तत्त्व तो पाया जाये, किन्तु यथासमय समाज-सुधार या समाज-निर्माण का कार्य वह न कर सके। यद्यपि इस विषय पर दो सम्प्रदाय. हो गए। एक का दृष्टिकोण साहित्य के क्षेत्र को केवल मनोरंजन तक ही सीमित करने का रहा, और दूसरे को समाज सेवा भी स्वीकार्य हुई। किन्तु वस्तुतः ये दो विरोधी या भिन्न बातें नही हैं। अंग्रेजी कवि कीट्स ने अत्यन्त ही मार्मिक शब्दों में कहा है कि—

(Truth is Beauty, Beauty Truth.)

अर्थात् सत्य ही सुन्दर है तथा सुन्दर ही सत्य है। वस्तुतः जो वस्तु सच्ची नहीं है, उसे पूरी तरह सुन्दर नहीं कहा जा सकता। जो आज तो सुन्दर है परन्तु कुछ काल के पश्चात् वह सुन्दर नहीं रहती, उसे सुन्दर कहना झूठ हैं। सौन्दर्य सच्चा होना चाहिये, जो किसी काल और देश के अन्तर से भी फीका न पड़े। इसलिए सत्य का नाम ही सुन्दर है। इसी प्रकार जो वस्तु असुन्दर है उसे कभी अच्छा नहीं कहा जा सकता। मानव मन के लिए

सुन्दर वस्तु ही उसके लिए सच्ची वस्तु है क्योंकि मानव सौंदर्य का इच्छुक है जो सौंदर्य उसे सच्चा आनन्द प्रदान करता है। जिस जीवन में सुन्दर की भावना नहीं, वह जीवन नीरस और शुष्क है और जिस जीवन में सत्य नहीं, वह जीवन सुन्दर नहीं कहला सकता। इसीलिए अंग्रेज कवि ने सत्य और सुन्दर को अभिन्न माना है। सत्य के बिना सुन्दर खोखला है, असार है, किसी अंश तक भयानक भी है और सुन्दर के बिना सत्य नीरस, अप्रिय और निर्जीव है। इससे यह सिद्ध होता है कि सुन्दर वस्तु सुन्दर होते हुए सत्य भी है और सत्य वस्तु सत्य होते हुए सुन्दर भी। यदि साहित्य को केवल जीवन। सौंदर्य से पूर्ण मान लिया जाये, तब भी उसमें जीवन सत्य का होना माना जायेगा, अतः साहित्य अपने महत्व को और अपनी सीमा को न छोड़ता हुआ भी समाज के जीवन के उत्तरदायित्व के प्रति कभी उपेक्षामय नहीं हो सकता।

विद्वान् प्रायः कहा करते है कि 'साहित्य समाज का दर्पण है'—

Literature is the mirror of the society.

और साहित्य जीवन का निर्माता और पथ-प्रदर्शक है, वह जीवन की व्याख्या करता है, उसे आदर्श और उन्नत बनाने का प्रयत्न करता है। मैथ्यू आर्नल्ड ने भी यही कहा है कि 'काव्य जीवन की सच्ची समालोचना है।'

The poetry is a true critcism of life.

किन्तु दोनों मत ऐकांतिक प्रतीत होते हैं। इनमें एक समझौते का मार्ग निकल सकता है कि 'साहित्य समाज का प्रतिनिधि या दर्पण भी है और उसका निर्माता या पथ-प्रदर्शक भी।'

यदि साहित्य समाज का केवल दर्पण ही रहे, तो उसकी रचना समाज का विशेष कल्याण नहीं कर सकती। दर्पण का काम होता है जैसा आकार हो, उसका ठीक वैसा प्रतिबिम्ब दिखा दे। यदि समाज बुराइयों का घर है तो उसके दर्पण साहित्य में भी बुराइयो की झलक अवश्य होनी चाहिये। यदि समाज में निराशा और दुर्बलता की भावनाएं विद्यमान हैं, तो साहित्य में भी वही कुछ होना चाहिये। किन्तु ऐसा होने से तो समाज का सुधार होने के स्थान पर उल्टा अकल्याण होगा। आजकल समाज मे नैतिकता का पतन

पराकाष्ठा तक पहुँचा हुआ है। विद्वेष, छल, कपट, ईर्ष्या, घृणा आदि के भावों से समाज के शरीर मे से दुर्गन्ध आ रही है, ऐसी स्थिति में यदि उसके दर्पण साहित्य मे से भी वही दुर्गन्ध आती रहे, तो कोई उसे सत्साहित्य नही कह सकता। इसलिये साहित्य को समाज का केवल प्रतिनिधि नहीं बनना चाहिये, उसे समाज का निर्माण और पथ-प्रदर्शन भी करना चाहिये। जब तक तो समाज मे सुख शांति का राज्य है, नैतिक आदर्श और धर्म का बोलबाला है, उस स्थिति मे तो साहित्य भले ही उसका दर्पण बने, परन्तु जब उसका पतन काल हो, निराशा और मौत की छाया उस पर पड रही हो, वह निःशक्त और निर्जीव हो, उस समय साहित्य को निःशक्त और निर्जीव नहीं बने रहना चाहिये। प्रत्युत उसे शक्ति, जीवन, आशा और उन्नति का उपदेश देना चाहिये। सच्चा साहित्य सदा ही अपने समाज के उत्थान मे प्रत्यनशील रहता है। साहित्य ने व्यक्ति का, जाति का, समाज और राष्ट्र का निर्माण किया है, उनमें क्रांतियां उत्पन्न करके उनका रूप ही बदल दिया है। साहित्य की यह अमोघ शक्ति और व्यापक प्रभाव सर्वविदित है। विहारी के एक ही दोहे ने विलास के सागर मे डूबे हुए महाराज जयसिंह को वासना के गन्दे कीचड़ से निकालकर कर्तव्योन्मुख कर दिया था। भूषण की वीर रस से भरी ओजस्विनी कविता ने मुर्दा मरहठो में प्राण फूंक दिए थे। शिवाजी की तलवार के साथ भूषण की लेखनी भी जब मिल गई, तभी अत्याचार और अन्याय का मुंह फेर कर रख दिया गया। शिवाजी की विजय में भूषण का गहरा हाथ रहा था। इसी प्रकार हिन्दू-समाज मे शक्ति संचार करने का श्रेय तुलसी के 'रामचरितमानस' को दिया जा सकता है। जब यवनो के अत्याचारो से भयभीत निराश्रय हिन्दू जीवन-रक्षा के प्रयत्नो से निराश हो चुके थे, निर्जीव और निःशक्त हिन्दू समाज में हिलने तक की क्षमता न रही थी, उसी समय धनुर्धारी राम का आदर्श सामने रखकर तुलसी ने घने अन्धकार में आशा की जीवन-ज्योति दिखलाई। विपत्तियों से अकेले लड़ने वाले निःसहाय किन्तु दृढ़व्रती और न्यायपथ के वीर पथिक भगवान् राम का जीवन देखकर हिन्दू-समाज के कंकाल में जान आई, और आज यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि जब तक तुलसी का 'रामचरित मानस'

रहेगा हिन्दू-समाज का ह्रास भले ही हो, उसका नाश कभी नहीं हो सकता। रासो के साहित्य ने तो फ्रांस मे राज्य-क्रांति कराकर साहित्य की अतुल शक्ति का ज्वलंत उदाहरण रख दिया है। मैजिनी के साहित्य ने भी इटली के राष्ट्रीय जीवन मे जो परिवर्तन किए, वे भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं थे। रूस में जो समाजवादी क्रांति हुई, उसमें भी मार्क्स और मार्क्सवादी साहित्य का ही हाथ समझना चाहिये।

जिस प्रकार शरीर के लिये भोजन की आवश्यकता रहती है; उसी प्रकार मानव मस्तिष्क को भी सदैव स्वस्थ रहने के लिए साहित्य का भोजन खाना पड़ता है बिना भोजन जैसे शरीर निःशक्त और अंत मे निर्जीव हो जाता है ठीक उसी प्रकार बिना साहित्य के मानवीय मस्तिष्क भी बेकार हो जाता है। अच्छे साहित्य से मस्तिष्क अच्छा बनता है, अच्छे मस्तिष्क में अच्छे विचार उत्पन्न होते है और अच्छे विचारों से व्यक्ति अच्छा बनता है और अच्छे व्यक्ति ही तो अच्छा समाज बनाते हैं। अतः यदि समाज को उन्नत और महान् बनाना ही अभीष्ट है, तो व्यक्तियो को उन्नत बनाना होगा। व्यक्तियों की उन्नति सदैव उदात्त विचारों पर आधारित रहती है। अच्छे विचार अच्छे मस्तिष्क में से ही निकल सकते हैं और अच्छे मस्तिष्क का आधार अच्छा साहित्य होता है। गंदे भोजन से शरीर रुग्ण हो जाता है; अतः यदि साहित्य अच्छा न होगा तो वह मस्तिष्क को खराब करेगा, जिससे गंदे विचार उत्पन्न होगे और व्यक्तियो का नैतिक स्तर निम्न होने से समाज का पतन स्वाभाविक है। इससे सिद्ध होता है कि साहित्य के अन्दर महान् शक्ति छिपी हुई है, वह समाज के उत्थान और पतन दोनों का उत्तरदायी है।

महान् कलाकार अपनी रचनाओं में सत्य संदेश इसी उद्देश्य से रखते हैं कि पाठकों को आनन्द प्राप्ति के साथ-साथ उनके जीवन का भी उत्थान हो सके। साहित्य मे विशेषता यह है कि उसका उपदेश सरस होता है, अतः इसका प्रभाव भी शीघ्र पड़ता है। साहित्य में संजीवनी शक्ति होती है, जो मुर्दों को जिला देती है। परन्तु आदर्श कल्पना के साथ वह यथार्थ चित्रण भी नहीं भूलता। साहित्य समाज का प्रतिनिधि और दर्पण भी होता है। आवेष्टन का प्रभाव जब जड़ वस्तुओं पर पड़ता है तो कवि जैसा संवेदनशील प्राणी

भला उसमे कैसे बच सकता है। वसंत की मधुर ऋतु मे फूल भी मुस्करा पडते हैं किन्तु ग्रीष्म की कडी धूप में उनका मुख कुम्हला जाता है। कवि अपने चारों ओर के वातावरण से प्रभावित होकर साहित्य की रचना करता है समाज यदि दुःख ज्वाला मे जल रहा हो, तो उसका कवि हर्ष के गाने नहीं गा सकता, उसे भी देश के सुख और दुःख का साथी बनना पडता है। सजीव मनुष्यों की तो बात ही क्या, वह जड़ प्रकृति को देख कर भी कभी हंसता और कभी रोता रहता है। शबनम के आंसू देखकर उसे खेद होता है और कुचली हुई कली को देख कर उसकी छाती फट जाती है। इसलिये जब वह मृग का वर्णन करता है तो मृगनयनी को कैसे भूल सकता है, शबनम का चित्र लेने वाला कवि अबला के आंसुओ की उपेक्षा नहीं करता। ठंडी हवाओं के झोकों में दुःखियों की ठंडी आहें भी उसे याद रहती हैं। सच्चा कवि अपने समाज की कथा को अपनी वाणी द्वारा मुखरित करता है। इसलिए कवि की आत्मा विश्वात्मा कही जाती है। कवि का हृदय विश्व का हृदय और कवि की वाणी विश्व की वाणी बन जाती है। कवि की आप-बीती मे भी जग-बीती छिपी रहती है। विश्व के महान् साहित्यकारो ने अपनी रचनाओं में अपने ही भाव अंकित नही किये, अपितु अपने समय के समाज की मुंह-बोलती तस्वीर खींची है। गोर्की और प्रेमचन्द अपने समाज के सच्चे प्रतिनिधि थे।

यही साहित्य है जिसमें समाज का उत्थान, पतन सभी कुछ देखा जा सकता है। किसी भी देश या जाति का वृत्तांत जानने के लिए उस देश की साहित्यिक रचनाओं को पढ लेना चाहिए। जिस जाति का साहित्य आध्यात्मिक भावनाओ से भरा हुआ है, वह जाति भी धर्मात्मा होगी। वैदिक काल में जब आर्यों का समाज यज्ञादि कर्मकांड में लीन रह कर प्रकृति के उपकरणों में देव भावना का आरोप कर रहा था, उस समय वेदो का साहित्य रचा गया, जिसमें अग्नि, जल, वायु आदि देवताओ को आहुति द्वारा प्रसन्न करने के विविध मंत्र दिए गए। धीरे-धीरे जब समाज मे गंभीर चिंतन की रुचि जागने लगी और वे भावुकता से तर्कशीलता की ओर जाने लगे और आत्म-तत्त्व का विश्लेषण, ब्रह्म स्वरूप का विवेचन एवं सृष्टि की उत्पत्ति के प्रश्न

उनके जीवन का मुख्य उद्देश्य बन गये, तो उपनिषद् और दर्शन साहित्य की सृष्टि हुई। याज्ञिक कर्मकांड मे हिंसा के कारण जब महात्मा बुद्ध ने अहिंसा का जयघोष किया और जीवन की सात्त्विकता को मुख्य बतलाया तभी बौद्ध दर्शन का जन्म हुआ। किन्तु जिस समय बौद्ध संस्कृति की दुर्बलता का भांडा फोड कर शंकराचार्य जैसे विद्वानों ने समाज मे फिर से आस्तिक भावना को जागृत कर दिया, तभी अद्वैतवादी विचारप्रधान साहित्य की रचना होने लगी। और जब जन समाज अद्वैत ब्रह्म की दुर्बोधता के कारण सरल सगुण पंथ की ओर झुका, उसी समय वैष्णवों का धार्मिक साहित्य सामने आया।

हिन्दी साहित्य के इतिहास को भी देखने से उक्त सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि साहित्य समाज से सदैव प्रभावित होता रहता है। यवनों के आक्रमण काल मे भारत युद्धो की ज्वाला मे जल रहा था। आपसी फूट के कारण राजपूतो मे भी गृहयुद्ध चल रहे थे, उस समय के वातावरण के अनुकूल ही चारण कवियो ने अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा मे वीरगाथाएँ लिखीं। किंतु जब यवनो की प्रबल सेनाओ के सामने भारतीय क्षात्रशक्ति ने सिर झुका दिया और यवनो ने खुल्लम-खुल्ला आर्यों के देवस्थानो का अपमान करना आरम्भ कर दिया। उनके सामने उनके देवमन्दिर गिरा दिए गए, उनके देवो की मूर्तियो को तोड दिया गया, उनकी बहू-बेटियो का अपमान होने लगा, तो अपनी रक्षा के लिए जनता ने भगवान् की शरण ली, क्योंकि 'निर्बल के बल राम'। इसी के परिणाम स्वरूप समाज के प्रतिनिधि कवियो ने भी धार्मिक साहित्य प्रस्तुत किया। कबीर सूर, तुलसी आदि की भक्तिरस से पूर्ण रचनाये उसी काल मे लिखी गईं। कालान्तर मे जब देश मे शांति स्थापित हो गई। मुगल दरबार मे विलास के सभी साधन जुटने लगे। राज दरबारो मे नृत्य और संगीत के साथ सुरा और सुन्दरी का सेवन भी होने लगा, उस समय बिहारी, देव, मतिराम आदि ने शृंगारी कविता द्वारा जनरंजन करने मे कमाल कर दिया। आधुनिक साहित्य मे जब भारतीय स्वातंत्र्य-संग्राम की चिनगारियां भडक उठीं, तो साहित्य मे भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र. मैथिलीशरण गुप्त आदि ने उसका चित्रण किया। समाज मे आजकल मार्क्स-

वाद का प्रभाव बढ रहा है, राजनीति मे साम्यवादी विचारधारा फैल रही है, इसका सरस रूप 'प्रगतिवादी' साहित्य मे स्पष्ट देखा जा सकता है। इस लिए यह सिद्ध हो जाता है कि साहित्यकार अपने समाज का जहाँ प्रभाव ग्रहण करता है, वहाँ वह आवश्यकता पड़ने पर उसे प्रभावित भी करता रहता है। यदि समाज साहित्य का जन्मदाता है तो साहित्य भी समाज का निर्माता है। मुर्गी यदि अडे पैदा करती है तो अडे भी कालांतर में मुर्गी को जन्म देते है।

---

## छायावाद

क्रिया की प्रतिक्रिया प्रकृति का अटूट नियम है। जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में झुलसते हुए आकाश मे शीघ्र परिवर्तन होता है और काली घटाओ से दिग्-दिगन्त आच्छादित हो उठता है। उसी प्रकार संसार भी जब युद्धो की कराल अग्नि ज्वालाओ में अधिक समय तक संतप्त हो कर चिल्लाता है, तभी शांति की शीतल अमृत-वर्षा होती है। यही विकासपरम्परा फिर आगे बढ़ती है, और इसी प्रकार इतिहास अपने आप को दोहराता चलता है। अधिक मिठास के पश्चात् नमकीन खाने को जी चाहता है और अधिक नमकीन खा लेने पर फिर मधुर भोजन प्रिय लगता है।

यह नियम केवल प्राकृतिक जगत् तक ही सीमित नहीं, साहित्य जगत् मे भी क्रिया की प्रतिक्रिया सदैव दृष्टिगोचर होती रहती है। आधुनिक काल से पूर्व हिन्दी साहित्य में रीतिकाल के कवि राधा-कृष्ण के नाम पर और लक्षणग्रन्थो की ओट मे अपने हृदय की वासनापूर्ण उक्तियो को सुना-सुना कर आश्रयदाता राजाओ से मुँह मांगा पुरस्कार पा रहे थे। नायक और नायिकाओ के भेद, उपभेद, उनका नख-शिख वर्णन, रतिक्रीडा, भोग विलास रंगरेलियां आदि उनकी कविता के प्रधान विषय थे। समाज के उत्थान तथा लोकहित की भावना साहित्य से उठ चुकी थी। देश-प्रेम का स्थान नारी-प्रेम ने ले लिया था। स्त्री को भोग की वस्तु समझ उसकी अनोखी अदाओं की चर्चा तथा उसके रूप की लोकोत्तर सूक्ष्मातिसूक्ष्म कल्पनाओ मे ही कवि कुमार अपनी कला का प्रदर्शन कर रहे थे। इतने मे हिन्दी साहित्याकाश मे भारतेंदु

का उदय हुआ। बाबू हरिश्चन्द्र ने रीतिकवियो को ललकार कर समय का सन्देश सुनाया, कर्त्तव्य की प्रेरणा दी। रूप-सुन्दरी पर रीझने वाले शृंगारी कवियों को विश्वसुन्दरी भारतमाता की छवि दिखाई। नारी के प्रेमियो को नारी का ही रूप आकृष्ट कर सकता था। फलतः भारतेन्दु ने राष्ट्रीय कविता को जन्म दिया। हिन्दी के कवियो ने भी मुक्तकेशिनी पराधीना भारतमाता की दुर्दशा देख मधुर मुरली की स्वर लहरी को छोड़ स्वतन्त्रता संग्राम के लिए रणभेरी फूंकनी प्रारम्भ कर दी। परन्तु रीतिकालीन कविता सुन्दरी का मोह सहसा नष्ट नही हो सका। पुरानी प्रीत कभी करवट लेकर जाग पड़ती। आधुनिक काल की स्वच्छन्द काव्यधारा में रहते हुए भी भारतेन्दु ने 'सुन्दरी तिलक' तथा रत्नाकर जी ने 'उद्धव शतक' जैसी रीतिकाल की सी रचनाये प्रस्तुत कीं। किन्तु राष्ट्रीय कविता का बीज हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र मे पड़ चुका था।

भारतेन्दु जी ने सर्वप्रथम हिन्दी कविता को रीतिबद्धता के क्षेत्र से निकाला और समस्त प्राचीन काव्यरूढ़ियो का उच्छेद करने का श्रीगणेश किया। कवियो ने राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक विषयो पर लिखना प्रारम्भ किया। इस प्रकार स्वच्छन्द काव्यधारा का युग चल पड़ा। इसी काव्यधारा ने द्विवेदी-युग मे आकर अपना विकसित रूप प्रकट किया। भारतेन्दु-युग के कलाकार रीति युग की रूढ़िबद्ध कविता का पूर्णतया मोह नहीं छोड़ सके थे। उनके चरण तो आधुनिक युग मे चल रहे थे, परन्तु उनकी दृष्टि यदा-कदा रीतिकाल की रुपहली कविता की ओर भी फिसल जाती थी। किन्तु आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने शृंगार का पूर्ण विरोध करते हुए 'इतिवृत्तात्मक कविता' को जन्म दिया। भारतेन्दु युग मे कविता की भाषा भी ब्रजभाषा थी जो अपनी कोमल कान्त पदावली के कारण शृंगार रस के अधिक अनुकूल बैठती थी। आचार्य द्विवेदी ने अपने युग में गद्य और पद्य दोनों की भाषा खड़ी बोली कर दी। काव्य का विषय सूक्ष्म कल्पनाओं और शृंगारी हाव-भावों से रहित हो गया। मैथिलीशरण गुप्त की 'भारत भारती' को आदर्श मान कर सभी कवि भारत की वर्तमान दुर्दशा तथा उसके स्वर्णिम अतीत का विशद वर्णन करने लगे। कलाकार कला की उपासना छोडकर पद्यबद्ध कोरा उपदेश देने लगे। कविता नीरस और शुष्क हो गई। स्थूल विषयों के कारण

मरस, सूक्ष्म उद्भावनाएँ बन्द करके कवि किसी राजनीतिक या सामाजिक समस्या का इतिवृत्तात्मक वर्णन उपस्थित करने लगे। रीतिकाल की पूर्ण प्रतिक्रिया द्विवेदी युग मे दृष्टिगोचर हुई। 'कला कला के लिए है' की ध्वनि का उग्र विरोध होने लगा। कला को जीवन के लिए मानकर उसके विशाल और असीम क्षेत्र को केवल सामाजिक जीवन तक केन्द्रित कर दिया।

काव्य के उद्यान मे इस प्रकार पतझड का जो शुष्क वातावरण छा गया, आखिर उसकी प्रतिक्रिया भी स्वाभाविक थी। 'वाक्य रसात्मकं काव्यं' की रट लगाने वाले रसराज शृंगार का बहिष्कार करें, यह विचित्र विरोध बहुत दिनो तक सहन न हो सका। 'शृंगार कविता कामिनी का शृंगार है' यह शाश्वत सत्य अधिक देर तक छिपा न रह सका। इतिवृत्तात्मकता के कांटों में एक बार फिर फूलो की महक आने लगी। सरस कल्पनाओं की कोपलें फिर फूटनी प्रारम्भ हुईं। शृंगार की वासंती वायु मंद-मंद बहने लगी। जर्जरित-शरीरा प्रकृति पुनः चिरनवीना सुन्दर युवति बनकर सामने आई। कवि ने द्विवेदी युग मे दबी हुई हृदय की मधुर भावनाओं को नारी के स्थान पर प्रकृति सुन्दरी मे आरोपित किया। स्थूलता का विरोध सूक्ष्मता के रूप में हुआ और वायवी कल्पनाओं के झीने पर्दे में कविता-कामिनी अपने सोलह शृंगारों से सज-धज कर जिस अलौकिक रूप में दिखाई पडी, उसी को आलोचकों ने 'छायावाद' का नाम दे डाला।

निःसन्देह छायावादी कविता के जन्म काल में पाश्चात्य साहित्य और उससे प्रभावित बंगला साहित्य के प्रभाव को भुलाया नहीं जा सकता। विशेष रूप से विश्व कवि रवीन्द्र की 'गीतांजलि' को जब नोबल पुरस्कार मिला तो उस अमर रचना का महत्त्व संसार भर मे बढ गया। हिन्दी के उदीयमान तरुण कवियों पर भी 'गीतांजलि' की सूक्ष्म कल्पनाओं और रोमांटिक शैली का प्रभाव पडा। तात्कालिक साहित्यिक प्रवृत्तियों द्वारा प्रभावित हिन्दी की छायावादी काव्यधारा प्रबल वेग से प्रवाहित हो चली। परन्तु इसकी मूल-प्रेरणा अभारतीय कदापि नहीं कहलायेगी। इसे केवल पाश्चात्य काव्य-प्रणालियों की मिश्रित देन समझना तथा काव्य धारा न मानकर केवल 'शैली' ही मान लेना उचित न होगा। छायावाद और रहस्यवाद की प्रसिद्ध कवियित्री

श्रीमती महादेवी वर्मा ने ठीक ही कहा है कि 'छायावाद का मूलाधार भारतीय दर्शन का सर्ववादी सिद्धांत है।' सर्ववाद के अनुसार ईश्वर की चेतन सत्ता चराचर जगत् के कण-कण में व्याप्त है। 'ईशावास्यमिदं सर्वं' का श्रुति वचन इसी सत्य का प्रतिपादक है। अतः जड़ प्रकृति मे भी उसी परम चेतन का आभास मान लेना निश्चयात्मक रूप से सनातन भारतीय प्रवृत्ति है। अतएव छायावाद का शरीर और उसकी बाहरी सजावट भले ही पश्चिम से प्रभावित हो, परन्तु उसकी आत्मा निःसंकोच रूप से भारतीय कही जायगी।

छायावाद हिन्दी साहित्य मे द्विवेदी युग की प्रतिक्रिया के रूप मे ही आया। यह युग 'प्रसाद युग' के नाम से भी पुकारा जाता है। जयशंकर प्रसाद इस युग के प्रवर्तक माने जाते हैं। उनके अतिरिक्त महादेवी वर्मा, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, सुमित्रानन्दन पंत आदि महान् कलाकारो ने छायावाद भवन के निर्माण में प्रशंसनीय सहयोग प्रदान किया। प्रसाद युग आधुनिक काल में सबसे अधिक महत्त्व पूर्ण काल कहा जाता है। क्योंकि इस युग में जहां गद्य अपने चरम विकास को पहुँचा हुआ मिलता है, वहां हिन्दी काव्य जगत् की तीन महान् धारायें इसी युग मे ही अपना विकसित रूप प्रकट करती हैं। वे काव्यधारायें हैं—छायावाद, रहस्यवाद, हालावाद। यद्यपि आशावाद, निराशावाद, दुःखवाद, नियतिवाद आदि अनेक छोटी-छोटी प्रवृत्तियां कुछ आलोचको ने और भी मानी हैं, परन्तु इन सबका पृथक् विशेष महत्त्व न होने से प्रधान रूप से उक्त तीन, उनमे भी छायावाद और रहस्यवाद ही ऐसी प्रबल काव्यधारायें हैं; जिनका प्रभाव हिन्दी साहित्य में खूब रहा और जो आलोचको की प्रखर आलोचना के विषय भी खूब रहे। अस्तु।

छायावाद और रहस्यवाद के बारे में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं पाया जाता। कुछ मनीषी दोनो वादों को एक ही मानते हैं तो कुछ भिन्न-भिन्न। एक विद्वान् यदि छायावाद को रहस्यवाद का अङ्ग कहता है तो दूसरा रहस्य-वाद को छायावाद का विशेष रूप मानता है। इसके अतिरिक्त इन वादो के लक्षणो में भी अत्यन्त अस्पष्टता पाई जाती है। परन्तु छायावाद के स्वरूप को पूर्ण रूप से समझने के लिए उसका रहस्यवाद से अन्तर समझ लेना भी

अत्यंत आवश्यक है। छायावाद और रहस्यवाद निश्चय रूप से दो भिन्न-भिन्न काव्य धारायें है। यद्यपि इन दोनों में कुछ समानताएं भी पाई जाती है, तथापि इन दोनो को अलग करने वाली विभाजक रेखा भी स्पष्ट दिखाई दे जाती है। छायावाद और रहस्यवाद का प्रधान भेद उनके क्षेत्रो में है। छायावाद का क्षेत्र जहाँ केवल प्रकृति है, रहस्यवाद का क्षेत्र वहा आत्मा और परमात्मा है। छायावादी कवि आत्मा-परमात्मा के रहस्यो का कभी विवेचन नहीं करता और न ही दोनो की एकता का समर्थन करता है, जैसा कि रहस्य-वाद का विषय है। छायावादी प्रकृति के विषय में ही कहता है, वह प्रकृति को किसी का (आत्मा-परमात्मा का) प्रतीक न मान कर आलंबन रूप से ग्रहण और वर्णन करता है। उदाहरण रूप मे नीचे का पद्य लीजिये—

तुम तुग हिमालय शृङ्ग
और मैं चचलगति सुर सरिता।

इस पद्यांश में हिमालय और सुरसरिता का वर्णन नहीं है, बल्कि तुम (परमात्मा) और मैं (आत्मा) का स्वरूप बताया गया है। इसमे प्रकृति प्रतीक रूप से आई है, साक्षात् आलंबन रूप से नहीं। यही वह महान् अन्तर है, जिस से छायावाद रहस्यवाद से सर्वथा अलग किया जा सकता है। इसी प्रकार छायावाद की अन्य अपनी विशेषताएँ भी हैं, जो उसके स्वरूप को अधिक स्पष्ट और विशिष्ट सिद्ध करती है। उनका संक्षेप से वर्णन किया जाता है—

छायावाद एक प्रतिक्रियावाद है। स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह है। मांसलता के प्रति वायवीयता को क्रान्ति है। नीरस और शुष्क राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक समस्याओ के प्रति हृदय की सरल और मधुर भावनाओ का प्रत्याह्वान है। सासारिकता के विरोध में लोकोत्तर स्वप्नलोक की सृष्टि है। कठोर यथार्थ के विपरीत कोमल कल्पना की विजय है। ठोस काया के स्थान पर काव्य की झीनी छाया का सुन्दर साम्राज्य है। छायावाद तभी एक छायावाद है। अरस्तू के अनुसार काया की अपेक्षा छाया, सत्य की अपेक्षा स्वप्न, बिंब की अपेक्षा प्रतिबिम्ब, ध्वनि की अपेक्षा प्रतिध्वनि, यथार्थ की अपेक्षा कल्पना अधिक आकर्षक और सुन्दर प्रतीत होती है और सचमुच द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक कविता की अपेक्षा छायावादो कविता नितांत

मधुर और सरस सिद्ध है। कवि घोर यथार्थ की कठिनाइयो से उकता कर, धर्म, राजनीति और समाज की समस्याओ की शुष्कता से तंग आकर जब देखता है कि उसे अपने हृदय की मधुर कल्पनाओ का गला घोटना पड़ रहा है, तब वह विद्रोही हो उठता है। इस लौकिक संसार के विषयों से दूर भाग कर वह एक ऐसा स्थान खोजना चाहता है, जहां वह अपने हृदय की कुंठित मधुर प्रिय भावनाओ को निःसंकोच और निर्भय होकर कह सके। जहां लोक मर्यादा की कडी जंजीरें उसके विचार-स्वातंत्र्य और भावो की असीमता को जकड़ न सकें, जहां वह स्वच्छंद बिहार कर सके, निर्द्वन्द्व अभिसार कर सके, निर्बाध शृंगार और अपार प्यार कर सके। वह उसी आदर्श लोक की ओर जाना चाहता है, इसलिये आलोचक छायावादी कवि को 'पलायनवादी' कवि कहते हैं। प्रसाद मे यह पलायनवादी प्रवृत्ति है।

ले चल मुझे भुलावा देकर<br>
मेरे नाविक धीरे-धीरे।

छायावाद की एक प्रधान विशेषता है—मानवीकरण। छायावाद की परिभाषा देते हुए किसी विद्वान् ने कहा भी है कि 'प्रकृति में मानवीय भावनाओं के आरोप का नाम छायावाद है।' अंग्रेजी साहित्य के अलंकार मानवी करण ( Personification ) और छायावाद में यही एक सूक्ष्म अन्तर है। छायावाद मे प्रकृति में मानव का नहीं, मानवीय भावनाओं का आरोप रहता है। प्रकृति को जड न मान कर उसे चेतन ही नहीं, अपितु चेतन मानव की भावनाओ का भी उस में आरोप कर दिया जाता है। वह प्रकृति सुन्दरी मानव के समान ही सुख, दुःख, भय, क्रोध, लज्जा, हास्य, रुदन का अनुभव करती है। वह मानव के समान नाचती है, गाती है, हंसती और रोती है। वह भी किसी से प्यार करती है, रूठती है, मनाती है, चुम्बन करती और आलिंगन लेती है। कवि प्रसाद 'कामायनी' में रात्रि का इसी रूप में सजीव वर्णन करते हुए उसे संबोधित करते हैं—

पगली, हाँ संभाल ले<br>
कैसे छूट पड़ा तेरा अंचल!<br>
देख, बिखरती है मणि राजी,<br>
अरी! उठ! बेसुध, चंचल!

इस प्रकार 'श्रृंगारीभावना' छायावाद की एक और विशेषता बन जाती है। द्विवेदी युग मे श्रृंगार का जो बहिष्कार किया गया था, यह उसकी प्रतिक्रिया है। परन्तु रीतिकाल के श्रृंगार से छायावाद का श्रृंगार भिन्न है। रीतिकवि नारी के साथ प्रेम करता है, जब कि छायावादी कवि प्रकृति सुन्दरी के साथ ही अपने प्रेम का भाव प्रदर्शन करता है। पंत प्रकृति को सहचरी बना कर उसके रूप पर मुग्ध होकर कभी विहग बाला से संगीत सीखने की प्रार्थना करता है और कभी भ्रमरी से मधु पिलाने का अनुरोध। अपनी प्रसिद्ध छायावादी रचना 'छाया' के अंत में तो कवि वृक्ष की छाया से आलिंगन तक करने को उत्सुक दिखाई देता है—

आओ सखी बांह खोल हम
मिलकर गले जुड़ा ले प्राण।
फिर तुम तम में, मै प्रियतम मे,
हो जायें द्रुत अन्तर्धान।

रीतिकालीन कवि नारी-प्रेमी होने के कारण शारीरिक वासनाओं का ही वर्णन करते रहे। उनके प्रेम मे दुर्गंध है, भोग का स्थूल स्वार्थ है। किन्तु छायावादी के प्रकृति-प्रेम में पवित्रता है। यही कारण है कि निराला की 'जुही की कली' मे संभोग तक की छेड़-छाड़ का स्पष्ट चित्रण होने पर भी मन में कलुषित प्रभाव नहीं जगाता। कामायनी मे 'चिन्ता' तथा 'आशा' सर्ग के प्राकृतिक वर्णनो में भी यही देखा जा सकता है। प्रसाद की निम्न उक्ति लीजिये, जिसमें प्रलय के सागर में से निकलती हुई धरती का वर्णन सुहागरात मे सेज पर सिमटी बैठी नववधू का संभोगकालीन मधुर चित्रण किया है—

सिंधु सेज पर धरा बधू,
अब तनिक संकुचित बैठी सी।
प्रलय निशा की हल-चल स्मृति से,
मान किये सी ऐंठी सी॥

ऐसे नग्न वर्णन में श्रृंगार की पराकाष्ठा होने पर भी वासना की बू दुर्गन्ध नहीं आती। छायावादी रचनाओं मे मानव हृदय की अनन्त सूक्ष्म

# रहस्यवाद

जिम समय मनुष्य ने इस सृष्टि मे आंख खोली, तो उसे यह चराचर जगत् आश्चर्यों का भंडार दिखाई दिया। नीला-नीला आकाश एक सुन्दर चन्दोवे के समान सिर पर छाया हुआ था। रात को उसमे अनेक झिलमिलाते हुए सितारे और दूध क समान श्वेत चन्द्रमा लटकता दिखाई दिया। दिन को अपार तेज की राशि सूर्य मंडल तमतमाता नजर आया। ऊँचे-ऊँचे पर्वत अपने मस्तको पर हिम का धवल मुकुट धारण किए दृष्टिगोचर हुए। कही झर-झर झरते झरने, तो कही कलकल बहती विलोल-हिल्लोल भरी सर-सरितायें मिली। घने जंगल और उनमे अद्भुत जीव-जन्तु दिखाई दिए। वसन्त की सुरम्य सुषमाए देखीं और उसके पश्चात् पतझड के सूखे कांटे भी। ग्रीष्म की झुलसाती लुएं भी चलीं, सावन की शीतल बरसाते भी तप्त शरीर को भिगोने आई। कभी शीत से वह ठिठुरने लगा, तो कभी सुनहरी धूप को पाकर वह स्फूर्ति प्राप्त करने लगा। वह हैरान था, यह क्या है ? यह क्यो है ? यह कब से है ? यह किसका है ? यह किस लिए है ? यह कब तक रहेगा ? उसका मन इसी रहस्य का मनन करने लगा, उसकी बुद्धि भी इस भेद को जानने के लिए चिन्तन करने लगी। उसने बहुत जोर लगाया, खूब उछला, कूदा। कुछ रहस्यो का पता लगा लिया। पशु-पक्षिया के नाम भी मालूम कर लिये। पेड-पौधो, नदी-नालो, वन-उपवनो, यहाँ तक भयानक पर्वत गुफाओ तक वह घुस गया। सागर के अपार वक्षस्थल को भी चीरने का यत्न व किया। उसे कुछ-कुछ कही कहीं सफलता भी मिली। परन्तु अब भी उसके सामने बहुत कुछ रहस्यमय था। अनन्त तारामडल, चन्द्र, सूर्य, उसकी पहुँच से बहुत दूर थे (आज भी बहुत दूर हैं)। प्रकृति का अपार वैभव, जीव-जन्तुओं की असख्य राशि और इन सब मे व्याप्त चेतना उसके लिए कौतुक बन कर रह गई।

धीरे-धीरे सभ्यता का विकास प्रारम्भ हुआ। कुछ साहसी मानवों ने इन रहस्यों की खोज लगाने की ठानी। अग्नि, सूर्य, वरुण, चन्द्र, वायु

आदि प्रकृति के अनेक उप ...णा का ज्ञान प्रारम्भ हुआ। इसके लिये कहीं यज्ञो का धूम उठने लगा तो कहीं अरण्यो अथवा गुफाओं में एकान्त मनन और चिन्तन शुरू हो गया। ऋषियो ने अपने अनुभवों का निचोड़ श्रुतियों, आरण्यकों और उपनिषदों के रूप मे प्रदान किया, जिसे 'अध्यात्म ज्ञान' का नाम मिला। अध्यात्म के चिन्तन में ऋषियो ने आत्मा, परमात्मा, जगत् आदि का बौद्धिक दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत किया। इस प्रकार दार्शनिक अध्ययन का विकास होता गया। छः आस्तिक दर्शनो का प्रणयन हुआ। परन्तु हृदयक्षेत्र अभी तक सूना पड़ा था। दार्शनिको ने तो इन रहस्यों की जिज्ञासा को शांत करने का प्रयत्न किया, परन्तु कवियो ने इसे अपने काव्य का विषय न बनाया। फलतः संस्कृत साहित्य मे 'अध्यात्मवाद' तो मिलता है, परन्तु 'रहस्यवाद' नहीं। रहस्यवाद साहित्य और काव्य का विषय है; जबकि अध्यात्मवाद दर्शन और धर्म का। रहस्यवाद मे जिस रहस्य भावना की हृदय द्वारा अनुभूति होती है, अध्यात्मवाद मे उसका बुद्धि द्वारा चिन्तन किया जाता है। अतः अध्यात्मवाद जहाँ शुष्क और नीरस होता है, वहाँ 'रहस्यवाद' सरस और मधुर। संक्षेप में 'दर्शन जगत् का अध्यात्मवाद काव्य जगत् मे रहस्य-वाद, कहलाता है।

रहस्यवाद कोई वाद विशेष न होकर हृदय की एक भावना है, जिसके द्वारा संवेदनशील कवि चराचर जगत् के कण-कण मे परमात्मा की चेतन सत्ता का अनुभव करके उससे एकाकार होने की कामना करता है। सर्वप्रथम वह विचित्र संसार और उसमें व्याप्त परम चेतन सत्ता के प्रति उत्सुक होकर जिज्ञासु बनता है। फिर धीरे-धीरे उस सत्ता का ज्ञान प्राप्त करता है और अन्त मे उसके साथ एकात्मसंबन्ध स्थापित कर आत्मा और परमात्मा के अभेद का अनुभव करता है। इस प्रकार रहस्यवाद की तीन कोटियां मानी जाती हैं—(१) जिज्ञासा, (२) ज्ञान, (३) मिलन।

१. जिज्ञासा अवस्था में कवि उस परम रहस्यमय ईश्वरीय चेतन सत्ता का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा प्रकट करता है। वह ईश्वर को अद्भुत जानकर विस्मित हो उठता है। उसके हृदय में एक प्रश्न उठता है—

नभ के परदे के पीछे
करता है कौन इशारे ?

कामायनी के 'आशा सर्ग' मे जयशंकर प्रसाद ने जो अध्यात्म वर्णन किया है, उसका गणना रहस्यवाद की इस प्रथम कोटि में होती है। मनु चकित होकर सोचते हैं —

सिर नीचा कर किस की सत्ता
सब करते स्वीकार यहां ?
सदा मौन ही प्रवचन करते
जिसका वह अस्तित्व कहां ?
हे अनन्त रमणीय कौन तुम
यह मै कैसे कह सकता।
क्या हो, कैसे हो, इसका तो
भार विचार न सह सकता।—कामायनी

२. ज्ञान अवस्था मे कवि को ईश्वरीय सत्ता का ज्ञान ( मिलन नहीं ) होता है। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धो का ज्ञान, संसार की विनश्वरता तथा मुख्य बाधा रूपिणी माया का ज्ञान इसी कोटि मे आता है। कवि सांसारिक सुखो को त्याग, समस्त वैभव को असार समझ विश्व मे विश्वात्मा को ही परम जान लेता है। वही चेतन सत्ता ही ज्ञातव्य और प्राप्तव्य है। वही सुमन में रूप बनकर और सूर्य में प्रकाश बनकर दिखाई देता है। पक्षी उसी का गीत गाते है, वायु उसी की खोज मे हांफती फिरती है। झरना उसी को पाने के लिए भटक रहा है।

हे अनन्त हे विश्वदेव ! तुम,
कुछ हो ऐसा होता भान।
मन्द गम्भीर धीर स्वर संयुत
यही कर रहा सागर गान।—कामायनी

लौकिक त्रितापो द्वारा सन्तप्त जीवात्मा की मृगतृष्णा और क्षणभंगुर सुख प्राप्ति के लिए विविध कष्टानुभूतियो का वर्णन तथा अन्त में पलायनवादी बनकर उसी चेतन सत्ता की खोज और ज्ञान प्राप्ति की चर्चा भी इसी

अवस्था के अन्तर्गत है। जीवात्मा को यह ज्ञान हो जाता है कि उसकी सारी खोज जिसके लिए है, वह स्वयं उसी का एक अंश है। वह उसी ज्वाला की ही एक छोटी चिनगारी है। निराला जी 'तुम और मै' नामक कविता की निम्नलिखित पंक्तियो मे आत्मा-परमात्मा के इसी सम्बन्ध का सुन्दर संकेत करते हुए कहते हैं--

तुम तुङ्ग हिमालय शृङ्ग,
और मै चचलगति सुर-सरिता।
तुम विकल हृदय उच्छ्वास,
और मै कान्त कामिनी कविता॥

३. मिलन अवस्था मे जीवात्मा और परमात्मा के मिलन तथा एकाकार होने की अनुभूति का वर्णन रहता है। कवि को यह सुखद अनुभव होता है कि वह स्वयं ही उस चेतन सत्ता का अभिन्न रूप है। जिसका दर्शन उसने चन्द्र में चन्द्रिका के रूप मे देखा था, वही उसके अन्तरात्मा में भी व्याप्त है। चन्द्र और चन्द्रिका के समान या पुष्प और सुगन्ध के समान आत्मा और परमात्मा भी अभिन्न है। महादेवी के निम्न पद्यांश मे इसी का मधुर संकेत मिलता है—

बीन भी हूँ मै तुम्हारी रागिनी भी हूं।
दूर तुम से हूं अखंड सुहागिनी भी हूँ॥

अथवा

तू तू न रहा मैं मैं न रहा

या

है राम मुझ में, मैं राम में हूं

रहस्यवाद की उक्त विवेचना में यह बात न भूलनी चाहिये कि कभी-कभी कवि उस ईश्वरीय सत्ता का वर्णन बौद्धिक दृष्टि से भी करता है, जिसे शुद्ध रहस्यवाद नहीं कहा जा सकता। कबीर और जायसी की कुछ रहस्यवादी उक्तियाँ काव्य का विषय न होकर अध्यात्म की उदाहरण कही जायेंगी। उनमें हृदय की अनुभूति न होकर बुद्धि का शुष्क चिन्तन मिलता है। जैसे कबीर का यह प्रसिद्ध दोहा है —

जल मे कुम्भ कुम्भ मे जल है बाहर भीतर पानी
टूट कुम्भ जल जल मे समानो, यह तत कथ्यो गयानी।

अथवा

तिनका तिनके से मिला
तिनका तिनके पास ॥

सुमित्रानन्दन पंत की 'वीणा' की कई उक्तियो मे भी इसी अध्यात्म-चिन्तन की झलक मिलती है। कबीर आदि कवियो को भी रहस्यवादी कहा गया है, परन्तु उनका रहस्यवाद शुद्ध कलात्मक न होकर साधनात्मक ही था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि रहस्यवाद कोई वाद विशेष न होकर एक सामान्य हृदय की भावना का नाम है, जो आदि काल से मानव के हृदय मे उठती रही है। हिन्दी के प्राचीन कवियो ने भी जहां-कहीं उसी भावना का दिग्दर्शन कराया है। किन्तु आधुनिक रहस्यवाद मे अनुभूति की मात्रा की अपेक्षा कला की मात्रा प्रधान है। विशेषतया आधुनिक रहस्यवाद के भावपक्ष और कलापक्ष दोनो पर पाश्चात्य साहित्य तथा मुख्यतया कवीन्द्र रवीन्द्र की 'गीतांजलि' के रहस्यवादी गीतो की छाप स्पष्ट अवलोकनीय है। वर्तमान रहस्यवादी काव्य हिन्दी साहित्य की विकास-परम्परा में द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक कविता का ही प्रतिक्रिया रूप कहा जायेगा। छायावादी कवि की भांति रहस्यवादी कवि भी पलायनवादी है। परन्तु वह छायावादी कवि के समान प्रकृति का वर्णन न करके (प्रकृति के माध्यम से) आत्मा-परमात्मा का ही वर्णन करता है। रहस्यवाद में प्रकृति आलंबन न रहकर प्रतीक बन जाती है अतः रहस्यवादी कवि प्रतीकवादी भी होता है।

रहस्यवादी कविता में धांधली को रोकने के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'काव्य मे रहस्यवाद' नामक पुस्तक लिखकर इसके स्वरूप को स्पष्ट करने का उत्तम प्रयत्न किया है। अनेक तथाकथित रहस्यवादी कवि अपनी रचनाओ में असीम, अनन्त शब्द देकर कुछ अस्पष्ट भावनाओ की अभिव्यक्ति को रहस्यवाद की ओट मे छिपाने की निन्दनीय चेष्टा कर रहे थे। उस समय अस्पष्टवाद का ही रहस्यवाद मान लिया गया था। जिस कविता का कुछ

अर्थ समझ में न आता उसे रहस्यवादी रचना कह दिया जाता। यह बात अनुचित थी। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि रहस्यवाद मे अस्पष्टता मिलती है। ईश्वर का पूर्ण स्वरूप ज्ञात होना असम्भव है। उस रहस्यमय के रहस्य का पूर्ण पता लगाना आसान नही। आदि काल से मनुष्य का मस्तिष्क और हृदय इसी रहस्य को सुलझाने का प्रयत्न करता आया है। किन्तु अन्त में बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी 'नेति नेति' कहकर अपनी हार मानते रहे। कोई भी व्यक्ति इस रहस्य को पूर्ण नही जान पाया। यदि यह रहस्य पूर्ण रूप से जान लिया जाये, तो फिर वह रहस्य ही क्यों रहे। रहस्य तभी रहस्य कहलायेगा, जब तक कि वह ज्ञात न हो। अतः ईश्वरीय रूप की विवेचना जैसा विषय रहस्यमय है, और इसमें यदि अस्पष्टता की झलक मिले भी तो कोई आश्चर्यजनक नहीं। किन्तु फिर भी रहस्यवादी कवि का काम इसी रहस्य की गुत्थियों को सुलझाना है और यथाशक्ति उसका (अंशतः ही सही) रूप प्रकाशित करना है। इस रहस्य को समझने के लिए एक छोटी सी कथा याद कर लेनी चाहिये—

एक बार चार अंधे हाथी को जानने के लिए गए। चारों ने हाथों से टटोल-टटोल कर हाथी का ज्ञान प्राप्त किया। जब वे लौटकर आये, तो एक आदमी ने उनसे पूछा—बताओ, हाथी कैसा था? उनमें से एक ने कहा–'हाथी पतले रस्से के समान था। उस व्यक्ति ने हाथी की पूंछ को हाथ लगाया था। दूसरे ने तत्काल बात काटते हुए कहा, नहीं, हाथी रस्से के समान नहीं था, वह तो एक बडे ढोल के समान था। दूसरे व्यक्ति ने हाथी के पेट को छुआ था। तीसरा व्यक्ति यह सुनकर चिल्लाया कि ये दोनों झूठ बोलते हैं। हाथी तो लंबे पंखे के समान था। उस अंधे ने हाथी के कानों को हाथ लगाया था। परंतु चौथे ने कहा, सब गलत है। हाथी तो एक बडे खम्भे के सदृश था। वे चारों आपस में लड़ने लगे। चारो ही कह रहे थे कि वे सच कहते है, दूसरे सभी गलत कहते हैं।

यदि वास्तव में देखा जाये, तो चारों अंधे सच ही कह रहे थे। क्योंकि हरेक ने जैसा अनुभव किया, वैसा सच-सच बता दिया। परन्तु फिर भी चारों झूठ कह रहे थे। क्योंकि जो कुछ वह बता रहे थे, वैसा हाथी नहीं

होता। बस यही विचित्रता है, जो हाथी के समान ईश्वर के विषय मे रहस्य-वादियों में पाई जाती है। अंधे के समान हर रहस्यवादी कवि की अनुभूति अपूर्ण है, व्यक्तिगत है। फलतः कभी-कभी उनकी अनुभूति आपस में एक दूसरे को भिन्न और विरोधी भी प्रतीत होती है। कोई उस ईश्वर का वर्णन किसी प्रकार से करता है, कोई किसी प्रकार से। परतु इस अस्पष्टता का कारण तो स्पष्ट है। क्योंकि अंधो मे से किसी ने भी हाथी को पूर्ण नही जाना। हाथी के एक-एक अग मात्र को छूकर उन्होंने सारे हाथी की कल्पना कर ली और उस पर दुराग्रह किया कि वही हाथी को ठीक जानता है, दूसरे गलत बताते हैं। परंतु यह दुराग्रह अनुचित है। रहस्यवादी कवियो मे भी यदि कही-कही भिन्न और विरोधी भावनायें या अनुभूतियां पाई जायें, तो इस अस्पष्टता का यही कारण समझना चाहिये।

रहस्यवाद की अस्पष्टता को दूर करने के लिए कवि प्रतीको से सहायता लेता है। जब यह बात सत्य है कि ईश्वर रहस्यमय है और उसका पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना असंभव है। विषय विशेष रूप से तुलसी दास के शब्दो मे—

गिरा अनयन, नयन बिनु बानी।

होने से ईश्वर का वास्तविक रूप ज्ञात हो ही नही सकता। जिस वाणी ने उस स्वरूप का वर्णन करना है, उसके पास आंखे नहीं, अतः वह सच्चा वर्णन कैसे करे। जिन आंखो ने उस स्वरूप का दर्शन करना है, उसके पास वर्णन करने की शक्ति (वाणी) नही। वह वर्णन करें तो कैसे। कबीरदास जी ने भी यही संकेत किया है

जो जाने सो कहे नहीं,<br>
जो कहे, सो जाने नाहि।

ऐसी स्थिति मे कवि प्रकृति को प्रतीक मान कर उसके सहारे यथासंभव ईश्वर के रहस्यमय रूप को प्रकाशित करने का प्रयत्न करता है। आत्मा और परमात्मा के गहन संबंध को अवगत कराने के लिये जब वह कहता है कि

तुम ही विधु के बिंब,<br>
और मैं मुग्धा रश्मि अजान।—(महादेवी)

अर्थात् जैसे चांद और चान्दनी एक दूसरे से अभिन्न है वैसे ही आत्मा

और परमात्मा भी पृथक् नहीं हैं, अथवा ईश्वर पुष्प के समान है और आत्मा उस मे व्याप्त सुगंध के समान। इस प्रकार के प्रतीको द्वारा रहस्य को सुलझाने मे बड़ी सहायता मिलती है। यही कारण है कि रहस्यवादी कवि अपने वर्णनो मे रूपक, रूपकातिशयोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति आदि अलंकारो से सहायता लेता है।

रहस्यवादी कवियो के प्रकार तथा उसकी अवस्थाओ मे भिन्न भिन्न विद्वानो के मत भिन्न-भिन्न हैं। कबीर के रहस्यवाद मे जिन तीन अवस्थाओ को स्वीकार किया गया है। उनके नाम इस प्रकार है—

पूर्वतद्रूप, तद्रूप, प्राक् तद्रूप

१. पूर्वतद्रूप मे वह अवस्था है, जब आत्मा परमात्मा में एकाकार नहीं होता। तद्रूप होने से पहले की अवस्था का उदाहरण कबीर ने दिया है—

नैणां अन्दर आव तू नैण ढांप तोहिं लैहुं।
ना मैं देखूँ और को ना ताहि देखन दैहुँ॥

(इस अवस्था मे पूर्वोक्त ज्ञान कोटि का भी समावेश हो जाता है।)

२—तद्रूप अवस्था मे आत्मा और परमात्मा के मिलन का वर्णन रहता है। माया के पर्दे के नष्ट हो जाने पर कबीर साहब कहते हैं—

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥

३. प्राक्तद्रूप अवस्था मिलन के पश्चात् की है; जिसका संकेत कबीर के निम्न पद्यों मे होता है—

हम न मरी, मरिहै संसारा

या

कान न रूँधूँ आँख न मूँदूँ
उघरे नैनन साहब देखूँ

रहस्यवादी कवि प्रधानतया चार प्रकार के माने जाते हैं—

१. अध्यात्मवादी, जैसे कबीर, जायसी

२. दार्शनिक, जैसे प्रसाद, महादेवी ।
३. धार्मिक या पार्थिववादी, जो ईश्वर के सगुण रूप के उपासक होते हैं। जैसे तुलसी, मीरा ।
४. प्रकृतिवादी, जैसे निराला, पंत ।

---

# प्रगतिवाद

आधुनिक हिन्दी काव्यधाराओं की विकास परम्परा में अंतिम युग प्रगतिवादी युग माना जाता है। यद्यपि कुछ आलोचकों के मतानुसार आज की हिन्दी कविता 'प्रयोगवादी' कही जाती है, किन्तु इस सिद्धान्त की पुष्टि अभी तक हिन्दी के अधिकांश विद्वानों द्वारा नहीं हो सकी। प्रयोगवाद को एक अलग वाद के रूप में स्वीकार करना भी उचित प्रतीत नहीं होता। अस्तु, प्रगतिवादी कविता के इस युग से पूर्व हिन्दी साहित्य में छायावादी-रहस्यवादी कवि प्रकृति-परमात्मा संबंधी काव्य-रचना में निरत थे। द्विवेदी युग की स्थूल सामाजिकता और राजनीतिकता अथवा नीरस धार्मिकता की प्रतिक्रिया स्वरूप ये कल्पना के विश्वामित्र नूतन सृष्टि निर्माण कर रहे थे। वे कठोर वास्तविकताओं से विमुख होकर सुन्दर आदर्श के रमणीय भवन बना कर इन्द्रधनुषी कल्पनाओं द्वारा प्रेम, यौवन और सौंदर्य की त्रिवेणी में स्नान करते और मधुर छाया या सुन्दर रहस्यों से भरी लोकोत्तर कविताओं में अपनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म हार्दिकता का प्रदर्शन करते थे। उन्हें समाज की चिन्ता न थी, लोक कल्याण का ध्यान न था। काव्य में 'सत्य' का स्थान केवल 'सुन्दरं' ने ले रखा था। कला को जीवन के लिए न मान केवल कला के लिये ही स्वीकार कर के इन कवियों ने इतिवृत्तात्मक कविता को दूर हटा कर शृंगार से पूर्ण नवीन कल्पनाप्रधान रचनायें लिखीं। कहीं प्रसाद रजनी देवी के गौरांग को फटे-पुराने श्याम वस्त्र में से झाँक रहे थे, तो कहीं पंत छाया रानी के आलिंगन पाश में बंध जाने की सुख-लिप्सा में व्याकुल दिखाई देते थे। कोई जुही की कली के बहाने सुप्त क्रीड़ा का सुखद अनुभव कर रहा था, तो कोई

क्षितिज से वसन्त सुन्दरी की प्रतीक्षा मे आँखे बिछा रहा था। कही पुष्पों की आँखों में विरह के अश्रु झलकते थे और कही सध्या के गाल लज्जा की लाली से रक्तवर्ण हो रहे थे। प्रकृति सुन्दरी के रूप की विविध झाँकियो में खोया हुआ कवि प्रकृत जगत् के प्रकृत मनुष्यों को भूल गया था।

जिस समय छायावादी और रहस्यवादी कवि अपने छायालोक और रहस्यलोक मे मग्न थे, उस समय समाज की दुर्दशा अपनी पराकाष्ठा को पहुंच चुकी थी। भूख, बेकारी और निर्धनता ने मान.ता को खोखला कर दिया था। मानव मानव के रक्त का प्यासा हो रहा था। युद्धो की ज्वालाओं में शान्ति का बलिदान ही किया जा रहा था। कीडे-मकोडो को तरह मनुष्य बे मौत मर रहे थे। समाज जब रोटी के टुकडे को तरस रह था, छायावादी कवि मधुकरी से अमृत के कटोरे भर-भर पी रहा था। उसका ध्यान रोती रजनी के अश्रु कणो (ओस) पर तो गया, परन्तु अबलाओ की भीगी पलको पर नही। उषा के गुलाबो गालो को तो उसने देखा, किन्तु निर्दोष मानवों की लहू की नदी उसे दिखाई न पड़ी। विहगों के मधुर भावो की ध्वनि तो उसके कानो मे पड़ती रही, किन्तु दुःखियो के करुण क्रन्दन को वह न सुन सका। वृक्षो की छाया से आलिंगन करने को तो वह सदैव उत्सुक रहा, परंतु बेसहारो को गले लगाना वह भूल गया। समाज बे मौत मर रहा था, और समाज का प्रतिनिधि जीवन की रंगीन कल्पनाओ मे मस्त था। भला यह कैसे संभव था कि कवि, जो समाज की आँख है, उसका कान है, उसका हृदय और मस्तिष्क है, उसकी भाषा है, और जो उसकी अन्तरात्मा है, समाज की इस दुर्दशा पर ध्यान न देता। उपेक्षा की भी कुछ सीमा होती है। फलतः छायावाद की प्रतिक्रिया हुई। साहित्यिक क्षेत्र में क्रांति का युग आया। आदर्शवाद के झूठे महल धड़ाम से गिरने लगे। कल्पनाओं का स्वर्ग यथार्थ की धरती पर गिर कर चकनाचूर हुआ। कवि की आँखे खुलीं, उसने पीडित और शोषित समाज की दुरवस्था को अनुभव किया। उसने कूची को छोड़ छेनी और कुदाल हाथ में लिया। आश्रयदाताओं, राजाओ, अवतारों, श्रीमानो के संसार को छोड़ उनकी प्रशंसा के वर्णनों का त्याग कर वह निर्धन किसानों तथा मजदूरों की झोपड़ियो की ओर गया। पतितों को उठाने,

पिछड़ो को बढ़ाने, सोतो को जगाने और मृतको को जलाने के लिए जब कवि की वाणी सचेष्ट हुई, तब साहित्य मे 'प्रगतिवाद' का शुभागमन हुआ।

साहित्य समाज का दर्पण है, इस उक्ति के अनुसार कवि अपने आवेष्टन या वातावरण से सदैव प्रभावित रहता है। अपने आस-पास के संसार की स्थितियो से उसकी कविता को प्रेरणा मिलती रहती है। वह उनका ईमानदारी से अध्ययन करता है तथा अपनी कला के द्वारा उसका चित्रण करके समाज का सच्चा प्रतिनिधि बन जाता है। संसार के श्रमिक मध्य युग के साम्राज्यवादी चक्कर मे पिस कर जब पददलित हो गये। निर्धन जनता के खून पसीने की कमाई पर पूँजीपति लुटेरो ने जब डाका डाला और उनको चिरदासता तथा शोषण के द्वारा पंगु कर दिया, तो चारों ओर एक मूक चीत्कार की ज्वाला सुलगने लगी। विद्रोह का धुआँ दलित समाज के हृदय में से उठने लगा। ठीक ऐसे समय में जर्मनी के विश्वविख्यात विचारक कार्ल मार्क्स ने सर्वप्रथम शोषितो की मूकता को मुखर किया। अपनी सुप्रसिद्ध रचना 'पूँजी' ( The Capital ) के द्वारा उसने निर्धन जनता का अभियोग जिस फुर्ती और प्रभाव से लडा, उससे साम्राज्यवादी भवन की ईंटें हिलने लगी। पूँजीवाद की दुनिया मे भूकप आ गया। अत्याचार और दमन नीति का अन्त निकट दिखाई देने लगा। 'समाजवाद' ( Socialism ) का जन्म हुआ, जिसके सिद्धांतो को रूसी नेता लेनिन ने क्रियान्वित रूप देकर वहा ज़ारशाही की समाप्ति की। साम्यवाद ( Communism ) का सूर्योदय हुआ। मज़दूर और किसान अगडाई लेकर जाग उठे। रूस की देखा-देखी यूरोप और फिर एशिया मे भी लाल सवेरा आया। इस प्रकार जब ससार मे एक प्रबल विचारधारा फैलनी प्रारंभ हुई, तो उस समय साहित्यकारो पर भी इस का प्रभाव पड़े बिना न रह सका। लदन में प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। भारत में १९३६ मे उस संघ का अधिवेशन उपन्यास सम्राट् प्रेमचद के सभापतित्व मे हुआ। हिन्दी के छायावादी कवियों को भी अनुभव हुआ—

पंछी कितना उड़े अकास।
दाना है धरती के पास॥

छायावादी कवि पंत और निराला भी यथार्थ की कटुता को बिना माने न रह सके। फलतः १६४० से हिन्दी में एक नये युग का विकास हुआ, जिसे 'प्रगतिवादी युग' कहा जाता है। इसका दार्शनिक आधार मार्क्स का समाजवाद और कुछ अंश तक फ्रायड का मनोविज्ञान है। मार्क्स ने जिस द्वन्द्वात्मक प्रधानवाद' (Didectical Matereal1sm) का प्रचार किया तथा फ्रायड ने जो स्त्री-पुरुष की काम संबन्धी यौन समस्याओं (Sexual Problems) का विश्लेषण किया, उनके काव्यगत रूप को प्रगतिवादी कवियों ने अपने साहित्य का विषय बनाया। अत एव एक विद्वान् आलोचक के शब्दों में 'राजनीति का समाजवाद ही साहित्य मे प्रगतिवाद कहलाता है।' प्रगतिवादी साहित्य की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन संक्षेप में नीचे किया जाता है--

१. रूस की प्रशंसा—प्रगतिवादी कवि भारतीयता के गौरव गान की अपेक्षा रूस की नीति और साम्यवादी संस्कृति के अधिक प्रशंसक हैं। उनकी रचनाओं में रूसी क्रांति, लाल सेना, लाल झंडा और स्टालिन या लेनिन के वर्णन प्रचुर मात्रा मे पाये जाते हैं। साम्राज्यवाद का विरोध भी साम्यवादियो के लिए स्वाभाविक है अतः रूस के शत्रुओं को मानवता का शत्रु मान कर प्रगतिवादी कवि घोषणा करते हैं कि—

लाल रूस का दुश्मन साथी !
दुश्मन सब इन्सानों का।

मार्क्स के समाजवाद या साम्यवादी विचार धारा के प्रबल पोषक होने के कारण सामाजिक विषमता के प्रति विद्रोही भावना भी इस साहित्य की प्रमुख विशेषता है। लाल सेना की प्रशंसा में इन पंक्तियों को जरा पढ़िये—

समाजी विषमता की नींवें मिटाती,
गरीबों की दुनिया में जीवन जगाती।
अमीरों की सोने की लंका जलात,
चली आ रही है बढ़ी लाल सेना॥

२. शोषितों का चित्रण—प्रगतिवादी साहित्य में निर्धन किसानों और मज़दूरों की दुर्दशा का यथार्थ चित्रण मिलता है। उनकी भूख, बेकारी, रोग, अशिक्षा, अंधविश्वास के साथ-साथ पूँजीपतियों के शोषण और अमानुषिक अत्याचारों का भी सजीव वर्णन किया जाता है। जो कृषक और श्रमकार दिन-रात परिश्रम करके संसार का पालन-पोषण करते हैं, वे स्वयं मुट्ठी भर दाने का भी तरसते रह जाते हैं। जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' ने 'शोषितों के गान' नामक अपनी प्रसिद्ध कविता में इसका मार्मिक चित्र खींचा है। देखिये—

> हम पद्मनाल से छिपे विश्वजीवन में
> अपने ऊपर वैभव के कमल खिलाते।
> शोभा, सौरभ, मधु सब बाहर बंटते हैं,
> हम पंक गर्त में भीतर गलने जाते॥
> अनुभव पकवानों के अजीर्ण कर लेते,
> दुर्भिक्ष दिनों में जब वे निज भवनों में।
> हम क्षुधा-अग्नि की आहुति चुनते फिरते,
> गोबर में निकले हुए कदन्न कणों से॥

३. यथार्थवाद—प्रगतिवाद छायावादी आदर्शवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न हुआ है, अतः स्वभाव से यथार्थवाद का समर्थक है। प्रगतिवादी कवि साहित्य को स्वर्ग का इन्द्रधनुष अथवा देवताओं की सुधा नहीं मानता। वह साहित्य की आदर्शवादी नहीं, यथार्थ व्याख्या करता है। उस के लिए साहित्य इसी धरती की वस्तु है। वह गंगा का शीतल जल है। उसकी लेखनी राजाओं की अट्टालिकाओं का नहीं अपितु निर्धनों की झोंपड़ियों का चित्रण करती है। वह काव्य के लिए शृंगार ही नहीं, बीभत्स को भी रस मान उसका निःसंकोच वर्णन करता है। उसे 'सुन्दरं' के साथ-साथ 'असुन्दरं' से भी प्यार होता है। रीतिकालीन और छायावादी कवि जहाँ रूप और यौवन की साम्राज्ञी मृगलोचनाओं, कोमलांगी वारांगनाओं, सुन्दर नायक नायिकाओं अथवा मनोमुग्धकारिणी प्रकृति सुन्दरी की कामोद्दीपक लीलाओं से रमणीय

प्रसंगों को ही अपने काव्य का विषय बनाता था, और संसार के सर्वसुन्दर, आकर्षक स्थानों, उपवनों, निकुञ्ज पुञ्जों, भव्य भवनों मे रहने वाली सुर-बालाओं के सोलह शृंगारों से अपनी कविता-कामिनी को सजाता था; वहाँ प्रगतिवादी कवि मैले कुचैले दुर्गन्धपूर्ण देह वाले अशिक्षित, असभ्य और मलिन किसानो तथा मजदूरो के निर्धन, नगे, कुरूप, गंदगी से भरे, अशुद्ध मटमैले बालक-बालिकाओं का यथार्थ वर्णन करता है। उनकी तंग, प्रकाश-हीन, शुद्ध वायु से रहित, जीर्ण-शीर्ण झोपडियो का सजीव चित्रण कर उनके निर्धन जीवन के अभावो एवं आवश्यकताओं का वास्तविक स्वरूप प्रकट करता है। मानव रूप मे फिरने वाले दानवो ने उस निरीह मानव को पशु तुल्य जीवन बिताने पर मजबूर कर दिया। श्रमकार जीते थोडे है, वे तो केवल सांस लेते हैं, कीडे-मकोड़ो की तरह। ऐसे निर्धनो का धनिकों के संसार मे क्या हाल है, इसका एक मार्मिक दृश्य देखिये—

श्वानों को मिलता दूध वस्त्र,  
भूखे बालक अकुलाते है।  
माँ की गोदी में ठिठुर-ठिठुर,  
जाड़े की रात बिताते हैं।  
मालिक जब तेल फुलेलो पर,  
पानी सा द्रव्य बहाते हैं।  
पत्नी की लज्जा वसन बेच,  
तब ब्याज चुकाये जाते हैं॥

प्रगतिवादी कवि इससे भी यथार्थ वर्णन करता है। बंगाल के अकाल में एक-एक रोटी के टुकड़े के लिए पिता ने अपनी पुत्री और पत्नी को लाज बेची। मां ने अपने पुत्र को मार कर अपनी भूख मिटाई। कुत्तों से झपट कर उसके मुंह से चावल के सडे दाने छीन कर विसृष्टि के सर्व श्रेष्ठ प्राणी मानव ने अपनी क्षुधा को शांत करने का विफल प्रयत्न किया। एक रोगी वमन कर रहा था और दूसरा भूखा व्यक्ति उसे चाट-चाट कर अपनी भूख मिटा रहा था। ये कठोर वास्तविकताएं, जीवन की कटु अनुभूतियां, संसार के नग्न सत्य प्रगतिवादी साहित्य की प्रधान विशेषता हैं।

४. हिंसा पूर्ण क्रान्ति—प्रगतिवादी कवि साम्यवादी सिद्धान्तों मे और उसकी कार्यप्रणाली मे अंध विश्वास रखता है। फलतः वह गांधीवाद का या सुधारवाद का कट्टर विरोधी है। वह रक्त-क्रांति के द्वारा ससार मे शान्ति स्थापना का स्वप्न देखता है। उसका विचार है कि साम्राज्यवादी और पूंजीवादी शोषकों के अत्याचार और दुर्व्यसन इतने बढ़ चुके है कि उनको प्रार्थना से नही समझाया जा सकता है। उनका सुधार हो ही नही सकता। लातों के भूत बातों से नहीं माना करते। उनका समूल नाश करना ही अभीष्ट है। उनके बीज तक को ही नष्ट करना होगा। न होगा बांस, न बजेगी बांसुरी। इसलिए प्रगतिवादी कवि संसार मे एक उपद्रव, विप्लव, प्रलय या उथल-पुथल की कामना करता है। 'नवीन' की निम्न पंक्तियां इसी ओर संकेत करती है—

कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल-पुथल मच जाये।
एक हिलोर इधर से आये,
एक हिलोर उधर से आये॥
प्राणों के लाले पड़ जाये,
'त्राहि त्राहि' रव नभ में छाये।
नाश और सत्यानाशों का,
धुआं धार जग मे छा जाये॥

किसी भयानक फोड़े का इलाज मरहम पट्टी द्वारा भी हो सकता है, और तेज नश्तर चुभो कर आपरेशन द्वारा भी। प्रगतिवादी आपरेशन पर ही विश्वास करता है क्योंकि वह समझता है कि मरहम पट्टी से एक तो समय बहुत लगता है, जो उसके पास नहीं, क्योंकि वह मंजिल पर दौड़ कर पहुँच जाना चाहता है। दूसरे, मरहम से फोड़े का ऊपर से मुंह बंद हो सकता है, जिससे गंदा मवाद भीतर ही भीतर शरीर को जीर्ण करता रहता है, और समय पाकर भयंकर फोड़े के रूप में फिर फूट पड़ता है। टूटे हुए मकान की मरम्मत कराने से उसके किसी समय गिर पड़ने का भय बना ही रहता

है । अत एव प्रगतिवादी कवि उस जीर्ण शीर्ण मकान को पहले गिरा कर फिर नवनिर्माण करना चाहता है । समाज की रूढियों को नष्ट-भ्रष्ट कर, उसकी विषमताओ को मिटा वह एक वर्ग विहीन समाज के निर्माण में विश्वास करता है । पंत ने लिखा है—

गा गोकिल बरसा पावक कण,
नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन ।

निराला जी ने भी 'काली' को पुकारा है—

बस एक बार फिर और नाच तू श्यामा ।
सामान सभी तैयार,
कितने तुझ को असुर चाहिये
कितने तुझको हार ।

५. ग्राम्य जीवन—प्रगतिवादी कवि अपना ध्यान नागरिक पूंजीपतियों पर नहीं, निर्धन ग्रामीणों पर ही अधिक देता है । इसलिए प्रगतिवादी साहित्य मे ग्रामीण प्रकृति का ही प्रायः चित्रण रहता है । भारत की जनता भी ६० प्रतिशत ग्रामों में रहती है । सोहनलाल द्विवेदी ने ग्रामवासिनी भारत माता के निर्धन पुत्रों का सजीव वर्णन किया है—

ऋण भार चढ़ा जिनके सिर पर,
बढ़ता ही जाता सूद ब्याज ।
घर लाने से पहले कर से,
छिन जाता है जिनका अनाज ।
चूती जिनकी खपरैल सदा,
वर्षा की मूसलधारों में ।
ढह जाती है कच्ची दिवार,
पुरवाई की बौछारों में ॥
हड्डी-हड्डी पसली-पसली,
निकली है जिनकी एक-एक ।
पढ़ लो मानव ! किस दानव ने,
ये नर हत्या के लिखे लेख ॥

सुमित्रानन्दन पन्त की एक स्थान पर गांव के विषय में सटीक कल्पना देखिये—

भू की छाती पर फोड़ों से,
कुछ उठे हुए हैं कच्चे घर।
मैं कहता हूँ खंडहर उसको,
वे कहते हैं उसे ग्राम॥

६. आर्थिक दृष्टिकोण—साम्यवाद भौतिकवादी है। वह रोटी के प्रश्न को सबसे बड़ा प्रश्न मानता है। समाज की सभी समस्याओं का अध्ययन और समाधान वह आर्थिक दृष्टिकोण से ही करना चाहता है। नैतिक, धार्मिक या आध्यात्मिक महत्त्व को वह स्वीकार नहीं करता। रोटी, कपड़ा, मकान आदि भौतिक प्रश्न उसके सामने रहते हैं, जिसके लिए वह उत्पादन, समश्रम और समविभाजन के सिद्धान्तों का प्रचार करता है। उसे ईश्वर पर विश्वास नहीं। परलोक की चिन्ता नहीं। धर्म को पाखण्ड मानकर मानवता की भौतिक आवश्यकताओं और आर्थिक समस्याओं को ही वह सदा प्रधानता देता है। उसके लिए धार्मिक वह नहीं, जो मन्दिर में पूजा करता है, बल्कि वह है जो भूखों को रोटी तथा नङ्गों को वस्त्र देता है। वह धर्म के आध्यात्मिक रूप को नहीं, व्यावहारिक रूप को मानता है।

७. अतीत की निन्दा—प्रगतिवादी कवि के विचारानुसार अतीत काल अंधकार काल था, जिसमें साम्राज्यवाद और पूंजीवाद का जोर था। साधारण जनता को तुच्छ समझकर तानाशाही शासन चलता था। उस युग के राम, कृष्ण या दुष्यन्त भी साम्राज्यवाद के पोषक थे। अतः जिस अतीत को भारतीय जनता स्वर्णकाल और अतीतकालीन राजाओं को अवतार तक का दर्जा देती है, प्रगतिवादी कवि उनकी निन्दा करता है।

८. शैली—प्रगतिवादी साहित्य के भावपक्ष के समान उसके कलापक्ष में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। भाषा सौष्ठव की ओर ध्यान न दे कर आलंकारिक अथवा चमत्कारक शैली का पूर्णतया परित्याग कर दिया गया है।

भाषा की कोमलता, सरसता, प्रांजलता और मधुरता की चिन्ता हटा कर उसे ठेठ, साधारण खुर्दरी बना दिया गया है। प्राचीन छन्दो के बन्धन को भी तोडकर स्वच्छन्द ( मुक्तक ) छन्दो का विकास किया गया। रूढ़िगत उपमानों के स्थान पर नवीन उपमानो की सृष्टि हुई। पूंजीपति शोषकों के लिए जोक, क्रान्ति के लिए प्रलय, तांडव आदि की समता अपनाई गई। टेढ़ी वस्तु की उपमा कुत्ते की पूँछ से दी जाने लगी। कालेपन का उपमान इंजन का धुआं या कोयले की मजदूरन को माना गया। दृश्य की सजीवता के लिए अकृत्रिम शब्दावली का प्रयोग पसंद किया गया। 'भिक्षुक' कविता की निम्न पंक्तियो में निराला जी की शैली दर्शनीय है—

वह आता
दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर है एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता,
वह आता।

प्रगतिवादी साहित्य की उक्त विशेषताओ को देखते हुए कुछ आपत्तियां भी की जाती है। जैसे प्रगतिवादी कवि भारतीय स्थितियों और आवश्यकताओं पर ध्यान न रख कर विदेशी शासन पद्धति तथा संस्कृति की दुहाई दिया करता है। बुद्ध और गांधी के देश में रहता हुआ भी हिंसा और रक्त क्रान्ति के गीत गाता है। राम, कृष्ण की भूमि में अतीत की निन्दा करता है। आध्यात्मिकता, के वातावरण मे धर्म पर अविश्वास प्रकट करके नास्तिकता का प्रचार करता है। केवल निर्धनो का पक्ष लेकर समाज की एकांगी व्याख्या में मस्त रहता है। यथार्थवाद की आड में अश्लील वर्णनों से भी संकोच नहीं करता। कलापक्ष मे भी भाषा-संस्कार की ओर उपेक्षा बरती गई है। छायावाद ने खडी बोली मे जो व्रजभाषा जैसा माधुर्य और लालित्य भर दिया था, उसको प्रगतिवादियो ने नष्ट कर दिया। भद्दे-भद्दे उपमानों की कल्पना की गई आदि आदि . . .।

इसमें सन्देह नही कि उक्त आक्षेप किसी न किसी अंश तक सत्य हैं।

रूढियों को तोडने का दम भरने वाले इन कवियो ने स्वयं अपनी एक रूढि बनाली है। अंधविश्वासो का खण्डन करने वाले होकर भी रूसी साम्यवाद और उनके नेताओ पर अंधविश्वास कर लिया है। कला की दृष्टि से भी यह साहित्य उतना प्रशस्त नही रहा। परन्तु फिर भी कहना पडेगा कि उक्त आक्षेप रूढ़िवादी या साम्प्रदायिक प्रगतिवादी कवियो पर ही लागू होते है। प्रगति बुरी नही, प्रगति को एक वाद की कठोर जजीर मे नियन्त्रित करके उसे रूढि बना लेना बुरा है। भारत मे रहने वाले कवि को भारत से मुँह फेर कर रूस या चीन की महिमा का वर्णन करना शोभा नही देता। अपने घर की विधवा को छोडकर विदेश की स्त्रियो की प्रशंसा करना बुद्धिमत्ता नही कही जाती। वर्षा तो हो मास्को मे और छाता लगाना देहली में, यह कैसा न्याय है। भारत की अपनी आवश्यकताये हैं, अपनी परिस्थितियाँ और समस्यायें है। अपने सिद्धान्त, सभ्यता, संस्कृति और विचारधारा है, जिसे उपेक्षित नहीं किया जा सकता। इसलिए सच्चे प्रगतिवादी कवि का कर्तव्य है कि वह भारतीय स्थितियो के अनुकूल ही रचना करे।

— - —

# पृथ्वीराज रासो

हिन्दी साहित्य के आदिम कवि और आदिम महाकाव्य का महत्त्व निःसन्देह निर्विवाद है; किन्तु दुर्भाग्यवश चन्द्र वरदाई और उनकी रचना पृथ्वीराज रासो के विषय मे सन्देह बना रहना सचमुच विचित्र घटना है। जनश्रुति के अनुसार चन्द्र वरदाई पृथ्वीराज के राजदरबारी कवि ही नहीं, अपितु उसके अंतरङ्ग मित्र भी थे। कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक कहना है कि उनके जन्म और मरण की तिथियां भी एक थी और उनकी आकृति भी बहुत कुछ मिलती जुलती थी। चन्द्र ने वीरगाथा काल मे अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में 'पृथ्वीराज रासो' की रचना की और उसमे पृथ्वीराज की शूरता, रूप, गुण आदि का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन किया। किन्तु गौरी के कपटाचरण तथा जयचन्द से फूट के कारण पृथ्वीराज पराजित हाकर शत्रु के द्वारा गज़नी ले जाये गए और वहाँ उनकी आंखें भी निकलवादी गईं, तो चन्द अपने अनन्य मित्र और स्वामी की सहायता के लिए गजनी चल दिया। उसकी रचना अभी अपूर्ण थी, जिसको पूर्ण करने का भार कवि ने अपने पुत्र जल्हण को सौंपा--

पुस्तक जल्हण हत्थ दे
चलिय गजनि नृप काज।

वहाँ गजनी जाकर चन्द्र वरदाई ने गौरी के सामने पृथ्वीराज की शब्दवेधी बाण चलाने की विद्या की प्रशंसा की और उसे परीक्षा लेने को प्रेरित किया। एक दिन जब गौरी ऊपर महल मे बैठ र पृथ्वीराज की बाण विद्या की परीक्षा लेने लगा, तो चन्द्र कवि द्वारा अंतर की ठीक-ठीक सूचना पाकर पृथ्वीराज ने सचमुच अपने शब्दवेधी बाण द्वारा गौरी की हत्या कर डाली। इस घटना के पश्चात् चन्द्र और पृथ्वीराज एक दूसरे को कटार मार कर वीरगति को प्राप्त हो गये ।

उक्त घटना की सत्यता पर अभी विचार किया जायेगा। प्रथम 'रासो' के विषय मे कुछ और बातें भी जान लेनी चाहिये। रासो महाकाव्य ढाई हजार पृष्ठ का महाग्रन्थ है जो ६९ समयो या अध्यायो मे विभक्त है। इस ग्रन्थ को श्यामसुन्दरदास महाकाव्य न कह कर 'विशालकाय वीर काव्य' मानते हैं। उनके विचारानुसार महाकाव्य के लिए ज़ातीय भावना का होना आवश्यक है, उसमे दस पन्द्रह से अधिक सर्ग भी नही होना चाहिये। कथा में किसी एक महान् संग्राम का होना भी अन्य छोटी-मोटी विशेषताओ के अतिरिक्त आवश्यक है। चूँकि 'पृथ्वीराज रासो' मे उक्त बातो का अभाव है, इसलिए यह 'महाकाव्य' नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत अनेक आचार्यों ने रासो को प्रबन्ध काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य ही माना है। उनका कहना है कि सर्गों की संख्या की आपत्ति बाह्य तथा कलापक्षीय होने के कारण विशेष महत्त्व नही रखती। गृहयुद्ध तथा नैतिक पतन के उस समय में किसी जातीय भावना की आशा रखना भी व्यर्थ है, एवं युद्धप्रिय राजपूतो के जीवन में किसी एक ही महान् युद्ध का वर्णन करना और उसके शेष जीवन को अंधकार में रखना नितांत अनुचित है। अन्य सभी महाकाव्य विषयक विशेषताएँ 'रासो' में उपलब्ध होती हैं। इसके साहित्यिक सौंदर्य को ग्रीयर्सन जैसे विद्वानो ने भी स्वीकृत किया है। वीर रस तथा शृंगार रस का चित्रण, युद्धो का सजीव वर्णन आदि चन्द्र वरदाई के महाकवित्व के पूर्ण साक्षी हैं।

परतु कुछ समय से पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता और अप्रामाणिकता का प्रश्न विचारशील विद्वानो के विवाद का विषय रहा है। कुछ विद्वान् यदि इस प्रसिद्ध रचना को ऐतिहासिक और प्रामाणिक स्वीकार करते हैं, तो अनेक आचार्यों के मत में यह बिलकुल जाली ग्रंथ सिद्ध होता है। दोनो पक्षों के तर्कों का सारांश नीचे दिया जा रहा है—

अप्रामाणिक मानने वाले—पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता के विषय मे सब से पहले सन्देह करने वाले श्यामलदास मुरारिदान ही थे। इन के लेख मे ही सर्वप्रथम यह आपत्ति उठाई गई कि रासो की घटनाएँ आदि तत्कालीन शिलालेखो और फारसी के प्रामाणिक इतिहासों से मेल नहीं खातीं, अतः लगता है कि राजपूतो की सुनी-सुनाई कथाओं का यह भद्द-

अर्थात, तैयार कर लिया गया। इनके पश्चात् प्रोफेसर बूलर का नाम आता है। बूलर साहब को काश्मीर में भ्रमण करते समय जयानक के प्रसिद्ध ग्रंथ 'पृथ्वीराज विजय' की एक जीर्ण प्रति प्राप्त हुई। जयानक की पुस्तक संस्कृत मे थी और उसके अन्दर वर्णित वृत्तो की पुष्टि भी शिलालेखों से होती थी, अतः उसके साथ जब 'पृथ्वीराज रासो' का तुलनात्मक अध्ययन किया गया, तो आकाश-पाताल का अन्तर मिला, जिसे देखकर 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' कलकत्ता के मंत्री को एक पत्र लिखकर उन्हे परामर्श दिया कि अभी 'रासो' का प्रकाशन स्थगित कर दें, जब तक विद्वानो द्वारा इसको पूर्ण प्रमाणित सिद्ध नहीं कर दिया जाता।

रामदेवीप्रसाद ने भी 'पृथ्वीराज रासो'के विषय में अनेक आपत्तियां उठाई हैं। उनका कहना है कि 'रासो'में बहुत से ऐसे राजाओं का पृथ्वीराज के राज्य-काल में वर्णन किया गया है, जो वस्तुतः उस काल से या तो एक-डेढ़ सौ वर्ष पहले विद्यमान थे, या सौ-डेढ़ सौ वर्ष पश्चात् उत्पन्न हुए थे। इसी प्रकार मुहम्मद गौरी की मृत्यु का वृत्तान्त जो चन्द्रवरदाई ने दिया है, वह नितांत असत्य है। गौरी की हत्या भारत से लौटते हुए मुलतान के निकट कहीं नमाज पढते हुए गक्खड जाति के एक व्यक्ति द्वारा हुई थी। सयुक्ता स्वयंवर की विश्रुत घटना भी इतिहास के अनुसधान पर निराधार सिद्ध होती है। अनंगपाल का पृथ्वीराज को गोद लेना और अनेक विवाह करना आदि भी सब कपोलकल्पना है।

इस विषय में सब से अधिक विस्तार से प्रकाश डालने का प्रयत्न गौरी-शंकर हीराचन्द ओझा द्वारा ही हुआ है। इन्होंने समय-समय 'रासो' विषयक अपने लेख प्रकाशित करके इसको जाली सिद्ध करने की भरसक चेष्टा की है। उनका तर्क यह है कि 'रासो' मे वर्णित पृथ्वीराज, उनके पिता, माता, पुत्र सम्बन्धी प्रायः सभी घटनायें कल्पित है। सोलंकियों व प्रत्याहारों की वंशावलियां भी गलत दी गई हैं। यहां तक कि पृथ्वीराज की माता का नाम भी अशुद्ध दिया गया है। उसकी माता का नाम कर्पूरदेवी था, परन्तु चन्द्र-बरदाई ने कमला लिखा है। यदि यह ग्रंथ पृथ्वीराज के समकालीन किसी कवि का लिखा होता, तो भला इतनी छोटी-छोटी और महत्वपूर्ण बातें भी

सत्य न होती ? इसके अतिरिक्त 'रासो' मे दिये गये सभी संवत् इतिहास से मेल नहीं खाते। शिलालेखों या प्रमाणित इतिहास के ग्रन्थों में दिए गए संवत् से रासो मे जो संवत् दिए गए हैं, ६० वर्ष कम है। इसके उत्तर में जो नवीन संवत (अनंद संवत् की कल्पना की गई है, उसे ओझा जी खींचा-तानी मान कर व्यर्थ समझते है। 'रासो' की भाषा भी उसे प्राचीनकालीन ग्रन्थ सिद्ध करने मे असमर्थ है। ओझा जी का यह मत है कि पृथ्वीराज 'रासो' की भाषा मे फारसी अरबी शब्दों की भरमार है। यदि यह ग्रन्थ वीर-गाथाकाल की रचना होता, तो इसमे ऐसा कभी न होता, क्योंकि यह काल तो यवनों के भारत मे प्रवेश करने का था। धीरे-धीरे जब उनका शासन भारत में जम गया, तब उनकी भाषा के शब्द भी यहां की भाषाओं और साहित्य में घुसते गये। अतः 'रासो' की फारसी मिश्रित भाषा यह स्पष्ट सूचित करती है कि यह ग्रन्थ उस काल मे रचा गया होगा, जब भारत मे यवनो का शासन जम चुका था, तथा उनकी भाषा के शब्दों का आदान-प्रदान भारतीय॰ भाषाओं में होने लग गया था। यह समय सोलहवी-सत्रहवीं शताब्दी का हो सकता है। अतः यह रचना वीर गाथाकाल की कभी सिद्ध हो ही नहीं सकती।

ओझा जी एक और तर्क भी देते है। उनका विचार है कि यदि चन्द्र-वरदाई पृथ्वीराज के दरबार का प्रसिद्ध राज कवि और अनन्य मित्र था, तो उसका तथा उसके विशाल ग्रन्थ का उल्लेख जयानक अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'पृथ्वी-राज विजय' में अवश्य करता। किन्तु जयानक ने पृथ्वीराज के जीवन की सभी घटनाओं का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है और यह कहीं भी नहीं लिखा कि चन्द्रवरदाई नाम का कोई भी व्यक्ति उसके राज दरबार में विद्यमान था। जयानक के प्रामाणिक ग्रन्थ के आधार पर ओझा जी चन्द्रवरदाई का पृथ्वीराज के दरबार में अस्तित्व ही नहीं मानते। उनका मत है कि यह 'रासो' ग्रन्थ चन्द्रवरदाई के नाम से किसी और व्यक्ति ने १६ वी या १७ वीं शताब्दी में लिखा है। ओझा जी ने नौचौकी बांध पर शिलाओं पर खुदे महाकाव्य का भी उल्लेख किया है। उनकी यह प्रबल युक्ति है कि १५१७ की राजप्रशस्ति मे चन्द्र कृत 'पृथ्वीराज रासो' का नाम नहीं मिलता, जिससे सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ उस समय तक नहीं रचा गया था। १६३२ की

राजप्रशस्ति में चन्द्रवरदाई और उसके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पृथ्वीराज रासो' का उल्लेख पाया जाता है, अतः यही प्रतीत होता है कि 'रासो' की रचना इसी अन्तर में ही की गई। इसे वीर गाथाकालीन मानना बड़ी भारी भूल है।

जो लोग कहते है कि 'रासो' का तीन बार संपादन हुआ है। अत: उसके आकार में भी परिवर्तन होता रहा है। मूल रूप मे रासो का आकार इतना बड़ा नहीं था। इसके उत्तर में ओझा जी का कहना है कि यह बात मान्य नहीं हो सकती, क्योंकि आज से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व उत्पन्न चन्द्र के वंशज यदुनाथ नामक कवि ने 'रासो' में १००५ पद्यों का होना माना है। इन समस्त आधारो पर आचार्य शुक्ल ने भी अपने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में यही लिखा है कि "रासो" पृथ्वीराज के समकालीन किसी कवि की रचना नही हो सकती। सम्भव है कि 'रासो' में चन्द्रवरदाई के भी कुछ छंद कही बिखरे पड़े हो, परन्तु उनका पता लगाना कठिन ही नहीं, असम्भव है और इतिहास तथा साहित्य दोनो के विद्यार्थियो के लिए कोई विशेष लाभदायक भी नहीं है।

प्रामाणिक मानने वाले—जो विद्वान् 'पृथ्वीराज रासो' और चन्द्रवरदाई को ऐतिहासिक मानते हैं, उनमें श्यामसुन्दरदास, मिश्रबन्धु और मोहन-लाल विष्णुलाल पांड्या प्रमुख हैं। बाबू श्यामसुन्दरदास का कहना है कि चूंकि इस ग्रन्थ का कई बार सम्पादन हुआ है, अतः सम्पादन काल में हुई मिलावट के कारण इसका आकार भी बढ़ता गया है और कुछ कल्पित सामग्री भी डाल दी गई है। किन्तु यह पुस्तक और इसका लेखक निःसन्देह ऐति-हासिक ही हैं। ओझा जी इस विषय मे जो यदुनाथ का तर्क देते हैं, वह बड़ा हास्यास्पद है, क्योंकि जब चन्द्रवरदाई का अस्तित्व ही उन्हे मान्य नहीं है, तब उस के वंशज कवि को वह कैसे मानते हैं? श्यामसुन्दरदास ने एक और तर्क देकर 'रासो' के संवतों में ६० वर्ष का भी समाधान देने का यत्न किया है। उनका कहना है कि पृथ्वीराज और जयचन्द की शत्रुता इति-हास प्रसिद्ध घटना है। जयचंद तक राठौर वंशी राजाओं ने ६० वर्ष तक राज्य किया था। अतः सम्भव है चन्द्रवरदाई ने अपने स्वामी के शत्रु वंश

के राज्य काल को संवत् से घटा दिया हो। उन्होंने नौ पट्टे-परवानो के आधार पर ( जो पांड्या जी के द्वारा प्राप्त हुए थे ) 'रासो' के संवतों को शुद्ध बतलाने का भी प्रयास किया है।

मिश्रबंधुओं का तर्क सीधा-सादा है, वे कहते है कि 'रासो' मे मिलावट तो निश्चय रूप से की गई है, अतः जो घटनाये विद्वानो को असत्य प्रतीत होती हैं, वे सभी मिलावटी समझ लेनी चाहिये। 'रासो' मे जो कुछ भी अमान्य और अनैतिहासिक प्रतीत होता है, उसे आक्षिप्त समझ लेना चाहिये। इस प्रकार तो 'रासो' की प्रामाणिकता स्वयमेव सिद्ध हो जाती है। फारसी मिश्रित भाषा का जो आरोप लगाया गया था, उसके विषय में मिश्रबंधुओ ने खोज कर के बताया है कि रासो मे फारसी-अरबी शब्दों की कुल संख्या दस प्रतिशत है। इतिहास का सावधानता से अध्ययन करने पर पता चलता है कि मुसलमानो के आक्रमण केवल मुहम्मद गौरी से आरम्भ नहीं हुए। मुसलमानों का आगमन तो भारत में गौरी से भी तीन सौ वर्ष पूर्व हो चुका था। महमूद गजनवी सोमनाथ मंदिर पर चढ़ आया था और उससे भी पूर्व सिंध-पतन एक प्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना थी। अतः पंजाब तक तो यवनो का आना-जाना सैकड़ो वर्ष पूर्व आरम्भ हो चुका था। चन्द्र वरदाई भी लाहौर-निवासी माना जाता है, इस कारण भी एक पंजाबी कवि के लिए उस परि-स्थिति में यदि दस प्रतिशत विदेशी शब्दों का संमिश्रण हो, तो कोई आश्चर्य-जनक बात नहीं होनी चाहिये। नाम के विषय मे भी उनका विचार है कि यह कोई प्रबल आक्षेप नहीं है, क्योकि प्रायः व्यक्तियो के जन्म-नाम और प्रसिद्ध-नाम दोनों हुआ करते हैं। स्त्रियो के नाम तो विवाह के अवसर पर बदल भी दिए जाते है। इन सभी सूक्ष्म बातों का पता किसी इतिहास-लेखक को भले ही न लग सके, किंतु चन्द्र बरदाई जैसे राजा के अन्तरंग मित्र के लिए कोई असाधारण बात नही होगी। एक बात और भी है कि डेढ़ हजार पृष्ठ के इतने विशाल ग्रन्थ पर अपना नाम न लिख कर चन्द्रबरदाई का नाम लिख देना भी किसी व्यक्ति के लिए संभव प्रतीत नही होता। यदि जयानक की बात भी उठाई जाए, तो यूँ कहा जा सकता है कि विद्वानों को प्रायः विद्वानों से सहज ईर्ष्या भी रहती है। संभव है, इसी हेतु जयानक

अज्ञान के अन्धकार में अबोध जनता को नाना उपाधियों में फंसाकर और विविध प्रलोभनो द्वारा ललचा कर धर्म के ठेकेदार अपना उल्लू सीधा कर रहे थे। आवश्यकता थी उस समय ऐसे क्रान्तिकारी महापुरुष की, जो अपने कठोर और सुदृढ़ व्यक्तित्व द्वारा इस पाखण्ड का खंडन करे तथा धर्म के सच्चे स्वरूप की स्थापना करे। समय की इस पुकार का उत्तर महात्मा कबीर ने दिया। सर्वसाधारण जनता में अपना क्षेत्र बनाकर इस युगपुरुष ने खरी-खरी सुना-सुना कर तथाकथित पंडित समाज का नाको मे दम कर दिया।

तू बामन मै कासी का जुलाहा
बूझहू मोर गियाना,

कह कर आत्महीनता की फैली हुई भावना को चुनौती दे कर जांति-पांति के भेद और ऊंचनीच के भाव को समूल नष्ट कर दिया। स्वयं अनपढ़ होकर भी बडे-बडे शिक्षित विद्वानो के साथ शास्त्रार्थ किये और 'बरसे कंबल भीगे पानी' अथवा 'नौका में नदिया डूबी जाय' आदि जैसी उलटवासियों द्वारा उनका अभिमान चकनाचूर कर दिया। जनता में अपना प्रभुत्व जमाये रखने के लिए कबीर को कहीं-कहीं गर्वोक्तियों से भी काम लेना पड़ा, जो इस विशेष स्थिति में स्वाभाविक था। इसलिए कबीर ने कुरान और वेद को न मानकर अपने पंथ का अनुकरण करने का उपदेश दिया। इसका प्रथम कारण तो यह था कि कबीर ब्राह्मणों तथा मौलवियों को देखते थे कि वे लोग वेद और कुरान की आड ले-लेकर जनता को गढ़े में धकेल रहे थे। अतः यदि कबीर इन धर्म ग्रन्थों पर विश्वास करने को कहते, तो भला उन ग्रन्थों में प्रतिपादित और मुल्ला तथा ब्राह्मणो द्वारा प्रचारित सिद्धान्तों का खण्डन किस मुँह से करते? दूसरी बात यह थी कि कबीर को अपने मानव-धर्म के प्रचार के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता न थी। उन्होंने कोई स्वार्थ सिद्धि की अभिलाषा से समाज सुधार का काम अपने हाथ में नहीं लिया था। वह तो स्पष्ट कहते थे —

लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखी बात।
दूलहा दुलहिन मिल गए, फीकी पड़ी बरात॥

अथवा

मैं कहता आँखन की देखी।
तू कहता कागद की लेखी ॥

कबीर तो स्पष्टवादी थे, वह प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानते थे अतः शब्द प्रमाण पर जोर कैसे देते ? कबीर ने समाज की कुरीतियों का भण्डाफोड़ अत्यंत स्पष्ट और कहीं-कही कटु वाणी में भी किया है। रोग जब बढ़ जाता है, तो वैद्य को सभी आवश्यक साधन अपनाने पड़ते है। आपरेशन भी करना पड़ता है, यद्यपि ऐसा करने में रोगी को अत्यन्त पीड़ा भी होती है। समाज के असाध्य रोग का उपचार करने के लिये कबीर को बड़ा परिश्रम करना पड़ा था, उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों को धर्मभ्रष्ट देखा था। समस्या विकट थी। यदि कबीर मुसलमानो का पक्ष लेते और निर्गुण ईश्वर की पूजा करके सगुण ईश्वर का विरोध करते, तो मूर्तिपूजक हिन्दुओ से बनाकर कैसे रखते ? और यदि हिन्दुओ की मूर्तिपूजा को लेते तो शासक वर्ग के धर्म की स्थिति कैसे रहती। एक विजित वर्ग था, दूसरा विजेता। दोनों के धर्म सिद्धान्तों में गहरा विरोध था। एक मूर्तिभंजक तो दूसरा मूर्तिपूजक था। ऐसी परिस्थिति में कबीर को सत्य का पथ अपनाना था। उसने पक्षपात रहित होकर अपनी नीति को स्पष्ट घोषित किया–

अरे इन दोहन राह न पाई
हिन्दू अपनी करे बड़ाई, गागर छुअन न देई।
वेस्या के पायन तल सोये, यह देखो हिन्दुआई ॥
मुसलमान के पीर औलिया, मुरगा मुरगी खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहैं, घर में करै सगाई ॥

निःसन्देह कबीर की वाणी में उपहासात्मक तत्व मिलता है और व्यंग्य कहीं-कहीं तीखा भी हो गया है, जैसे–

पत्थर पूजन हरि मिलै तो मैं पूजूँ पहार।
ताते तो चकिया भली पीस खाए संसार ॥

अथवा

मूँड मुँडाये हरि मिलै तो सब कोई लेहु मुँडाय।
वार वार के मूँडते भेड़ न वैकुण्ठ जाय॥

तीर्थ यात्रा की निन्दा हो या व्रत उपासना आदि की, सर्वत्र कबीर ने खरी-खरी सुनाई हैं। परन्तु हिन्दुओ के धर्म पर ही उन्होंने ऐसी कटूक्तियाँ कही हों, यह बात नही। उस महापुरुष के लिए तो धर्मभेद, जाति भेद कुछ था ही नहीं। उन्होने मुसलमानो को भी आडे हाथो लिया है। संध्या के समय बांग देने वाले पर फब्ती उडाते हुए कहा है—

कंकर पत्थर जोरि कै मसजिद लई बनाय।
ता ऊपर चढ़ि बांग दै, बहिरा भया खुदाय॥

इसी प्रकार उनके मांसाहार की भी निन्दा उन्होने अनेक स्थानों पर की है—

बकरी पाती खात है ताकी काढ़ी खाल।
जो बकरी को खात है ताको कौन हवाल॥

यह कदाचित् वैष्णव प्रभाव भी कहा जा सकता है। क्योंकि कबीर के गुरु रामानन्द माने जाते हैं। कुछ लोगों ने शेख तकी को गुरु माना है। यद्यपि शेख तकी का नाम कवि ने लिया अवश्य है, पर उनको कबीर का गुरु मान लेना हिन्दी के बहुत आचार्यों विशेषतः शुक्ल जी को मान्य नहीं है। कबीर ने इस विषय मे स्वयं भी कहा है—

कासी में हम प्रगट भए
रामानन्द चेताए।

अस्तु, कबीर मानवता प्रेमी थे उन्होने हिन्दू और मुसलमानो के अवगुणों को निकालकर सब के लिए एक सामान्य धर्म की उपासना पर जोर दिया। छूआछूत को धर्म के व्यापक रूप का कांटा बतलाकर उसे अलग किया—

जाति पाँति पूछै नहीं कोई।
जो हरि को भजै सो हरि का होई।

परन्तु अपने मत प्रचार के लिए किसी को गुरु बनाये विना तो उन्हें काम चलता नजर न आया। इसी कारण उन्होंने गुरुमन्त्र लिया और रामानंद

के शिष्य बने। रामानन्द यद्यपि कट्टर वैष्णव थे, तथापि वे उदार तथा मानव प्रेम के उपासक थे। इसीलिए उन्होंने जुलाहों, चमारो आदि नीच कहे जाने वाले वर्णों को भी अपने मन की दीक्षा प्रदान की थी। परन्तु रामानन्द सगुण उपासक ही थे। वह राम को विष्णु का अवतार ही मानते थे और सिद्धांत की दृष्टि से वे रामानुज के विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के मानने वाले थे। परन्तु कबीर को रामोपासक नही माना जा सकता, क्योंकि उनकी उक्तियो मे स्पष्ट रूप मे अवतारवाद का खंडन मिलता है—

परसुराम छत्री महि मारा।
ई छल माया कीन्हा॥

अथवा

सिरजनहार न ब्याही सीता।
जल पखान नहिं बांधा॥

इसलिए कबीर सगुणवाद से कुछ प्रभावित होकर भी सिद्धांत की दृष्टि से निर्गुण सम्प्रदाय के ही माने जायेगे।

कबीर की समाज सुधारक उक्तियो को पढ़कर कुछ लोग शंका उठाते हैं कि क्या कबीर को इतनी भी समझ नहीं थी, कि बांग देने वाले खुदा को बहिरा नहीं समझते अपितु नमाज की सूचनार्थ ही वे ऐसा करते हैं। इसी प्रकार मूंड मुंडाने मात्र से कोई भी हिन्दू मुक्ति प्राप्त करने पर विश्वास नहीं करता, यह कर्म तो संन्यास लेने का उपलक्षण मात्र है। किन्तु कबीर ने इन कर्मों का खण्डन नही किया। वास्तव मे इन कर्मो को जो गलत रंग उस समय के कपटी सन्यासियो या मुल्लाओं ने दे रखा था, उसका उपहास उड़ाने के लिए ही उक्त उक्तियाँ कही है। वह बिच्छू को नही, बिच्छू के डङ्क को देखकर ही उसे त्याज्य समझते थे। अतः कबीर की उक्तियो मे सत्यान्वेषण की भावना थी।

कबीर सत्संगी जीव थे। भ्रमण द्वारा वह अपने मत का प्रचार किया करते थे। शिक्षित न होते हुए भी उनको हिन्दुओं और मुसलमानो के धार्मिक सिद्धान्तो का भली प्रकार से ज्ञान था। उनकी उक्तियो को देखने से पता चलता है कि वह बहुश्रुत थे। उनके विचारों पर अनेक सम्प्रदायो की छाप

पड़ी थी। उन्होंने सब सम्प्रदायों की अच्छी-अच्छी बातें अपनाने में कभी संकोच नहीं किया। उनका तो विश्वास था कि—

साधू ऐसा चाहिए जैसा सूप सुभाय।
सार सार को गहि रहै थोथा देई उड़ाय॥

पर्यटन में उनके विचारों पर अनेक प्रकार के प्रभाव पड़े थे। अहंभाव या गर्वोक्तियों को मुसलमानी प्रभाव का कारण कहा जा सकता है। समता की भावना तथा ईश्वर के स्वरूप विषयक उनके मत भी इसी मत की पुष्टि करते हैं। मुसलमान होते हुए भी आवागमन के सिद्धांत पर उनकी आस्था हिन्दू-धर्म के प्रभाव को स्पष्ट सूचित करती है। कबीर अपने को पूर्व जन्म का ब्राह्मण मानते थे।

कासी का मे वासी बामन,
नाम मेरा परवीना।
एक बार हरि नाम बिसारा,
पकरि जुलाहा कीना॥

इसी प्रकार एक और स्थान पर उन्होंने कहा—

दिवाने मन भजन बिना दुःख पैहौ,
पहिला जनम भूत का पैहौ, सात जनम पछितैहौ।
दूजा जनम सुवा को पैहौ, बाग बसेरा लैहौ॥

कबीर के अध्यात्मवाद का विश्लेषण करते समय कुछ आपत्तियाँ उठाई जाती हैं। कबीर ने यद्यपि निर्गुण मत का प्रचार ही किया है, तथापि ब्रह्म-विषयक उनके सिद्धांतों मे शिथिलता पाई जाती है। कबीर ने अवतारवाद का खंडन किया है, जैसे—

दसरथ, कुल अवतार नहिं आया।
नहिं लङ्का में राम सताया॥

परन्तु उनकी अनेक उक्तियों में देवी-देवताओं और सगुण अवतारों का वर्णन भी पाया जाता है। ब्रह्मा, ब्रह्माणी, शिवजी, भवानी, इन्द्र, इन्द्राणी का नाम ही नहीं लिया, अपितु एक स्थान पर यहां तक कह दिया है कि—

'खम्भे से प्रगट्यौ गिलारि।'

इसी प्रकार ज्ञान की महिमा गाने वाले बनकर भी भक्ति का गौरव गान भी कबीर ने किया है, जो सगुण ईश्वर की प्राप्ति का साधन होती है। इखिए—

और कर्म सब कर्म है, भक्ति कर्म निष्कर्म।
कहै कबीर पुकारि कै, भगति करो तजि धर्म॥

अथवा

भुक्ति मुक्ति मांगौ नही, भक्तिदान दे मोहि।

इसके साथ ही उन्होने अपने ब्रह्म को जिन नामो से पुकारा है, उसके द्वारा भी कबीर सगुणोपासक कहे जा सकते हैं। कही वह ईश्वर को गोविन्द कहते हैं और कहीं उसे हरि या राम नाम से पुकारते हैं—

गुरु गोविन्द दोनो खड़े काके लागू पॉय।

या

राम के नाम ते पिंड ब्रह्मांड

या

हरि मोर पिउ मै हरि की बहुरिया।

एक बात और भी कही जाती है कि कबीर सगुणोपासक रामानन्द के शिष्य थे, अतः उन पर उनके सिद्धान्तो का प्रभाव पडे बिना भी नहीं रह सकता। परन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी कबीर को किसी भी अवस्था में सगुणोपासक नहीं कहा जा सकता। क्योकि कबीर ने यह स्पष्ट घोषित किया है—

जाके मुख माथा नाहीं नाहीं रूप कुरूप।
पुहप वास ते पातरा सोई ब्रह्म अरूप॥

उन्होंने राम को ब्रह्म अवश्य माना है किन्तु उसे दशरथ का पुत्र कभी नहीं समझा। कबीर ने साफ कहा है—

दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना।
राम नाम का मर्म है आना॥

उनके आध्यात्मिक विचारों में शिथिलता का कारण एक तो उनका अपरिपक्व ज्ञान कहा जा सकता है। दूसरा रामानन्दी प्रभाव भी। परंतु

रामानन्द के विशिष्टाद्वैतवाद की अपेक्षा कबीर शङ्कराचार्य के अद्वैतवाद की ओर ही अधिक झुके नजर आते है, क्योकि प्रचार की दृष्टि से शांकरमत ही उस समय अधिक फैला हुआ था। शङ्कर के मतानुसार जीव और ब्रह्म की एकता स्वीकार की गई है। कबीर भी कहते हैं—

पानी ही ते हिम भया, हिम ही गया विलाय।
कबिरा जा था सोई भया, अब कुछ कहा न जाय॥

इसी प्रकार

मैं लागा उस एक से, एक भया सब माहिं।
सब मेरा मैं सबन का, तहाँ दूसरा नाहिं॥

उक्त वचनों में 'ब्रह्म सत्यं, जीवो ब्रह्मैव नापरः' की झलक मिलती है। 'जगत् मिथ्या' के सिद्धान्त की पुष्टि भी कबीर के वचनों द्वारा होती है। जैसे-

रहना नहिं देस बिराना है।
यह संसार कागद की पुरिया।
बूंद परे गल जाना है॥

सृष्टि को उन्होंने सत्य न मानकर कृत्रिम कहा है—

पांच तत्त तीनो गुन साजा।
ताते सब किरतिम उपराजा॥

शङ्कर के प्रभाव से ही कबीर ने माया का भी जहां-तहाँ उल्लेख किया है। वह माया को महापापिनी और ठगिनी कहते है।

माया महा ठगिनी हम जानि।

उस माया के प्रभाव से देवता भी नहीं बच सके। दस अवतार भी माया ने उपजाये हैं। माया ने समस्त संसार को फांस रखा है। परन्तु कबीर यहां अपनी गर्वोक्ति नही छोड सके।

माया महा पापिणी फंद लै बैठी हाट।
सब जग तो फंदे पड़ा, गया कबीरा काट॥

इसी प्रकार एक दूसरे स्थान पर दूसरे रूप में एक गर्वोक्ति की है—

झीनी-झीनी बीनी चदरिया।
साईं को सिमत मास दस लगे।
ठोक-ठोक कै बीनी चदरिया।

सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी,
ओढ़ि के मैली कीनी चदरिया ।
दास कबीर जतन से ओढ़ी,
ज्यो की त्यो धर दीनी चदरिया ॥

माया के स्वरूप के विषय में कबीर की अपनी विशेष धारणा थी। उन्होने कांचन और कामिनी को माया का रूप बताकर दोनों से बचने का आदेश दिया है। यही कारण है कि उनकी उक्तियो मे धन-दौलत की उपेक्षा और नारी-निन्दा की भावनाएं भरी मिलती हैं। नारी के विषय में उनका दृष्टिकोण देखिए—

नारी की छाईं परत अंधा होत भुजंग।
कबिरा तिनकी क्या गति जो नित नारी के संग ॥

अथवा

जहाँ जलाई सुन्दरी तहँ मत जाओ कबीर ।
मकु तेहि भसमी उरी परै भसम हो जाय सरीर ॥

यद्यपि कबीर ने स्वयं विवाह किया था और जनश्रुति के अनुसार उनको दो सन्तानें भी हुई थीं—एक पुत्र जिसका नाम कमाल बताया जाता है और एक पुत्री जिसका नाम कमाली था। उनकी पत्नी का नाम लोई था। किन्तु उन्होंने इस उलझन को स्वयं ही सुलझाकर कह दिया है—

नारी तो हमने करी जाना नाहिं विचार।
जब जाना तब परिहरी नारी महा विकार ॥

धन निन्दा के विषय मे भी एक बात प्रचलित है कि उनका पुत्र कमाल कबीर के समान हरि स्मरण नही करता था, अपितु उसकी रुचि भौतिक सम्पत्ति मे थी। ऐसा देखकर कबीर को अत्यंत मानसिक पीड़ा हुई और उन्होने कहा—

डूबा वंश कबीर का उपजा पूत कमाल।
हरि का सुमरन छोड़ कर घर ले आया माल ॥

उनके अध्यात्मवाद में हठयोग की छाप भी स्पष्ट परिलक्षित होती है। हठयोगी पिंड (शरीर) को ब्रह्मांड का नकशा मानते हैं। कबीर ने भी इड़ा, सुषुम्णा, पिंगला नाडियों तथा कमल चक्र आदि द्वारा योगियों की साधना-प्रणाली को अपनाया है। सूफीवादी रहस्यभावना भी कबीर के काव्य की प्रमुख विशेषता है। अंतर केवल इतना है कि सूफी लोग ब्रह्म को स्त्री तथा साधक को पुरुष मानते है, परन्तु कबीर इसके विपरीत अपने को स्त्री तथा ब्रह्म को 'पिउ' (पुरुष) के रूप मे देखते हैं। रहस्यवाद अध्यात्मवाद का सरस भावात्मक और हृदयग्राही रूप होता है। यह वह भावना और हार्दिक अनुभूति है जिसमे भक्त अपने भगवान् की छटा को देखने और उसमें लीन होने के लिए छटपटाता रहता है। इसकी तीन कोटियां मानी जाती हैं-जिज्ञासा, ज्ञान और मिलन। कबीर ने इन तीनो कोटियों की कविता की है। सचमुच उसका कवित्व रहस्यवादी उक्तियो मे ही फूटा है। समाज सुधार की कठोर उक्तियों में साहित्यिक रसास्वाद का अभाव है। परन्तु पुरुष की पुरुषता छोड़कर कबीर जब अपने 'पिउ' की 'बहुरिया' बन गया है, तब उसमे नारी-सुलभ सौंदर्य, सरसता और आकर्षण सभी कुछ आ गया है। उसकी दिन-रात यही कामना रहती है—

> नैणां अंदर आव तू नैन ढांपि तोहि लैहूँ।
> ना मैं देखूँ और को ना तोहि देखन दैहूँ॥ (जिज्ञासा)

परन्तु उसे ज्ञान होता है कि उसका प्रिय मायारहित शुद्ध स्वरूप ब्रह्म है, जब कि वह स्वयं असंख्य विकारो से भरा मलिन हृदय अपवित्र प्राणी है। देखिए जरा अक्खड़ और गर्वीले कबीर की विनम्रोक्ति—

> यार बुलावे प्यार से मो पै गया न जाय।
> धन मैली पिउ ऊजरा, लागि न सक्कूँ पाय॥

अथवा "मेरी चुनरी में लागो दाग पिया।"

तब उसे ज्ञान होता है—"घूँघट का पट खोल रे.'तोहि पिया मिलैंगे।" क्योंकि जब माया का परदा हट जाता है, तो आत्मा-परमात्मा एक हो जाते हैं। कबीर ने इस तीसरी मिलन अवस्था का भी वर्णन किया है—

लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल॥

ऐसी अभेदावस्था मे कबीर को बाहरी आँखे मूँदने तथा योगियों की तरह कान फड़वाने की भी आवश्यकता नही अनुभव होती। अब तो वह कहता है—

आँख न मूँदूँ कान न रूँधूँ।
उघरे नैनन साहब देखूँ॥

अब उसे प्रिय का विरह हो भी तो कैसे, जब कि अवस्था कुछ ऐसी है—

सोऊँ तो सपने मिलै,
जागूँ तो मन माहिं।

सपने में प्रियतम मिला था, परंतु कबीर ने आँख बंद ही किए रखी, क्योंकि कहीं जागने पर प्रिय मिलन की घटना झूठा सपना ही सिद्ध न हो—

सपने मे साईं मिला सोवत लिया जगाय।
आँख न खोलूँ डरपता मति सपना हो जाय॥

कितनी नाजुक कल्पना है।

यह ठीक है कि कबीर की भाषा 'सधुक्कड़ी' है और उसमें अनेक भाषाओ की खिचड़ी मिलती है। परंतु अनपढ़े कबीर का कलापक्ष उपेक्षणीय है। कलापक्ष तो कवि के लिए साधन मात्र है अतः गौण है। ध्यान देने योग्य तो उसका भावपक्ष होता है, उसका दातव्य संदेश या बुद्धितत्त्व रहता है। कबीर का जीवन दर्शन निःसन्देह महत्त्वपूर्ण है। महाकवि के लिए महाकाव्य की नहीं, महाकवित्व की आवश्यकता है जो कबीर मे मिल सकता है। फिर भी कहीं-कही तो कबीर की उक्तियो मे आलंकारिकता भी स्वाभाविक और अनजाने रूप मे आ गई है—

कुछ उदाहरण लीजिए—

१. सिर राखे जात है, सिर काटे सिर सोय। (विरोधाभास)
२. कबीर सोई पीर है जो जाने पर पीर। (यमक)
३. गगन घटा घहरानी। (अनुप्रास)

४. संत न छोड़े संतई कोटिक मिलै असंत।
मलय भुजगहिं बेंधिया, सीतलता न तजत। (अतद्गुण)

निदान, कबीर एक क्रांतिकारी युग पुरुष, समाज सुधारक, धर्मोपदेष्टा के साथ-साथ एक महान् कवि भी थे।

---

# सूरदास

जब यवनों ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया, उस समय गृह युद्ध की ज्वाला में जलता हुआ यह देश आपसी फूट के कारण शक्तिहीन हो रहा था। अतः विदेशी आक्रमणकारियो को निर्बल भारत को विजय करने में कोई विशेष कठिनता न हुई। मुसलमानी सेनाये तूफानी गति के साथ आर्यों की पवित्र भूमि पर बढ़ती चली गईं। एक-आध बार किसी वीर ने सामना किया भी, तो उस क्षुद्र शक्ति को यवनो की भयानक सैनिक शक्ति ने कुचल के रख दिया। विजय के उन्माद मे पागल और धर्म की कट्टरता के लिए प्रसिद्ध यवनो ने अपनी संकीर्ण भावनाओ के प्रभाव से विजित हिन्दू जाति की संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट करने के प्रयत्न भी आरम्भ कर दिये। उनका उद्देश्य पूर्वागत आक्रमणकारियों के समान इस 'सोने की चिड़िया' को लूटने-खसूटने का न था। वे तो इस्लाम धर्म का प्रचार करने के लिए ही तलवार चला रहे थे। रक्त की धारा बहा कर और असंख्य नर-नारियो की गरदनें काट कर वे 'जिहाद' अर्थात् 'धर्म युद्ध' के पुण्य को प्राप्त कर रहे थे। इसी उन्मादी आन्दोलन में धर्म के सात्विक और मानवीय रूप के विपरीत यवनों ने हिंदुओं के मन्दिरो को गिराना तथा उनकी देव मूर्तियो को तोडना अपना पुण्य कार्य समझ लिया। आर्यों के धर्म ग्रन्थो की होली जलाई जाने लगी। उनके पवित्र तीर्थ स्थानो को भ्रष्ट किया जाने लगा। उनकी अबलाओ से बलात्कार तथा निरीह मनुष्यों पर अत्याचार होने लगे। भयभीत जनता में चारों ओर हा-हाकार मच गया। राजपूतो की पराजय ने रही सही हिम्मत भी तोड दी। निराशा के अन्धकार मे हिन्दू जनता दुःख के अथाह सागर में डूबने लगी। इसी समय महात्मा कबीर ने यह करुण दृश्य देख कर अध्यात्म-

ज्ञान का शांतिप्रद उपदेश दिया। हर तरफ से बेसहारा होकर जनता निराश्रयों के आश्रय और निर्बल के बल भगवान् को पुकारने लगी। कबीर का निर्गुण ब्रह्म डूबती हुई जनता के लिए तिनके का सहारा बन गया।

थोडा सा उत्साह पाकर जनता ने धैर्य पूर्वक निर्गुण धारा के संत कवियो और सूफियो की साधना मे अपने उदास मन की शाति को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। किन्तु निर्गुण ब्रह्म को अगम्य और इस साधना को रहस्यमयी जान कर सीधी सादी जनता को आशा के अनुरूप सफलता न दीख पडी। डूबने वाला तिनके को देख कर उत्साह पूर्वक कुछ देर तो उसी ओर तैरता रहा, किन्तु पास पहुंच कर जब उसने 'तिनके' को पकडा, तो उसे अनुभव हुआ कि यह 'तिनका' उसे विपत्ति के अपार पारावार में से पार करने को समर्थ नही हो सकता। उसे तो किसी मूर्त नौका की आवश्यकता थी, जो कठिन मंझधार में भी उसे बचा ले जा सकती। ठीक ऐसे समय मे उसे एक स्थूल (सगुण भक्ति की) नौका दिखाई पडी, जिस पर एक 'अंधा गायक' बैठा हुआ अपनी मस्ती मे तानपूरे पर कुछ मधुर-मधुर गा रहा था। जीवन से निराश जनता निर्गुण धारा के 'तिनके' को छोड झट सगुण भक्ति की नौका पर सवार हो गई। संतोष की सांस लेकर उसने पहली बार अपना रक्षा को निश्चित समझ लिया। बस अब क्या था, वह 'अंधा गायक' नौका को धीरे-धीरे खेने लगा। उसकी मद भरी सरस, संगील लहरी ने मन की दुर्बलता को छूते ही लुप्त कर दिया। नौका को चुपके-चुपके वह 'अन्धा-नाविक' जानते हो, कहां ले गया--यमुना के किनारे, व्रज भूमि के तीर और गोकुल की बस्ती में, जहां सैकड़ों कामदेवों को अपने रूप से लज्जित करने वाले भगवान् मनमोहन श्री कृष्ण के साथ सहज सुन्दरी व्रजबालाएं रास लीला का अमंद आनन्द प्राप्त कर रही थीं। मुरली की मधुर तान के साथ युवति गोपांगनाओं का संगीत भरा नृत्य हृदय की सभी व्याधियों के लिए अमोघ औषध के समान था। कही यशोदा का नटखट लाल माखनचोरी का नाटक कर रहा था, तो कही दानलीला या चीरहरण लीला का रमणीय खेल खेल रहा था। जिधर देखो एक उल्लास का वातावरण था, हर्षपूर्ण जीवन का रंगीन चित्र था। स्वर्ग उतर कर धरती पर आ

है। दो कमल हैं, उसके दो चरण, गज से राधा जी की जंघाओं का अभि-प्राय है और उन पर 'सिह क्रीडत' से सिंह के समान पतली कमर का होना अभीष्ट है। परन्तु सूरदास का महत्त्व उक्त पांडित्य के कारण नहीं है। सूरदास के विषय में यह उक्ति प्रचलित है कि 'सूर सूर तुलसी ससी' अर्थात् हिन्दी-साहित्य के आकाश में सूरदास जी सूर्य हैं और तुलसीदास जी चन्द्रमा। इस उक्ति का कारण सूर का वात्सल्य वर्णन ही है। भगवान् कृष्ण की बाल लीलाओं का जैसा मनोवैज्ञानिक और सजीव वर्णन सूर साहित्य मे मिलता है, वह विश्व के किसी भी अन्य साहित्य मे दुर्लभ है। वात्सल्य भाव के ऐसे सरस गीत तुलसी-साहित्य में भी नहीं मिलते, यद्यपि तुलसी हिंदी के श्रेष्ठ कवि समझे जाते है। सूर की तुलसी से श्रेष्ठता सिद्ध करने में एक दो बातें और भी कही जाती हैं। प्रथम तो यह कि साहित्य-तुलना में भाषा की एकता, विषय की एकता, शैली की एकता और क्षेत्र की एकता का ध्यान अवश्य रखना पड़ता है। यदि इस दृष्टि से देखें तो तुलसी और सूर की तुलना में समान भाषा, समान विषय, समान शैली और समान क्षेत्र को ही विचार का विषय बनाना चाहिये। परंतु अधिकांश विद्वान् सूरदास के 'सूर सागर' की तुलना में तुलसीदास के 'रामचरित मानस' को रखकर तुलसी को श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। यदि देखा जाये, तो यह अनुचित है क्योंकि 'सूरसागर' की भाषा ब्रज-भाषा है और 'मानस' की अवधी। सूर का विषय कृष्णभक्ति है और मानस का विषय राम भक्ति। 'सूरसागर' मुक्तक शैली का ग्रंथ है तो 'रामचरित-मानस' प्रबन्धकाव्य है। सूरदास ने केवल बाल्य जीवन का चित्रण किया है, जबकि तुलसी ने आजीवन की सर्वांगीण व्याख्या की है। अतः तुलना में यह पद्धति न्यायसंगत प्रतीत नही होती। सबसे विशेष बात तो यह है कि तुलसी साहित्य में एक ऐसी रचना विद्यमान भी है, जो भाषा, शैली, विषय और क्षेत्र में 'सूरसागर' से मिलती है, वह है 'कृष्ण गीतावली' किंतु कोई भी समालोचक कृष्णगीतावली के साथ सूरसागर की तुलना नहीं करता। ऐसा करने पर तो सूरदास निःसन्देह तुलसी से श्रेष्ठ सिद्ध हो जाते हैं। दूसरी बात यह भी है कि विषय की विविधता और गंभीरता का गुण

जितना सूरदास में पाया जाता है, उतना तुलसी में नहीं। तुलसी को विषय दूसरों से तैयार हुआ मिल गया। उसके लिए लिखने की सामग्री बहुत कुछ थी, केवल उसकी अभिव्यञ्जन शैली तुलसी की अपनी है, किन्तु सूरदास के लिए विषय का क्षेत्र सीमित था, परन्तु उस सीमित क्षेत्र को भी सूर ने अपनी अलौकिक प्रतिभा से व्यापक और विशाल ही नहीं बनाया, सरस और आकर्षक भी ऐसा बनाया कि आज शताब्दियों के पश्चात् भी सूरदास के पद गायकों के कंठ का हार बने हुए हैं। तुलसी को यह सर्वप्रियता प्राप्त नहीं हो सकी। अस्तु,

साहित्य की दो प्रमुख धारायें हैं—(१) वात्सल्य वर्णन, (२) वियोग शृङ्गार या भ्रमरगीत। वात्सल्य वर्णन की प्रेरणा सूर को वल्लभाचार्य के पुष्टि मार्ग द्वारा मिली। भगवान् श्री कृष्ण की पुष्टि अर्थात् अनुग्रह प्राप्त करने का यही साधन था। सूरदास ने भागवत के दशमस्कंध के अंतर्गत कृष्ण चरित्र का विस्तारपूर्वक गान किया है। उन के जन्म की बधाई से 'सूरसागर' प्रारंभ होता है। माता यशोदा नन्हे कान्ह को लोरियां देकर सुलाती है। आंचल में ढक कर दूध पिलाती है। फिर बड़ा होने पर उसे अंगुली से पकड कर चलना सिखाती हैं। जब कृष्ण घुटनो के बल चलने लगते हैं, तो माता-पिता के हर्ष की सीमा नहीं रहती। दूध पीने से बालकों की सहज अरुचि और माता के विविध प्रलोभनों में चोटी बढ़ने की बात बड़ी आकर्षक है—

कजरी का पय पियहु गोपाल,
तेरी चोटी बाढ़ै।

और फिर दूध पी जाने पर भी चोटी नही बढ़ती, तो उपालंभपूर्वक कृष्ण मां से कहते है—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी
कितक बार मोहिं दूध पियावत यह अबहूँ है छोटी,
काचो दूध पियावत पचि-पचि देत न माखन रोटी।

बालकृष्ण का चन्द्र को देखना और उसको भोजन का कोई पदार्थ समझ कर उसे पाने के लिए जिद करना—'लागी भूख चंद मैं खैहौं' और माता का जल से भरे बर्तन में चंद्र का प्रतिबिंब दिखाना आदि अनेक सरल झाँकियाँ

सूर ने दिखाई है । कुछ और बड़े होने पर कृष्ण को माखनचोरी की लत पड़ जाती है । एक बार किसी गोपी के घर में घुस कर ज्यों ही मटकी में हाथ ही डाला था कि गोपी ने आकर आवाज लगाई । अब कृष्ण की निरीहता और भोलापन देखने ही योग्य था । निर्दोषी का अभिनय करते हुए कृष्ण बोला—

मै समझ्यो यह घर अपनो है,
या धोखे मे आयो ।
गो रस मे देखत हौ चीटी,
काढन को कर नायौ ॥

कितना मधुर और प्रत्युत्पन्नमति का सूचक उत्तर है । इस बार तो कृष्ण से भूल हो गई थी कि वह अकेले ही माल पर हाथ साफ करने गए थे । दूसरी बार उन्होने समझदारी से काम लिया । ग्वालो की मण्डली भी साथ ले ली । क्योंकि दही का छींका कुछ ऊँचा था, अत. ग्वालो की सीढ़ी बना-कर स्वयं ऊपर चढ़ गये और लगे माखन और दही खाने । कुछ नीचे खड़े हुए ग्वालो को भी देते जाते। इतने मे सब से नीचे ठहरे हुए बालक ने देख लिया कि गोपी आ रही है, बस फिर क्या था, उसने न सोचा और विचारा बस खिसक ही तो गया । उसका खिसकना था कि सारे ग्वाले एक के ऊपर एक धरती पर आ गिरे । सब से ऊपर होने के कारण सारा दही कृष्ण के मुँह पर पुत गया और अभी वह संभलने भी न पाये थे कि गोपी ने उन्हे पकड लिया और माता यशोदा के पास ले चली, परन्तु कृष्ण वहाँ जाकर साफ मुकर गये—

मैया मोरी, मैं नहिं माखन खायो,
भोर भये गैयन के पीछे मधुबन मोहि पठायो ।
चार पहर बसीबन भटक्यो, सांझ परे घर आयो ॥
मै बालक बहियन को छोटो, छीको किस विध पायो ।
ग्वाल बाल सब बैर परे हैं, बरबस मुख लपटायो ॥

कितना सुन्दर और धूर्ततापूर्ण तर्क है, परन्तु बच्चो की सादगी भी देखिये कि कृष्ण अपनी छोटी भुजाओ से छींके तक न पहुँचने का प्रबल तर्क देता है, परन्तु यह नहीं सोचता कि वह इस प्रबल तर्क द्वारा यह भी सूचित कर रहा

है कि वह गोपी के घर गया था और उसे मालूम था कि माखन ऊँचे छींके पर ही पड़ा हुआ है। एक और सादगी का यह उदाहरण लीजिए जब कृष्ण बलदेव के विपरीत माता से शिकायत लगाता है और साधारण रूप से न कहने योग्य बात भी माता के सामने निःसंकोच रूप से कह देता है कि—

गोरे नन्द जसोदा गोरी, तू कत श्याम सरीर ?

इसी प्रकार के अगणित रमणीय चित्र सूरदास ने कृष्ण के बाल्यजीवन से चित्रित किए हैं। गौएँ चराने के लिए माँ से हठ करना किंतु वहाँ थक जाने पर फिर गौ न चराने की प्रतिज्ञा करना बाल चंचलता का सजीव उदाहरण है। इन्हीं सब विशेषताओं के आधार पर ही तानसेन ने कहा था—

किधौ सूर को सर लग्यौ किधौं सूर की पीर।
किधौ सूर को पद सुन्यो तन मन धुनत सरीर॥

सूर साहित्य का दूसरा पक्ष है—शृंगार। संयोग की अपेक्षा वियोग शृंगार मे सूर को अधिक सफलता मिली है। उसका कारण है कि कल्पना की अपेक्षा अनुभूति अधिक तीव्र होती है। संयोग शृंगार में यद्यपि मुरली-महिमा, रासलीला, चीरहरण लीला, दान लीला, पनघट लीला आदि अत्यन्त सरस और मधुर बन पड़ी है तथा राधाकृष्ण का प्रथम मिलन जिस वातावरण में हुआ है, वह भी अत्यन्त हृदय ग्राहक है—

बूझत स्याम कौन तू गोरी ?
कित रहती का की है बेटी, देखि नाहि इत ब्रज की खोरी।

और जब राधा भी चपलता से 'माखन चोर कृष्ण' की चोरी का आपत्तिजनक उत्तर देती है तो कृष्ण का प्रत्युत्तर भी बड़ा मार्मिक है—

'तेरा कहा चोरि हम लैहैं'

और तब सचमुच कृष्ण अपनी चालाकी मे सफल ही हो जाते हैं। सूरदास कहते हैं—

सूरदास प्रभु रसिक शिरोमणि।
बातन भुरहि राधिका भोरी॥

वियोग शृङ्गार की दूसरी बात है। इतना मधुर सम्बन्ध स्थापित करके और अपने रूप गुण से ब्रज युवतियों को पागल बनाकर कृष्ण ने उनका

तन, मन, सर्वस्व अपने अधीन कर लिया था। लोक और वेद की मर्यादा को तोड़कर गोपियां समय-असमय कृष्ण के पास खिची चली आती थीं। उन अबोध प्रेमरस मे आमूल चूल नहाई गोपियो को दो दिन मे लौट आने का झूठा आश्वासन देकरजब उनका जीवन धन कृष्ण सदा सदा के लिये रूठकर चला गया, इनको विलखता और तडपता हुआ छोडकर उसने पुनः उनकी सुधि लेने की भी आवश्यकता न समझी, उनके संदेशों का उत्तर तक ही न दिया, तब कितनी पीडा और मर्माघात का अनुभव उन प्रेममूर्ति भोली बालिकाओं को हुआ होगा, इसका सच्चा अनुभव विरही भक्त सूर के सिवा और भला कौन करता। यही कारण है कि गोपियो के करुण क्रन्दन का शब्दचित्र और ध्वनिचित्र सूर के 'भ्रमर गीत' मे मिलता है।

'भ्रमर ग त' मे जब कृष्ण की ओर से भेजे गए उद्धव गोपियों को समझाने के लिए कृष्ण-प्रेम को छोड निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान का शुष्क उपदेश देने लगे, तो गपियो के जले घाव पर वह उपदेश नमक डालने की क्रिया बन गया। गोपियो ने कृष्ण और उद्धव को काले भंवरे की आड में खूब जली-कटी सुनाई—

यह मथुरा काजर की कोठरि।
जेहि आवैं तेहि कारे॥
तुम कारे सुफलक सुत कारे।
कारे भॅवर भँवारे॥

उद्धव ने पत्रिका दी, परन्तु वहां पढ़ने वाला ही कौन था, जो उसे उठा कर पढ़ता। विरह की अग्नि से तपे हुए हाथो में लेते ही वह भस्म हो जाती और आंखो से पढ़ते समय तो उसका कोमल कागज वियोग की अश्रुधारा में भीगकर गल जाता। फिर भी राधा ने जब वह पत्रिका ली, तो उसके आंसुओं से स्याही फैल ही गई और—

"श्याम ही भई श्याम की पाती"

इस उक्ति में सूर की पटुता दर्शनीय है। वह पत्रिका श्याम की विरहिणी राधा के लिए साक्षात् श्याम रूप ही होगई। विरह में प्रेमी का पत्र भी बहुत सन्तोषजनक और प्रेमी के मिलन के समान ही होता है।

परन्तु गोपियों ने उद्धव को साफ-साफ बतला दिया था कि उन्हे निर्गुण का नही, केवल कृष्ण का प्रेम चाहिये। वे उपहास करती हुई उद्धव से पूछती भी हैं—

निर्गुन कौन देस को वासी।

और कभी-कभी उसके पांव पड़कर करुण वचन भी कहती हैं—

तू ही देख इहां इतनन मे
सीखन हारी को है?

जब उद्धव ने फिर भी दुःसाहस न छोड़ा, तब अन्त में गोपियों ने कितनी ही मार्मिक उक्ति मे उसका मुंह बन्द किया, इसे देखिए—

ऊधो मन नाहीं दस बीस,
एक हुतो सो गयो स्याम संग
को आराधै ईस?

इस प्रकार यह 'भ्रमर गीत' वस्तुतः सूरदास की निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर सगुण भक्ति की आस्था का भी युक्तियुक्त उदाहरण है, जिसकी सूचना उन्होंने पहले ही दे रखी थी—

सब विधि अगम विचारहि ताते
सूर सगुण लीला पद गावै॥

भाषा के साधारण होने पर भी भावो की उच्चता और अनुभूति की तीव्रता के कारण सूरदास का स्थान हिन्दी-साहित्य मे निःसन्देह महान् है और सदा ही महान् रहेगा।

—

# तुलसी की सर्वाङ्गीणता

संकेत—१. तुलसी का परिचय। २ सामयिक परिस्थितियां। ३. तुलसी की साहित्यिक देन। ४. तुलसी का सर्वाङ्गपूर्ण काव्य-सौन्दर्य तथा जीवन। ५. तुलसी ही सर्वाङ्गीण कवि क्यो है ?

भूमिका—राम-भक्ति शाखा के अन्तर्गत हिन्दी मे तुलसी का स्थान सर्वोपरि है। हिन्दी मे इस कवि का प्रभाव एक दैवी घटना मानी जाती है। निर्धन ब्राह्मण कुल मे जन्म पाकर तथा जन्म से ही माता-पिता के दुलार से वंचित होकर तुलसी ने जिस प्रतिभा का परिचय दिया, वह विरले मनुष्यो का ही कार्य है। तुलसी के इस व्यक्तित्व-निर्माण मे उनके दीक्षा-गुरु नरहरिदास और शेषसनातन जी का महत्वपूर्ण हाथ था। तत्कालीन दिग्गज पडित शेषसनातन जी ने तुलसी को धर्म, पुराण, शास्त्र, वेद, इतिहास आदि के ज्ञान मे पारंगत किया था तथा उनकी पत्नी ने अपने दिव्य प्रेम-प्रतारणा से उनमें कवि हृदय की जागृति की। रत्ना की निम्न पक्तियो से आहत होकर ही तुलसी काव्य की महान् भूमि पर अवतरित हुए—

> लाज न लागत आपको, दौरे आयहु साथ।
> धिक् धिक् ऐसे प्रेम को, कहा कहौं मैं नाथ॥
> अस्थि चर्म मय देह मम, तामे जैसी प्रीति।
> ऐसी जो श्री राम में, होती न तो भव भीति॥

पत्नी के इन शब्द-बाणों के मार्मिक आघात द्वारा ही तुलसी भगवद् प्रेम में अनुरक्त हुए थे। तथा इस अनुरक्ति मे ही उन्होंने अपने 'मानस' की रचना की। तुलसी ने जब हिन्दी काव्य क्षेत्र में पदार्पण किया तो उन्हे अवधी और व्रज दो भाषाएं साहित्यिक रूप लिये हुए मिली। उसके साथ ही दोहा, चौपाई लिखने की प्रबन्ध शैली, कवित्व सवैय्ये लिखने की मुक्तक शैली, भक्ति विषयक पद लिखने की गीत शैली, नीति के दोहे लिखने की और वीर रस के कवित्त, छप्पय लिखने की शैली के दर्शन हुए, तथा व्रज

और अवधी दोनो की तथा काव्य की समस्त शैलियो को उन्होने अपनाया है। कृष्ण गीतावली मे उनकी ब्रज भाषा का माधुर्य और विनयपत्रिका मे भक्ति के पदो का सौन्दर्य देखा जा सकता है। दोहे चौपाई की प्रबन्ध शैली और अवधी भाषा को उन्होने राम-चरित-मानस मे स्थान दिया। नीति के दोहे गीतावलि में लिखे गये। वीर रस विषयक कवित्त और सवैय्ये का प्रयोग राम और रावण का युद्ध वर्णन करने मे किया है।

संक्षेप मे कहा जा सकता है कि तुलसी ने अपने समय की सभी काव्य-शैलियो का, दसो रसो का, काव्य के अन्तरंग और बहिरंग तत्वों का, कल्पना, भावना, बुद्धि तत्वो का और भाषा का सफलता पूर्वक निर्वाह किया है। काव्य के किसी भी अंग की दृष्टि से उनका कार्य अपूर्ण नही।

विस्तार—जिन परिस्थितियों मे तुलसी का उदय हुआ था वे भक्ति भावना प्रधान थीं। हिन्दू-मुसलमानो के दीर्घकालीन संघर्षों का परिणाम राम नाम की आराधना पर पहुँचना हुआ था। कबीर की झाड़-फटकार, और जायसी के प्रेम तत्व ने हिन्दू मुसलमान को इतने निकट सम्पर्क मे ला दिया था कि अब किसी प्रकार के बाह्य संघर्ष का स्थान नहीं था। अकबर की उदार नीति का परिणाम भी यही हुआ था कि हिन्दू स्वतन्त्रतापूर्वक राम नाम लेने लगे। परन्तु मुस्लिम अत्याचारों की कहानियां हिन्दू अभी भूल नहीं सके थे।

मुसलमानों का राज्य हिन्दुओ के लिए कितना संकटमय, आतंकपूर्ण और विनाशक सिद्ध हुआ था, यह बात तुलसी के मस्तिष्क में भी विद्यमान थी। तुलसी ने अपनी सामयिक परिस्थितियो का अध्ययन गहन दृष्टि से किया था। इसी लिये उनका साहित्य जहां एक ओर भगवद्-भक्ति का आधार है वहां दूसरी ओर लोकमंगल की भावना भी उसमें निहित है। तुलसी ने लोगों को तटस्थ रह कर नहीं देखा, अपितु जीवन की गहराई मे प्रवेश किया था। उन्होने अपने साहित्यिक कर्तव्य को प्रतिनिधि के रूप में निभाया है। अपने समय के पतित समाज, राष्ट्र, धर्म और राज्य सब के प्रति ही तुलसी जागरूक रहे। काव्य साधना का लक्ष्य उन्होंने स्वान्तः सुखाय रखते हुए भी लोक मंगल की भावना को कभी नहीं भुलाया। इह लोक और परलोक

दोनों का साधन तुलसी के साहित्य मे देखने का मिलता है ।

भक्ति विषयक सर्वाङ्गीणता के विषय में हम कह सकते हैं कि उन्होने भक्ति, ज्ञान, और कर्म तीनों का समन्वय किया है ।

भक्ति ज्ञानहिं नहिं कछु भेदा, उभय हरहिं भव सम्भव खेदा ।

× × ×

कर्म प्रधान विश्व रचि राखा, जो जस करहि सो तस फल चाखा ।

तुलसी की इन पंक्तियों से भक्ति का उपर्युक्त समन्वय भली भांति जाना जा सकता है । इस समन्वय के कारण ही राम भक्ति में आज तक कोई विकार उत्पन्न नही हुआ । राम की इस आदर्श भक्ति मे न तो लोक जीवन की अवहेलना की गई है और न अध्यात्म जीवन को ही सब कुछ कहा गया है

जीवनविषयक सर्वाङ्गीणता के चित्र उतारने मे भी तुलसी बहुत अधिक सफल हुए है । राम के गृहस्थ जीवन, सामाजिक जीवन, राष्ट्र जीवन को लेकर तुलसी ने जैसे आदर्श गृहस्थ, समाज और राज्य का चित्र खीचा है वह अपनी विशेषता मे पूर्ण है । राम सीता जैसे दम्पति, लक्ष्मण भरत जैसे भाई, कौशल्या जैसी मातायें, हनूमान् जैसे सन्त, राम जैसा राजा विभीषण सा मित्र जिस भी समाज मे रहेगा उसका रूप विकृत और पतित नहीं हो सकता । तुलसी द्वारा निर्मित जीवनादर्श कठिन भले ही हो परन्तु सर्वथा असाध्य नहीं हो सकता । व्यक्ति मात्र के लिए जैसे आचरण की आवश्यकता तुलसी ने बतलाई है, यदि इस प्रकार का आचरण लोग बना लें तो रामराज्य का स्वप्न पूर्ण हो सकता है ।

कहा जाता है कि तुलसी ने नारी जाति की निन्दा की है, जिसका आधार तुलसी का निम्न कथन माना जाता है—

ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी, तुलसी ये सब ताड़न के अधिकारी ।

परन्तु इस उक्ति में जिस प्रकार की स्त्रियों को ताडना की अधिकारिणी कहा गया है वे मंथरा, कैकेयी, शूर्पणखा जैसी स्त्रियाँ हैं । ऐसी स्त्रियों का किसी भी देश में अभाव नहीं है । इसके अतिरिक्त नारी को अनंग के कुसुम बाण की प्रताड़ना प्रत्येक नारी को अपेक्षित है, जिसके बिना नारी का नारीत्व

और पुरुष का पुरुषत्व सारहीन है। नारी चरित्र के विषय मे-'स्वतन्त्रता पाइ बिगरहि नारी' आदि उक्तियां भी सारहीन नही हैं। अनावश्यक, अत्यधिक स्वतन्त्रता नारी के लिए सदैव हानिकारक है। इस विषय मे तुलसी के लिए कहा जा सकता है कि उन्होने नारी जाति को लोक-लाज और कुल-मर्यादा की सीमा मे रहने का आदेश दिया है। तुलसी जैसे समाज सेवक व्यक्ति सदैव उच्च समाज निर्माण के लिए नारी जाति पर बन्धन लगाते आये है। वास्तव मे यदि किसी देश की नारियां चरित्रवान् और कर्त्तव्यपरायणा होती है तो वह देश ऊंचा उठता है। तुलसी जिस प्रकार का समाज और राष्ट्र निर्माण करना चाहते थे उसकी पूर्त्ति नारी जाति के उन्नत हुए बिना असम्भव है। इसलिए तुलसी ने नारी जाति के लिए सीता जैसे चरित्र को अनुकरणीय कहा है। अनसूइया के उपदेश मे तुलसी ने स्त्रियों को जो शिक्षा दी है वह स्त्री जाति के लिए ही नही अपितु विश्व के लिए वरदान है।

तुलसी के कलि-युग वर्णन मे जिन भावनाओं का चित्रण हुआ है वे उनके सामयिक समाज की द्योतक है। रावण का अत्याचार पूर्ण राज्य तत्कालीन मुस्लिम राज्य का प्रतीक है तथा रामराज्य के रूप मे उन्होने आदर्श हिन्दू राज्य की कल्पना की है। उनके राज्य का अभिप्राय सदैव यही रहा है कि उसमें जन जाति सुखी हो, प्रकृति हरी-भरी और मंगलमय हो, तथा लोगो मे परस्पर द्वेष का भाव न हो। परन्तु ऐसा राज्य तब तक प्रतिष्ठित नही हो सकता जब तक वहां का राजा राम की तरह न्यायप्रिय और सच्चरित्र नही होता। आज जो हमारे सामने प्रजातन्त्रात्मक राज्य अभिशाप रूप लिए हुए है, उसका एक मात्र कारण सत्ताधारियो का स्वार्थी, चरित्रहीन और लोभी होना है। 'यथा राजा तथा प्रजा' की उक्ति सर्वथा सत्य है। राम क्योकि महान् थे इसलिये उनका राज्य भी महान् था। परन्तु रावण, कंस तथा मुस्लिम शासक पतित थे, इसलिए उनका राज्य भी अमंगलकारी ही रहा। इसलिए तुलसी ने जैसे रामराज्य का चित्र उपस्थित किया है, वह सर्वांगपूर्ण और मंगलकारी है।

साहित्यिक सर्वांगीणता भी तुलसी में पूर्णतः मिलती है। साहित्य को समाज का दर्पण, निर्माता, व्याख्याता और स्रष्टा कहा गया है। इसके साथ

ही साहित्य के अन्तर्गत उन रचनाओं की गणना की जाती है, जो जन हित से ओत-प्रोत हो, या साहित्य को संचित ज्ञान राशि की संज्ञा दी गई है।

उपर्युक्त सभी दृष्टियों से तुलसी का साहित्य महत्त्वपूर्ण है। तुलसी समाज के द्रष्टा, स्रष्टा और व्याख्याता सभी कुछ है, तथा उनका साहित्य भी इन विशेषताओं से परिपूर्ण है। साहित्य के अन्तरग और बहिरंग पक्ष की दृष्टि से तुलसी महान् है। अन्तरंग पक्ष के अन्तर्गत जिन कल्पनाओं, भावनाओं और बुद्धि तत्वों से ओत-प्रोत है वे हमे अन्यत्र नही मिलते। तुलसी लोक मंगल की साधनावस्था का कवि है, पर साथ ही सिद्धावस्था का भी उनमे अभाव नही। साधनावस्था के अन्तर्गत यदि राम चरित मानस श्रेष्ठ है तो सिद्धावस्थाकी उनकी विनय पत्रिका, गीतावली, कृष्ण गीतावली आदि रचनाएं सर्वश्रेष्ठ हैं।

उपसंहार—इस प्रकार साहित्य, समाज, धर्म और जाति किसी भी दृष्टि से विचार करने पर तुलसी सर्वांगीण कवि सिद्ध होते हैं। सर्वांगीण कवि की विशेषता इसमे रहती है कि वह जिस विषय या भाव अथवा जीवन को लेता है उसे पूर्णरूप मे चित्रित करता है। क्योंकि तुलसी मे यह विशेषता सर्वाधिक है इसलिये तुलसी हिन्दी मे सर्वांगीण कवि का स्थान रखते हैं। तुलसी की सी यह सर्वांगीणता न तो हमे उनके समकालीन कवि सूर मे मिलती है और न किसी आधुनिक कवि मे। इसलिए इस दृष्टि से तुलसी अद्वितीय हैं।

# सूर-सूर तुलसी-ससी

"हिन्दी साहित्य के तीन महान् कवियो के रूप मे सूरदास, तुलसीदास और केशवदास का नाम लिया गया है। हिंदी साहित्याकाश मे सूरदास सूर्य के समान चमक रहे है तो तुलसीदास चंद्रमा के समान। केशवदास का स्थान सितारो के समान जगमगा रहा है।" उक्त निर्णयात्मक आलोचना को कुछ विद्वानो ने सन्देह की दृष्टि से भी देखा है। उनका मत है कि सूरदास ही नहीं, हिन्दी के सभी कवियों में तुलसीदास ही श्रेष्ठ माने जा सकते है। अतः सूर्य की पदवी तुलसीदास को मिलनी चाहिए। चंद्रमा का स्थान सूरदास का है। केशवदास के विषय मे भी विद्वानों में बडा मतभेद पाया जाता है। अधिकांश विद्वान् केशवदास के महाकवित्व की सफलता पर आपत्ति उठाते हैं और आचार्य शुक्ल ने तो उन्हें 'हृदयहीन कवि' तक कह दिया है। ऐसी स्थिति मे हिन्दी के तीसरे महान् कवि के रूप में मलिक मुहम्मद जायसी का नाम लिया जाता है। अस्तु, पहले सूर और तुलसी पर ही विचार किया जाता है।

सूरदास को सूर्य कहने वाले सूर का वात्सल्य वर्णन और शृंगार चित्रण उपस्थित करते हैं और इस विषय में केवल उनका ही नहीं, अपितु सभी आचार्यों का एक स्वर से यही निर्णय है कि इन क्षेत्रों मे सूरदास की तुलना तुलसी ही नही, हिंदी का कोई भी कवि और यहाँ तक कि संसार का भी कोई कवि नहीं कर सकता। सूरदास यद्यपि नेत्रहीन थे, परंतु फिर भी उन्होने बाल्य जीवन की ऐसी सरस झांकियों का दर्शन कराया है, जिनकी कल्पना नेत्रयुक्त माता-पिता भी नहीं कर पाते। मनोवैज्ञानिक रीति से इनके वर्णन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। बाल मनोविज्ञान का जितना ज्ञान इस महान् कलाकार को था, वह सचमुच आश्चर्यजनक है। 'गीतावली' में तुलसीदास ने भी राम के शैशव का वर्णन किया है। किन्तु सूरदास के कृष्ण की चपलता, ग्रामीण वातावरण, अबोध भाव और धूर्तता उसमें नहीं पाई जाती। तुलसी के राम

में राजकुमार का सा संयम, गंभीरता, मर्यादा ही अधिकांश झलक रही है। कृष्ण को यशोदा झूलने में झुलाती हुई कितना आनन्द प्राप्त करती है। जरा देखिए—

जसोदा हरि पालने झुलावै
मल्हरावै दुलरावै हलावै जोइ सोइ कछु गावै।
मेरे लाल को आउरी निंदरिया, काहे न आनि सुआवै॥

कुछ बडे होने पर कृष्ण को मिट्टी खाने की आदत पड जाती है। बालकों के इस सहज स्वभाव का बड़ा ही मार्मिक वर्णन सूर ने किया है। कभी स्नान करने का नाम सुनते ही कृष्ण रोने लग जाता है। बालक प्रायः ठण्डे पानी में नहाते समय रोते देखे जाते हैं। कृष्ण की यह बाल हठ और माता की चतुरता दोनो मनमोहक हैं—

जसुमति जबहिं कह्यो अह्नवावन।
रोय गये हरि लोटत ही॥
मैं बलि जाऊँ न्हाऊ जनि मोहन
कत रोवत बिन काजै री॥
पाछै धर राख्यो छपाइ कै
उबटन तेल समाजै री॥

इसी प्रकार जब कृष्ण दूध पीने से कतराते हैं, तो माँ चोटी बढ़ने का प्रलोभन देकर उन्हे दूध पीने को राजी कर लेती है। कर्णवेध के अवसर पर गुड खिलाने का लोभ देकर उसका मन बहला लिया जाता है। माता, पिता के हृदय की कोमल और प्रिय भावनाओ का सजीव चित्रण सूरदास ने किया है। एक बार जब खेल में कृष्ण हार जाता है और ग्वालबाल उसका उपहास उडाते हैं—

खेलन में को का को गुसैयाँ
हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयां।

तो खिसियाना होकर कृष्ण उन सब की शिकायत और विशेष रूप से बलदेव भैया की शिकायत माता से करते हैं-

मैया मोहि दाऊ बहुत खिजायो।
मोसो कहत मोल को लीन्हो तोहि जसुमति कब जायो॥

गोरे नन्द जसोदा गोरी तुम कत स्याम सरीर।
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलवीर॥
पाछै नन्द सुनत है ठाढ़े, हँसत हँसत उर लैया।
'सूर' नन्द बलरामहिं घिरयो, सुनि मन हरष कन्हैया।

अन्तिम प्रतिक्रिया बालक जीवन की कितनी भोली और प्यारी है।

इसी प्रकार माखन चोरी के सम्बन्ध मे सूर ने जो विविध दृश्य प्रस्तुत किए हैं, उनको देखते हुए कौन ऐसा प्राणी है, जो 'सूर सूर' नही कहता। इसके विपरीत तुलसीदास के बाल्यजीवन का दृश्य चटकीला न होकर राजकीय मर्यादाओं और राजसी ठाठ से सुशोभित है। राम को जगाने के लिए बन्दी-गणों की स्तुति भी गाई जा रही है—

प्रात भयो तात, बलि मातु विधु वदन पर,
मदन वारो कोटी उठो प्रान प्यारे।
सूत मागध बंदि बदत विरुदावली,
द्वार सिसु अनुज प्रियतम तिहारे॥

सूर की सरस, हृदय को बरबस आकृष्ट करने वाली माधुर्यमय, लालित्य-पूर्ण, सरल स्वाभाविक, बाल्यचापल्य से भरी उक्तियाँ तुलसीदास में नहीं मिलेंगी। बाल्यकाल को जिस विविध ढंग और गम्भीरता के साथ सूर ने लिया है, तुलसी नहीं ले सके। कृष्ण को माखनचोरी से मना करने के लिये माता को कितना सुन्दर उपाय सूझा है और बालकों के ब्याह रचाने की जन्मजात रुचि का कैसा उपयुक्त ढंग से लाभ उठाया गया, वह देखते ही बनता है।

छांडो मेरे ललित ललन लरिकाई
ऐहैं सुत देखवार कालि तेरे, बबै ब्याह की बात चलाई।
डरि हैं सासु ससुर चोरी सुनि हँसिहैं नई दुलहियाँ सुहाई॥

यही दशा शृंगार रस के वर्णन मे भी है। क्या संयोग हो क्या वियोग, दोनों ही रसो मे सूरदास को जितनी सफलता मिली है, उतनी तुलसी को नहीं। तुलसी मे व्यापकता हो सकती है, घनिष्ठता और विविधता नहीं। सूर ने एक रस ही दिया है, परन्तु वह इतना मनभावना है कि उसके सामने अनेक

फीके रस फीके ही पड जाते हैं। कहा भी तो है—

एकश्चंद्रस्तमो हंति न च ताराशतानि च।

अर्थात् एक ही चंद्रमा अंधकार को दूर कर देता है। सैकड़ों लाखों तारे मिल कर भी वह काम नहीं कर सकते। अस्तु,

सूरदास ने कृष्ण-जीवन को शृंगार के रस मे सिंचित करके उसे मधुर बनाया है। वल्लभ आचार्य ने ही माधुर्यभाव का प्रचार किया था। उनका 'मधुर स्तोत्र' बहुत ही प्रसिद्ध है। सूरदास भी वल्लभ के पुष्टि सम्प्रदाय मे दीक्षित थे, फलतः कृष्ण की बाललीला को मधुर बनाने का स्वर्ण अवसर मिल गया। राधा और कृष्ण का अनुराग हिन्दी साहित्य को सरस बनाने का एक प्रधान साधन कहा जा सकता है। सूरदास ने भी इससे कम लाभ नहीं उठाया। कृष्ण सौंदर्य का प्रेमी है, सहज ही रसिक शिरोमणि की उपाधि से भूषित है। नित्य ही गोप-गोपियो के साथ खेलते रहते थे, परन्तु उनमे कोई नवीनता या विशेषता उन्हे अनुभव नही हुई थी। एक दिन उनकी टोली में एक बालिका भी खेलने आ गई, जिसने अपने सौंदर्य की विशिष्टता से हमारे सौंदर्य-प्रेमी का हृदय चुरा लिया। झट उससे पूछताछ आरम्भ कर दी और उसके साथ गाढ़ा नाता भी रख लिया—

खेलन हरि निकसे ब्रज खोरी

औचक ही देखी तहँ राधा नयन विशाल भाल दिए रोरी।

सूर स्याम देखत ही रीझै नैन नैन मिलि परी ठगोरी।

Love at first sight का कितना मधुर उदाहरण था यह। किन्तु इस प्रेम मे शैशव का चापल्य है, यौवन की गभीरता नही। यह बालक और बालिकाओ का सहज रतिभाव है, कामशास्त्र की रम्य भूमिका नहीं। इस प्रेम मे उषा की लालिमा है, मदिरा की मादकता नही। कृष्ण और राधा का यह मिलन नित्य होने लगा। समय और आयु के साथ उन के हृदय मे प्रेमभाव भी बढ़ता गया। राधा अब प्रतिदिन कई-कई बार कृष्ण के घर चक्कर लगाया करती। यशोदा ने जब नटखट की यह लीला देखी, तो अपने पुत्र को मना करने के बजाय माता के सहज स्वभाव के कारण उस ने राधा को ही घर न आने के लिए कहा। एक-आध बार जब राधा को सब-

मुच ही स्पष्ट रूप से रोका गया, तो बाल्य चापल्य के रोष मे आकर राधा ने कितना मार्मिक प्रत्युत्तर यशोदा को दिया है, जरा देखिए—

"बार बार तू ह्याँ जनि आवै ।
मैं कहा करौं सुतहीं नहिं बरजति, घर तें मोंहि बुलावै ।
मोसों कहत तोहि बिनु देखे रहत न मेरो प्रान ।
छोह लगत मोकौ सुनि बानी, महरि तिहारी आन ॥"

कितना करारा और मजेदार उत्तर है । इन सब बातो को देख कर सचमुच कहना पड़ता है—'सूर-सूर तुलसी-ससी' । वियोग शृङ्गार मे तो 'भ्रमर-गीत' की टक्कर का किसी ने वर्णन ही नही किया । कृष्ण के वियोग में संतप्त गोपियों को जब समझाने के लिए उद्धव पहुँचे और उन्होने 'अग्नि से भी तप्त' निर्गुण का उपदेश देकर उन व्रज-बालाओं से कृष्ण प्रेम को छुड़ाना चाहा, उस समय तड़प कर गोपियो ने जो मुँह मे आया सुनाया । कभी रोष, कभी विनय, कभी व्यंग्य, कभी उपहास, कभी भोले-भाले तर्क, सब कुछ कहा, जी भर कर कहा । और अंत मे 'ऊधो मन नाहीं दस बीस' कह कर तो उद्धव का मुख बंद ही कर दिया । उस समय यशोदा की भी अवस्था शोचनीय थी । चीख कर उसने प्रार्थना की—

जसोदा बार बार यह भाखै
है व्रज में कोऊ हितू हमारो जो चलत गोपालहिं राखै ।

इस पदांश में विद्वानो ने 'बार-बार' शब्द के अनेक मार्मिक व्यंग्य अर्थ निकाले हैं । बार-बार का अर्थ अनेक बार, बारि द्वार अर्थात् आँखे; रोम-रोम (बाल-बाल) आदि निकाल कर सूर की अभिव्यंजन कला का भव्य दिग्दर्शन कराया गया है ।

परन्तु जीवन की सर्वांगीण व्याख्या जो तुलसी के साहित्य में मिलती है, वह सूरदास में दुर्लभ है । मैथ्यू आर्नल्ड के कथनानुसार 'काव्य जीवन की सच्ची समालोचना है ।' इस कसोटी पर तुलसी हिन्दी साहित्याकाश के सूर्य सिद्ध होते हैं । उन्होने समाज की दुर्दशा को अपनी दूरदर्शी दृष्टि से देख लिया था । तत्कालीन, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक समस्याओं पर प्रकाश डाल कर तुलसी सचमुच युगद्रष्टा और युगस्रष्टा बन गए । सूरदास में

लोकहित साधना नही थी। आगरे के समीप रहते हुए भी जैसे उन पर देश की व्यापक परिस्थितियो का प्रभाव कुछ नही पड़ा। किन्तु तुलसी आवेष्टन से प्रभावित हुए और उसे प्रभावित भी किया। यही तुलसी की महत्ता का कारण था कि वे परिस्थिति का दास बनने के स्थान पर उसके स्वामी बन गए।

तुलसी साहित्य मे राम जीवन के द्वारा भारतीय जनता मे आदर्श मर्यादा की स्थापना कर के धर्म के संकुचित रूप का खंडन किया। 'अलख अलखहिं का लखै राम नाम जपु नीच' कह कर गुह्य साधना के लिए तुलसी जैसे शांत और विरक्त महापुरुष को भी तीक्ष्ण शब्द निकालने पडे। उनकी रचना 'स्वांतःसुखाय' होती हुई भी समाज के कल्याणार्थ 'लोक हिताय' ही सिद्ध हुई। वर्ण व्यवस्था के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया। आदर्श पत्नी, आदर्श पति, आदर्श राजा, आदर्श मित्र, आदर्श भ्राता, आदर्श माता, आदर्श सेवक आदि का स्वर्गीय दृश्य दिखा कर भयभीत जनता मे शक्ति, जीवन और साहस का अमृत भर दिया।

कला की दृष्टि से भी देखा जाये, तो तुलसी भक्त होने के साथ-साथ शास्त्रो के वेत्ता प्रकांड पंडित भी थे। ज्ञान और भक्ति की एकता को स्वीकार करना उनकी उदारता का ही परिचय देता है

ज्ञानहि भक्तिहि नहि कुछ भेदा,<br>
उभय हरहिं भवसम्भव खेदा ॥

स्वयं शुद्ध द्वैतवाद पर आस्था रखते हुए भी तथा राम-भक्त होते हुए भी तुलसी ने किसी संप्रदाय विशेष या देव विशेष का खंडन नही किया। सूरदास ने तो 'और देव सब रंक भिखारी' कह कर कृष्ण के अतिरिक्त अन्य देवताओ का अपमान किया है, किन्तु राम भक्त तुलसी ने 'कृष्ण गीतावली' लिख कर तथा 'विनय पत्रिका' मे गणेशादि देवो की प्रथम स्तुति कर के एक दुर्लभ उदाहरण उपस्थित किया है। इस के अतिरिक्त सूरदास ने जहाँ केवल मुक्तक शैली मे ही रचना की है, वहाँ तुलसी का अधिकार मुक्तक और प्रबन्ध दोनों शैलियो मे समान था। यहाँ तक ही नहीं, तुलसी ने अपने समय मे प्रचलित सभी काव्य शैलियो मे कविता करके अपनी विलक्षण सर्वतो-मुखी प्रतिभा का अकाट्य प्रमाण दिया है। भाषा के विषय में भी सूरदास

ने केवल ब्रज और उसके भी ठेठ रूप को ही अपनाया। जब कि तुलसी ने ब्रजभाषा और अवधी दोनों को साहित्यिक रूप मे ग्रहण किया। जायसी की अवधी भाषा भी ठेठ भाषा का उदाहरण थी। अतः तुलसी ने दोनो महाकवियों से बढ़ कर भाषा संस्कार का काम किया। यही दशा रस और अलंकारों की भी है। सूर ने वत्सल और शृंगार को ही लिया, किंतु तुलसी ने समस्त रसों मे रचना की। अतः भाषा, छंद, अलंकार, रस और सब से बढ़ कर काव्य के भावपक्ष के विस्तार को देखते हुए तुलसीदास ही हिन्दी के श्रेष्ठ कवि माने जाते है। दोनों महाकवि सर्वप्रिय है, किन्तु तुलसी सर्वश्रेष्ठ भी हैं। भारती माँ की इन दो आँखो को बडा या छोटा कहना कठिन है। अपने-अपने क्षेत्र मे दोनो अद्वितीय है; फिर भी सर्वांगीण दृष्टि से देखने पर तुलसी को ही श्रेष्ठ स्थान मिलेगा।

---

# प्रयोगवाद

आधुनिक हिन्दी-कविता काल को प्रयोग-काल ही कहा जा सकता है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने खडी बोली को गद्य में स्थिर किया, पर कविता के क्षेत्र मे वे ब्रजभाषा के मोह को न छोड सके। गद्य और पद्य में भाषा के दो रूपों की प्रतिष्ठा तथा नवीन राष्ट्रीय चेतना को प्राचीन भाषा मे व्यक्त करना उनका एक प्रयोग ही था। द्विवेदी काल मे भारतेन्दु के पयोग को अस्वीकृत कर खडी बोली का कविता में प्रयोग किया गया। मैथिलीशरण गुप्त इस प्रयोग के प्रतिनिधि हुए। उनकी भाषा मे खड़ाखडाहट का अनुभव किया गया। हरिऔध ने एक नया प्रयोग प्रस्तुत किया जिसमें संस्कृत-गर्भित शब्दावली में द्रुतविलम्बित, वंशस्थ, मन्दाक्रान्ता आदि सस्कृत के अतुकान्त छन्द प्रयुक्त हुए। तुकान्त के स्थान पर यह अतुकान्त प्रयोग रुचिकर तो लगा, पर बोझ लगने लगा। स्वयं हरिऔध एक सीमा से दूसरी सीमा पर उतर गये और बोलचाल की भाषा में उन्होंने चोखे चौपदे और चुभते चौपदे लिखे। कोई भी प्रयोग स्वीकृत न हुआ, और खडी बोली की नीरसता में सरसता लाने का एक नया प्रयोग छायावाद आ उपस्थित हुआ। कुछ वर्षों

तक इस प्रयोग की भी धूम रही। प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी, रामकुमार जैसे प्रतिभाशील कवियों को पाकर भी प्रयोग चल न सका, समाज में इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई और प्रगतिवाद का नया प्रयोग हिन्दी कविता में आ उपस्थित हुआ। प्रगतिवाद की कविता धारा चल रही है, अब उसी में एक नया प्रयोग चलने लगा है जिसे प्रयोगवाद ही कहा जाने लगा है। प्रयोग तो सभी थे पर यह तो प्रयोग का प्रयोग है। अन्यत्र प्रयोग अभिव्यक्ति के रूप में था, कविता की आत्मा कुछ और थी, प्रयोग तो उसका बाह्याकार था। प्रयोगवाद में प्रयोग ही उसकी आत्मा और प्रयोग ही उसका शरीर है।

यद्यपि निराला को अनेक लोग प्रयोगवाद का प्रथम कवि कहते हैं क्योंकि उन्होंने तुक-हीन कविता का नया प्रयोग हिन्दी में उपस्थित किया। पर इतने ही से वे प्रयोगवादी नहीं कहे जा सकते। शुद्ध-प्रयोगवाद के जनक तो सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय' है। ये तथा इनके अनुगामी, धर्मवीर भारती, गिरिजाकुमार माथुर, नागार्जुन, ऋषिकुमार मेहता, शमशेर बहादुरसिंह, भारत भूषण अग्रवाल, शिवमंगलसिंह 'सुमन' आदि प्रयोगवाद की एक नयी कविता धारा गढ रहे हैं। इस कविता धारा के मुख्य उद्देश्य लिखित हैं—

१. प्रयोगवाद छायावाद की प्रतिक्रिया में ही प्रकट हुआ है। छायावादी कविता शैली में अभिधा सर्वथा उपेक्षणीय थी, लक्षणा और व्यंजना का इतना अधिक प्रयोग था कि भाषा दुरूह हो गयी थी। प्रयोगवादी लक्षणा और व्यंजना के स्थान पर अभिधा पर जोर देते हैं। प्राचीन कविता में अभिधा का स्थान निम्न था, अभिधा को ही काव्य-भाषा की प्रधान शक्ति मानना प्रयोगवाद का प्रमुख लक्ष्य है।

२. गद्य और पद्य की भाषा का भेद मिटाने का प्रचार द्विवेदी काल से ही हो रहा है। अनेक कवियों ने और आलोचकों ने इस तथ्य का प्रकाशन किया, पर अभी उसका शुद्ध व्यवहारात्मक प्रयोग न हुआ। प्रयोगवादी उस सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप देना चाहते हैं। निराला की तुक-हीन कविता इसी लक्ष्य की ओर बढ़ने लगी थी, पर केवल तुक-हीनता ही तो उसे पद्य से नहीं हटा सकती थी। उसका अर्थ गाम्भीर्य भी तो उसमें भरा था—

प्रयोगवादी पद्य के कवित्व को निकालकर गद्यत्व भर रहे है ।

३. प्रयोगवादी भाषा की शक्ति बढाना चाहते हैं । उनके मत में परम्परागत काव्य-शक्ति और काव्य-परिपाटी उसे निर्बल करती है । हिन्दी कविता की शब्दावली और रीति सीमित है, उसे व्यापक बनाने के लिए विज्ञान, दर्शन, मनोविज्ञान, बाजार, गाँव, गली-कूचे आदि स्थलों से नये-नये शब्द ग्रहण करने चाहिएं । यदि इनसे भी काम न चले तो नये शब्द घडकर भाषा की शक्ति का प्रसार किया जाय । उसकी भाषा की सफलता की कसौटी जन-भाषा हो रही है, काव्य-भाषा जो जन-भाषा से दूर होती है प्रयोगवादियों के मत में कृत्रिम भाषा है ।

४. प्रयोगवादी कवि का दृष्टिकोण वस्तु-परक है, वह अपने अवचेतन के अर्द्धव्यक्त अनुभव खण्डो को वस्तु-परक बनाता है । वह युग-सत्य की ओर उन्मुख है, यथार्थ ही उसकी कविता का केन्द्र विन्दु है । यथार्थ मे जो भद्दा है, निकृष्ट है, हेय है, अशोभन है उसके लिए सब से अधिक ग्राह्य है । प्राचीन कविता शोभन, महान् और भावन का पल्ला पकडती थी । प्रयोगवादी इसके ठीक विपरीत, अशोभन, निकृष्ट और स्थूल यथार्थ को लेकर चलता है । मसृण, अनघड़ और भद्दे रूप ही उसे सर्वप्रिय हैं ।

५. प्रयोगवाद मे कोई भाव-धारा प्रधान नहीं है । प्रगतिवाद का वर्ग-संघर्ष या और किसी राजनीतिक, सामाजिक या आध्यात्मिक भावना से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है । इसमें तो वस्तु-शैली और शिल्प को नवीन प्रयोगों द्वारा नया रूप देना ही प्रमुख है ।

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद में प्रवृत्ति समान है । दोनों ही मे छायावादी काव्य-धारा की प्रतिक्रिया है । सूक्ष्म के स्थान पर स्थूल ही दोनो की कविता धारा का विषय है । दोनो मे ही रूढिवादी प्रवृत्ति का विरोध है, मार्क्सवादी आर्थिक-दर्शन और फ्रायडवादी यथार्थ ही दोनों मे प्रधान हैं । कविता-शैली में परम्परागत काव्यात्मकता, व्यंजकता और अलंकारिता का विरोध दोनो में ही मिलता है । फिर भी प्रयोगवाद प्रगतिवाद की कोई शाखा नहीं है, दोनों में मौलिक भेद है । प्रगतिवाद तो साम्यवाद और समाजवाद का साहित्यिक रूपान्तर है, उसमे राजनीतिक और सामाजिक जीवन के प्रति जागरूकता है ।

शोषक और शोषित के बीच का वर्ग-संघर्ष ही उस कविता धारा का प्राण है। प्रयोगवाद मे किसी राजनीतिक विचारधारा का ग्रहण अनिवार्य नहीं है, मार्क्सवाद, फ्रायडवाद आदि के दर्शन प्रयोगवादी कविताओ मे भी हो जाते है पर आनुषंगिक रूप मे ही —यथार्थवादी दृष्टिकोण होने के कारण ही प्रसंग-वश ये प्रवृत्तियाँ यहाँ भी परिलक्षित होती है, पर प्रगतिवाद की भाँति प्रयोगवाद मे इनकी अनिवार्यता नही है। सच तो यह है कि प्रयोगवाद मे किसी प्रकार की निश्चित विचारधारा नही है, उसमे तो आज के वैज्ञानिक जगत् की व्यापकता का उपस्थित करना ही उद्देश्य है। इसीलिए प्रयोगवाद आधुनिक मशीन युग के यथार्थ के अनुरूप भाषा-शैली को अधिक वैज्ञानिक करना चाहता है। प्रगतिवाद मे भाषा का यह नवीन प्रयोग आरम्भिक रूप मे है, वहाँ भी छायावादी लाक्षणिकता के विरोध मे अभिधात्मक भाषा और सादगी है, पर प्रयोगवाद में तो यही काव्य-कला का लक्ष्य है। प्रगतिवाद मे शैली का महत्त्व नही है. साम्यवादी विचारधारा का महत्त्व है। पर प्रयोगवाद में किसी विचारधारा का आग्रह नहीं है, आग्रह है तो एक सर्वथा नवीन काव्य-शैली का जिसमे कल्पना का स्थान न्यूनतम है, बौद्धिकता की प्रचुरता है, अभिधात्मक गद्यात्मकता है।

कविता की भाषा शैली उसमें निहित भावो का मूर्त उपकरण है। जिस प्रकार चित्र, संगीत और वास्तु कलाओ मे रंग, कागज, नाद, वाद्य, चूना, सीमेंट, ईंट, पत्थर आदि के द्वारा कलाकार अपने हृदयस्थित भावो का प्रकाशन करता है उसी प्रकार कवि शब्द, अर्थ, अलंकार, वर्ण योजना, शब्द-शक्ति आदि के द्वारा अपनी कला का उद्घाटन करता है। इस प्रकार कविता का भी एक शिल्प होता है। मूर्त होने के कारण यही भिन्न-भिन्न कविता की पहिचान का प्रत्यक्ष साधन होता है। प्रयोगवादी कविता मे तो जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, शैली-शिल्प ही सबसे अधिक प्रधान है। इस शैली-शिल्प मे मुख्यतः निम्नाङ्कित बातें पायी जाती है :—

१. शब्द—प्रयोगवादी का उद्देश्य है कि उसकी भाषा अत्यन्त व्यापक हो। इसलिए वह अंग्रेजी, बंगला, मराठी, उर्दू आदि सभी भाषाओ से प्रचलित, अप्रचलित कैसा भी शब्द लेने को प्रस्तुत रहता है। प्रचलित शब्द

तो हिन्दी में चल ही जाते हैं, पर वह तो ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है जिनके लिए हिन्दी में अच्छे शब्द मिल जाते हैं। इसी प्रकार असाहित्यिक वातावरण से भी शब्द एकत्रित करता है। यथार्थ ही प्रयोगवाद का मूल है, अतः यथार्थवादी बनाने के लिए भंगी बस्ती, धोबी बस्ती, मिल, गन्दे बाजार, श्मशान, गाँव के चमारों की बस्ती जैसे स्थलों मे प्रयुक्त शब्दों और उनके विकृत रूपों का वह संग्रह करेगा और अपनी कविता मे उन्हे प्रतिष्ठित करेगा।

इन विभिन्न स्थलों से प्राप्त शब्दों के वह बिना किसी सुधार के प्रयोग करता है, विचित्र और अनर्गल रूप में उसके शब्द दिखाई पड़ते हैं जैसे—

"हुचक हुचक पानी ढुरा
गर्द भरे खुँदे हुए फर्श पर
चुपचाप
देख देख मन कैसा हुआ
मेरी सुराही भी"

—शमशेर बहादुरसिंह

२. अप्रस्तुत विधान—कवि प्रस्तुत सूक्ष्म भाव को स्थूल अप्रस्तुत के सहारे श्रोता या पाठक पर स्पष्ट करता है, साहित्य मे इसे हम अलंकार नाम से पुकारते हैं। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, आदि मे अप्रस्तुत पर देखी-जानी हुई वस्तुएँ ही उपमान रूप में प्रस्तुत की जाती हैं और इससे भाव को स्पष्ट करने मे सहायता मिलती है। प्रयोगवादी कवि नवीनतावादी है वह प्राचीन अलंकरण को नहीं चाहता। छायावादी कविता धारा में अप्रस्तुत विधान ही अधिक है। प्रतीकात्मक शब्द ही छायावादी कविता मे प्रयुक्त होते थे। इन सब की प्रतिक्रिया प्रयोगवाद है, अतः यहाँ पर किसी प्रकार का अप्रस्तुत विधान भरसक नहीं लाया जाता। जैसे—

"आओ बैठो
तनिक और सट कर कि हमारे बीच स्नेह भर का
व्यवधान रहे, बस
चाहे बोलो
चाहे धीरे धीरे बोलो

स्वगत गुनगुनाओ
चाहे चुप रह जाओ
हो प्रकृतस्थ तना मत कटी छटी उस वाड़ मरीखो
नभो खुल खिलो सहज मिलो
अन्तस्थित, अन्तः सयत
हरी घास सी ॥"

—अज्ञेय

३. वाक्य—प्रयोगवादी भाषा को गद्यात्मक बनाता है पर है वह पद्य। इस विरोध को संभालने के लिये भाषा मे सामासि ता आ जाती है और पता नही चलता कि वाक्य का गठन ही कैसा है। उसका क्या आदि है क्या अन्त ? उदाहरण के लिए उक्त छन्द की अन्तिम चार पंक्तियो मे कवि ने समास शक्ति पर अधिक जोर डाला है जिससे कविता बोझिल हो गई है और भाव आसानी से समझ नही पडता। साथ ही साथ प्रयोगवादो के वाक्य अपूर्ण होते है, उसमे शब्द अपर्याप्त होते हैं। उनकी सीधी-तिरछी पंक्तियाँ और अधूरे वाक्य भाव को स्पष्ट नही करते। यह नहीं समझ मे पडता कि एक पंक्ति में जो भाव था वह कहां, समाप्त हो गया और दूसरा भाव कहाँ से निकल पडा—
भावो की कोई श्रृंखला उसमे नही होती--उदाहरण—

"कथा बनी, बनी, बनी
कही नहीं गई। लिखी नहीं गई
मिली---हृदय मे गुनी--मधुर-मधुर-सुर
अलस हास

एक स्वप्न प्यास, अथवा स्नेह-हास
—तुम ! तुम ! तुम"

इस छंद में एक वाक्य था, "कथा बनी. कहीं नहीं गई, लिखी नहीं गई" इसके पश्चात् न तो कोई वाक्य है, न भाव है, और न पहले वाक्य से कोई सम्बन्ध है। जैसेकि सी उन्मत्त व्यक्ति का अनर्गल प्रलाप हो। इस प्रकार

सारी वाक्यावली अस्त-व्यस्त हो जाती है और अर्थ-व्यंजन करने मे आशक्त हो जाती है।

३. विराम संकेत—पंक्तियों का छोटी-बडी होना और विरामो का मनमाना प्रयोग, प्रयोगवादी-शिल्प की अपनी विशेषता है। कोई नियम नहीं, जैसा चाहा पंक्ति छोटी-बडी कर दी, विराम संकेत लगा दिए। कविता के शीर्षकों के स्थान पर—एक दो—तीन—लिख दिए—छोटे-बड़े टाइप, सीधे-उल्टे अच्चर, सीधी-तिरछी लकीरें—जैसे कोई गोरख धन्धा हो।

५ छन्द विधान—छन्द और तुक के तो प्रयोगवादी कट्टर विरोधी है। उनकी धारणा है कि तुकों से भाषा की गम्भीरता नहीं रहती। वे तो अर्थ के अनुकूल अपने छन्दों का रूप बनाना चाहते है। पद्य और गद्य में अभिन्नता उत्पन्न करते हुए भी पद्य बनाना उनका कार्य है। इसीलिए न तो हम उसे पद्य कह सकते है और न गद्य। निराला ने जिस प्रकार छन्द का प्रयोग किया था, उसमे तो स्वर, लय, तुक आदि थे जिससे उसमे एक तारतम्य था, पर प्रयोगवादियो के छन्द तो एक विचित्र पहेली है। ऊपर के उद्धारण इसके प्रमाण हैं।

प्रयोगवादी कविता के सम्बन्ध में दो विरोधी दृष्टिकोण हैं। एक तो वे प्रयोगवादी है जो प्रयोगवादी कविता को आज की भावना के सर्वथा अनुकूल समझते हैं। अज्ञेय जी ने अनेक बार इस बात को दोहराया है कि प्राचीन कविता मे कृत्रिमता थी, कल्पना के विलास होने के कारण वह जन-जीवन के निकट न थी। कविता न तो जन-जीवन के भावां का सहजोद्धार कर सकती थी और न उसमे और साधारण-जन मे किसी प्रकार का साम्य था। प्रयोग-वादी कविता अभिधा की शैली अपनाती है, सीधे-साधे शब्दो मे वह सीधे और सच्चे भावो का निदर्शन करती है। उसे समझने के लिए किसी व्याख्याता की आवश्यकता नहीं। उसके शब्द जन-साधारण की बोल-चाल से लिए गये हैं, उसमें अलंकार पद्धति न होकर गद्य की सरल और सीधी शब्दावली होती है। उसका दृष्टिकोण बहुत व्यापक है। रसो का निरूपण ही उसका उद्देश्य नहीं है। आज का युग विज्ञान का युग है, इसमें कल्पना

विश्वास और भावुकता को अवसर कम हैं। उसमें आदर्श नही यथार्थ है, प्रयोगवाद मे यथार्थ का अंकन ही है। यथार्थ को देख कर लोग नाक-भौं भले ही सिकोडें, पर है यही वास्तविक। वास्तविकता को छिपाना न तो उपयोगी है और न कल्याणकारी। इसका उद्घाटन ही उसके दोष को भी निकाल सकता है। प्रयोगवादी कविता धारा मे किसी प्रकार की संकुचित विचारधारा नही है। इसमे न तो वीरगाथा, भक्ति और रीतिकालीन कविताओं की भाँति सीमित विचारधारा है, न राष्ट्रीय या प्रगतिवादी कविता धाराओं की भाँति राजनीतिक दासता है और न छायावादी कविताधारा की भाँति जीवन से पलायन है। इसमे तो जन-जीवन के सभी पहलू है, यह काव्यधारा जन साधारण के लिए है और जीवन के सभी पक्षों का उद्घाटन उसमे है। गद्यात्मक होने के कारण इसका स्वरूप आज के विज्ञान-प्रधान युग के सर्वथा अनुकूल है।

यह तो दृष्टिकोण उनका है जो प्रयोगवादी रचना प्रस्तुत कर रहे हैं, दूसरे वे आलोचक हैं जो इस कविता की व्याख्या करते और उसका मूल्यांकन करते हैं। आलोचक इस कविता धारा मे कविता का प्राण नही पाते। उनका कथन है कि प्रयोगवादी कविता का दृष्टिकोण वस्तुपरक है। प्रयोगवादी कवि अपने अनुभव को वस्तुपरक बनाता है—भावपरक नही बनाना चाहता। एकान्त व्यक्तिगत और भावहीन होने के कारण उसका अनुभव अर्द्धव्यक्त ही रह जाता है। वह श्रोता या पाठक मे संवेदन नही कर सकता। उसमे बौद्धिकता का बोझिलपन आ जाता है। प्राचीन कविता मे विचार और काव्यानुभूति के बीच रागात्मक सम्बन्ध होता था जो कवि और पाठक के बीच साधारणीकरण उत्पन्न करता था। यहाँ पर कविता और अनुभूति के बीच बुद्धिगत सम्बन्ध है अतः पाठक या श्रोता इस कविता से अपने मे किसी स्पन्दन का अनुभव नहीं करता। समाचार पत्र की सूचना मे तो यदि वह कुछ स्पन्दन आ भी जाये, प्रयोगवाद की कविता से उसके मनोविचारो मे कोई भी हरकत नही होती। यही कारण है कि रस जो कविता का प्राण है, इस कविता धारा मे है ही नही।

प्रयोगवादियों का लक्ष्य यह रहा है कि वे जन-जीवन के निकट कविता को

ला सके। इसीलिए वे लक्षणा और व्यंजना की पद्धति को बनावटी मानकर अभिधा को अपनाते है, अलंकार आदि का बहिष्कार करते है, पर क्या ऐसा करने से वे अपने लक्ष्य तक पहुंच पाते है ? कदापि नही, क्योंकि प्रयोगवादी कविता की शब्दावली जितनी ही सरल है उसका भावार्थ उतना ही दुरूह है। पाठक या श्रोता समझ ही नही पाता कि कवि का अभिप्रेत क्या है ? उसके शब्द साधारण हैं पर उनका उपस्थितीकरण इतना विलक्षण है कि कुछ भी स्पष्ट नही होता। जन-साधारण जिस काव्य-शैली से परिचित है, उसका इसमे सर्वथा त्याग है प्रगतिवादी एक अपरिचित और नवीन रूप की खोज करता है, अतएव जन-सावारण उसे अपना नही पाता। उसे इस नवीन रूप से अरुचि हो जाती है। काव्य की रस-पद्धति न केवल साहित्यिक है, वरन् मनोवैज्ञानिक भी है। इसलिए चाहे उसमे जटिलता ही हो, पर मानव मन उसमें आकर्षण पाता है, उसका मर्म समझने के लिए वह अपने मे प्रेरणा पाता है, श्रम करता है और उसमे कुछ तथ्य निकाल कर आनन्द विभोर होता है। प्रयोगवादी कविता-धारा मे किसी प्रकार का आकर्षण नहीं है, नीरसता है, उसकी सरलता उचाट पैदा करती है, बच्चो का निरर्थक खेल सा प्रतीत होता है, उसमे न कोई काव्य-शास्त्रीय कई तत्व हैं और न उसमे कोई उपयोगिता है। एक अनावश्यक, तत्वविहीन, नवीनता का प्रदर्शन मात्र ही प्रतीत होता है।

प्रयोगवादी कविता की अभी शैशवावस्था है। प्रत्येक नवीन कविताधारा को आलोचको की चोट सहनी पडती है, फिर भी यदि उसमे शक्ति होती है वह उठ खडी ही होती है। प्रयागवादी कविता की प्रगति मन्द है, उसमें ऐसा दृढ़ आकर्षण भी नहीं है कि नवीन कवियों को वह आकर्षित कर सके। अज्ञेय जी इस के प्रवर्तक हैं, वे ही इस धारा के दृढ़ कवि हैं। अन्य कवि जैसे नागार्जुन, शिवमंगलसिंह सुमन, गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती आदि प्रयोगवाद को छोड कर भी कविता करने लगे हैं। आलोचकों को तो छोडा भी जा सकता है क्योकि उनकी दृष्टि में परम्परागत काव्य सिद्धांत इतने दृढ़ हो जाते है कि वे नवीन मार्ग को शङ्का से देखते है। पर जन-साधारण भी जो सच्चा प्रेक्षक है और किसी भी विचारधारा का सच्चा ग्राहक है, इस कविता-

धारा की ओर आकृष्ट नही है। वह तमाशबीन की भाँति ही इसे देखता है, कभी इस प्रकार की कविताओं को ग्रहण नहीं करता। प्रयोगवाद आधुनिक कविता का नवीनतम प्रयोग है। प्रतीत होता है कि इसके प्रयोग काल में ही इसकी अन्त्येष्टि-क्रिया भी हो जाएगी और सम्भवतः श्री अज्ञेय जी ही इस क्रिया को भी कर के जाएँगे।

# आदर्शवाद-यथार्थवाद

मानव-जीवन के दो पहलू है—एक वह जो हमे दिखाई पड़ता है और दूसरा वह जिसे हम चाहते है। जो वस्तुतः हम देखते हैं वह बहुत सुन्दर और श्रेष्ठ नहीं है। उसमें तो जहां फूल है वहां कांटा भी है, जहां मनुष्यता है, वही घोर अन्याय, अत्याचार, और नृशसता है। जहा हम लज्जा और मर्यादा का मकडी का जाला तानते है उसी के नीचे अश्लीलता, अनाचार, व्यभिचार और कामवासना का साम्राज्य छिपा होता है। ऐसा होने पर भी सत्य का रात-दिन साक्षात्कार करने पर भी हमारी आंखें और हमारा मन, जन जीवन का एक और स्वरूप देखते हैं। वह स्वरूप आनन्द-दायक है उसे कांटा नहीं दिखाई पडता, पुष्प ही पुष्प ही दिखाई पडता है। उसकी आशा के प्रकाश में वेदना और निराशा प्रत्यक्ष होते हुए भी दिखाई नहीं पड़ती। जो काल्पनिक है, भविष्य के गर्भ मे है, वही मूर्तिमान् होता है। हमारी भावना, मर्यादा, सुविचार और मानव-कल्याण को ही देखना चाहती है, उसी के उन्माद मे वह अन्याय को देखकर कहता—यह सत्य नहीं सत्य तो न्याय है जो आने वाला है। मनोविज्ञान और अनुभव की कसौटी पर कसे हुए तथ्य को भी वह सत्य नही मानता, क्योंकि उसकी दृष्टि तो उस लक्ष्य पर टिकी है जैसा कि उसकी कल्पना देखना चाहती है। इन दो रूपों में से पहले का नाम यथार्थ है, दूसरे का आदर्श।

मानव-जीवन कण्टकाकीर्ण है, जन्म और मरण की दो चरम पीडाओ के बीच समग्र जीवन प्रायश्चित्त ही है। क्षुधा, रोग, काम, प्रपंच तथा अन्य

ईति-भीतियो के कारण मनुष्य जिस दिन से जन्म लेता है मरण पर्यन्त आराम की सांस नही लेने पाता। फिर भी वह अपने जीवन को शाप नहीं मानता वरदान ही मानता है, दीर्घायु की ही कामना करता है। प्रसव-वेदना को अपार पीडा सहती हुई भी नारी हर्षोत्फुल्ल रहती है और पुत्र का मुख देखने के लिए लालायित रहती है। दुःख के बीच रहता हुआ, भयंकरता का सामना करता हुआ भी मानव आनन्दित है, उसमे आशा का संचार है, जो कभी नही मिलता उसी पर उसकी दृष्टि लगी रहती है। इसका कारण यही है कि जो यथार्थ है, उससे परे जो आदर्श है, वही उसके मन में रमा है। यदि आदर्श की मृगमरीचिका न होती तो क्या मनुष्य इस दुःखमय संसार में एक क्षण भी रह पाता? आदर्श कृत्रिम नहीं है, असत्य होते हुए भी सत्य है। असत्य का यही सत्य रूप रमणीयता का विधेयक है। काव्य की कल्पना रमणीयता और रसात्मकता, उसके 'शिवं और सुन्दरं' का तथ्य आदर्श की ही नींव पर खडे हैं। साहित्य में मानव-हित है, मानव के प्रबल मनोवेगों का समुच्छ्वसित उच्छ्वास ही काव्य है, रमणीयार्थ का प्रतिपादक या रसात्मक वाक्य ही काव्य है, ये सभी लक्षण आदर्शवाद की ओर ही इंगित करते हैं।

भारतीय साहित्य आदर्शवादी रहा है। महाकाव्य, नाटक और कथासाहित्य सभी मे आदर्शवाद ही दृष्टिगोचर होता है। जीवन मे यद्यपि विषाद, अन्याय और अशान्ति की प्रचुरता है, पर भारत का कोई भी महाकाव्य या नाटक दुःखान्त नहीं मिलता। नायक धीरोदात्त ही मिलता है, ईश्वरीय न्याय ही सर्वत्र मिलता है। भारतीय साहित्य में दुःखान्त का सर्वथा अभाव इसी दृष्टि-कोण का परिणाम है। उदारता यहाँ की सांस्कृतिक भावना का मेरुदण्ड है, त्याग, तपस्या और निष्काम कर्मयोग जो यहाँ के महाकाव्य और नाटकों में केन्द्रबिन्दु थे, आदर्शवादी प्रकृति के परिणाम थे। शील का जैसा परिपाक भारतीय साहित्य मे मिलता है, संसार के किसी साहित्य में नही मिलता। शकुन्तला का प्रणय, सीता का त्याग, राम का आदर्श, राधा और मीरा की प्रेमभावना, प्रसाद की कामायनी, महादेवी की वेदना, प्रियप्रवास के कृष्ण, साकेत की उर्मिला, प्रसाद के नाटकों के नायक, प्रेमचन्द के उपन्यास सब में

आदर्श ही है। यह सब कल्पना का विलास मात्र नहीं, सब में जीवन की ठोस अनुभूति ही है।

यथार्थवाद की पुकार आधुनिक है। यथार्थ स्थूल को देखता है, सूक्ष्म को नहीं। आदर्श भारत की उपज है तो यथार्थ पश्चिम की। पश्चिम का दृष्टिकोण सदा ही भौतिक रहा है। इस जीवन की आवश्यकताओं को वहाँ अधिक महत्व दिया जाता रहा है। इसी दृष्टिकोण ने वहाँ पर फ्रांस की राज्य क्रान्ति, रूस की राज्य क्रान्ति, और इंग्लैण्ड की रक्तहीन क्रान्ति जैसी क्रांतियां कीं और अपने-अपने देश के राजाओं को प्रजा के हाथ मौत के घाट उतरवाया उमर खय्याम की 'खाओ पियो मौज करो' की भावना वहाँ पर खूब पनपी। इसी भावना ने राजनीति में मार्क्स-दर्शन और मनोविज्ञान में फ्रायडवाद को जन्म दिया। क्षुधा और काम ही सारी प्रवृत्तियों के मूल आधार बन बैठे। इन प्रवृत्तियों को मूलाधार मानकर जो नव-निर्माण का स्वप्न देखा जा रहा है वही है यथार्थवाद। इसके अनुसार महाकाव्य का आदर्श, भीष्म का ब्रह्मचर्य, राम की मर्यादा, मीरा की प्रेमोन्मत्तता, कपोल कल्पना है। यथार्थवादी समाज के कुत्सित घृणित पर सत्य का उद्‌घाटन करेगा। वह भारतीय नारी के आदर्श को असत्य कहेगा, उसके साथ सहानुभूति रखेगा, पर वह सहानुभूति इस रूप में होगी कि उसे भी स्वतन्त्रता मिले, वह एक पुरुष के आधीन न रहे, उसे मुक्ति मिलनी चाहिए—

मुक्त करो नारी को<br>
चिरबंदिनी नारी को<br>
युग युग की बर्बर कारा से<br>
जननी सखी प्यारी को

युग युग से अवगुंठित गृहिणी सहती पशु के बन्धन।<br>
खोलो हे मेखला युगों की कटि-प्रदेश से तन से॥<br>
अंगों की अविकच इच्छाएँ रहें न जीवन पातक।<br>
वे विकास में बनें सहायक, होवें प्रेम प्रकाशक॥<br>
क्षुधा-तृष्णा ही के समान युग्मेच्छा प्रकृति प्रवर्तित।<br>
कामेच्छा प्रेमेच्छा बनकर हो जाता मनुजोचित॥ —पंत

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि पंत जी कामेच्छा को क्षुधा और तृष्णा के समान ही समझते और प्रेमेच्छा को मनुजोचित कह रहे है। सदियों से भारत की नारी प्रेम के क्षेत्र मे स्वेच्छाचारिणी न बन सकी, यही उसकी परतन्त्रता है, इससे स्वातन्त्र्य देने के लिए यथार्थवादी काव्यकार आतुर है।

भारतीय विचारधारा में नारी का श्रेष्ठतम रूप माता है, जिसमें निस्वार्थ वात्सल्य और त्याग है। भगिनी भ्रातृप्रेम का नमूना और पत्नी सत और पतिव्रत की देवी है। यथार्थवादी दृष्टिकोण मे नारी का दाम्पत्य भाव ही प्रधान है। कामवासना वैसी ही है जैसे क्षुधा। इस पर आदर्श और कर्त्तव्य का भार यथार्थवादी स्वीकार नही करता। संस्कृति और न्याय को वह सर्वथा ढोंग मानता है—

"संस्कृति और न्याय का जो ढोंग करते
पाप पुण्य मर्यादा शासन व्यवस्था के
नाम पर रचते प्रतिष्ठा की समीक्षा
शोषण से कायम कर नाजायज सत्ता"—अंचल

इस प्रकार यथार्थवादी का मुख्य दृष्टिकोण शोषिता नारी की ओर गया। जो दासताएँ युग-युग से नारी के मन और शरीर को बांधे हुए थीं, उनसे उसे मुक्ति देना प्रमुख हो गया। प्रगतिवादी काव्य तथा कथा-साहित्य में लेखक यथार्थ-चित्रण मे प्रवृत्त हुए। एक ओर तो वे नारी को सब प्रकार की स्वतंत्रता दे रहे थे, दूसरी ओर समाज-बंधनों की आड़ में जो विकृतावस्था थी, उसका नग्न चित्रण करने लगे। निराला की 'चमेली,' सांकृत्यायन की 'वोल्गा से गङ्गा,' यशपाल की 'दादा कामरेड,' इलाचन्द्र जी की 'लज्जा' आदि मे यथार्थ चित्रण चल निकला। जैनेन्द्र, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, भगवतीचरण वर्मा, अज्ञेय, सभी अपने उपन्यासों में यथार्थ चित्र उपस्थित करने लगे। प्रेमचन्द्र के उपन्यासों का आदर्शवाद आउट आफ डेट बन गया। कहानियों मे भी यथार्थवादी प्रवृत्ति झलक उठी।

यथार्थ का दूसरा दृष्टिकोण अर्थ पर अवलम्बित है। सम्पूर्ण आदर्श सभी प्रकार के उच्च भाव, संस्कृति, मर्यादा, सम्मान, और महत्त्व का मान दंड अर्थ है। भारत मे अर्थ की महत्ता कभी न थी, एक भिक्षु जिसके पास रहने को घर, तन पर वस्त्र और गाँठ में एक पैसा नहीं, सब से बड़े सम्मान का

अधिकारी होता था। आज वह स्थिति नही रही। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का अधिकार है मानवता का माप-दण्ड साम्य-भावना है। आर्थिक स्वतन्त्रता के बिना किसी उच्च भावना का विकास नहीं हो सकता। यथार्थवादी इसी लिए आर्थिक दृष्टि से शोषित मजदूर और किसान को अपनी रचना का विषय बनाता है। काल्पनिक गगन से उतर कर वह पृथ्वी पर आता है और गरीब मजदूरो की झोपड़ियो और खंडहरो में विचरण करता है।

"सिर से आँचल खिसका है धूल भरा जूड़ा।
अधखुला वस्त्र, ढोती तुम सिर पर धर कूड़ा॥
हँसती, बतलाती, सहोदरा, सी जन-जन से।
यौवन का स्वास्थ्य झलकता आतप सा तन से॥
तुमने निज तनु की तुच्छ कंचुकी को उतार।
जग के हित खोल दिये नारी के हृदय द्वार॥

— सुमित्रानन्दन पंत

निश्चय ही यथार्थवाद ने साहित्य के एक आवश्यक अग को पूर्ति की। आदर्शवाद में कल्पना की प्रधानता थी, यथार्थवाद ने ठोस जीवन का स्वरूप प्रस्तुत किया। इसमे मनोविज्ञान और सचाई अधिक है, इसने समाज के उपेक्षित अंश को उभारा और साहित्य को सम्पन्न किया।

यथार्थवादी दृष्टिकोण तार्किक है, मनोवैज्ञानिक है और जीवन के ठोस तथ्यों पर आधारित है। मार्क्स और फ्रायड के सिद्धान्त स्वाभाविक हैं, उनमे चिरन्तन सत्य का अंकन है, फिर भी उसका सब कुछ नहीं है। क्षुधा और काम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियाँ हैं, पर ऐसी बात नही कि इनके क्षेत्रो से बाहर कुछ है ही नहीं, और यदि है तो सर्वथा असत्य और कल्पना का विलास। भारत का सम्पूर्ण प्राचीन साहित्य जिसमे यह सब दृष्टिकोण है, सर्वथा काल्पनिक नही माना जा सकता। फ्रायड के सिद्धांत मान लेने पर सूरदास की राधा का कोई अस्तित्व ही न माना जायगा। कामेच्छा पर आधारित आकर्षण, विकर्षण, तृप्ति और अतृप्ति के सिद्धान्त प्रेम के मार्ग मे नहीं टिक सकते। आदर्श-प्रेम का आधार काम-वासना, उससे सम्बन्धित

तृप्ति और अतृप्ति नहीं होती, ऐसी अवस्था मे । क्या प्रेम जिसका प्रसार कालिदास की शकुन्तला से लेकर मीरा तक मे हम पाते हैं, क्या सर्वथा मिथ्या है ? इसी प्रकार आज के आर्थिक दर्शन के विपरीत भी जीवन का स्वरूप हो सकता था । गान्धीवाद की साम्य-योजना यथार्थवादी-साम्य-योजना का समुचित उत्तर है ।

आदर्शवाद और यथार्थवाद के सम्बन्ध मे विद्वानो, कलाकारों और आलोचको के भिन्न-भिन्न मत रहे है । प्रसाद जी समन्वयवादी थे अतः अपना मत व्यक्त करते हुए उन्होने लिखा है—"कुछ लोग कहते हैं कि साहित्यकार को आदर्शवादी होना चाहिए, सिद्धान्त से आदर्शवादी धार्मिक प्रवचनकर्त्ता बन जाता है और यथार्थवादी सिद्धान्त से इतिहासकार ही सिद्ध होता है, क्योकि वह चित्रित करता है कि समाज कैसा होता है और कैसा था । किन्तु साहित्यकार न तो इतिहासकार है और न धर्म-शास्त्र प्रणेता । दुःख-दग्ध जगत् और आनन्दपूर्ण स्वर्ग का एकीकरण ही साहित्य है, इसलिए साहित्य मे भावार्थ और आदर्श घुले-मिले रहते है ।"

प्रेमचन्द जी यद्यपि आदर्शवादी थे फिर भी यथार्थ को वे आदर्श का साधन मानते थे । उनके शब्दो मे—

"यथार्थ यदि हमारी आँखें खोल देता है तो आदर्शवाद हमे उठाकर किसी मनोरम स्थान मे पहुँचा देता है । लेकिन जहां आदर्शवाद में यह गुण है वहाँ इस बात की भी शंका है कि हम ऐसे चित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धान्तो की मूर्त्तिमात्र हो, जिनमें जीवन न हो । किसी देवता की कामना करना मुश्किल नही है, लेकिन उस देवता मे प्राण-प्रतिष्ठा करनी मुश्किल है ।" इस प्रकार प्रेमचन्द ने भी आदर्श का महल यथार्थ की नींव पर ही बना रखा है । महादेवी जी ने इस समस्या पर अपना विचार व्यक्त करते हुए लिखा है—"किसी युग मे आदर्श और यथार्थ या स्वप्न और सत्य, कुरुक्षेत्र के उन पक्षो मे परिवर्तित करके नही खड़े किये जा सकते जिनमे से एक युद्ध की आग मे जल गया और दूसरे को पश्चात्ताप के हिम में गल जाना पड़ा । वे एक-दूसरे के पूरक रहकर जीवन को पूर्णता दे सकते हैं ।"

का उचित परिचय हो !

अन्त मे यह कह देना भी असंगत नहीं जान पडता कि यद्यपि वर्ड्ज़वर्थ ( Wordsworth ), वाल्टर-डी-ला-मेअर (Walter-de-la-mere), शेक्सपियर तथा महाकवि तुलसीदास ने भी बाल-मनोविज्ञान की भूमि का भ्रमण किया है। वर्ड्ज़वर्थ ने दार्शनिकता और वाल्टर ने बाह्य-चेष्टाओं की ओर अधिक ध्यान दिया, शेक्सपीयर के नाटकों मे बाल-मनोविज्ञान का केवल स्पर्श मात्र है; तुलसीदास का यह प्रयत्न तो जूठन सी प्रतीत होती है, परन्तु 'सूर' का यह वर्णन इस भूमि मे भूत की अतीत और भविष्य की भावी सम्भवित सीमाओं मे विस्तृत बाल्यावस्था के मनोवैज्ञानिक तथा मातृ-हृदय की कोमल कल्पनाओं के अलभ्य असंख्य चित्रों का एक बृहत् एवं पूर्ण "ऑलबम" है

---

# बिहारी और देव

रीतिकाल हिन्दी साहित्य का रंगीन काल कहा जा सकता है। 'कला कला के लिए है' की उक्ति इसी युग मे ही चरितार्थ हुई दीखती है। सौंदर्य, प्रेम और यौवन की त्रिवेणी से शोभित रीतिकालीन काव्य तीर्थ रस पिपासु असंख्य रसिक यात्रियो का पुण्यतीर्थ बना रहा। रीति साहित्य सरोवर में असंख्य सरोज विकसित हुए जिनका रूप लावण्य, सौरभ एक दूसरे से अपनी विशेषता रखता था। कल्पनाओं का विस्तार, अलंकारों की बहार, सौंदर्यमय श्रृंगार, सूक्तियों का भण्डार, सरसता की मधुर धार और उक्ति-वैचित्र्य का अपार पारावार रीतिकाव्य की प्रमुख विशेषता ही बन गया। चिन्तामणि हो या मतिराम, पद्माकर हो या देव सब ने अपनी कला के चमत्कार मे विचित्र चातुरी दिखाई है। रीतिग्रन्थों की आड़ मे और राधाकृष्ण की दुहाई देकर इन रसिक शिरोमणि कवियों ने अपनी ऊहोक्तियों द्वारा फारसी के श्रृंगारी कवियो की नाजुक बयानियों को भी मात कर दिया था। इन रीति कवियों की विस्तृत मौक्तिकमाला में सुमेरु के स्थान पर शोभा देने वाला कविवर यदि कोई माना जाता है, तो वह है बिहारीलाल। कविता गगन बिहारी की बहार यदि

देखनी हो, तो बिहारी सतसई का एक-एक दोहा पढ़ जाइये, जिसके पुरस्कार मे, कहते हैं, कविवर को एक-एक स्वर्णमुद्रा जयसिंह महाराज ने प्रदान की थी। केवल ७१२ या ७१६ दोहे लिखकर इतनी भारी प्रसिद्धि प्राप्त करना और रीतिकाल का सर्वश्रेष्ठ कलाकार बन जाना अपने आप में एक महान् विशेषता तथा असाधारण सफलता कही जा सकती है। जीवन भर में एक छोटी सी रचना लिखकर अमर महाकवि की उपाधि लेने वाला संसार में अन्य कवि मिलना दुर्लभ है।

बिहारी सतसई की सर्वप्रियता का यह एक अकाट्य प्रमाण है कि इसका अनुवाद हिंदी के अतिरिक्त अन्य अनेक भाषाओं में हो चुका है। रामचरित-मानस का अनुवाद अभी संस्कृत मे नही हुआ, परन्तु संस्कृत मे भी अनूदित होने का गौरव बिहारी की कृति को प्राप्त हो चुका है। इसके अतिरिक्त बिहारी के दोहो मे कुछ ऐसा आकर्षण है कि इस पुस्तक की पचासो टीकाएं प्रकाशित हो चुकी है। विद्वानो को एक-एक दोहे के कई-कई अर्थ लगाने पर भी संतोष नहीं होता। किसी ने अनेक सवैये और कवित्तो मे एक एक दोहे की व्याख्या की है तो किसी ने विस्तृत गद्य लिखकर भाव समझाने का यत्न किया है, परन्तु फिर भी जो कुछ बिहारी ने अपने लघु छंद मे भर दिया, उसको कोई भी पूर्णतया व्यक्त नहीं कर सका। कदाचित् इसी बात को देखकर पंडित-प्रवर पद्मसिंह शर्मा ने लिखा था कि 'बिहारी के दोहो के अर्थ गंगा की विशाल जलधारा के समान हैं, जो शिव जी की जटाओं में तो समा गई थी, परन्तु उससे बाहर निकलते ही वह इतनी असीम और विस्तृत हो गई, कि लम्बी-चौड़ी धरती मे भी सीमित न रह सकी।'' सचमुच इसी विशेषता को देखकर हमे भी किसी अज्ञात समालोचक के स्वर में स्वर मिला कर कहना पड़ता है कि—

सत सैय्या के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखन मे छोटे लगें घाव करें गम्भीर॥

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी बिहारी की इस विशेषता को प्रमाणित किया है। उनके शब्दो में "मुक्तक रचना की सफलता के लिए भाषा की जिस समास पद्धति और भावों की समाहार पद्धति की आवश्यकता रहती है, बिहारी

मे उसकी प्रचुरता पाई जाती है। थोडे से थोडे शब्दो मे अधिक से अधिक भाव प्रदर्शित करने की ऐसी योग्यता हिन्दी के किसी अन्य कवि मे देखने को नहीं मिलती। यह एक कटु सत्य है। बिहारी इस विषय मे गगन का ऐसा सितारा है, जो अकेला ही चमक रहा है—'Like a star that dwells apart.

कुछ आलोचको ने बिहारी की देव के साथ तुलना की है। और उसमें देव को बिहारी से बड़ा सिद्ध करने की भी चेष्टा की है। इस तुलना और मूल्य निर्धारण का सूत्रपात मिश्रबन्धुओ के 'हिन्दी नवरत्न' से हुआ, जिस पर पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई की भूमिका' लिखी, जिसमें उर्दू की महफिली शैली मे फड़कते हुए शब्दो द्वारा बिहारी को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध किया गया। फिर कृष्णबिहारी मिश्र ने निष्पक्ष आलोचना का दम भरते हुए 'देव और बिहारी' पुस्तक लिखी तथा बिहारी की कुछ विशेषताओं का वर्णन करते हुए भी देव को प्रथम स्थान प्रदान किया। इस आलोचना की प्रत्यालोचना युक्ति तथा प्रमाण देकर लाला भगवानदीन द्वारा विरचित 'बिहारी और देव' मे प्रस्तुत की गई। इसमे सन्देह नहीं कि बिहारी के पुजारी भी अपने नायक की प्रशंसा मे अतिशयोक्ति का प्रयोग करते रहे, तथापि देव के समर्थकों का दावा न्याययुक्त प्रतीत नहीं होता। देव के पक्षपाती विद्वानो की एक युक्ति यह भी है कि बिहारी की जहाँ एक रचना उपलब्ध होती है, वहाँ देव की ७२ या ५२ पुस्तको का पता मिलता है। यद्यपि प्राप्त रचनाओं की संख्या २६ या १६ से अधिक नहीं है, तो भी रीतिकाल मे सब से अधिक लिखने का श्रेय ( और विशेषतः बिहारी की तुलना मे तो ) देव को ही मिलता है। परन्तु यह तर्क सबल नही है, क्योंकि अधिक पुस्तकें लिखने मात्र से कोई लेखक महान् नहीं बन जाता। थोडा परन्तु अच्छा लिखने वाला लेखक ही बडा होता है। उदाहरणार्थ गुलेरी जी अपनी एक ही कहानी 'उसने कहा था' द्वारा हिन्दी के चोटी के कहानीकार माने जाते हैं, जब कि असंख्य कहानियां लिखकर भी सैंकडों कहानीकार हिन्दी साहित्य में अपना कोई स्थान नही बना सके। इसके अतिरिक्त आचार्य शुक्ल ने 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में देव के अधिक रचनाओं के महत्त्व को गिरा

दिया है, क्योंकि उनके विचारानुसार देव अपनी पूर्व पुस्तकों की सामग्री लेकर और उसमे कुछ नवीन जोडकर एक पृथक् पुस्तक तैयार कर लिया करते हैं। 'सुख सागर तरंग' देव की इसी नीति का ज्वलन्त उदाहरण है।

दूसरी युक्ति बिहारी के सीमित छंदोज्ञान तथा देव के विशाल छंदोज्ञान पर दी गई है। किन्तु प्रथम तो छंदोज्ञान कवि के लिए इतना महत्वपूर्ण विषय नहीं है, क्योंकि वह उसके लिए साधनमात्र है, साध्य नहीं, दूसरे देव के विविध छन्दों में निपुणता की प्रशंसा किसी भी प्राचीन या नवीन आलोचक ने नहीं की, जब कि बिहारी के दोहों पर सभी विद्वान् एक स्वर से 'सर्वोत्तमता' की छाप लगा चुके है। इसके अतिरिक्त काव्य कला को दृष्टि से सवैये और कवित्त जैसे बडे-बडे छंद लिखकर अपने भाव प्रदर्शन करना विशेष महत्व-पूर्ण नहीं समझा जाता, जितना दोहे जैसा छोटा छन्द लिखकर उसमें असीम भाव भर देना। भाषा के विषय मे भी कृष्णविहारी मिश्र का लगाया हुआ आरोप मिथ्या है। 'संक्रोन' शब्द को संक्रान्ति से विकसित मानने की उनकी कल्पना निराधार है। संक्रमण का ही अपभ्रष्ट रूप सक्रोन होने से बिहारी ने शब्द को तोड़ा मरोडा नही हैं। भाषा की शुद्धि के विषय मे आचार्य शुक्ल ने देव को ही कोसा है, बिहारी की भाषा को उन्होने भी रीतिकाल मे सब से अधिक परिमार्जित भाषा कहा है। इस विषय मे प्राचीन आलोचकों का भी एक मत निम्न दोहे द्वारा ज्ञात होता है–

ब्रजभाषा बरनी सबै कविवर बुद्धि विशाल।
सब की भूषण सतसई रची बिहारी लाल॥

अन्त में एक और विशेषता रह जाती है, जिसके कारण देव को बिहारी से श्रेष्ठ सिद्ध करने का यत्न किया जाता है, वह है देव का आचार्यत्व। परन्तु साधारणतया यह मत सर्वसम्मत है कि रीतिकाल के किसी भी आचार्य मे आचार्यत्व की योग्यता नहीं पाई जाती। मौलिक सिद्धान्त निरूपण तथा विश्ले-षण किसी ने भी नहीं किया। अतः आचार्य शुक्ल ने भी देव को 'असफल आचार्यों' की कोटि में ही रखा है। असफलता कोई विशेषता नहीं कही जाती अतः बिहारी की तुलना मे यह युक्ति देव को महान् सिद्ध नहीं कर सकती। विपरीत बिहारी में यह प्रवृत्ति प्रशंसनीय है कि उसने अन्य असफल

आचार्य या कवि—आचार्यों की तरह 'आचार्यत्व' का स्वांग नहीं रचा और अपने यथार्थरूप में कवि ही बना रहा। परन्तु इससे यह कदापि नहीं समझना चाहिए कि बिहारी में आचार्यत्व के लिए अपेक्षित साधारण योग्यता का भी अभाव था। 'बिहारी सतसई' का सूक्ष्म अध्ययन करने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि यह रचना रीतिकाव्य की पद्धति पर रची गई है। रीति ग्रन्थों में जिस नायक-नायिका भेद, ऋतुवर्णन, संयोग वियोग की सरस उक्तियां, अलङ्कार योजना आदि की सामग्री रहती है, वह सभी कुछ 'बिहारीलाल सतसई' में उपलब्ध है। अन्तर है तो केवल इतना कि उन सब बातों के लक्षण नहीं दिए गए, केवल उदाहरण ही प्रस्तुत किए गए हैं।

कुछ विद्वान् बिहारी की अश्लीलता पर भी बुरी तरह आक्षेप करते हैं। तथा उसे 'चोर कवि' सिद्ध करने का भी यत्न करते हैं। इन दोनों आरोपों के उत्तर में इतना कहा जा सकता है कि 'स्वयं शीशे के महल में बैठकर दूसरों पर पत्थर फैंकना बुद्धिमत्ता नहीं।' अर्थात् जो दोष बिहारी में दिखाए गए हैं, वही दोष देव में भी तो पाये जाते हैं, बल्कि अधिक पाये जाते हैं। क्योंकि बिहारी ने तो छोटे छन्द के कारण अश्लील बात भी (अगर कोई है, तो) संक्षिप्त, सकेत में और व्यंग्यरूप से कही है, देव की भांति विस्तारपूर्वक, स्पष्ट और वाच्य रूप से नहीं कही। इसलिये जो समाधान देव के पक्ष में होगा, वही बिहारी के लिये भी समझना चाहिये। परन्तु सामान्यतया बिहारी को अश्लीलता का प्रचारक मानना भी न्याययुक्त नहीं दीखता। भला जिस कवि ने अपने जीवन का आरम्भ ही निम्न दोहे से किया हो—

> नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहि विकास इहि काल।
> अली कली ही सों बंध्यो, आगे कौन हवाल॥

और विलास में बुरी तरह डूबे हुए महाराज जयसिंह को वहां से निकाल कर कर्त्तव्य का बोध कराया हो, उसे अश्लीलता का प्रचारक कहना कहां तक न्यायोचित है? अश्लीलता एक दोष माना गया है और पारिभाषिक शब्द होने से इसका विशेष अर्थ में ग्रहण होता है, सामान्य और व्यावहारिक अर्थ में नहीं। शुद्ध कला की दृष्टि से साहित्य में कुछ भी अश्लील नहीं होता। इसके अतिरिक्त स्वय ही देव के समर्थक कृष्णविहारी मिश्र ने देव रचित 'अष्टयाम'

अधर और स्तन पर गिरे हुए वर्षा के जलकणों का नाभि में गिरना वर्णित किया है। इसी कल्पना को संस्कृत के श्रेष्ठ मुक्तककार 'अमरुक' ने भी अपने एक श्लोक का विषय बनाया है। परन्तु अमरुक ने एक कदम और आगे बढ़कर नायिका के अश्रुओं का नाभि से भी नीचे धरती पर 'छुन छुन' करते हुए गिरना बताया है। (बिहारी ने छुन-छुन शब्द का कदाचित् यहां से लिया है)। परन्तु दोनो महान् कलाकारो की कल्पनाओ को भी मात कर देने वाली कल्पना बिहारी ने प्रस्तुत की है, जिसमे विरहिणी के विरहाग्नि-तप्त स्तनों पर पड़ते ही अश्रुओ का छिप जाने की मौलिक और मनोवैज्ञानिक सूझ का सजीव वर्णन है। 'छुनछुनाय छिप' मे अनुप्रास के अतिरिक्त 'ध्वनि-चित्र' भी ध्यान देने योग्य है।

शुक्ल जी के मतानुसार अनुभावचित्रण मे बिहारी हिन्दी के समस्त कवियों से बाजी ले गए हैं। 'बतरस लालच लाल के' वाले दोहे को कौन सहृदय पाठक नहीं पसन्द करेगा। शब्द चित्र के सफल चित्रकार बिहारी का निम्न-लिखित दोहा लीजिए, जिसमें एक विस्तृत चित्रशाला को केवल चौबीस मात्राओं में ही सजा कर रख दिया है—

कहत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करतु है अखियन ही सो बात॥

गुरुजनों से भरे हुए भवन मे नायिका से आंखो ही आंखों में कुछ नायक ने कह दिया, जिसे समझकर नायिका ने अनवसर देख इनकार कर दिया। परन्तु नायक नायिका की इस प्यारी 'ना' पर रीझ गया, जिसे देख नायिका को नायक की निर्लज्जता पर खीज हुई। परन्तु चतुर नायक ने शीघ्र ही क्षमा आदि मांग कर मेल कर लिया और मेल हो जाने पर नायक प्रसन्नचित्त हुआ, जिससे नायक की चातुरी से ठगी हुई नायिका लज्जित हो गई। यह सब कुछ 'आंखियन' में ही हुआ। कितनी सटीक कल्पना और कला-कौशल है।

बिहारी सतसई मे रीतिकाव्य के प्रायः सभी उदाहरण देखे जा सकते हैं, यह पहले कहा जा चुका है। अतः नायिका भेद, ऋतुवर्णन, संयोग, वियोग शृङ्गार के सरस दोहो और उन मे कहीं-कहीं सुरत, सुरतांत की भी चर्चा कर दी गई है। परन्तु ऐसे दोहे आटे में नमक के समान अत्यल्प ही हैं। संयोग

शृङ्गार की अपेक्षा बिहारी के विरह वर्णन पर आलोचकों द्वारा बडी कडी आलोचना हुई है। आचार्य शुक्ल ने भी बिहारी की विरहोक्तियों में ऊहोक्तियों का भद्दापन देख कुछ व्यंग्यवचन कस दिये हैं। उदाहरणार्थ निम्न दोहों में सचमुच बिहारी ने दूर की कौडी फेंकने मे कमाल कर दिया है—

आड़े दै आले वसन जाड़े हू की राति।
साहसु करै सनेहबसु सखी सबै ढिग जाति।
सुनत पथिक मुंह माहनिसि लुवै चलत उहि गाम।
बिनु बूझै बिनु ही कहै जियति बिचारी वाम॥

इसी प्रकार कहीं विरहिणी के शरीर पर औंधाई गई गुलाब की शीशी का सारा जल विरह-ताप से ही सूख जाता है और शरीर तक एक बूंद भी नहीं पहुँच पाती और कहीं तो विरह से क्षीणशरीरा नायिका बेचारी सांस लेने और छोडने में ही छः-सात गज आगे और पीछे चली जाती है, जैसे कि झूलना झूल रही हो। विरह से क्षीण शरीरता का वर्णन करने मे एक स्थान पर तो बिहारी ने लम ही तोड दी है कि मृत्यु चश्मा लगाये उस मृतप्राय दुर्बल शरीर विरहविधुर नायक को ढूंढती फिरती थी और वह कहीं देखने मे ही न आता था। यहां पर एक उर्दू के कवि की उक्ति स्मरण हो आती है—

नातवानी ने बचाई जान मेरी हिज्र में।
ढूंढती फिरती कजा थी, मैं न था॥

अस्तु, ये पंक्तियां निःसन्देह बिहारी के महाकवित्व की सूचक कदापि नहीं कही जा सकती। परन्तु इन्हे देख कर बिहारी के विरुद्ध चिल्लाना उचित नहीं। इसका एक कारण है। बिहारी जिन परिस्थितियो में उत्पन्न हुआ उसे उन से प्रभावित भी होना पडा। रीतिकाल मे नवाबो और राजाओं के दरबारो में हिन्दी के कवियो के अतिरिक्त मुसलमान कवि भी थे, जो फारसी की कविता किया करते थे। उर्दू तथा फारसी की कविता मे दूर की कौडी फैंकने की जो लत पडी हुई है, उस पर वाहवाही खूब मिलती है और सहृदय जन नाजुक-ख्याली या ऊहोक्तियां सुन कर फडक उठते हैं। फारसी कविता की इस विशेषता का मुंह-तोड जवाब देने के लिये ही रीतिकालीन हिन्दी कवियो

ने उसी प्रकार की लम्बी उडानें भरीं तथा सरस विचित्र कल्पनाएं कीं, जिन पर आदर्शवादी आलोचकों ने 'नूतन सृष्टि' कह कर अनेक व्यंग्य कसे। परन्तु उक्त स्थिति को ध्यान में रखकर यदि विचार किया जाय, तो उन कवि-कुमारों ने हिन्दी को उर्दू के सामने नीचा न दिखाने के लक्ष्य से प्रशंसनीय कार्य ही किया था। अतः जब फारसी या उर्दू कवि ने अपनी नाजुक नायिका के कोमलांगीपन का वर्णन करते हुए कहा कि सुरमे के भार से बेचारी सुन्दरी की आखें और कमर झुक गई हैं तो बिहारीलाल ने यह कहते हुए उसका मुंह बन्द कर दिया कि—

"सूधे पाय न परत है, सोभा ही के भार।"

इस प्रकार बिहारी के विरह वर्णन में जो दोष देखे जाते हैं, उन पर उक्त परिस्थिति और उद्देश्य को अवश्यमेव ध्यान में रख कर ही विचार होना चाहिये। विरह का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण बिहारी ने नहीं किया हो, ऐसी कोई बात नहीं। बिहारी सतसई के पन्ने पलटने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि मनोविज्ञान का जितना चतुर चितेरा बिहारी था, कदाचित् रसिक कवियों में दूसरा उसके जोड का कोई नहीं मिल सकता। केवल उदाहरण के लिये नीचे तीन दोहे प्रस्तुत किए जाते हैं, जिन में कृत्रिमता से दूर बडी सादगी और सुन्दरता से विरह का सजीव वर्णन किया गया है—

१—इन दुखिया अँखियान को, सुख सिरज्यो ही नाहिं।
देखे बनै न देखते, बिन देखे अकुलाहिं॥
२—कागद पर लिखत न बनत, कहत संदेस लजात।
कहि है सब तेरो हियो, मेरे हिय की बात॥
३—पिय के ध्यान गहि गही रही वही ह्वै नारि।
आपहिं आपहुँ लखि रीझति रिझवारि॥

अलंकार योजना में भी बिहारी की पटुता निर्विवाद है। स्वयं बिहारी के विरोधी कृष्णबिहारी मिश्र ने भी यह स्वीकार किया है और बिहारी के निम्न दोहे में २६ विशेष अलंकार खोज कर अन्य अनेक सामान्य अलंकारों तक की सत्ता मानी है। वह दोहा यह है—

यह मैं तोहि मे लखी भगति अपूरब बाल ।
लहि प्रसाद माला जु भो तन कदब की माल ॥

कुछ आलोचकों ने बिहारी को चमत्कारवादी कवि कहा है और लिखा है कि उसने केवल शब्दालंकारो मे ही व्यर्थ जोर लगाया है । परन्तु बिहारी के अर्थालंकारों की श्रेष्ठता सूर्य के समान सर्वत्र देदीप्यमान हो रही है । असंगति का निम्न उदाहरण लीजिये

दृग उरझत टूटत कुटुम्ब जुरत प्रेमि जन प्रीति ।
गाँठ परति दुरजन हृदय दई नई यह रीति ॥

अर्थालंकारो मे तो बिहारी ने कमाल ही किया है, पर मजा तो यह है कि शब्दालंकारों मे भी बिहारी ने जो सौन्दर्य ला दिया है, वह विशेष उल्लेखनीय है—दो उदाहरण लीजिये—

अज्यो तर्यो ना ही रह्यो श्रुति सेवत इक अंग ।
नाक बास बेसरि लह्यो बसि मुक्तन के संग ॥

इस में शब्द चमत्कार के साथ अर्थ सौंदर्य ध्यान देने योग्य है । इसी प्रकार का एक और प्रसिद्ध दोहा है—

चिर जीवो जोरी जुरै क्यों न सनेह गँभीर ।
को घटि ये वृषभानुजा वो हलधर के बीर ॥

भाषा का लालित्य और शब्दों का चयन भी बिहारी काव्य की प्रमुख विशेषता है । निःसन्देह बिहारी का एक-एक शब्द अपना विशेष अर्थ रखता है, जो इस के हटाये जाने पर कदापि नहीं निकल सकता । यही कारण है कि रसिक जन बिहारी पर लट्टू रहते है । एक प्रसिद्ध दोहा देखिए—

रस सिंगार मजनु किए कजनु भंजन दैन ।
अजनु रंजनु हूँ बिना खंजनु गंजनु नैन ॥

अर्थ विस्तार, शब्दगठन, अभिव्यंजना बिहारी की भाषा में सर्वत्र मिलेगी । भक्त की सामान्य प्रार्थना को बिहारी ने अपनी विचित्र अभिव्यंजना शक्ति द्वारा असामान्य और चमत्कृत बना दिया है । देखिये—

करौ कुबत जग कुटिलता तजौ न दीन दयाल ।
दुखी होहुगे सरल हिय बसत त्रिभंगी लाल ॥

यही तो बिहारी का बिहारीत्व है। अंत मे कुछ बिहारी के व्यापक पांडित्य पर भी विचार कर लेना चाहिये। उत्कृष्ट काव्य के लिए साहित्य-मर्मज्ञों ने शक्ति, निपुणता और अभ्यास ये तीन हेतु माने हैं। कवि को, विशेष रूप से एक अच्छे कवि को, अनेक शास्त्रों का ज्ञान होना चाहिये तथा लोक वेद मर्यादा मे भी निपुणता प्राप्त कर लेनी चाहिये। बिहारी सतसई को पढ़ कर रसिकशिरोमणि बिहारीलाल के व्यापक पांडित्य तथा कवित्वपूर्ण रुचि का पता चलता है। गणित के साधारण नियमों को जान लेना तथा ज्योतिष की सर्व-विदित बातों का वर्णन कर देना कोई पांडित्य प्रदर्शन नहीं कहा जा सकता। किन्तु उन साधारण और सुनी सुनाई बातों को काव्य का रूप प्रदान कर सुन्दर कल्पना का अंग बना देना निश्चय महान् गुण है, जो बिहारी मे अधिक पाया जाता है। केवल नमूने भर के लिए दो चार दोहे लीजिये—

गणित - कहत सबै बेंदी दिए अङ्क दस गुना होत।
तिय ललाट बेंदी दिए अगनित बढ़त उदोत॥

ज्योतिष—मंगल विंदु सुरंग, मुख ससि केसर आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत॥

वैद्यक—यह बिनसतु नगु राखि कै जगत बडौ जसु लेहु।
जरी विषम जुर जाइये आय सुदरसन देहु॥

विज्ञान—( Water finds its own level )
नर की अरु नल नीर की गति एकै कर जोइ।
जेतो नीचे ह्वै जलै तेतौ ऊँचौ होई॥

वेदांत—मैं समझ्यों निरधार यह जगु कांचो काच सो।
एकै रूप अपार प्रतिबिंबित लखियतु जहाँ॥

इस प्रकार बिहारी की श्रेष्ठता विषयक कोई सन्देह नहीं रह जाता।

# भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को दिवंगत हुए सत्तर वर्ष के करीब होने को आ गये, परन्तु खेद है कि युग-प्रवर्तक साहित्यकार की स्मृति को चिरस्थायी बनाने की तरफ अभी तक कोई ठोस कदम नहीं उठाया जा सका। भारतेन्दु जैसी अलौकिक प्रतिभा का साहित्यकार यदि किसी पाश्चात्य देश में उत्पन्न हुआ होता तो उसके सम्मान में न जाने कितने राष्ट्रीय स्मारक बन गये होते! कुछ हिन्दी के पत्रों ने भारतेन्दु-स्मारक बनाने का सुझाव उपस्थित किया, हमारा ध्यान एक ऐसे आवश्यक और पुनीत कर्तव्य की ओर आकर्षित किया है जिसकी तत्काल पूर्ति मे और अधिक विलम्ब करना असम्य होगा।

भारती-भूषण हरिश्चन्द्र एक असाधारण प्रतिभा और व्यक्तित्व के साहित्यकार थे। काशी के प्रतिष्ठित और इतिहासप्रसिद्ध परिवार मे पैदा होने के कारण अपने समय और समाज का नेतृत्व उन्हे विरासत के रूप मे मिला था। इस विरासत को उन्होंने किस खूबी के साथ निवाहा इसका सबसे बड़ा उदाहरण उनका अपना सामाजिक और साहित्यिक जीवन था। सुबह से शाम तक भारतेन्दु के यहां कवियो, काव्य-प्रेमियो, लेखकों, समाज-सुधारकों तथा अनेक विषयो मे उनकी सहायता और परामर्श खोजने वालो का दरबार लगा रहता था। जीवन के आखिरी दस-बारह वर्षों मे तो भारतेन्दु केवल 'व्यक्ति' न रह कर 'संस्था' बन गये थे। इतना व्यस्त जीवन व्यतीत करने के बावजूद भी केवल ३५ वर्ष को अल्पायु मे उन्होंने हिन्दी भाषा के भण्डार को ७५ से अधिक ग्रंथो से भर दिया और इन ग्रंथो मे साहित्य का कोई अङ्ग अछूता नहीं छोड़ा। भाषा और साहित्य दोनों पर उनका प्रभाव पड़ा। उनके नाटकों और निबन्धो मे भाषा का जो सुसंस्कृत और निखरा हुआ स्वरूप सामने आया वह औरो के लिए आदर्श बन गया। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण कार्य जो उन्होने किया वह था तत्कालीन हिन्दी साहित्य के भावो और विचारों की दृष्टि से एक नवीन जागृत दिशा मे मोड़ देना। यही

कारण है कि भाषा और भाव दोनों ही की दृष्टि से भारतेन्दु को आधुनिक हिन्दी गद्य साहित्य का प्रवर्त्तक कहलाने का सम्मान प्राप्त है।

## भारतेन्दु का काव्य

उच्च श्रेणी की मार्मिक और सरस काव्य-रचना में भी भारतेन्दु जी को एक युग-प्रवर्तक ही का स्थान प्राप्त है। यद्यपि शैली की दृष्टि से उनकी अधिकांश रचनाएं उनसे पूर्ववर्ती परम्पराओं ही पर आधारित हैं, परन्तु सर्वसाधारण की आशा-निराशा को काव्य-वाणी प्रदान करने का सर्वप्रथम श्रेय भारतेन्दु जी ही को है। भारतेन्दु की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। जहां एक ओर वह रसखान और पद्माकर की परम्परा में राधा-कृष्ण की भक्ति में झूमते हुए नजर आते हैं, वहीं दूसरी ओर माइकेल और हेमचन्द्र की परम्परा में तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों और मिथ्याडम्बरों को खिल्ली उडाते हुए भी देखे जा सकते हैं। प्राचीन और नवीन के सन्धिस्थल पर खडे होकर जिस जन-साधारण की भेरी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने बजाई, उसकी प्रतिध्वनि उनके जीवन काल ही में सुनाई पडने लगी थी। कवियों और लेखकों का एक खासा समुदाय जो उनके चारों तरफ तैयार हो गया था और जिसे लोग 'भारतेन्दु मण्डल' के नाम से पुकारने लगे थे, उनके देहावसान के बाद काफी समय तक उनकी परम्परा पर साहित्य निर्माण करता रहा। उनकी कविताएं इतनी मार्मिक और रसपूर्ण होती थीं कि उनके जीवन काल ही में सर्व-साधारण के मुंह से सुनाई पडने लगी थीं। कविताओं की सर्वप्रियता के पीछे भारतेंदु की मधुर और परिमार्जित पदावली तथा सामयिक विषयों का चुनाव प्रमुख कारण थे।

## प्रगतिशील विचारधारा

भारतेन्दु जिस काल में पैदा हुए थे, सामाजिक दृष्टि से वह एक गतिरोध का युग था। अंग्रेजों का प्रभुत्व देश में पूर्ण तरह जम गया था। अंग्रेजी शिक्षा, आचार-विचार और रहन सहन काफी आकर्षण की वस्तु बन रहे थे। परन्तु धर्म और समाज की पुरानी रूढियां इनका पूरा फायदा उठाने के मार्ग में बाधक हो रही थीं। भारतेन्दु उदार-विचार वाले तथा समय के साथ चलने

के पक्षपाती थे। विदेश-यात्रा को वहाँ अन्तराष्ट्रीय सम्पर्क तथा ज्ञान के आदान-प्रदान की दृष्टि से आवश्यक समझते थे। कट्टर-पंथियो की उन्होंने कैसी भर्त्सना की है—

रोकि विलायत गमन, कूप मंडूक बनायो !
औरन को संसर्ग छोड़ाय प्रचार घटायो !!

किन्तु भारतेन्दु पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति के अन्धभक्त हो—ऐसी बात न थी। जहाँ उन्होने अंग्रेजी शासन की अच्छाइयो को स्वीकार किया, वहीं आर्थिक क्षेत्र मे उसकी शोषण वृत्ति की आलोचना भी की—

अंग्रेज राज सुख साज, अहै अति भारी।
पै धन विदेश चलि जात, यहै अति ख्वारी॥

इसी प्रकार सामाजिक सुधारो के क्षेत्र में भी वह अग्रणी थे ! विधवा-विवाह का निषेध करने वाले, निहित स्वार्थ परम्परावादियो को वह खूब खरी-खोटी सुनाया करते थे—

विधवा-व्याह निषेध कियो, विभिचार प्रचार्यो।

## देश-भक्ति

अपने काव्य-काल के आरम्भिक दिनों में तत्कालीन परम्परा और परिस्थितियों के अनुकूल भारतेन्दु ने भी राज-भक्ति और देश-भक्ति से मिली-जुली कुछ कविताएं लिखी है, किन्तु बाद में जब उन्होंने ब्रिटिश गवर्नमेंट की कूटनीतियों को भांप लिया तो बडे जोरदार शब्दो में उनका भंडाफोड़ किया। भारत के स्वदेशी शिल्पो को विनष्ट कर यहाँ के बाजारो को विदेशी मालों से भर दिया गया। देश की इस दयनीय दशा को लक्ष्य कर भारतेन्दु जी कहते हैं—

वस्त्र, कांच, कागज, कलम, चित्र खिलौने आदि।
आवत सब परदेश सो, निहित जहाजन लादि॥

सन् १८७९ में भारतीय सेना और कोष के बल पर अंग्रेज़ो ने अफगान युद्ध पर विजय प्राप्त कर बड़ी खुशी मनाई। परन्तु भारतवासियों को इस विजय से क्या प्रसन्नता ! कितने व्यंग्यपूर्ण शब्दों में भारतेन्दु ने अंग्रेजों की

नीति का पर्दाफाश किया है—

काबुल सो इनको कहा, हिये हरख की आस।
ये तो निज धन नास सो, इससो और उदास॥
स्ट्रेची डिजरैली लिटन, चितय नीति के जाल।
भारत फंसि जर्जर भयो, काबुल युद्ध अकाल॥
सुजस मिलै अंग्रेज को, होय रूस को रोक।
बढ़ै ब्रिटिश वाणिज्य पै. हमको केवल सोक॥

अंग्रेज़ो की भीषण नीति से भारतेन्दु कितने अच्छा तरह परिचित थे; यह उनकी इस चुटकी से स्पष्ट है—

भीतर-भीतर सब रस चूसै।
बाहर से तन, मन, धन मूसै॥
जाहिर बातन में अति तेज।
क्यो सखि साजन नही अंग्रेज॥

इसके अतिरिक्त देश और जाति के अतीत गौरव का गान, वर्तमान हीनावस्था पर क्षोभ और उज्ज्वल भविष्य के लिये उद्बोधन—जो उस समय की देश-भक्ति भावना के अन्तर्गत आते थे—भारतेन्दु के काव्य मे बडी ही सुन्दरता के साथ वर्णित है—

जो भारत जग मे रह्यो, सबसे उत्तम देस।
ताही भारत मे रह्यो, अब नहिं सुख को लेस॥

देश की दुर्दशा से क्षुब्ध कवि अतीत-गौरव के अवशेष चिह्नों तक को देखना नही चाहता। उसे लगता है कि जब वह भारत ही न रहा तो इन्हे रखकर क्या होगा—

हाय पचनद, हा पानीपत, अजहुँ रहे तुम धरनि विराजत।
हाय चित्तौर निलज तू भारी, अजहुँ खरो भारतहिं मझारी॥

भारतेन्दु की देश-भक्ति मे मातृभाषा हिन्दी के उत्थान को भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। राष्ट्रीय पुनर्जागरण के मार्ग मे जहां उन्हें अनेक कठिनाइयां दिखाई पडती थी वहां देश मे विविध भाषाओ का होना भी बुरी तरह खटकता था—

भारत में सब भिन्न अति, ताहीं सो उत्पात।
विविध देश मतहु विविध, भाषा विविध लखात॥

भाषा की उन्नति और एकता को वह कितना आवश्यक समझते थे, यह उनके शब्दों में देखा जा सकता है—

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल॥

## वस्तु वर्णन

अभी आपने भारतेन्दु की उस कविता के उदाहरण देखे जिनमे उन्होंने सामयिक विषयों की चर्चा की है तथा साधारण भाषा और छन्दो का प्रयोग किया है। अब आप पुरानी पद्धति पर की हुई उनकी सरस कविता के कुछ नमूने देखिये। सच पूछिये तो भारतेन्दु की कवि सुलभ सहृदयता एव भाव-व्यंजना इन कविताओं मे ही पूरी तरह निखर सकी है। उनका वस्तु और रूप वर्णन इतना हृदयग्राही बन पडा है कि पढते समय पाठक का मन आनन्द-विभोर हो जाता है। काशी मे गंगाजी के शुभ्र और मन्द-वायु से लहराते हुए पवित्र जल का कैसा सुन्दर चित्र इस रचना मे है

नव उज्ज्वल जल धार, हार हीरक सी सोहति।
बिच-बिच छहरति बूँद, मध्य मुक्तामनि पोहति॥
लोल लहर लहि पवन, एक पै इक इमि आवत।
जिमि भावक जन-विविध, मनोरथ करत मिटावत॥

भारतेन्दु का प्रकृति और ऋतु-वर्णन भी अपने ढङ्ग का निराला है। प्रकृति को उन्होंने अधिकांश उद्दीपन के रूप मे लिया है। चन्द्रमा का वर्णन देखिए—

देखि सखी चन्दा उदय भयो!
कबहुँ प्रगट लखात, कबहु बदरी की ओट भयो॥
करत प्रकाश कबहुँ कुञ्जन में, छन-छन-छिपि छिप जाय।
मनु प्यारी मुख चन्द देखि, कै घूँघट करत लजाय॥

ऋतुओं मे वर्षा का वर्णन बडी तन्मयता के साथ किया है। कैसा सजीव चित्र आंखो के सामने खड़ा हो जाता है—

घिर घिर आये बादर छाये, रिमझिम जल बरसै।
चमचम चपला चमकै, झमकै झुकि-झुकि बिरछन बरसै॥

सावन की काली घटा को देखकर भारतेन्दु का कवि-हृदय नाच उठता था। निम्न दोहे मे इस सावन भक्ति की कितनी मार्मिक व्यंजना है—

भरित नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरब घन कोऊ, लखि नाचत मन मोर॥

वर्षा ऋतु मे कालिन्दी तीर पर विहार करती हुई राधा तथा वहां की प्राकृतिक छटा का कैसा मनोहारी वर्णन भारतेन्दु जी ने इस संस्कृतमय कजली में किया है—

हरि हरि धीर समीर, विहरति राधा कालिन्दी तीरे।
कूजति कल-कल रव, केकाकलि कल कारंडव तीरे॥
वर्ष जल चारु, चमकृत सघन सुघन नभ नीरे।
गाय त नित पद-पद्म, रेणु-रत हरिचन्द कवि धीरे॥

भारतेन्दु ने अपने काव्य में आदि से अन्त तक जन-जीवन को प्रधानता दी है। उनके उपास्य देव राधा-कृष्ण सगुण मानव के प्रतीक है। किसी भी रूप में मानव हृदय से दूर नहीं। होली-बरसात, सुख-दुख, मिलन-वियोग सभी मे कवि को अपने आराध्य का स्मरण बना रहा है। वह अपने आराध्य को समष्टि मे विविध रूपो मे व्याप्त पाते है। प्रेम के मन्दिर के तो उपास्यदेव राधा-कृष्ण ही हैं। जनजीवन का कवि प्रेमधर्मी नहीं तो और क्या हो सकता है? कवि का मन मयूर अपने उपास्य मे ही सघन जलद का दर्शन करता और प्रमुदित होता है—

भरित-नेह नव नीर नित, बरसत सुरस अथोर।
जयति अपूरव घन कोऊ लखि नाचत मन मोर॥

रूप दर्शन के पश्चात् ही मानव हृदय भाव अपनाता है, यह बताने की बात नही। भक्ति, परिणाम रूप मे अंतिम निधि कही जाती है। वहां पहुँच कर भक्त का हृदय तादात्म्य अपना लेता है—अपने आराध्य मे लीन कर देता है। रूप दर्शन की क्रिया ही हिन्दी काव्य में शृंगार को शक्ति प्रदान करती है।

भारतेन्दु के कवित्तों और सवैयों को ब्रज भाषा काव्य का अनुपम शृङ्गार कहा जा सकता है। एक तरफ रसिकराज कृष्ण और दूसरी तरफ मानिनी राधा तथा अन्य ब्रज-वनिताओं को लेकर हरिश्चन्द्र ने ऐसी होली खिलाई है कि किसी समय काशी की गलियां ब्रज की वीथियों को भी मात कर देती रही होंगी। जमुना-तट पर राधा और कृष्ण की अनुपम होली की छटा देखिये—

रंगीली मचि रही दुहुँ दिसि होरी, इत हरि उत वृषभानु किसोरी।
चलत कुमकुमा रँग पिचकारी, अरुण अबीर की झोरी।
इत जमुना निरमल जल लहरती तरल तरङ्गनि राजै।
उत गिरि राज फलति चिंतित फल चिंतामनिमय भ्राजै।

दूसरी ओर उस भाग्यवती ब्रज बाला के आज क्या कहने हैं। फागुन का महीना और यह सुनहरा अवसर! गोपिका अपने दिल की सारी कसक आज ही निकाल लेना चाहती हैं--

मै तो मलौंगी अवीर, तेरे गालन मे।
मलि गुलाल आंखे आँजोगी, चोटी गुहौंगी बालन में।

भारतेन्दु जी के अपने ही शब्दों मे वे रसिकों के सर्वस्व और प्रेमियों के दास तथा 'सखा प्यारे कृष्ण के' 'गुलाम राधा रानी के' थे! यही कारण है कि जहां-कहीं भी उन्होंने राधा कृष्ण की जुगल जोड़ी का वर्णन किया है, पाठक एकटक होकर तन्मय हो जाता है—

नैन भरि देखौ गोकुल चन्द!
श्याम वरन तन खौर विराजत, अति सुन्दर नन्द-नन्द॥
विथुरी अलकैं मुख पै झलकै, मन दोउ मन के फन्द।
मुकुट लटक निरखत रवि लाजत, छवि लखि होत अनन्द॥
सँग सोहत वृषभानुनन्दिनी, प्रमुदित आनन्द कन्द।
हरीचंद मन लुब्ध मधुप तहँ पीवत रस मकरन्द॥

भारतेन्दु की भाव-व्यंजना उनके प्रेम वर्णनो में सब से सुन्दर बन पड़ी है। कृष्ण की बहुरस-प्रियता को लक्ष्य कर गोपियां कितना व्यंग कसती हैं:-

तुम तो भौंरा मधु के लोभी रस चाखत नित डोलौ।
कलिन-कलिन पर माते-माते, मधुरे-मधुरे बोलौ॥
कहुँ गुंजरत कहूँ रस चाखत, कहुँ नाचत मदमाते।
बिलमि रहति कहूँ कलियन फूलन रस लालच रसराते॥

मधुर व्यंग का एक उदाहरण देखिए। विवाह की रस्म अदा करने के सिलसिले मे दूल्हा कृष्ण दुलहिन राधा के फूलों का कगना छोड रहे हैं। किन्तु प्रेम विभोर, कन्हैया की उँगलियो का सारा बल ही जैसे गायब हो गया है—कंगना छूटता नही। सखियां फौरन बोल पडती हैं:—

फूलहुं को कगना नहिं छूटत, कैसे हो बलबीर जू।
जानि परी सब आजु तुम्हारी, नामहिं के रणधीर जू॥
दूध पिवायो जसुदा मैया, जा दिन को सो आयो।
चोरि चोरि कै माखन खायो, सो बल कहां गवायो॥

सात्विक प्रेम का यह कैसा सुन्दर वर्णन है।

प्रियतम की रूप सुधा मे उलझ गई आंखो की उपमा चकोर से देकर भारतेन्दु ने भावो की कैसी लड़ी सी लगादी है:—

सखी मेरे नयना भये चकोर।
अनुदिन निरखत श्याम चंद्रमा सुन्दर नंदकिशोर।
तनिक वियोग भयो उर बाढ़त बहु विधि नयन मरोर।
होत न पलकी ओट छिनकहूं रहत सदा दृग जोर।

एक दूसरी सखी नैनों के हठीलेपन से परेशान है, जरा इसकी शिकायत सुनिये:—

सखी ए नयना बहुत बुरे।
तन सों भये पराये हरि सो जब सो जाइ जुरे॥
मोहन के रस बस ह्वै, डोलत तलफत तनिक दुरे।
मेरी सीख प्रीति सब छॉड़ी, ऐसे ए निगुरे।
जग खीझयो पै ये नहिं हठ सो तनिक मुरे।
'हरीचंद' देखत कमलन सो, विष के बुझे छुरे।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कहते हैं कि प्रेम मे पगे नयनो को छिपा सकना

असम्भव है। मोहन के रंग में रंग जाने के बाद बार-बार उधर आना उसका स्वभाव हो जाता है:--

छिपाये छिपत न नैन लगे
उघरि परत सब जानि जात हैं, घूंघट में न खगे।
कितनौ करौ दुराव दुरत नहि, जब ए प्रेम पगे।
हरीचन्द उघरे से डोलत, मोहन रंग रगे॥

सगुणोपासक भारतेन्दु वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी थे और यही कारण है कि कृष्ण काव्य मे उनका मन सब से अधिक रमा है। एक जगह स्वयं उन्होने इसका निर्देश किया है—

हम तो मोल लिये या घरके।
दास दास श्री बल्लभ कुल के, चाकर राधावर के।
माता श्री राधिका पिता हरि, बन्धु दास गुन करके।
हरीचन्द तुम्हरे ही कहावत, नहिं विधि के नहिं हर के।

लेकिन इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि उनका भक्ति-भाव या जीवन-दर्शन किसी एक सम्प्रदाय विशेष के कठघरे मे बंद था। वे एक स्वच्छंद ईश्वरानुरागी थे और भगवत-प्रेम में तन्मय हो जाने के बाद साम्प्रदायिक बन्धनों की तनिक चिंता नही करते थे। प्रेम बावरे भारतेदु कहते हैं—

कोउ मोहिं हँसत करत कोउ निंदा, नहिं समुझत कोई प्रेम परेखे।
मेरे लेखे जगत बावरो, हम बावरो जगत के लेखे।

जीवन में भारतेदु ने अनेक सुख-दुख और उतार-चढ़ाव देखे थे। एक ऐसे व्यक्ति के लिये जीवन के साधारण ऐश्वर्य-विलास की अनित्यता तथा अन्ततः उसी एक ईश्वर मे सद्गति प्राप्त करने के चिर सत्य को हृदयंगम कर लेना बड़ी स्वाभाविक बात थी। संत कवियो की परम्परा में विरचित इस पद का आनन्द लीजिये—

खेलि लेइ नैहर दिन चारी।
पहिली पठौनी तीनि जन आये, नाऊ बामन बारी।
दूसरि पठौनि पिय आपुहिं आये, डोलिया बांस कहारी।

धरि बहियां डोलिया बैठावे, कोउ न लगत गोहारी।
अबकी जाना बहुरि नहिं आना, इहै भेटि अकवारी।

जीवन के बचे-खुचे दिनों को सुकर्म मे व्यतीत करने का कितना सुन्दर उद्बोधन कवि ने किया है। उनकी एक खड़ी बोली की रचना का भी स्वाद लीजिए—

सांझ सवेरे पंछी सब, क्या कहते हैं कुछ तेरा है।
हम सब इक दिन उड़ जावेंगे, यह दिन चार बसेरा है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र प्रेम और रसिकता के अवतार थे। उदारता उनकी नस-नस में भरी हुई थी। गुणियो का आदर करना उनकी पारिवारिक परम्परा थी। मिथ्याभिमान उन्हे छू तक नहीं गया था। लेकिन यदि कोई उन्हें झूठी ऐंठ दिखाये तो उसका मान-मर्दन करना वह अपनी शान समझते थे। निम्न पदों में स्वयं उन्होने अपने स्वभाव का वर्णन किया है—

सेवक गुनी जन के. चाकर चतुर के हैं,
कविन के मीत, चित हिय गुन ज्ञानी के।
सीधेन सों सीधे, महा बांके हम बांकेन सों,
हरिचन्द नगद दमाद, अभिमानी के।
चाहिवे की चाह, परवाह न काहू की है,
नेह के दिवाने, सदा सूरत निवानी के।

एक सम्पन्न और धनी परिवार में पैदा होने के बावजूद भी भारतेन्दु के जीवन के अन्तिम दस-पन्द्रह वर्ष आर्थिक दृष्टि से बडी तंगी मे कटे। लेकिन इसका कोई भी असर उनकी राजसी उदारता और विशाल हृदयता पर नहीं पड़ा, रुपये-पैसे के लिये कभी उन्होंने किसी के सामने हाथ नहीं फैलाया। स्वभाव के इतने मस्त थे कि व्यक्तिगत दृष्टि से धन का अभाव उन्हे कभी नही खलता था। हां, जब कभी किसी दीन या दुखी को, धनाभाव के कारण सहायता नहीं कर पाते थे तो उन्हे हार्दिक परिताप होता था। एक बार उन्होंने एक राजसभा में एक समस्या की पूर्ति करते हुए निम्नलिखित आत्माभिमान भरा छन्द पढ़ा था—

राधा-श्याम सेवैं सदा, वृन्दावन वास करें,
रहें निहिचिन्त पद, आस गुरुवर के।
चाहें धनधाम न अराम सो है काम,
हरिचन्द जू भरोसे रहें, नन्दराय घर के।
ए रे नीच धनी ! हमैं तेज तू दिखावे कहा,
गज परवाही नाहिं, होंहि कबहुँ खर के।
होइ ले रसाल तू, भलेई जगजीव काज,
आसी न तिहारे ये निवासी कल्पतर के।

धन के प्रति भारतेन्दु को कितनी विरक्ति थी, यह उपर्युक्त पद में देखा जा सकता है। साथ ही दीन-दुखियों के लिए उन्होंने कितना उदार-हृदय पाया था, इसे काशीराज के इस दोहे मे देखिये—

यद्यपि आपु दरिद्र सम, जानि परै त्रिपुरार।
दीन दुखी के हेतु सोई, दानी परम उदार॥

भारतेन्दु को अपने चरित्र की इस विशालता का स्वयं ज्ञान न रहा हो, सो बात नहीं है। उनकी जैसी हस्तियां रोज-रोज पैदा नहीं हुआ करतीं—इसे वे भली भांति समझते थे और शायद ३५ वर्ष की अल्पायु में जितना कुछ उन्होंने कर डाला, उसके पीछे यही सब से बड़ी प्रेरणा थी। उनके निम्नलिखित कथन में अभिमान का लेशमात्र भी नहीं है, वह तो हमारी सब की आप बीती बन चुकी है—

कहेंगे सभी नैनन नीर भरि-भरि पीछे,
प्यारे हरिचन्द की कहानी रह जायेगी।

जैसा पहले एक बार निर्देश किया जा चुका है, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपने जीवन के उत्तरार्द्ध मे व्यक्तिमात्र न रह कर एक संस्था बन गये थे और एक संस्था की कहानी किस प्रकार तत्कालीन समाज की कहानी बन जाती है-इसकी व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं। किसी ने बिल्कुल ही ठीक कहा है-

परम प्रेम निधि रसिक वर, अति उदार गुनखान।
जग-जन-रंजन आशु कवि, को हरिचन्द समान।

# युग कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त

आधुनिक हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कलाकार, भारतीय संस्कृति के अमर वैतालिक, हिन्दी साहित्य क्रीडांगन के मंजे खिलाडी, राष्ट्रिय चेतना के अग्रदूत, हिन्दुत्व के सच्चे आदर्श, प्राचीनता के मोही, नवीनता के प्रचारक, माँ भारती के दिव्य मंदिर के पुरोहित, साहित्याकाश के ज्योतिर्मय नक्षत्र, सरस्वती के हृदयहार, वयोवृद्ध कविवर श्री मैथिलीशरण 'गुप्त' का जन्म चिरगांव झाँसी में आज से ६७ वर्ष पूर्व श्री रामचरण 'गुप्त' के यहाँ हुआ था। यह जन्म क्या था, मानो स्वनामधन्य पिता के रूप मे राम के गुणों को गाने के लिए श्री तुलसी का आगमन हुआ हो। उच्च कुल मे जन्म लेने के साथ ही साथ पैतृक सम्पत्ति के रूप में पिता की भारतीय सस्कृति के प्रति अनन्य श्रद्धा भावना, माँ की वैष्णव धर्म मे अगाध प्रीति, और उस घर की सरलता, सादगी, उच्च विचारधारा, वहाँ पर इकट्ठे होने वाले कवियों की कर्णं मधुर काव्य प्रतिभा प्राप्त हुई। उच्चकोटि की शिक्षा न मिलते हुए भी ये सभी गुण इतने प्रचुर परिमाण में उन्हे प्राप्त हुए कि जिससे सरस्वती-साधना के सुपथ पर अग्रसर होने मे उन्हे किसी कठिनता का सामना न करना पडा। इस पथिक को इस अमर साधना के पथ पर बढ़ने में अन्य जिन वस्तुओं का भी सहयोग प्राप्त हुआ उनका भी कोई कम महत्व नहीं पाया! सर्वप्रथम तो उनके पिता के कवि रूप ने ही उन्हे वह प्रेरणा प्रदान की कि जिससे वह इस मर्त्य लोक मे रहते हुए भी अमर लोक के कवि कहलाये। धार्मिक विश्वासो में पनपने वाली गृहस्थ की चारदीवारी मे रहते हुए मीरा, सूर, तुलसी इत्यादि भक्त कवियों की कविताओं ने भी उनके हृदय मे धर्म की जिस प्राचीर को खडा कर दिया, वह अर्ध शताब्दी बीत जाने पर भी पश्चिमी संस्कृति के अंधड झंझावात भी उसे नहीं डिगा सके हैं। महात्मा गांधी के भव्य नव्य संदेशों ने भी उनके हृदय मे देशभक्ति को जो अमिट छाप

अंकित कर दी है वह वर्षों बीत जाने पर भी स्पष्ट है। महावीरप्रसाद 'द्विवेदी' द्वारा संपादित 'सरस्वती' की छत्रछाया मे कवि को काव्य विकास की जो प्रेरणा प्राप्त हुई थी, उसने भी कवि शिरोमणि को मूर्धन्य स्थान पर पहुँचा दिया है। रवीन्द्रनाथ 'टैगोर' की 'गीतांजली' और बंगाल के भक्त कवियों की आध्यात्मिक विचारधारा ने उनमे छायावाद और रहस्यवाद की भावुकता भी उड़ेल दी है। इस प्रकार श्री गुप्त जी हिन्दी साहित्योपवन में एक ऐसी कली के रूप में विकसित हुए, जिसके पूर्णतया पुष्प बनने से पूर्व ही उनकी यशस्सुरभि दिग्दिगन्त मे व्याप्त हो गई।

गुप्त जी ने अभी तक तीन दर्जन से भी अधिक ग्रन्थों की रचना की है। ये ग्रन्थ अनेक भावनाओ को लेकर चले है। जहाँ विषय की विविधिता इन में पाई जाती है, वहाँ पर शैली की अनेकता भी इन में लक्षित की जा सकती है। कलाकार कला की सीमाओ मे अपने आप को बांधना नहीं चाहता। एक ओर यदि उनकी कविताओं में प्राचीनता के प्रति मोह पाया जाता है, तो दूसरी ओर उसमें नवीनता के प्रति आकर्षण पाया जाता है। रामायण, महाभारत, बौद्ध साहित्य, मुस्लिम संस्कृति, सिख संस्कृति, राष्ट्रियता, पौराणिक और ऐतिहासिक सभी विषयो का सतरंगी संगम उनके काव्य के सौन्दर्य को शतगुण कर रहा है। इन रचनाओं मे भारत-भारती, हिन्दू, पंचवटी, रंग में भंग, जयद्रथवध, शकुन्तला, वन वैभव, वैतालिक, अनघ, साकेत, द्वापर, यशोधरा, जयभारत आदि को लिया जा सकता है। शैली के आधार पर इन के ग्रन्थो का विभाजन इस प्रकार होगा।

१. प्रबन्ध शैली = साकेत, पंचवटी और जयभारत।
२. वर्णन शैली = भारत-भारती, पंचवटी, जयद्रथवध, वन वैभव, शकुन्तला आदि।
३. गीति नाट्य शैली = अनघ।
४. गीति शैली = झंकार।
५. आत्मोद्धार शैली = द्वापर।
६. चंपू शैली = यशोधरा।

नीचे की पंक्तियों में उनकी कतिपय साहित्यिक रचनाओं पर प्रकाश

डाला गया है।

१. भारत-भारती:—यह उनकी प्रथम अति प्रसिद्ध राष्ट्रीय रचना है, जिसके द्वारा उन्होने भारतीय जनता को नव जागरण का संदेश दिया है। इस में गुप्त जी का कवि रूप नहीं, किन्तु सच्चा देशभक्त रूप पुकारता है। इसकी रचना किस उद्देश्य को लेकर की गई है—कवि के शब्दों मे उसे यों प्रकट किया जा सकता है:—

"हम कौन थे, क्या हो गये, और क्या होंगे अभी।
आओ, विचारें, बैठकर ये समस्याएं सभी॥"

"भारत-भारती" मे लेखक का विश्वास अति विशाल है। उनके दृढ़ विश्वास की झांकी पुस्तक की प्रथम पंक्तियो में ही हमे मिल जाती है।

"मानस भवन में आर्यजन, जिसकी उतारे आरती।
भगवान् भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती॥"

अपने युग मे इस का प्रचार गीता से कम नही था। इस वर्णन प्रधान रचना ने कवि को एकदम सर्वोच्च कवियो की श्रेणी में लाकर बिठा दिया।

२. पंचवटी:—जहाँ प्राचीन रामायण सम्बन्धी ग्रन्थों मे लक्ष्मण को निष्ठुर कर्तव्य परायण के रूप में अंकित किया गया है, वहाँ लेखक ने इस में उसे कलात्मक रूप देकर सरस बना दिया है। इसे साकेत की भूमिका के रूप में लिया जा सकता है। कवि को इस मे प्रकृति चित्रण का सुअवसर भी पर्याप्त रूप में प्राप्त हुआ है।

३. अनघ:—राष्ट्रीय विचारों की दृष्टि से इसका अधिक महत्व है। इस पर महात्मा गाँधी के अछूतोद्धार और सत्याग्रह आदि का विशेष प्रभाव पाया जाता है। कई आलोचकों का यह कथन है कि 'अनघ' गाँधी जी का ही प्रतिरूप है। यहाँ पर 'भारत-भारती' की अपेक्षा राष्ट्रीय भावनाओं मे भी विशालता पाई जाती है। वह कहते हैं:—

"न तन सेवा, न मन सेवा,
न जीवन और धन सेवा।
मुझे है इष्ट जन सेवा,
सदा सच्ची भुवन सेवा॥"

४. यशोधरा:—यह गुप्त जी का सर्वोच्च काव्य है। इसमे कवि का सच्चा और निखरा हुआ रूप दिखाई देता है। उसके गीत भी हृदय के मार्मिक चित्र उपस्थित करते हैं। इसमें हमें एक आदर्श और सच्ची नारी का रूप दिखाई देता है। 'यशोधरा' विरह की मूर्ति होते हुए भी हृदय में स्वाभिमान का सच्चा रूप उपस्थित करती है।

"अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी,
आँचल मे दूध और आँखों मे पानी।"

यह पद्य भी 'यशोधरा' के एक व्यापक रूप की ओर सकेत करता है। गीतिकाव्य की कसौटी पर भी यह रचना खरी उतरती है। उनका निम्न गीत तो नारी के स्वाभिमान की अमर गाथा को गाता है:—

"स्वयं सुसज्जित कर के क्षण में,
प्रियतम को प्राणों के पण मे।"
हमी भेज देती है रण मे,
क्षात्र-धर्म के नाते,
सखी वह मुझसे कहकर जाते॥"

५. साकेत:—यह उनकी कुशल कला का एक सुन्दर प्रतीक है। इसकी कहानी उर्मिला के उस उपेक्षित विरह की कहानी है, जिसे आज तक किसी कवि ने भी काव्य का विषय नही बनाया था। द्विवेदी जी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सकेत से उन्हे इसके लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी। इसमे लेखक ने अपनी कल्पना चातुरी से एक ऐसा उभार दे दिया है कि जिससे वह संसार-साहित्य मे अमर हो गई है। इसकी कहानी उर्मिला और लक्ष्मण के आलाप से प्रारम्भ होती है। धीरे-धीरे उसमें विरह की काली घटा उमडती है। जितना उन्हे मिलन मे सुख था, उससे कहीं अधिक विरह में दुःख की अनुभूति। फिर भी त्याग और बलिदान की मूर्ति बनकर उर्मिला पति के रास्ते में बाधा नहीं पहुँचाना चाहती, और कहती है:—

"कहा उर्मिला ने, हे मन,
तू प्रिय-पथ का विघ्न न बन।"

१४ वर्ष की कठिन यातना में अश्रुहार पिरोती हुई उर्मिला अपने रोने को भी गाना समझ लेती है। उसके हृदय में अधिक दुःख संतोष की सीमा में आ पहुँचता है और वह पुकार उठती है :—

"तुम याद करोगे मुझे कभी.
तो बस मैं फिर पा चुकी सभी।"

उर्मिला के अतिरिक्त कैकेयी का चरित्र भी इसमे अधिक निखरा है। वह इसमे प्रायश्चित्त की मूर्ति है। भरत राम-मिलाप के समय वह सभी दोषो को अपने सिर पर लेती हुई कितने दर्द भरे स्वर मे पुकारती है :—

"युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी,
रघुकुल मे भी थी एक अभागिन रानी।
क्या कर सकती थी, मेरी मन्थरा दासी;
मेरा मन ही रह सका न निज विश्वासी॥"

राजा और प्रजा के आदर्शों के पालन मे भी साकेत बहुत आगे बढ़ गया है। चरखा और सत्याग्रह आदि का वर्णन करके कवि इसमे अपने आप को गांधीवाद से भी नही बचा पाया है। कवि का दृष्टिकोण वहां तक आते-आते राष्ट्रीयता से अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर चला गया है।

"मै नही सदेशा यहाँ स्वर्ग का लाया।
इस भूतल को स्वर्ग बनाने आया।"

इस प्रकार गुप्त काव्य कानन में इसकी महक निराली ही है। यह तो रसाल है, जिसमे उपमा अपने आप मे ही पाई जाती है।

६ जयभारत—यह गुप्त जी का आधुनिकतम महाकाव्य है। इसकी रचना महाभारत की आधार-शिला पर की गई है। जिस प्रकार तुलसी ने वाल्मीकि के आधार पर 'रामचरित मानस' की रचना करके उसकी भावनाओ को अमर कर दिया था, उसी प्रकार महाभारत के रचयिता वेद-व्यास की भावनाओ को इस ग्रंथ में अंकित करके गुप्त जी ने उसे हिन्दी साहित्य का ध्रुव नक्षत्र बना दिया है। हिन्दी साहित्य मे जिन ग्रंथो को युगो तक मानवता भुला नही सकेगी, वह 'मानस' और 'कामायनी' के बाद 'जय-

भारत' है। हिन्दी और हिन्दुत्व ( मानवता ) की भावनाएँ तुलसी से उठी थीं, प्रसाद में पनपी थीं, और गुप्त जी में आकर अन्तर्लीन हो गई हैं। 'जय-भारत' सच्चे अर्थों में भारतीय संस्कृति का जय-घोष है। जिसमें कला और भावनाओं का सुन्दर सामंजस्य हुआ है। गृहस्थ की समस्याएँ, मानवता का आदर्श और जीवन की सच्ची पुकार यदि एक साथ कहीं पर हमें सुनाई पड़ती है, तो वह है "जयभारत"। आधुनिक युद्ध की विभीषिकाओं से संत्रस्त मानवता को इसमें गांधीवादी आदर्शों का सच्चा संदेश प्राप्त होता है।

इस प्रकार श्री गुप्त जी के साहित्यिक वैकासिक अध्ययन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि वह युग के कवि होते हुए भी युग-युग के कवि हैं। भावो की ऊँची उडान के साथ-साथ उनके साहित्य में काव्य का जो कलात्मक रूप प्राप्त होता है, उसके भार से भी हिन्दी साहित्य कभी मुक्त नहीं हो सकता। भाषा के वह अमर मूर्तिकार हैं, जिन्होने भावों की छैनी से शब्दो को घड-घड़ कर के उसे हीरे की कनी के रूप मे परिणत कर दिया है। कल्पना की खाद से उन्होंने हिन्दी साहित्योपवन को पल्लवित, सुरभित और पुष्पित किया है, जो कभी भी कराल काल तुषाराघात से झर नही सकेगा। उनका साहित्य अलंकारों के लिए न लिखा जाकर के भी अलंकारमय है। स्थान-स्थान पर शब्दचित्र, भावचित्र और ध्वनिचित्र उसके सौंदर्य को त्रिगुणित करते हैं। शब्द-शक्ति में भी उनकी कविता उत्तम कोटि के अन्तर्गत आती है। प्रकृति में मानवीय, अप्रस्तुत में प्रस्तुत और प्रस्तुत में अप्रस्तुत योजना, लाक्षणिकता, संगीतमयता और प्रतीकात्मकता मानो उनके साहित्य में शत-जिह्वाओं से मुखरित हो उठा है। संगीत मानो उनकी आत्मा की पुकार है, जो कविता में साक्षात् वीणा-वादिनी के रूप में अवतरित हुआ है। उनके संगीत में भी आधुनिक Lyric के सभी गुण पाये जाते हैं। नीचे की पंक्तियों मे उनकी आलंकारिकता के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं :—

(क) "वह शर इधर गांडीव गुण से भिन्न जैसे ही हुआ।
धड़ से जयद्रथ का उधर सिर छिन्न वैसे ही हुआ।"

"अक्रमातिशयोक्ति"

(ख) "नाक का मोती अधर की कान्ति से,
बीज दाड़िम का समझकर भ्रान्ति से।"

'भ्रान्ति' और 'तद्गुण'

(ग) देखो दो-दो मेघ बरसते,
मैं प्यासी की प्यासी।

'रूपकातिशयोक्ति'

(घ) करुणे, क्यो रोती है ? "उत्तर" मे और अधिक तू रोई—
"मेरी विभूति है, जो उसको 'भवभूति' क्यों कहे कोई ?"

'श्लेष'

इस प्रकार उपर्युक्त पंक्तियों के आधार पर हमे यह कहने मे तनिक भी संकोच नहीं होता कि पिछले ३०, ३५ वर्षों के साहित्यिक विकास की झांकी हमे गुप्त जी के साहित्य में झलकती है। उनके काव्य मे हिन्दी साहित्य के स्वर्णयुग का संगीत बजता है, अपने युग की भावनाएं मचलती है और नव-इतिहास निर्माण की प्रेरणा छलकती है। प्राचीनता और नवीनता की गंगा-यमुनी संगम मे पाठक का हृदय उतरता और तैरता हुआ, आध्यात्मिक आनन्द का आस्वादन करता है। उनके साहित्य में उसकी सार्थकता और जीवन की पुकार सुनी जा सकती है। उनका साहित्य प्राचीनता की सीढ़ियां पार करके, नवीनता के आंगन से गुजरता हुआ, भविष्य की विशाल अट्टालिकाओं के पथ पर अग्रसर हो रहा है। अंत में श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी के शब्दों मे "जो स्थान माला में प्रथम पुष्प का और गगन में प्रथम नक्षत्र का है, वही स्थान गुप्त जी का हिन्दी की वर्तमान कविता में है।"

——

# "रामचरित मानस"

'राम चरित मानस' हिन्दी साहित्य का ही श्रृंगार नहीं, अपितु विश्वसाहित्य में वह अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इस के समान सकल काव्य कला कलित, नव रस मंडित, आदर्श प्राण साहित्य आज तक संसार साहित्य मे नहीं लिखा गया। 'मानस' की रचना हिन्दी साहित्य में एक अभूतपूर्व घटना है, जिस में भक्ति, ज्ञान और नीति की त्रिवेणी बहती है, जिस का अवगाहन कर के मानव अपना जीवन कृतकृत्य मानता है, जिसमें आदर्श भ्रातृधर्म की मर्यादा चरम सीमा को छूती हुई प्रतीत होती है। जिसमे राम के सगुण और निर्गुण लीलामय रूप की मधुर झांकी, तथा शील, शक्ति और सौंदर्य की त्रिवेणी प्रवाहित की गई है, जहां कोटिशः भक्त और सहृदय स्नान कर के मन का कालुष्य धोते हैं वैसे तो तुलसी ने एक दर्जन से भी अधिक ग्रंथों की रचना की है, पर जितना इस ग्रंथ का प्रचार और महत्त्व है, उतना अन्य किसी का नहीं। प्रश्न पैदा होता है, ऐसा क्यों ? वर्षों बीत जाने पर भी जिसकी यशः सुरभि मंद नहीं पड़ी, क्रूरकराल काल के निर्मम थपेड़े भी जिसे अतीत की कहानी नहीं बना सके और जो चिर प्राचीन होते हुए भी नित नवीन है, ऐसा क्यो ? नीचे की पंक्तियों में इस विषय पर प्रकाश डाला जाता है।

इस की रचना नायक की जन्म भूमि अयोध्या में संवत् १६३१ में चैत्र की नौमी को मंगलवार के दिन की गई थी, जैसे कि निम्न पंक्तियों से पता चलता है।

(१) "अवध पुरी यह चरित प्रकासा"

(२) "संवत सोरह सो इकतीसा, कथा करों हरिपद धरि सीसा।
"नौमी भौमवार मधुमासा, अवध पुरी यह चरित प्रकासा"

इस ग्रंथ की रचना करते समय कवि ने जिन प्रमुख ग्रंथों का आश्रय लिया, वे निम्न हैं :—

(१) वाल्मीकि रामायण (२) अध्यात्म रामायण (३) प्रसन्नराघव (४) हनुमन्नाटक (५) श्रीमद्भागवत।

इस के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों का आश्रय भी लिया गया है, जैसा कि निम्न पद से पता चलता है।

"नाना पुराण निगमागम सम्मत यत्,
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्त. सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा-
भाषानिबन्धमति मजुलमातनोति।"

इन ग्रंथो का आश्रय लेते हुए भी तुलसी ने यत्रतत्र कल्पना का आकार भी बनाया है। ऐसा क्यो ? केवल मात्र कहानी को रोचक और सरस बनाने के लिए। वैसे तो सारी कहानी वाल्मीकि रामायण से ली गई है, पर "मानस" के राम निगुण नहीं, किन्तु सगुण है, जो

"व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन विगत विनोद।
सो अज प्रेम भागत बस, कौसल्या के गोद।"

इस के अतिरिक्त अहिल्या के शाप वश पत्थर बनने और राम के चरण स्पर्श से तर जाने की कहानी भी वाल्मीकि में नही, पर तुलसी ने उस का वर्णन भी किया है। इतना ही नही बाल्मीकि रामायण मे परशुराम उस समय आते हैं, जब सीता से विवाह करके राम अयोध्या के मार्ग में होते हैं. परन्तु तुलसी जी उन्हें स्वयंवर सभा में ले आते हैं। इसके द्वारा राम की शक्ति की महत्ता प्रत्येक दर्शक पर पड जाती है। काव्य मे नाटकीयता भी आ जाती है। इस पर "हनुमन्नाटक" का प्रभाव है। 'वाल्मीकि रामायण' में पुष्प वाटिका की चर्चा भी नहीं पाई जाती, पर 'प्रसन्नराघव' की सूझ से मानस में सौंदर्य की सृष्टि होती गई है। इस प्रकार बीसियों ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, जिन मे तुलसी की रचना कौशल और अद्भुत सूझ-बूझ के दर्शन होते हैं। उस की कथा सात कांडो मे विभक्त है जिसमे याज्ञवल्क्य भारद्वाज संवाद, सतीमोह, शिव पार्वती विवाह, नारद मोह, मनु-शतरूपा का तप, भानुप्रताप की कथा, राम जन्म से लेकर भरत मिलाप, राज्याभिषेक, प्रजा को उपदेश, गरुड

काकभुशुण्डि संवाद, काकभुशुण्डि—लोमश संवाद तक की सारी कहानी अंकित की गई है। यह कथा बालकांड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकांड, किष्किन्धा कांड, सुन्दर कांड, लंका कांड, और उत्तर कांड सात कांडो मे विभक्त है। इस मे कहानी जिस वैज्ञानिक रूप से विकासित हुई है, उतनी अन्य किसी भी साहित्य में दुर्लभ है।

'रामचरित मानस' एक प्रबन्धकाव्य है। प्रबन्धकाव्य के सभी गुण इसमें प्रचुर परिमाण में मिल जाते हैं। राम का नायकत्व एक महापुरुष अथवा देवता के रूप मे हुआ है। इसके प्रारम्भ में मंगलाचरण, सज्जन-प्रशंसा और दुर्जननिंदा की गई है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से एक या सभी इसके द्वारा प्राप्त होते हैं। सर्ग के स्थान पर इसकी कथा सोपानों में लिखी गई है। प्रत्येक सोपान प्रमुख रूप से एक ही छंद में लिखा गया है और अन्त में छन्द मे परिवर्तन कर दिया गया है। इसमें शृङ्गार, वीर और शान्त तीनो रसो का समावेश पाया जाता है। इसमें राम के दुखान्त जीवन को भी सुखान्त में परिणत कर दिया गया है। यथा-स्थान नदी, नद, पर्वत, वन, आखेट, रनिवास, राजदरबार, उपवन आदि का वर्णन करके इसे प्रबन्ध काटि से सर्वाङ्गपूर्ण बनाने का प्रयास किया गया है। यह कुशल कवि की कुशल रचना है। इसमें कवि का प्रचुर पांडित्य पाया जाता है, पर फिर भी तुलसी मे अहंकार का लवलेश भी नहीं है। चाहे वह बालकांड मे अपनी कविता के विषय मे लिखते है:—

"कीरति भनित भूति भलि सोई, सुरसरि सम सबकर हित होई।"

पर फिर भी वह अपनी कवि न होने की चर्चा डिमडिम स्वर में करते हैं:—

"कवि न होऊँ नहिं वचन प्रवीनू। सकलकला सब विद्याहीनू।"

अथवा

"कवि न होऊँ नहिं चतुर कहावौं, मति अनुरूप राम गुन गावौं।"

यह तो उनकी काव्य प्रतिभा को और भी चार चांद लगा देते हैं।

"मार्मिक स्थलो" के चयन में भी कवि की दृष्टि बड़ी पैनी है। तुलसी एक भावुक कवि थे, यही कारण है कि उनकी कविताओ में हृदय की कोमल वृत्तियों को अच्छा स्थान मिला है। संयोग, वियोग, पति-पत्नी, पिता-पुत्र,

स्वामी-दास, मित्र-मित्र, भाई-भाई, भक्त-भगवान् आदि के सम्बन्ध में जो कोमल भावनाएँ प्रकट की गई हैं, वह हृदय को गद्गद् कर देती हैं। जैसे:—

पति-पत्नी प्रेम की आतुरता:—

"तत्त्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मनु मोरा।
जो मनु सदा रहत तोहि पाही। जानु प्रीति रस इतनेहिं मांहिं॥"

पिता-पुत्र के प्रेम की चरम-सीमा:—

"हा रघुनन्दन प्रान पिरीते। तुम बिनु जियत बहुत दिन बीते।
हा जानकी, लखन हा रघुबर। हा पितु-हित-चित चातक जलधर॥"
राम राम कहि राम कहि, राम, राम कहि राम।
तनु परिहर रघुबर-बिरह, राय गयेउ सुरधाम।"

इसके अतिरिक्त ऐसी घटनाओं का महत्त्व भी उसमें कम नहीं, जो पाठक के हृदय को द्रवित करने के लिए पर्याप्त है। ऐसे प्रसंगों में राम-वनवास, गुह-मिलाप, भरत-मिलाप, सीता-हरण, शबरी-चर्या, लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम का विलाप इत्यादि।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी यह प्रबन्ध काव्य अत्युत्तम है। ग्रन्थ के नायक राम का ही नहीं, किन्तु अन्य सभी पात्रों यथा, सीता, भरत, कौशल्या, हनूमान्, दशरथ आदि का चरित्र पढ़कर के भी हृदय हर्षातिरेक से गद्गद् हो उठता है। राम परात्पर ब्रह्म हैं, जो प्रेमवश लोक लीला करने को अवतरित हुए हैं। वह सभी दृष्टियों से पूर्ण हैं। उनके हृदय में जहाँ गुरु के प्रति श्रद्धा पाई जाती है, वहाँ पर माता के प्रति भक्ति। वह माता को पुत्र कर्तव्य का वर्णन करते हुए कहते हैं—

"सुनु जननी सोइ सुत बड़भागी, जो पितु मातु वचन अनुरागी।"

लक्ष्मण के मूर्छित होने पर उनकी उक्तियां उनके भ्रातृ-प्रेम के सुन्दरतम रूप के दर्शन कराती है, जब वह विलाप करते हुए कहते हैं—

जो जनतउँ वन बंधु बिछोहू। पिता वचन मनतेऊ नहिं ओहू।
सुत वित्त नारि भवन परिवारा। होहिं जाहिं जग बारहि बारा॥
अस विचारि जिय जागहु ताता। मिलइ न जगत सहोदर भ्राता।"

वह कितने प्रजावत्सल हैं, कितने आदर्श राजा हैं, यह उनकी निम्न

पंक्तियों से पता चलता है। मानों इन पंक्तियो मे वह राजधर्म के सन्देश देते हैं—

'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी।'

सीता का चरित्र भी अनन्य पति भक्ति का द्योतक है। वह अपने पति के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहती। वह कहती है—

'जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। प्रिय बिनु तियहिं तरनिहुँ ताते।'

हनूमान् का चरित्र भी कितना महान् है, जहाँ वह अपना-पन राम मे खो देते हैं। वह अपनी शक्ति, बल, धैर्य, सेवा, शरीर, आत्मा सब राम-काज में ही लगा देते हैं। उन्हे राम के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए, जिससे राम भी हनुमान् को कोई कम नहीं मानते। वह कहते है—

'सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुन नर मुनि तनुधारी।
सुनु कपि जनि मानेसि जिय ऊना। तै मम प्रिय लक्ष्मण तें दूना।'

इस प्रकार बीसियो चरित्र 'मानस' चित्रपटी पर छितरे पड़े हैं, जिन्हें सागरवत् गागर मे भरना असम्भव है।

प्रबन्धकाव्य मे संवादो का अत्यधिक महत्व माना जाता है, क्योंकि इस से काव्य में नाटकीयता का गुण आ जाता है। इससे जहाँ चरित्र चित्रण में सहायता मिलती है, वहां इसके द्वारा कथा में रोचकता भी आ जाती है। इसे ध्यान मे रखते हुए, तुलसी ने संवादो का अधिक-से-अधिक आश्रय लिया है। मानस का आरम्भ भी संवादो से होता है और अन्त भी सवादों में ही होता है। कथा के आधारस्वरूप तीन संवाद हैं—उमा शम्भु-सम्वाद, काक-भुशुण्डि-संवाद, याज्ञवल्क्य और भारद्वाज संवाद। ये संवाद कथा मे ऐसे मिल जुल गये हैं कि उन्हें उससे अलग नही किया जा सकता। इसके अतिरिक्त परशुराम-लक्ष्मण संवाद, अंगद-रावण संवाद, रावण-मन्दोदरी संवाद आदि भी उसके सौन्दर्य को द्विगुणित कर रहे हैं। स्थानाभाव से उनका वर्णन नहीं किया जा सकता।

तुलसी केवल राजदरबारो और नगरों के ही कवि नहीं हैं, अपितु उनके काव्य में यत्र-तत्र प्रकृति के मनोरम चित्रणो की अनुपम छटा भी पाई जाती हैं, जो ज्ञान, भक्तिमय नीरस काव्य को सरस बना देते हैं। सीता वन जाना

चाहती है, पर राम वन की भयानकता का वर्णन करते हुए उसे रोकते हैं—

'मारग अगम भूमिधर भारे, कन्दर खोह नदी नद सारे।

× × ×

भालु बाघ वृक केहरि नागा, करहिं नाद सुनि धीरज भागा।'

पम्पा सरोवर का मनोरम वर्णन करते समय तुलसी जी कहते हैं—

'विकसे सरसिज नाना रंगा। मधुर मुखर गुंजत बहु भृङ्गा।

× × ×

चंपक बकुल कदम्ब तमाला, पाटल पनस परास रसाला॥

नव पल्लव कुसुमित तरु नाना, चञ्चरीक पटली कर गाना॥''

वर्षा ऋतु वर्णन राम के मुख से कितना साभिप्राय हो गया है—

'घन घमंड गरजत नभ घोरा। प्रिया हीन डरपत मन मोरा॥

दामिनी दमकि रही घन माहीं। खल की प्रीति यथा थिर नाहीं॥

बरसहिं जलद भूमि नियराये। यथा नवहि बुध विद्या पाये॥'

वर्षा बीतने पर शरद् ऋतु आ गई। उस समय प्रकृति ऐसे हो गई, मानो उस पर बुढापा छा गया हो।

'वर्षा विगत शरद ऋतु आई। लछिमन देखहु परम सुहाई।

फूले कास सकल महिं छाई। जनु वर्षा कृत प्रगट बुढ़ाई॥'

इस प्रकार और भी बीसियो उदाहरण अद्भुत प्रकृति चित्रण के दिए जा सकते हैं।

जहाँ मानस मे भावपक्ष की प्रवणता पाई जाती है, वहाँ इसका कलापक्ष भी कम कौशलपूर्ण नही है। कलात्मक दृष्टि से यह एक सर्वांगपूर्ण रचना है। कविता मे रस की सब से अधिक महत्ता मानी गई है। "वाक्यं रसात्मकं काव्यं" के अनुसार इसमे भी रस की निर्झरिणी उद्दाम गति से बहती है। इसमें नवरसो का पाक बड़ा ही सुन्दर हुआ है। नीचे केवल दो रसो के उदाहरण देकर ही सन्तोष किया जाता है।

शृङ्गार— "एक बार चुनि कुसुम सुहाये। निज कर भूषन राम बनाये॥

सीतहिं पहिराये प्रभु सादर। बैठे फटिक सिला पर सुन्दर॥

हास्यः—"बिन्ध्य के बासी उदासी तपोव्रतधारी महा बिनु नारि दुखारे।

गौतम तीय तरी तुलसी सो कथा सुनि भे मुनिवृन्द सुखारे ॥
ह्वै है सिला सब चन्द्रमुखी परसे पद मंजुल कंज तिहारे।
कीन्ह भली रघुनायक जू करुना करि कानन को पगु धारे ॥

अलंकारो की योजना मे भी तुलसी हिन्दी-साहित्य मे सर्वश्रेष्ठ हैं। उन्होने अलंकारो का प्रयोग अलंकार सौंदर्य के लिए नही, किन्तु काव्य सौंदर्य के लिए किया है। हिन्दी का ऐसा कोई अलंकार नही, जिसका प्रयोग उन्होंने अपने काव्य में न किया हो। नीचे दो-चार उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं:—

१—"श्याम गौर किमि कहों बखानी।
गिरा अनयन नयन बिनु बानी ॥" (यमक)

२—"समरथ को नहिं दोष गुसाईं।
रवि पावक सुरसरि की नाईं ॥" (उपमा)

३—"जिनकी रही भावना जैसी।
प्रभु मूरति देखि तिन तैसी ॥" (उल्लेख)

४—"दण्ड जतिन्ह कर भेद जहँ, नर्तक नृत्य समाज ॥
जीतिय मनहि सुनिय अस, रामचंद्र के राज ॥" (परिसंख्या)

५—"कह प्रभु हँसि जनि हृदय डेराहू।
लूक न असनि केतु नहि राहू ॥
ये किरीट दसकंधर केरे।
आवत बालि तनय के प्रेरे ॥" (भ्रान्त्यपह्नुति)

प्रसंगानुसार ओज, प्रसाद, माधुर्य गुणो का समावेश भी 'मानस' मे यत्र तत्र पढ़ने को मिल जाता है। छन्दो का सफल प्रयोग भी तुलसी ने जितना किया है, केशव को छोड़ कर हिन्दी-साहित्य मे और किसी ने नहीं किया। पुराने छंदो की परम्परा में नवीन छंदो का प्रयोग भी तुलसी ने किया है। इन छंदों मे दोहा, सोरठा और चौपाई के अतिरिक्त हरिगीतिका, बरवै, तोमर, डिल्ला, छप्पय, सोहर, झूलना, तोटक, कवित्त, घनाक्षरी, इन्द्रवज्रा, भुजंगप्रयात, वंशस्थ, शार्दूल-विक्रीड़ित, वसन्ततिलका, मालिनी, स्रग्धरा आदि को लिया जा सकता है। जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, तुलसी जी ने ब्रजभाषा और अवधी भाषा मे ही साहित्य की रचना की है। चाहे इसमे

तत्सम शब्दों का बाहुल्य पाया जाता है; पर फिर भी कई आलोचकों का कथन है कि उनकी भाषा में शुद्ध अवधी और शुद्ध व्रज का अभाव है। वस्तुतः उन्होंने इस विषय मे किन्हीं कठोर नियमों का पालन नहीं किया था। इसी से उनकी रचनाओं मे बुँदेली, छत्तीसगढी, भोजपुरी, गुजराती, मराठी, अरबी और फारसी शब्दों का समावेश भी हो गया है।

तुलसी जी का महत्त्व 'मानस' के हेतु है और 'मानस' मे वह सामर्थ्य है, जो तुलसी जी को विश्व साहित्य का शिरोमणि बना सकता है। 'मानस' के विषय मे देश-विदेश के प्रसिद्ध विद्वानों के उद्गार ही उनकी महत्ता-प्रदर्शन मे पर्याप्त है—

सर जार्ज ग्रियर्सन के शब्दों मे·—" 'मानस' कवि की सर्वश्रेष्ठ कृति है। इसे नौ करोड मनुष्यों का बाईबिल कहते हैं। और वस्तुतः उत्तरी भारत के प्रत्येक हिन्दु को इसका जितना ज्ञान है, उतना मध्य श्रेणी के अंग्रेज किसान को बाईबिल का भी नहीं।"

दीनबंधु सी० एफ० ऐंड्रूयूज इसके विषय मे विचार प्रकट करते हुए कहते है:—"शायद् बाईबिल और कुरान को छोड़कर मनुष्य जाति के साधारण जनों मे किसी भी अन्य पुस्तक ने इतना व्यापक प्रकाश नहीं डाला, जितना तुलसी रामायण ने। तुलसीदास की रामायण की गणना अब तक आधुनिक संसार के जीवित ग्रन्थों मे की जाती है।"

गाँधी जी भी इस से प्रभावित है और लिखते हैं:—किसी ग्रन्थ को सर्वोत्तम कहने का यह अर्थ कदापि नहीं कि उसमें कुछ भी दोष है ही नही, पर 'रामचरितमानस' के लिए यह दावा अवश्य है कि इससे लाखों ही जीवों को शान्ति मिली है। जो ईश्वराभिमुख थे, वे ईश्वर की शरण मे गये है और आज जा भी रहे है। 'मानस' का प्रत्येक पृष्ठ भक्ति से भरपूर है।"

अन्त मे आचार्यप्रवर श्री शुक्ल जी के शब्दो में:—"आज 'रामचरित-मानस' हिन्दी समझने वाली हिन्दु जनता के जीवन का साथी हो रहा है। तुलसी की वाणी मनुष्य जीवन को प्रत्येक दशा तक पहुँचाने वाली है, क्योंकि उसने रामचरित का आश्रय लिया है। रामचरित जीवन की सब दशाओं की समष्टि है"

———

# महाप्राण निराला

तूफ़ानी झंझावातों के विरुद्ध विद्रोही उडान भरने वाले निराला का व्यक्तित्व हिन्दी साहित्याकाश पर कड़कती बिजली के रूप मे पडा। एक ऐसा बादल जिसके बाहर तो स्नेहार्द्र शीतलता के जलकण है, पर जिसके हृदय में बिजली की सी कडक, बाडवाग्नि की सी दहक और दावाग्नि की सी प्रचंड ज्वालाएँ हैं। जिसका व्यक्तित्व लाखो में एक है। जो मुसीबतों की उत्ताल तरंगो मे कमर कस के बहना जानता है। जो शिव के समान संसार की अवमाननाओं और तिरस्कारो के विष को अमृत के समान पीना जानता है, जो संसार के कंटका को कण्ठ-हार बना कर अपने हृदय तल मे समेट लेता है, जो युग के साथ बहना नही, किन्तु उसे अपने पीछे चलाने की कला में प्रवीण है, माँ भारती को तिरस्कृत होता देखकर जिसका हृदय खौल उठता है, जिसके साहित्य मे स। कवियो की निधडक और सत्य वाणी मुखरित हो उठती है, अद्वैतवाद की "सोऽहं ब्रह्मास्मि" की विचारधारा जिसके काव्य का आश्रय पा कर सनाथ हो उठती है, प्रगतिवाद के अग्रदूत, नवीनता के प्रचारक, मुक्त छन्द के गायक, छायावाद और रहस्यवाद के प्रतिष्ठापक, महाकवि, जन-कवि, विश्वकवि, महाप्राण निराला ( सूर्यकान्त ) का जन्म 'महीषादल' राज्य के 'मेदिनी पुर' नामक ग्राम में १८९७ ई० को वसंत पंचमी के दिन पंडित रामसहाय जी के यहां पर हुआ था। मां-बाप के इकलौते पुत्र होने के नाते इनका पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा बडे ठाठ से हुई। इनके पिता राज्य-सेवक थे। अतः इनका सभी प्रबन्ध भी राज्य की ओर से ही चलता रहा। १६, १७ वर्ष की अवस्था में ही इन पर विपत्तियो के पर्वत गिरे। बचपन में ही इनका विवाह हुआ। पिता चल बसे। २२ वर्ष की आयु में पत्नी भी इन्हें अकेला छोड कर चल बसी। पत्नी के मरने पर जब वह घर जा रहे थे, तो रास्ते मे बड़े भाई का शव गंगा प्रवाह के लिये मिला। घर पहुँचने पर दादा मर गये, इसके बाद इन की भाभी चल बसी। दूसरे दिन इनकी भाभी

की दूध-पीती बच्ची का भी देहावसान हो गया। देखते ही देखते सारा घर उजड गया। सारा संसार रोता था, पर उनकी आँखो मे आंसू कहाँ? सारा समय गंगा पर बैठे बहती लाशो को देखते थे। पर पत्नी की मृत्यु तो इनके जीवन मे कभी न पूरी होने वाली हानि थी। २२ वर्ष की अवस्था, हृष्ट-पुष्ट शरीर, चढ़ती जवानी, सबने कहा विवाह कर लो, पर उन्होंने सब से क्षमा मांगी। उस समय कौन जानता था कि जिसे हम गृहस्थ की चार दीवारों मे बांधना चाहते है, वह एक दिन साहित्य की सैकड़ों वर्षों की परतंत्रता की शृंखलाओ को काट डालेगा। जिस प्रकार "विद्योत्तमा" ने "कालिदास" का निर्माण किया था, उसी प्रकार "निराला" के निर्माण में उसकी पत्नी "मनोरमा देवी" का महान् हाथ है। वह नव-युवक जो हिन्दी नहीं जानता था, वह अपनी पत्नी की प्रेरणा से "सरस्वती" और "मर्यादा" पत्रिकाओं को मंगाकर रात के दो-दो बजे तक पढ़ता रहा और अंत में 'निराला' के नाम से विख्यात हुआ।

निराला सबसे पहले 'समन्वय' नामक पत्रिका में काम करने लगे। यहाँ रह कर दार्शनिक हृदय निराला को सच्चे अर्थों में राम-कृष्ण परमहंस के दार्शनिक साहित्य को पढ़ने का सुअवसर मिला। इसके पश्चात् दो वर्षों के बाद वह "मतवाला" मे चले गये। वास्तव मे "मतवाला" मानो निराला के विरोधो से दबी प्रतिभा के विकास के लिये ही प्रकाशित किया गया था। इनका "निराला" नाम "मतवाला" के अनुप्रास पर ही रखा गया। इनकी सबसे पहली कृति "अनामिका" है। इसकी भूमिका में वह कितने स्पष्ट शब्दो में लिखते हैं कि "वे (महादेव बाबू) मुझे कितना चाहते थे! इसका उल्लेख, सभव है और यह ध्रुव सत्य है, कि वह न होते तो निराला भी न आया होता।" इसके बाद मानो उनकी कविताओं का ज्वारभाटा आ गया है। और इन्ही "मतवाला" काल की रचनाओं के दर्शन हमे उनके "परिमल" मे होते हैं। आज तक की लिखी हुई रचनाओ मे प्रमुख रूप मे से निम्न लिखित रचनाओ को लिया जा सकता है:—

१. कविता संग्रह:—अनामिका, परिमल, गीतिका, तुलसीदास,

सरोज स्मृति, राम की शक्ति-पूजा, कुकर-मुत्ता, अणिमा, वेला, नये पत्ते।

२. उपन्यास और कहानियाँ :—अप्सरा, अलका, निरूपका, चतुरी-चमार, सुकुल की बीबी, सखी, प्रभावती, लिल्ली, कुल्ली भाट, बिल्लेसुर बकरिहा।

३. निबन्ध :—प्रबन्ध पद्य, प्रबन्ध प्रतिमा, पंत और पल्लव। नीचे की पंक्तियों मे उनके प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थो का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है :—

४. परिमल :—हिन्दी में मुक्त छन्द की परम्पराओ को जन्म देने का श्रेय यदि किसी रचना को दिया जा सकता है तो वह है "परिमल"। "परिमल" के द्वारा निराला एक दम ही हिन्दी साहित्याकाश पर देदीप्यमान सितारे के समान जा चमके। 'परिमल' की भूमिका मे कवि ने स्पष्ट शब्दो में लिख दिया है कि जिस प्रकार आत्मा को बन्धनो की आवश्यकता नहीं उसी प्रकार हृदय की भावनाएँ भी छन्दो के बन्धनो से बँधी नहीं रहना चाहती। दूसरा 'परिमल' की रचनाओ मे कवि के जो भिन्न-भिन्न रूप दिखाई देते हैं उनके द्वारा भी हमें उनकी बहुमुखी प्रतिभा के दर्शन होते है। उस काल की कविताओ के माध्यम के द्वारा यदि निराला साहित्य को आंकने का प्रयास किया जाये, तो हमे यह कहने मे तनिक भी हिचकिचाहट नहीं होगी कि वह 'प्रसाद' और 'पत' से भी कही अधिक महान है। नीचे उनकी बहु-वस्तुस्पर्शिनी प्रतिभा की झाकी दिखाई जाती है। उनका सब से पहला रूप है, रहस्यवाद। वह रहस्यवाद जिस पर अद्वैतवाद की पूरी छाप पाई जाती है। जैसे :—

"तुम हो अखिल विश्व मे,
या अखिल विश्व तुम मे,
अथवा अखिल विश्व तुम एक।"

केवल रहस्यवाद की परम्पराओं में ही कवि घूमता नहीं रहा, किन्तु समाज के अनेक रूपो पर भी उनकी पैनी दृष्टि जाती है। "विधवा" के सुन्दर दृश्य को अंकित करते हुए वह लिखते हैं :—

"वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा सी,
वह दीप शिखा सी शान्तभाव मे लीन,

वह क्रूर काल ताण्डव की स्मृति रेखा सी.
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन.
दलित भारत की विधवा है।"

ऐसे समय में जब कवि यौवन के गीत गाने में मस्त थे, निराला जी ने प्रगतिवादी परम्पराओं को जन्म दिया। उन्होंने 'भिक्षुक' का जो निर्दोष चित्र अंकित किया है, वह विश्व साहित्य में अतुल है :—

"वह आता,
दो टूक कलेजे के करता,
पछताता पथ पर आता.
पेट पीठ दोनो मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को,
मुँह-फटी पुरानी झोली को फैलाता.
दो टूक कलेजे ·· ··· ····· "

चाहे "परिमल" में नारी सौन्दर्य के चित्र अधिक नहीं पाये जाते, फिर भी 'बहू' नामक कविता में कवि ने उसके हृदय की मनोवैज्ञानिकता का जो सुन्दर चित्र अंकित किया है, वह अन्य स्थान पर दुर्लभ है :—

"यौवन उपवन का पति वसंत,
है वही प्रेम उसका अनन्त,
है वही प्रेम का एक अन्त।"

नारी की यही भावना आगे बढ़ते-बढ़ते प्रकृति में परिणत हो जाती है, क्योंकि मानव के लिये नारी सुन्दरतम वस्तु है। प्रकृति के सौन्दर्य और कोमलता को दर्शाने के लिये उस काल के कवियों ने प्रकृति पर नारीत्व की भावना का आरोप किया। इस दिशा मे "संध्या सुन्दरी" उनका सर्वश्रेष्ठ शब्द चित्र है:—

"दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही है,

वह संध्या सुन्दरी परी सी,
धीरे धीरे धीरे ॥"

"जूही की कली" और "शेफालिका" तो मानो निराला जी की अमर कला के सुन्दर चित्र हैं। पर इसका यह अर्थ नही कि उन्होंने केवल प्रेम और विराग के ही गीत गाये हैं। उनकी कविता में जितने प्रेम के सुन्दर चित्र हैं, उस से कहीं अधिक उनके क्रान्ति के गीतो में जोश है। श्यामा को आह्वान करते हुए वह लिखते है:—

"एक बार बस और नाच तू श्यामा,
सामान सभी तय्यार,
कितने ही हैं असुर चाहिएँ, कितने तुम को हार,
कर मेखला मुंड मालाओ से बन मन अभिरामा,
एक बार बस... . . ... ... ... . ।"

इस के अतिरिक्त इस रचना मे मुक्त प्रेम के चित्र, जीवन की अस्थिरता के चित्र और संबोधन गीत आदि कितने ही रूप देखने को मिलते हैं। एक शब्द में 'परिमल' निराला साहित्य का वह सागर है, जिस में अनेक भावों के रूपो मे भिन्न-भिन्न दिशाओ से नदियाँ आ-आ कर मिलती है।

२. अनामिका:—यह संग्रह 'परिमल' की रचनाओ का पूरक संग्रह माना जा सकता है। इस में कवि जहां एक ओर प्राचीन संस्कृति से प्रभावित है—

"क्या यह वही देश है,
भीमार्जुन आदि का कीर्ति क्षेत्र।" (दिल्ली)

वहाँ दूसरी ओर वह नवीनता का भी हार्दिक स्वागत करता है। अपनी 'उद्‌बोधन' नामक कविता मे निराला जी लिखते है:—

"आँखों मे नव जीवन का तू अंजन लगा पुनीत,
बिखर झर जाने दे प्राचीन।"

३. गीतिका:—यह उन के गीतों का संग्रह है। गीत मानवता की वह स्वाभाविक प्रवृत्ति है, जो अनादि काल से मानव को अपनी ओर आकर्षित करती रही है। "प्रसाद" जी इस के विषय में लिखते हैं, "गीतिका हिन्दी

के लिये सुन्दर उपहार है, उसके चित्रों की रेखाएँ पुष्ट, वर्णों का विकास भास्वर है।" इस के अधिकांश गीत 'उद्बोधनात्मक' हैं, फिर भी हम उन्हें पाँच हिस्सों मे बांट सकते हैं:—

१. प्रार्थना परक

२. प्रकृति प्रधान।

३. आध्यात्मिक रहस्यवाद सम्बन्धी।

४. देशभक्ति प्रधान।

५. प्रेम और नारी सौन्दर्य प्रधान।

'गीतिका' के प्रथम गीत मे कवि सरस्वती से वरदान मांगता है:—

"वर दे वीणावादिनी वर दे,
प्रिय स्वतंत्र रव, अमृत मंत्र नव,
भारत मे भर दे।"

४. प्रौढ़तर कृतियाँ:—इन रचनाओं मे "तुलसीदास", "सरोज स्मृति", और "राम शक्ति पूजा" को लिया जा सकता है। "तुलसीदास" प्रबन्ध प्रगीत प्रधान सांस्कृतिक रचना है। जिस में कवि ने भारतीय संस्कृति के ह्रास का चित्रण करते हुए प्रकृति के द्वारा उद्बोधन प्रदान किया है और इस के तीसरे भाग मे पत्नी के प्रताडन से होने वाले ज्ञानोदय का वर्णन है। "सरोज स्मृति" हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ शोक गीत है, जिस मे एक पिता अपनी पुत्री के निधन पर शोक प्रकट करता है। इस में मानो कवि का हृदय उमड़ता है। कवि अनासक्ति योग को कितने सुन्दर काव्य मे व्यक्त करता है:—

"कन्ये, गत कर्मों का अर्पण,
कर, करता मैं तेरा तर्पण।"

"राम की शक्ति पूजा" मे वीर रस की सुन्दर योजना के द्वारा कवि प्राचीनता मे नवीनता का आरोप करता है।

५. व्यंग्य प्रधान कविताएँ—इस प्रकार की कविताओं मे 'अनामिका' की कुछ कविताओं, 'कुकर मुत्ता' और 'खजोहरा' को लिया जा सकता है। इन कविताओं मे कवि का दृष्टिकोण पूर्णतया यथार्थवादी और प्रगतिवादी है। 'कुकर मुत्ता' मे कवि शोषक और शोषित का बड़ा सुन्दर चित्रण करता है।

# साहित्य में प्रकृति-चित्रण

कविता और प्रकृति का सम्बन्ध सहज और सनातन है। जब प्रकृति मानव-कल्पना के समक्ष अपने जड़त्व को त्याग कर सजीव बनती है, संवेद्य और संवेदनशील होती है, कविता स्वतः प्रकट हो जाती है। जब नदी नदी न होकर माँ हो जाती है, अपना गाँव और देश एक भूखण्ड न होकर 'मातृभूमि' बन जाता है, एक पर्वत विशेष, पत्थर, जंगल और बर्फ का समूह न होकर देवता बन जाता है, तभी कविता हो जाती है। कविता तो "शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने का साधन" है। आदि कवि वाल्मीकि के मुख से कविता का स्फुरण तभी हुआ था जब वे क्रौंचमिथुन के सुख-दुःख में ऐसे संवेदनशील हुए कि उन्हें प्रतीत हुआ कि व्याध का बाण क्रौंच पक्षियों के जोड़े को नहीं लग रहा है स्वयं उनका वक्षस्थल बेधा जाने वाला है।

प्रत्येक देश का कवि प्रकृति के माध्यम से अपने हृदय का उद्‌गार करता है। अरब के कवि रेगिस्तान की रेत, ऊँटों की चाल और झाड़-झंखाड़ों के सौंदर्य पर ही लट्टू हैं और उनकी शायरी में इनका उल्लेख प्राप्त होता है। इंगलैंड के कवि वर्ड्सवर्थ, शेली, कीट्स, कालरिज, बायरन, टेनीसन की कविता में वे प्रकृति के ही कवि हैं। प्रकृति का जितना रम्य रूप भारत में है संसार के किसी भी भूखण्ड में सुलभ नहीं है। यहाँ की पत्ती-पत्ती में नवीनता है और क्षण-क्षण पर उसमें नवीन परिवर्तन होता जाता है। पशु-पक्षी, जीव-जन्तु, पर्वत, सरिता, वन, उपवन, पुष्प, लता, गगन, मेघ, चन्द्र, सूर्य, तारागण सभी नवोन्मेषकारिणी प्रेरणा के देने वाले हैं। साधारण जन भी सुरम्य वनस्थली के बीच पहुँचकर कल्पना के संसार में रमने लगता है। ऐसे देश के कवि प्रकृति के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित किये बिना रह ही कैसे सकते हैं। संस्कृत साहित्य में प्रकृति के सुरम्य-चित्र सर्वत्र प्राप्त होते हैं। वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, माघ आदि कवियों के काव्य

प्रकृति-चित्रण से भरपूर है। अलंकारों का सारा क्षेत्र प्रकृति-निरीक्षण से ही सम्बन्धित है। काव्य परम्परा मे समस्त उपमान चन्द्र, कमल, मृग, मीन खंजन, अलि, पुष्प, सिंह, गज, सर्प, मेघमाला, गिरि, खोह, हंस, मयूर, शुक, पिक आदि ही होते रहे है। चातक, चकोर, चकवा-चकई, हंस आदि सम्बन्धी कवि-प्रसिद्धियां बनी चली आ रही है। चातक केवल स्वाति का जल पीता है, चकोर चन्द्र की ओर एक टक देखता, अंगारे खाता, चकवा-चकई रात्रि में वार-पार होते और हंस मोती खाता और नीर-क्षीर को अलग करता है, आदि कवि-प्रसिद्धियां प्रकृति-सम्बन्धी ही है। कालिदास का मेघदूत, नैषध-चरित मे हंस का दूतत्व, आदि संस्कृत साहित्य के प्रकृति-संबन्धी दृष्टिकोण के ज्वलन्त उदाहरण है।

हिन्दी साहित्य मे भी प्रकृति-चित्रण आरम्भ काल से ही पाया गया। वीर गाथा काल युद्ध काल था, फिर भी बीच-बीच मे आखेट आदि के वर्णन उसमें मिलते है। रासो साहित्य मे भी उपमा उत्प्रेक्षाओ का क्रम पूर्ववत् प्रकृति के माध्यम से ही है। परम्परा-पालन के रूप मे ही प्रकृति के चित्र उसमें मिलते हैं। विद्यापति की पदावली मे प्रकृति उद्दीपन के रूप मे ही गृहीत है। बसन्त पवन नायिका मे कामोद्दीपन करती है, मोर, पपीहे, पिक सभी का उल्लेख उद्दीपन के रूप मे ही हुआ है।

भक्ति काल हिन्दी कविता का स्वर्ण युग था, पर प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से उसमें बहुत व्यापकता न आई। भक्ति-काव्य मे दर्शन और आध्यात्मिक विचारों की प्रधानता थी—फिर भी प्रकृति की अवहेलना नही हुई। प्रत्येक कवि की रचना मे प्रकृति के सुन्दर और प्रचुरमात्रा मे चित्रण मिलते हैं। इतना अवश्य है कि प्रकृति ही काव्य का आलम्बन न थी। प्रसंगवश ही प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपो का चित्रण होता था, पर उद्दीपन के रूप मे ही उसका वर्णन होता था। रीतिकाल में तो प्रकृति उद्दीपन का प्रधान उपकरण बन गई। शृंगार के संयोग और वियोग दोनो ही अवस्थाओ मे प्रकृति उद्दीपन का प्रमुख साधन थी। सेनापति जी पलाश-द्रुमों के पुष्पो को देख कर कविता लिखने की प्रेरणा पाते थे। देव की कविता में वर्षाकालीन पक्षियों की बोली सुन-सुन कर कृष्ण मे अनुराग की उत्पत्ति होती थी—

"सुनिकै धुनि चातक मोरन की, चहुँ ओरन कोकिल कूकन सों।
अनुराग भरे हरि बागन मे, सखि रागत राग अचूकनि सों॥
कवि देव छटा उनई जु नई, वन भूमि भई दल दूवनि सों।
लहराती हरी ठहराती लता, झुकि जाती समीर के झूँकनि सों॥"

इस पद मे वर्षा ऋतु में वनस्थली का ही वर्णन * पर प्रकृति उद्दीपनार्थ ही है। लताएँ तक द्रुमों के ऊपर रति-भाव से झुकी पड रही हैं, इनके प्रभाव से ही कृष्ण भी रति-भाव के आवेश मे अचूक राग बाँसुरी पर बजाते हैं। प्रकृति का ऐसा वर्णन जब वही आलम्बन है आधुनिक काल मे ही हुआ। श्रीधर पाठक की 'कश्मीर-सुषमा' इसी प्रकार की रचना है। 'प्रिय-प्रवास' के प्रत्येक सर्ग का प्रकृति वर्णन आलम्बन के रूप मे ही हुआ है। जैसे—

"दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखा पर थी अब राजती,
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा।"

'प्रियप्रवास' का नवम सर्ग तो वृन्दावन का ही वर्णन करता है। अन्य महाकाव्यों में भी प्रकृति का प्रचुर वर्णन मिलता है। छायावादी कवियों के हाथो मे तो प्रकृति की प्रतिष्ठा बहुत हुई। यद्यपि कवियों का उद्देश्य अन्त-स्तल की सूक्ष्म अनुभूतियों का व्यक्तीकरण भी था। इसका माध्यम प्रकृति ही बनी, अतः छायावादी कविताधारा मे प्रकृति-चित्रण सब से प्रधान वस्तु हो गया।

काव्य में प्रकृति चित्रण प्रधानतया दो दृष्टिकोणों से प्राप्त होता है। एक आलम्बन के रूप मे, दूसरा उद्दीपन के रूप में। आलम्बन के रूप मे प्रकृति चित्रण वह है जिस मे कवि की कविता का लक्ष्य प्रकृति ही है। केवल प्रकृति के रूपों का उद्घाटन करने लिए जब कविता की गई है। उद्दीपन के रूप प्रकृति का चित्रण तो होता है पर प्रकृति प्रधान न होकर साधन मात्र है। प्रकृति को देख कर हृदय के मनोभाव किसी प्रकार की प्रेरणा पाते हैं। आलम्बन रूप का प्रकृति-चित्रण ही वास्तविक प्रकृति-चित्रण अनेक आलो-चकों के द्वारा माना जाता है। यह वर्णन भी दो प्रकार का होता है—एक में

बिम्ब ग्रहण होता है दूसरे में अर्थ ग्रहण। बिम्ब-ग्रहण से तात्पर्य यह कि जिस वस्तु का वर्णन हो, उसका वर्णन इतना सूक्ष्म और विशद हो कि पाठक की आँखों के सामने उसका साक्षात् चित्र उपस्थित हो जाय। आलम्बन के रूप में जो प्रकृति-चित्र उपस्थित किये जाते हैं, अधिकांश अर्थ ग्रहण मात्र कराते हैं। केवल वस्तुओं के नाम गिना देने से ही वस्तु का बिम्ब ग्रहण नहीं हो जाता। 'प्रियप्रवास' का अधिकांश प्रकृति चित्रण अर्थ ग्रहण मात्र ही है। वृन्दावन में कवि के द्वारा जाने हुए संसार के समस्त वृक्षों की नामावली गिनाना, जायसी के पद्मावत मे प्रत्येक प्रसंग पर संसार भर के वृक्षों, लताओं, फलों और मेवों की लम्बी सूची प्रस्तुत करना इसी प्रकार का प्रकृति-चित्रण है। बिम्ब-ग्रहण के लिए लम्बी-सूची की आवश्यकता नहीं है, उसमें तो प्रकृति पर्यवेक्षण होना चाहिए। कुछ ही वस्तुओं का नामोल्लेख कर जब कवि व्यंजना से आलोच्य वस्तु का चित्र प्रस्तुत कर देता है। सूर, प्रसाद और पन्त के प्रकृति-चित्रण इसी प्रकार के हैं। पन्त निश्चय ही इस दृष्टि में सर्व-श्रेष्ठ हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने प्रकृति की तस्वीर खीच दी है।

हिन्दी साहित्य में प्रकृति-चित्रण के अनेक प्रकार हैं। सर्वप्रथम रूप तो वही होगा जिसमे कवि की कविता का मुख्य विषय प्रकृति ही है। महाकाव्यों में कवियों ने सदा ही प्रकृति के किसी न किसी रूप को अपनी कथा के वाता-वरण के रूप में काव्य का विषय बनाया है। आधुनिक कालीन महाकाव्यों—प्रियप्रवास, साकेत, और कामायनी के सर्गों के आरम्भ प्रायः प्रकृति-चित्रण से ही होते हैं। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है कि कवि की अपनी अपनी प्रतिभा के अनुसार कभी तो वह केवल अर्थ-ग्रहण करा पाता है और कभी बिम्ब-ग्रहण करा देता है। महाकाव्य की रीति के अनुसार प्रकृति के विविध चित्रों का काव्य में होना आवश्यक है, इसीलिए सरिता, सरोवर, वन, उपवन, गिरि पशु-पक्षी आदि का यथावसर समावेश करना कवि के लिए आवश्यक होता है। अतः प्रत्येक प्रबन्ध-काव्य में इस प्रकार के प्रचुर वर्णन हिन्दी-काव्यो में प्राप्त होते हैं। इतना अवश्य है कि सर्वत्र ही अधिकांश वर्णन अर्थ-ग्रहण कराने वाले ही हैं। मुक्तक-काव्यों में प्राचीन काव्य मे, सेनापति तथा आधु-निक काव्य में श्रीधर पाठक, हरिश्चन्द्र, रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पांडेय,

प्रसाद, पंत, रामकुमार वर्मा, महादेवी आदि ने सुन्दर चित्र प्रस्तुत किये हैं। इन सब में प्रकृति का बिम्ब-ग्रहण अवश्य प्राप्त होता है।

सन्त कवियों ने प्रकृति को भी उपदेश का माध्यम बनाया। कबीर और तुलसी तो प्रधानतया इस प्रकार के प्रकृति वर्णन के प्रतिनिधि हैं। कबीरदास जी का एक-आध उदाहरण प्रस्तुत करना आवश्यक है—

"सिंहो के लहडे नहीं, हंसन की नहिं पाँति।
लालन की नहिं बोरियाँ, साधु न चलै जमाति॥"
"माली आवत देख करि, कलियाँ करी पुकार।
फूली फूली चुनि लिए, कालिह हमारी वार॥

स्पष्ट है, कवि को प्रकृति वर्णन इष्ट नहीं है, किसी तथ्य को प्रस्तुत करने का साधन उसने प्रकृति को बना रखा है। इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जी 'मानस' में वर्षा और शरद् का वर्णन महाकाव्य की परम्परा-पालन में करते हैं पर उनकी उपदेशात्मक प्रवृत्ति प्रधान बन जाती है। जैसे—

"सरिता सर निर्मल जल सोहा। संत हृदय जस गत मद मोहा।"
"रस रस सूख सरित सरपानी। ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।"
"क्षुद्र नदी भरी चलि उतराई। जिमि थोरे धन खल बौराई।"

यहाँ भी प्रकृति का वर्णन केवल उपदेश देने का साधन मात्र है, प्रकृति का कोई संश्लिष्ट चित्र इसमें नहीं है।

भक्ति-काल और रीतिकाल में प्रधानतया प्रकृति-वर्णन उद्दीपन के रूप में ही किया गया। सूर की गोपियों को प्रकृति उद्दीपन का ही साधन है। गोपियाँ कहती हैं—

"ऊधो कोकिल कूजत कानन।
तुम हमको उपदेस करत हो भस्म लगावन कारन।"

सेनापति के प्रकृति-वर्णन में भी उद्दीपन की ही प्रधानता है। अशोक और केतकी आदि के फूलों को देख कर वे कहते हैं कि—

"साँवरे की सूरति की, सुरति की सुरतिकराइ करि डारत बिहाल है" तथा
"आयो सखी सावन, मदन सरसावन"

"धीर जलधर की, सुनत धुनि धरकी
दरकी सुहागिनि की छोह भरी छतियाँ"

केशव, देव, बिहारी, पद्माकर आदि कवि तो रीतिबद्ध कवि थे, उनमें तो उद्दीपन भाव को ही प्रधानता थी ही।

प्राचीन कवियो मे प्रकृति-वर्णन का चौथा रूप अलंकार रूप था। अलंकार के लिए ही उन्होने प्रकृति चित्रो का उपयोग किया था। गोस्वमी तुलसीदास में कामधेनु-कलिवासी, चित्रकूट-अहेरी, भरत-यश और चन्द्रमा आदि के रूपक तथा उपमा-उत्प्रेक्षाओ आदि मे प्रकृति का उपयोग इसी प्रवृत्ति से है। केशवदास जी का समस्त प्रकृति वर्णन केवल अलंकारो के लिए हुआ है। सेनापति, देव, बिहारी आदि मे प्रकृति-वर्णन केवल अलकारो के लिए हुआ है।

हिन्दी-काव्य में प्रकृति-वर्णन का एक स्वरूप वह है जहाँ वह प्रकृति को मानवीय मनोभावों के उद्‌गार के प्रकाशन का साधन बनाता है। कही वह प्रकृति मे ईश्वर के अनिवार्य नियमो का स्वरूप देखता है और कहीं उसमें क्रूरता, असहिष्णुता आदि के दर्शन करता है। मनुष्य की भिन्न-भिन्न धारणाओ के अनुसार प्रकृति का रूप बदलता जाता है। जो प्रकृति कृष्ण की उपस्थिति में आनन्द का साधन थी, वही उसकी अनुपस्थिति में शत्रु बन गयी है। रात काली नागिन बन जाती है, ज्योत्स्ना उसके डस लेने पर उसका उलटा सफेद रूप प्रतीत होता है। रामचन्द्र जो सीता के वियोग में चन्द्रमा को अग्नि समझते हैं। कृष्ण के मथुरा जाने पर 'प्रिय प्रवास' मे यशोदा टूटते हुए तारे को देखकर कहती हैं—

"अहह अहह ! देखो टूटता है तारा।'
पतन दिल जले के गात का हो रहा है॥"

'साकेत' की उर्मिला को समस्त प्रकृति उसके मनोभावो के अनुरूप ही प्रतीत होती है।

छायावादी कवियों के प्रकृति-वर्णन में प्रकृति के उपादान से सूक्ष्म मनोभावो का चित्राङ्कन किया गया है। छायावादी कविता में प्रकृति का वर्णन उतना अभीष्ट नहीं है जितना प्रतीक के रूप में अवचेतन मे स्थित दलित

मनोभावों की व्यंजना है। छायावादी कवियों की भाषा मे प्रकृति सजीव है, मानव की भाँति संवेदना मे युक्त और सवेद्य है। प्रसाद की 'लहर' मे प्रकृति का ऐसा ही रूप है, पंत की 'वीणा', 'ग्रन्थि', 'पल्लव' और 'गुंजन' मे इसी प्रकार का प्रकृति वर्णन है। निराला की 'गीतिका' और 'परिमल' मे प्रकृति का यही रूप है। निराला की 'शेफालिका' निर्जीव न होकर साक्षात् मानवी है।

"बन्द कंचुकी के सब खोल दिये प्यार से
यौवन उभार ने
पल्लव-पर्यङ्क पर सोती शेफालिके।"

उनकी 'जुही की कली' एक फूल नहीं तरुणी है—

"विजन वल्लरी पर
सोती थी सुहागभरी स्नेह-स्वप्न मग्न—
अमल कोमल तनु तरुणी—जुही की कली।
दृग बन्द किए, शिथिल, पत्राङ्क मे
वासन्ती निशा थी।'

प्रगतिवाद और प्रयोगवादी काव्य-धारा मे भी प्रकृति-चित्रण का बाहुल्य है। प्रगतिवादी और प्रयोगवादी प्रकृति के रम्य रूप मात्र से प्रभावित नहीं हैं वे तो उसके भद्दे, निकृष्ट और गर्हित रूप से ही अधिक प्रभावित हैं। कमल, गुलाब, मालती और चम्पा के स्थान पर कुडहल, कनेर, कौस, अमलतास, और सहजन को स्थान मिला है। सुन्दर, महान् और श्रेय के स्थान पर उनकी दृष्टि कुदर्शन, निकृष्ट और हेय पर पडती है। इस प्रकार इस नवीन कविताधारा द्वारा प्रकृति का उपेक्षित क्षेत्र भी प्रकाशित होता चला जा रहा है।

कविता और प्रकृति में अनेक साम्य हैं—दोनों ही स्वतः उद्भूत हैं, दोनों मे सौंदर्य है, कल्पना है, रंगीनी है और भावोद्रेक करने की शक्ति है। विज्ञान प्रकृति पर विजय कर रहा है, प्रकृति का संहार कर रहा है—सौंदर्य सुषमा और कल्पना की प्रेरक देवी को उपार्जन और उपयोग की वेदी पर बलि चढ़ा रहा है। जगत् का भौतिक दृष्टिकोण बढ़ताजा रहा है। वैज्ञानिक युग भौतिक धरातल को जितना ही विशाल करेगा मानसिक धरातल

उतना ही क्षीण होजायेगा। शान्ति, कला, और भावुकता का अन्त होता जायगा। कविता को क्षेत्र न मिलेगा। यही कारण है आज समस्त विश्व मे कविता-धारा दिन पर दिन सूखती जा रही है। जैसे नैसर्गिक प्रकृति विज्ञान के द्वारा परिवर्तित होकर मानव की गुलाम हो रही है, मशीन बन कर प्राणहीन हो रही है उसी क्रम से कविता भी भौतिकवादी होकर राजनीतिक दाव-पेचो का लाउडस्पीकर बन रही है। पर इतना अवश्य है कि दोनो ही शाश्वत और अमर है। विज्ञान मे यह शक्ति नही कि जगद्व्यापिनी प्रकृति का नाश कर सके। राजनीतिक विचारधाराये कुछ समय तक कविता को पथ-भ्रष्ट भले ही किये रहे पर सच्ची कविता का स्रोत पुनः फूट निकलेगा और वैज्ञानिक आवरण को चीरकर कलकल ध्वनि मे आगे बढ़ता जायेगा। कविता और प्रकृति गलबाहीं डाले आयी थीं और सृष्टि के अन्तिम दिन भी इसका यही दर्शन रह जायेगा।

---

# कामायनी का मनस्तत्व

लें०—कुमारी निर्मल शर्मा, 'साहित्यरत्न'

संकेत :—(१) कामायनी का परिचय। (२) कामायनी की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि। (३) सर्गों के अनुसार मनोवृत्तियों का विकास-क्रम। (४) कामायनी की महत्ता।

भूमिका :—कवि जयशंकरप्रसाद-रचित कामायनी महाकाव्य मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर आधारित है। कवि ने कामायनी की भूमिका मे लिखा है कि "मनु श्रद्धा, और इडा अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नही।" उन्होने स्वीकार किया है कि श्रद्धा और मनु (मनन) के संयोग से मानवता का विकास एक रूपक है। मनु ( मनन ) के दोनों पक्ष हृदय और मस्तिष्क का सम्बन्ध क्रमशः श्रद्धा और इडा से भी लग जाता है। इस प्रकार प्रसाद जी के कथनानुसार कामायनी एक ओर तो इतिहास को अपने में संजोये हुए है और दूसरी ओर उसमें मनस्तत्व की अभिव्यक्ति भी है। यदि हम यह कहे कि कामायनी मे प्रसाद

जी की ऐतिहासिकता गौण और मनोवृत्तियों का रूपक प्रधान है तो कोई अत्युक्ति न होगी। इसी दृष्टि से हम 'कामायनी' का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उपस्थित कर रहे हैं।

विस्तार :—जैसा कि प्रसाद जी ने कहा है कि मनु मन है और श्रद्धा तथा इडा उसके दो पक्ष - हृदय और मस्तिष्क है। इसी को व्याख्या रूप में कहा जा सकता है कि मन का कार्य चिन्तन, हृदय का कार्य अनुराग और मस्तिष्क का कार्य-विवेचन है। कामायनी का नायक मनु प्रथम चिन्ता सर्ग में मनन करता हुआ ही दिखलाया जाता है। प्रलय के पश्चात् वह एकाकी रह गया है। ऐसी स्थिति मे मन का कार्य चिन्तन ही हो सकता है। चिन्ता सर्ग इस चिन्तन का ही प्रतीक है। चिता मे संवेदना है और संवेदन के मूल मे दु:ख। मनु को अपने विगत वैभवमय जीवन की चिन्ता भी होती है और देवांगनाओं के अबाध क्रीडामय विलास की स्मृति भी इनका हृदय झकझोरती है :—

चिन्ता करता हूँ मै जितनी, उस अतीत की उस सुख की।
उतनी ही अनन्त मे वनती, जातीं रेखाएँ दु:ख की॥

फिर वे प्रलय के कारणो पर विचार करते है और इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि देवताओं की विलासिता और अहंकार ही इस विनाश का कारण बने है। चिन्तन की इस धारा मे वे इतने गहरे पहुंच जाते है कि प्रलय का सम्पूर्ण दृश्य उनके स्मृति पटल पर खिंच जाता है और वह मृत्यु को प्यार भरा सम्बोधन करते हुए कहते हैं —

मृत्यु अरी चिर निद्रे! तेरा अंक हिमानी सा शीतल,
तू अनन्त में लहर बनाती, काल जलधि की सी हलचल।

इसी सर्ग मे कवि ने चिन्ता के लिए लिखा है कि वह अभाव की चपल बालिका है और 'ललाट' पर पडी हुई खल-रेखा। परन्तु इसके साथ ही हरी-भरी सी दौड-धूप और जल-माया (मृग-तृष्णा) की चचल रेखा भी :—

हे अभाव की चपल बालिके, री ललाट की खल-लेखा।
हरी-भरी सी दौड़-धूप औ, जल-माया की चल रेखा॥

चिंता का यह स्वरूप मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सर्वथा स्वाभाविक है अभाव में ही चिंता उत्पन्न होती है इसलिए वह अभाव की बालिका है। क्योंकि चिन्तावस्था मे मनुष्य सुख का अनुभव नहीं करता इसलिये वह ललाट की खल-लेखा ( बुरे भाग्य का चिन्ह ) भी है। परन्तु चिन्ता के बिना मनुष्य का कोई प्रयत्न सफल नही होता इसलिये कवि ने उसे हरी-भरी सी दौड-धूप भी कहा है। पर चिन्ता प्राणी को मृग की भांति मृग-तृष्णा ( सुख की मिथ्या आशा ) मे डालकर विनाश भी कर देती है, जिसका संकेत कवि ने 'जल-माया की चल-रेखा' लिखकर किया है।

चिन्ता सर्ग के पश्चात् आशा सर्ग है। आशा के बिना प्राणी जी नहीं सकता। आशा नाणी को चिन्ता की भांति निष्क्रिय नहीं बनाती अपितु क्रिया-शीलता नदान करती है। मनु के मन मे भी आशा वृत्ति ने उदय होकर उन्हें क्रियाशील बना दिया। आशा उन्हे इतनी स्पृहणीय ( निय ) हो जाती है कि उनके कानो मे चारों ओर से जीवन की पुकार आने लगती है तथा उन्हे आभास होने लगता है कि जैसे उनकी भी कोई सत्ता है। चिंता में जो मनु विस्मृति और अवसाद को हृदय मे भरकर चुप हो जाना चाहता था, जो चेतना के स्थान पर जडता को प्यार करता था वही 'आशा' सर्ग में पुकार उठता है :—

मै हूं यह वरदान सदृश, क्यों—लगा गूँजने कानों मे,
मै भी कहने लगा, मैं रहूँ—शाश्वत नभ के गानो में।

आशा के उदय होने पर मनु हर प्रकार से अपने अस्तित्व की रक्षा चाहते हैं। वह अपना जीवन तप मे लगा देते है और नियमित रूप से कर्म करने लगते हैं। प्रकृति के इस एकान्त सौंदर्य मे एक दिन जब उनकी अलस चेतना की आँखें खुलती हैं, और उनके हृदय में अनादि-वासना प्राकृतिक भूख की तरह जाग उठती है तो वे द्वन्द्व (युग्म) को सुखद अनुमान करके चाहने लगते हैं अर्थात् किसी साथी के लिए आकुल हो उठते हैं—

कब तक और अकेले? कहदो, हे मेरे जीवन बोलो।
किसे सुनाऊँ कथा? कहो मत, अपनी निधि न व्यर्थ खोलो॥

आशा के इस मधुर संचार ने ही मनु को इतना सहृदय बना दिया कि वे तारों से, रजनी से और संध्या से बातें करने लगे। तारों को उन्होंने 'तम के सुन्दरतम रहस्य' कहा और रजनी को 'इन्द्रजाल जननी' कहकर अभिसारिका के रूप में उसका अनुभव किया। चाँदनी के रूप में खिलखिलाती हुई रजनी मनु को ऐसी प्रतीत हुई जैसे कि वह किसी की भूली हुई वस्तु की तरह स्मृति-पथ पर ला रही है और जीवन की छाती के दाग खोजती फिर रही है। किसी की खोज में आकुल इस रजनी-बाला को ही मनु ने अपनी भूली हुई वस्तु को लाने का कार्य सौंपा और प्रलोभन दिया कि तुझे भी तेरा भाग दूँगा। रजनी को क्या भाग मिलेगा, कवि की यह व्यंजना भी बड़ी मार्मिक है। जो मिलन सुख की उन आनन्दमयी घड़ियों का संकेत करती है, जो मनु साथी के प्राप्त होने पर रात्रि के सुखद क्षणों में व्यतीत करेगा।

इसके पश्चात् 'श्रद्धा' सर्ग आता है, जो रागात्मक वृत्ति का प्रतीक है। साथ ही श्रद्धा इस काव्य की नायिका भी है। श्रद्धा एक ओर तो नारी के रूप में उपस्थित हुई है, जिसकी दृष्टि से वह दया, माया, ममता, मधुरिमा और अगाध विश्वास से परिपूर्ण है तथा मनु को रागात्मक जीवन की ओर प्रेरित करती है। इसके साथ ही वह हृदय की उदात्त वृत्तियों की प्रतीक भी है। जिसके मन में उदय होने पर सद्भाव का भी उदय होता है जो पशु रूप में श्रद्धा का प्रिय पात्र दिखलाया गया है। परन्तु मन रागमय होने के कारण सद्भाव की ओर प्रेरित न होकर वासना की ओर जाता है जिसमें काम सहायक होता है। इसलिए श्रद्धा के पश्चात् 'काम' सर्ग रखकर प्रसाद जी ने मनु को श्रद्धा के वासनात्मक रूप की ओर आकर्षित किया है। माधवी निशा की अलसाई हुई अलकों में मनु का हृदय इतना आतुर होता है कि वे संयम की समस्त शक्ति खो बैठते हैं तथा जीवन के मधुर भार (यौवन) को सम्भालने में अपने आपको असमर्थ पाते हैं। तारों के रूप में उन्हें अपना ही उन्माद बिखरा हुआ दिखाई देता है। उनकी चेतना शिथिल होती है तथा वे रजनी के पिछले पहरों में डूब जाते हैं। स्वप्न में उन्हें काम श्रद्धा के उपयुक्त होने की प्रेरणा देता है और आंख खुलने पर मनु पूछते रह जाते हैं—

मनु आँख खोलकर पूछ रहे—पथ कौन वहाँ पहुचाता है?
उस ज्योतिमयी को देव! कहो, कैसे कोई नर पाता है?

काम को श्रद्धा अथवा रागात्मक वृत्ति का जनक भी मनोवैज्ञानिक आधार पर ही कहा गया है। मन जब आशामय हो जाता है तो उसका श्रद्धा अथवा रागमय होना स्वाभाविक ही है तथा यह रागात्मिकता काम के कारण ही उसमें उदय होती है, जिसका परिणाम पुरुष के हृदय मे होता है वासना और नारी के हृदय में होता है लज्जा। इसलिए वासना का उदय मनु के हृदय में और लज्जा का उदय श्रद्धा के हृदय में प्रसाद जी ने दिखलाया है। वासना से प्रेरित मनु (मन) नारी की उज्ज्वल प्रतिमा-श्रद्धा को केवल काम साधन के रूप में ही देख पाता है तथा पुरुष की वासनात्मक दृष्टि नारी-श्रद्धा को भी इसी रूप मे समर्पण करने के लिए विवश कर देती है। श्रद्धा ने तो मनु को अपना समर्पण सेवा के सारत्व और हृदय की विकारहीनता के रूप में निम्न शब्दो मे किया था—

समर्पण लो सेवा का सार, सजल संसृति का यह पतवार,
आज से यह जीवन उत्सर्ग, इसी पद तल में विगत अपार॥

परन्तु मनु ने इस भोले भाले और उदार अतिथि को 'भूले हृदय की चिर-खोज' कह कर तथा धमनियों की वेदना और हृदय को धड़कन के रूप मे उच्छ्वासमय संवाद सुनाकर जीवन संगिनी के रूप मे उपस्थित होने के लिए विवश कर दिया। मनु के "विश्वनारी! सुन्दरी नारी! जगत् की माँ! आदि संबोधन सुनकर श्रद्धा पुरुष के कोमल उपचार से झुक गई। उसका अंग-प्रत्यंग लज्जा के भार से झुक गया और हृदय गद्‌गद् हो उठा। तथा वह पूछती ही रह गई—

किन्तु बोली, "क्या समर्पण आज का हे देव!
बनेगा चिर-बंध, नारी हृदय हेतु सदैव?"

जब श्रद्धा की अवस्था मुग्धा नायिका की हो गई तो पुरुष (मनु) के निकट आने में उसे लज्जा अनुभव होने लगी। यह लज्जा नारी के लिये धात्री का कार्य करती है। उसे निकट लगने से बचाती है तथा गौरव महिमा का पाठ सिखलाती है। नर और नारी का संपर्क जब तक वासनात्मक नहीं

होता तब तक नारी के हृदय में किसी प्रकार का संकोच नहीं होता। इसलिये श्रद्धा को भी पहले मनु से किसी प्रकार का संकोच नहीं था। पर अब उससे बातें करने में उसे लाज आती है तथा उसकी तरल हंसी स्मित बन कर रह जाती है, वह कोमलता में बल खाने लगती है। कलरव एवं परिहास भरी गूँजे उसके अधरों तक आकर रुक जाती है। जब श्रद्धा लज्जा से नारी-जीवन का चित्र पूछती हुई कहती है कि मैं अर्पण क्यों चाहती हूँ ? तथा पुरुष को जब तोलने का उपचार करती हूं तो स्वयं क्यों तुल जाती हूं ? तो लज्जा उसे कहती है—

नारी तुम केवल श्रद्धा हो, विश्वास रजत-नग-पग-तल में,
पीयूष स्नात सी बहा करो, जीवन के सुन्दर सम तल में।

इन पंक्तियों में प्रसाद जी ने नारी-जीवन का जो चित्र अंकित किया है वह विश्व साहित्य में अद्वितीय है। इससे भी बढ़कर इस सर्ग में नारी को दैवी और दानवी विचारों में सन्धि कराने का जो महत्त्वपूर्ण कार्य सौंपा गया है, वह नारी को महत्ता के उस स्थल पर पहुँचा देता है, जहां तक कोई कवि आज तक नहीं पहुँच सका है। आज के विचार-संघर्ष के युग में पला हुआ कवि नारी का जो रूप देखने में सफल हुआ है वह विगत-काल का कोई कवि नहीं देख सका।

लज्जा का आवरण दूर होने पर मनु कर्म की ओर प्रेरित होते हैं, पर, वासना उन्हें अधिकाधिक तृष्णा की ओर ले जाती है जिसका परिणाम होता है अतृप्ति। वासना मनु (मन) को हिंसात्मक कर्मों की ओर ले जाती है। रागात्मक वृत्ति की प्रतीक श्रद्धा उन्हें अहिंसात्मक कर्म करने की प्रेरणा देती है। इसी सर्ग में आकुलि और किलात का उदय होता है जो कुविचारों के प्रतीक हैं। जो मन में उदय हुए सद्भाव की बलि (विनाश) मनु द्वारा करवा देते हैं। इस पर श्रद्धा को कुछ दुःख होता है और वह कहती है—

कितना दुःख जिसे मैं चाहूँ वह कुछ और बना हो,
मेरा मानस चित्र खींचना सुन्दर सा सपना हो।

परन्तु श्रद्धा, वासना से प्रेरित मन को विशुद्ध रागात्मक कर्म की ओर ले जाने में असमर्थ रहती है। विजय आकुलि-किलात की होती है। इस

प्रकार कुविचारो से प्रेरित मनु, नारी की पावन मूर्त्ति, उसके विशुद्ध-प्रेम एवं प्रेम के पुनीत फल मे से किसी का भी स्वागत नही कर पाते। विश्रद्धा से अपनी वासना का कलुषित घट भरकर तृप्ति का अनुभव करते है पर बाधक वस्तुओ के मार्ग में आने पर उनमे ईर्ष्या का उदय होता है। श्रद्धा का कोई भी व्यापार मनु को नही रुचता। या तो वे आखेट खेलने मे व्यस्त रहते है अथवा अधिकाधिक सुख के लिए अतृप्ति का अनुभव करते है। श्रद्धा जब मनु को स्वनिर्मित कुटीर दिखलाती है और किसी आगन्तुक (मानव) के जन्म का सकेत करती है तो मनु इससे संतुष्ट नही होते। वह इसे मन की महान् परवशता समझते हैं और ईर्ष्या से प्रेरित होकर अधिकाधक सुखो की खोज मे निकल पडते हैं।

अपना ज्वलनशील अन्तर लेकर मनु सारस्वत नगर मे पहुँचते हैं, जहाँ पर इडा का राज्य है। पहले काम का अभिशाप मनु को दिलवाया जाता है। रागात्मिका वृत्ति का जनक होने के कारण काम का क्रोध स्वाभाविक है। क्योंकि मनु का मन अब राग विहीन हो चुका था इसलिए काम का कोई भी प्रभाव उस पर नही पडता। अन्त मे काम मनु से कहता है--

मनु उसने तो कर दिया दान, वह हृदय प्रणय से पूर्ण,
सरल जिसमे भरा प्रणय का मान—
पर तुमने तो पाया सदैव उसकी सुन्दर जड़ देह मात्र।
सौंदर्य जलधि से भर लाये केवल तुम अपना गरल पात्र॥

इससे आगे अभिशापमयी पंक्तियों में काम मनु से कहता है 'वह प्रेम पुनीत न रह जाए, तुम्हारा नव प्रजातन्त्र अभिशाप से भरा हुआ हो जिसमें किसी को सन्तोष न रहे। मस्तिष्क और हृदय दोनों एक-दूसरे के विरुद्ध रहें। तुम्हारा सारा जीवन युद्ध बन जाय। तुम जरा-मरण मे चिर अशान्त रहो, तुम श्रद्धा वंचक हो अतः सदा अधीर रहो।' काम की यह ध्वनि लुप्त हो गई, और मनु सोचने लगे कि जिस काम ने मेरे जीवन पर पहले अपनी काली छाया डाली थी आज उसी ने मेरा भविष्य भी लिख दिया है। अब जीवन में अन्तहीन यातना चलेगी जिसका कोई उपाय मेरे पास नही। सहसा प्राची मे मधुर राग का उदय हुआ जिसमें मनु ने एक अपूर्व बाला के

दर्शन किए। यह बाला ही इडा अथवा बुद्धि का प्रतीक है जिसकी शरण में ईर्ष्या प्रेरित मन को आश्रय मिलता है। इडा का सौंदर्य वर्णन करते हुए कवि प्रसाद ने लिखा है—

बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल।

इसी अपूर्व बाला से मनु पूछते हैं 'शनिलोक के परे भी कोई प्रकाश का महान् स्थान सुना जाता है, क्या वह अपनी एक किरण देकर मेरी स्वतन्त्रता मे सहायक हो सकता है?' जिसके उत्तर मे इडा कहती है—

मत कर पसार निज पैरो चल,
जिसको चलने की रहे झोंक, उसको कब कोई सके रोक।

इस प्रकार हृदयवाद को छोडकर जब मन ने बुद्धिवाद को अपना लिया तो वह भौतिक सुखो की ओर बढ़ चला। उसके विकल्प संकल्प बन गए तथा जीवन मे भौतिक कर्मों की पुकार होने लगी।

इडा के सहयोग से मन ने जो कुछ प्राप्त किया उसमें उसे कभी तृप्ति नहीं होती। उसके अतृप्ति के पात्र में इडा सुखो का जितना आसव ढालती थी उतनी उसकी सुखों की प्यास और बढ़ती जाती थी। इस रहस्य को श्रद्धा ने स्वप्न मे देखा। स्वप्न भी मन की एक वृत्ति ही है। इसलिए प्रसाद जी ने स्वप्न सर्ग भी कामायनी मे रखा है। जिसमें कथा की दृष्टि से तो श्रद्धा का विरह वर्णन है और दूसरी ओर बुद्धि की शरण में पहुंचे हुए मन की अतृप्ति का चित्रण। इसी सर्ग मे मनु इडा से प्रेम याचना करते हैं और कहते हैं—

मै अतृप्त आलोक भिखारी,
ओ प्रकाश बालिके बता कब डूबेगी प्यास हमारी,
इन मधु अधरो के रस मे?

जब इडा मनु की इच्छा का विरोध करती है तो मनु बलात्कार पर उतारू होते है जो बुद्धि के दुरुपयोग का प्रतीक है। यहाँ दिखलाया गया है कि मन बुद्धि पर एकाधिकार चाहता है तथा अपनी इच्छा का विरोध उसे सह्य नहीं होता। पर मन का इड़ा पर पूर्णाधिकार संभव नहीं। इसीलिए सहसा अन्तरिक्ष मे रुद्र की हुंकार होती है जो मंगलभाव का प्रतीक है।

जिसका उदय रागात्मक वृत्ति की सजगता के कारण होता है। मङ्गलभाव के साथ-साथ अनेक सद्वृत्तियाँ भी मन में उदय होती हैं जो देव शक्तियों के रूप मे मनु पर क्रोधित होती हुई दिखलाई गई हैं।

स्वप्न के पश्चात् संघर्ष सर्ग मे मन का सद्वृत्तियो के साथ संघर्ष दिखलाया जाता है जो मनु और सारस्वत नगर की प्रजा के रूप में दिखलाया जाता है। इस सर्ग मे इड़ा मनु को समझाती है—हे प्रजापति ! सब तुम्हारा अधिकार निभायें और अपने लिए स्वतन्त्रता का एक भी क्षण न चाहे ऐसा आज तक कभी नही हुआ है। सुख की सच्ची आराधना यही है कि जिस में अपना श्रेय हो और लोक का भी श्रेय हो। तुम इस सृष्टि मे अपना विभाजित स्वर मत छेड़ो। परन्तु मनु उसकी एक नही सुनते। वे उससे प्रतिदान चाहते हैं और अपने रोदन मे इड़ा को अट्टहास की तरह पाना चाहते हैं। वे किसी नियम की बाधा अपने पास नही आने देना चाहते तथा इड़ा के समस्त उपकार को भूल जाते है। पर उन्माद के क्षणो मे मनु इड़ा की एक भी बात नहीं सुनते, तथा उसे अपनी बांहो में जकड़ लेते हैं। तभी सिंह द्वार टूटता है और समस्त प्रजा मनु पर टूट पड़ती है। इस युद्ध मे आकुलि-किलात धराशायी होते है जो बुरे विचारो के विनाश का द्योतक है। इन कुविचारों के मिटते ही इड़ा पुकार उठती है—

> क्यो इतना आतंक, ठहर जा ओ गर्वीले !
> जीने दे सब को फिर, तू भी सुख से जी ले।

परन्तु फिर भी मनु का खूनी हाथ नही रुका। अन्त में समस्त शक्तियों ने मनु पर प्रहार किया, और वे मूर्च्छित होकर गिर गए।

बुद्धि द्वारा प्रेरित भौतिक संघर्षों में पड़ा हुआ मनु का मन जब जीवन के प्रति अशान्त हो गया तो फिर उस में निर्वेद का जागरण स्वाभाविक है। इस लिए संघर्ष सर्ग के पश्चात् निर्वेद सर्ग रखा गया है। निर्वेद सर्ग का समस्त वातावरण विरक्तिजन्य है। वह इसीलिए कि निर्वेदभाव के मन में जागृत होने पर सांसारिक सुखों के प्रति विरक्ति स्वाभाविक है। पर भौतिक सुखों से विमुख होने पर आध्यात्मिक सुखों की ओर उन्मुख होने के लिए भी श्रद्धा अपेक्षित है। इसलिए मूर्च्छित मनु को श्रद्धा ही अपना मधुर गान सुना कर

स्फूर्ति प्रदान करती है। श्रद्धा के इस गीत में जिन भावों की अभिव्यक्ति हुई है वह इस बात की सूचक है कि भौतिक यातनाओं से पीड़ित मन को यह वृत्ति ही निश्छल सुख का अनुभव कराती है। स्वस्थ होने पर मनु श्रद्धा से कहते हैं—

ले चल इस छाया के बाहर, मुझ को दे न यहाँ रहना।

इसी सर्ग में मनु श्रद्धा के प्रति कृतज्ञता भी प्रकट करते हैं तथा अपने आप को खोखलेपन में भटकता हुआ कहते हैं। अपने आप को क्षुद्र पात्र कहते हुए वे श्रद्धा से कहते हैं कि तुम मेरे जीवन में जो मधु धारा डाल रही हो उसे मैं अब तक स्वगत नहीं कर सका क्योंकि मुझ में बुद्धि और तर्क के छिद्र हैं। अन्त में मनु सम्मार को इन्द्रजाल समझ, सब को वहीं छोड़ कर भाग जाते हैं। मनु के इस व्यापार में ऊर्ध्वगामी मन की ओर संकेत किया गया है। ऊर्ध्वगामी होने पर मनु जिस लोक में पहुंचे उसका नाम है दर्शन। दर्शन क्षेत्र में पहुँच कर मनु ध्यान मग्न हो जाते हैं तथा इधर इड़ा श्रद्धा से क्षमा माँगती है। यह बुद्धिवाद की पराजय का प्रतीक है। बुद्धि मन को भौतिक सुखों में उलझा तो देती है पर इस उलझन में से निकालने की क्षमता श्रद्धा में ही है। फिर अपने शिशु मानव को इड़ा को सौंप कर कहती है—

हे सौम्य, इड़ा का शुचि दुलार, हर लेगा तेरा व्यथा भार,
यह तर्कमयी तू श्रद्धामय, तू मननशील कर कर्म अभय।

इन पंक्तियों से सिद्ध होता है कि मानव मनन, तर्क और श्रद्धा तीनों के मिश्रण का रूप है तथा अपने इस रूप में ही वह सब की समरसता का प्रचार कर सकता है।

दर्शन सर्ग में ही श्रद्धा और मनु का फिर मिलन होता है। यह मिलन विशुद्ध आध्यात्मिक है। श्रद्धा अपने जिस रूप में मनु (मन) को यहाँ प्रभावित करती है वह सर्वथा पावनतम और उज्ज्वल रूप है जो मन को आलोक पुरुष के दर्शन कराता है। पर यहाँ पहुँच कर मन रहस्य में भी उलझता है, अतः दर्शन के पश्चात् रहस्य सर्ग रखा गया है। इस सर्ग में इच्छा, ज्ञान, कर्म तीन लोक पृथक्-पृथक् दिखलाये गये हैं। इच्छा को कर्म के बिना पंगु, और कर्म को ज्ञान के बिना अंधा दिखलाया गया है। जब तक

मन मे इन तीनो का समन्वय नहीं होता तब तक मन आनन्द लोक मे नहीं पहुँच सकता। ऐसी स्थिति मे जीवन बिडम्बना मात्र रह जाता है—

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है, इच्छा क्यो पूरी हो मन की;
एक दूसरे से न मिल सके, यह बिडम्बना है जीवन की।

पर इच्छा, ज्ञान, कर्म का समन्वय श्रद्धा के बिना नही हो पाता। इस लिए प्रसाद जी ने श्रद्धा की मधुर मुस्कान से इन तीनो लोको को लय होते हुए दिखलाया है। जिस के पश्चात् मनु एक मात्र श्रद्धा-मय हो जाते है। जब मन पूर्णतः श्रद्धामय हो जाता है तभी आनन्द की प्राप्ति होती है। इस लिए रहस्य के पश्चात् आनन्द सर्ग रखा गया है, जो कामायनी का अन्तिम सर्ग है।

आनन्द सर्ग मे इडा धर्म के प्रतिनिधि एक धवल-वृषभ को साथ लिए मानव सहित दिखलाई जाती है। यह बुद्धि का वह रूप है जो विशुद्ध ज्ञान के अन्तर्गत आता है। इस ज्ञान का योग पाकर ही श्रद्धामय मन इस अवस्था में पहुँचता है कि जहाँ उसे सब समान दीखते हैं। अपने से पृथक् किसी भी वस्तु की स्थिति उसे अनुभव नहीं होती। वह अणु मात्र को अपना समझता है और सब की सेवा को अपने सुख की संसृति के रूप मे ग्रहण करता है। इस स्थिति मे पहुँच कर वह समस्त भेदभाव भूल जाता है तथा आनन्द की बाँसुरी का मधुर स्वर सुन पाता है। उसे समस्त प्रकृति सजीव सी जान पड़ती है तथा वह जड और चेतन मे समरसता, चेतनता और आनन्द का अनुभव करता है। जिसको प्रसाद जी ने कामायनी की अन्तिम पक्तियों में चित्रित किया है—

सम रस थे जड़ या चेतन, सुन्दर साकार बना था;
चेतना एक विलसती, आनद अखंड घना था।

उपसंहार—कामायनी मनस्तत्त्व की दृष्टि से ही महत्वपूर्ण रचना नहीं है, अपितु काव्य सौष्ठव की दृष्टि से भी प्रसाद जी की यह रचना अद्वि-तीय है। केवल हिन्दी में ही नहीं अपितु विश्व की समस्त भाषाओं में मनोवृत्तियो का आधार लेकर कोई काव्य रचना इस प्रकार की नहीं हुई। छायावादी-रहस्यवादी प्रवृत्तियों के अन्तर्गत कामायनी हिन्दी का एक सफल

महाकाव्य है। हृदय तत्व और बुद्धितत्व का जितना सुन्दर विश्लेषण इस मे हुआ है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। बुद्धि पर हृदय की, भौतिकता पर आध्यात्मिकता की, विज्ञान पर धर्म की, दानवता पर मानवता की, स्थूल पर सूक्ष्म की विजय दिखलाना कामायनीकार का लक्ष्य रहा है। यह रचना हर दृष्टि से इतनी महत्वपूर्ण है कि कोई भी आलोचक इसकी प्रशंसा किये बिना नही रह सकता। इस रचना ने ही प्रसाद जी को हिन्दी के महाकवियों में ला बिठाया है। प्रसाद जी का व्यक्तित्व, पाण्डित्य और प्रतिभा तीनो के एक साथ दर्शन कामायनी मे होते हैं।

# साहित्य में नारी

'कविता-कामिनी' का संयोग सरस भी है और सहज भी। वर्ण-विन्यास मनोहर और साथ में अर्थ-सौरस्य की छटा। कविता ही कामिनी और कामिनी ही कविता है। एक ही तथ्य के दो रूप हैं—सूक्ष्म रूप कविता और स्थूल रूप कामिनी। सरसवती ही सरस्वती है, रमणीयता से समन्वित (रमणीयार्थप्रतिपादक शब्दः) ही रमणी है। कविता के साथ कामिनी और वनिता का प्रयोग आरम्भ से होता आ रहा है। हिन्दी के प्रथम आचार्य कवि केशव ने भी कविता के लक्षण करते हुए वनिता को पहले दृष्टि मे रखा—

"यद्यपि जाति सुलच्छनी, सुवरन सरस सुवित्त,
भूषन बिन न विराजहि, कविता-वनिता मित्त।"

साहित्य में नारी के दो रूप—हैं कला रूप मे और कलाकार रूप मे। कला रूप में नारी कलाकार की प्रेरक है, कवि नारी को देखकर अपने मे स्फूर्ति पाता है, उसकी कल्पना मूर्तहोती है, उसकी भावना सुप्तावस्था से जाग्रतावस्था प्राप्त करती है। उसकी रसानुभूति साकार बनकर पाठक श्रोता या दर्शक में तद्वत् रसास्वादन की सृष्टि करती है। नारी शृङ्गार का आलम्बन है, करुणा की आधेय है, अङ्ग विन्यास में अद्भुत है, और मनोविकारों को समुच्छ्वसित करने वाली है। उसी ने आदि कवि को प्रेरित किया और कविता को पृथ्वी

पर उतारा। क्रौञ्ची का कल-निनाद था जिसके विनाश को देखकर महर्षि वाल्मीकि की सुप्त करुणा जाग उठी और उनके भावोद्गार के रूप में प्रथम कविता की पंक्ति निकल पडी। तब से आज तक जितने महाकाव्य रचे गये, जितने गीतिकाव्य बने, जितने नाटक या उपन्यास बने तथा जितने काव्य-शास्त्रीय रीति ग्रन्थ बने सब के पीछे कौन है, वही कामिनी—

> "विना काम पूरन भये, लगै परम पद क्षुद्र।
> रमनी राका ससिमुखी, पूरै काम समुद्र।
> रची राम सग भीलनी, यदुपति संग अहीरि।
> प्रबल सदा वन-वासिनी नवल नागरिन पीर॥"

संसार के किसी भाषा का साहित्य देखे नाम भले ही दूसरे हों पर रूप सब में एक ही दीखता है—कालिदास में शकुन्तला, यक्षिणी और पार्वती, रामायण मे सीता, महाभारत मे द्रौपदी, शेक्सपियर में पोरसिया, शेली-कीट्स वायरन आदि की प्रकृति में परिवेष्टित नारी, पृथ्वीराज रासो की संयोगिता, कृष्ण साहित्य की राधा, सूफी जायसी की पद्मावती, प्रसाद की कामायनी, छायावादी कविता की प्रकृति, उपन्यास और कहानियो की नायिका, सर्वत्र नारी ही की महिमा मिलती है। मिले भी क्यो न, साहित्य तो समाज का दर्पण है। समाज में नारी का स्थान प्रधान है। 'प्रसाद' के शब्दो में मानव और दानव के बीच के संघर्षों के बीच पीयूष-स्रोत सी बहने वाली नारी ही तो है। समस्त सृष्टि की रचना की मूल, जगत् की आपत्ति और विपत्ति की प्रेरक नारी ही है, फिर नारी के बिना समाज की रचना ही कैसे होती और उसके विना साहित्य का निर्माण ही कैसे होता?

भारतीय समाज में नारी की स्थिति गिरती-उठती रही है। नारी जननी है, सृष्टिकारिणी रही है पर वही सामाजिक करुणा का आधार रही है। सारा दु.ख उसने अपने ऊपर लिया है—सुखोपभोग पुरुष को देकर स्वयं दुखान्तकी का आलम्बन बनी है। भारतीय साहित्य में सुखान्तकी (Comedy) है, दुखान्तकी (Tragedy) नहीं है। सुखान्त काव्यों के भीतर जो दुःख है उसका आश्रय नारी ही है। विरह नारी का है, करुण नारी का है, वह आदिशक्ति होते हुए भी अबला है। ऐसा क्यों है? केवल इसी

लिए कि पुरुष के जीवन मे दुःख और करुणा का आधिक्य होता हो तो वह समाज के भार को वहन न कर सकता। नारी ने समाज का सार दुःख जैसे अपने हिस्से में ले लिया और कवि को भारतीय नारी जीवन का सिंहावलोकन करके कहना पड़ा—

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी,
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

आर्य-जीवन मे नर-नारी की स्थिति मे ऐसा अन्तर न था, कारण यह कि तब जीवन संघर्षमय न था। सृष्टि की किशोरावस्था थी। प्रकृति माँ की गोद में नर और नारी दोनो समान रूप मे पल रहे थे। किसी प्रकार का विभेद न था। समान अध्ययन और समान यज्ञ करने की पद्धति थी, नारियाँ स्वयंवरा थीं, तभी तो अट्ठासी सहस्र ऋषियों की सभा में गार्गी ने कहा था जो मुझे शास्त्रार्थ मे पराजित कर दे वह मुझे वरे। गार्गी, मैत्रेयी, मन्दालसा उस युग की विभूतियाँ हैं। कालिदास को वाणी दिलाने वाली विद्योत्तमा भी इसी का प्रमाण है। कालान्तर मे नारी की स्थिति कुछ गिरी, रामायण काल में वह पुरुष की अनुगामिनी हुई पर वह राम से विवाद कर सकती थी और अपनी बात मनवाने का अधिकार रखती थी। महाभारत काल मे अवश्य ही नारी की स्थिति पर्याप्त निम्न प्रतीत होती है। स्त्री भोग्य सम्पत्ति के रूप में जुए पर चढ़ाई जा सकती थी। यद्यपि इस काल में भी स्त्री के आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए पुरुष सब कुछ कर सकता था फिर भी उसका महत्त्व जाता रहा था। हिन्दू काल में स्त्री का महत्त्व दिनोंदिन गिरता ही गया। मुस्लिम राज्य काल मे परिस्थितियों के वश स्त्री को घर के भीतर रहना और परदा वस्त्र आवश्यक हो गया। उसकी शिक्षा-दीक्षा समाप्त हो गई वह पुरुष की भोग्य-वस्तु मात्र रह सकी। सुकुमारता के अवयव मे वह एक सचमुच अबला बन गयी, बिना पुरुष के संरक्षण के वह एक पग भी आगे बढ़ने में असमर्थ हो गई। उसकी प्रतिभायें कुण्ठित हो गईं, सीमित क्षेत्र मे रह कर शरीर और बुद्धि दोनों ही में निर्बल हो गई। अंग्रेजी राज्यकाल में उसे स्वतन्त्रता की सांस लेने का अवसर मिला और वह बड़ी तीव्र गति से पुनः पुरुष के समकक्ष कंधा में कंधा मिलाने का दावा प्रत्येक क्षेत्र में करने लगी है।

उक्त स्थितियो का पूरा दिग्दर्शन हिन्दी साहित्य मे प्राप्त हो जायगा। हिन्दी-साहित्य का आविर्भाव काल दुर्भाग्यवश वह था जब हिन्दू राज्य काल का सूर्य अस्ताचल को जा रहा था। राजपूत राजाओ मे आपसी फूट के कारण वैमनस्य वृद्धि पा रहा था। इस अग्नि मे ललनाओ के सौंदर्य ने घृत का कार्य किया। रासो साहित्य मे नारियो के सौंदर्य के आधार पर अनेक युद्धो का वर्णन प्राप्त होता है। नारियो में वीर के प्रति आकर्षण था, पृथ्वीराज चौहान जैसे वीर को अनेक सुन्दरी राजकुमारियां वरने को तैयार थी और इसीलिए चौहान ने अनेक युद्ध किये और अनेक हिन्दू राजाओं से शत्रुता मोल ली। वीरगाथा काल के पश्चात् साहित्य साधुओं और वैरागियोका साहित्य था। साधु लोग स्त्री को माया का स्वरूप मानते थे। उनके मार्ग मे कंचन और कामिनी शत्रुवत् थे अतः उन्होने नारी को अपने मार्ग का बाधक समझ कर उस में अनेक दोष ही देखे। कबीर नारी को विकार से युक्त समझ कर त्याज्य मानते थे—

"नारी तो हम भी करी जाना नहीं विचार।
जब जाना तब परिहरी, नारी बड़ा विकार॥

नारी तो ठगिनी है शिव, ब्रह्मा और विष्णु के पास भी वह पार्वती, ब्रह्माणी और लक्ष्मी बनकर रहती है और उन्हे नष्ट करती है। नारी की छाया से भुजंग तक अन्धा हो जाता है तो भला नारी के साथ रहने वाले पुरुष की रक्षा कैसे होगी। अन्य सन्त नारी को इसी रूप में देखते रहे। स्वयं गोस्वामी तुलसीदास, जो सीता माता के परम भक्त थे, स्त्री को नारी रूप मे देखते थे तो 'सहज अपावनि' कहते थे और आठ अवगुणों से युक्त कहते थे।

आलस अनृत चपलता माया, साहस अशौच अदाया।'

यद्यपि मातृत्व और सतीत्व को दृष्टि मे रखकर उन्होंने अपने मानस में कौशल्या, सुमित्रा, सीता, अनसूया, तारा और मन्दोदरी आदि स्त्री पात्रो को गौरव प्रदान किया पर कामिनी रूप सन्त तुलसीदास को भूल न सका अतः बीच-बीच में वे स्त्री के ऊपर कटु शब्दों की बौछार फेंकते रहे। पर इसमें उनका दोष नहीं तत्कालीन सन्त समाज की धारणा ऐसी ही थी। रीति-कालीन कवियों में नारी-नायिका के अतिरिक्त और कुछ न रह सकी। स्वकीया,

परकीया, सामान्या तथा अवस्था भेद से मुग्धा, प्रौढा और कलहान्तरिता; अभिसारिको, वासकसज्जा, खंडिता, प्रोषितपतिका आदि कितने ही भेदों के चक्कर में सारे रीतिकालीन कवि रह गये। आधुनिक साहित्य मे युगान्तर के प्रभाव से नारी के चित्रण मे नवीनता आई। साकेत की कैकेयी और उर्मिला, प्रियप्रवास की लोकसेविका राधा, कामायनी की श्रद्धा उच्चतम व्यक्तित्व से विभूषित है। नाटको, उपन्यासों और कहानियो मे भी नारी का व्यक्तित्व झलक उठा। साहित्य के सभी क्षेत्रो मे नारी का सम्मानित स्वरूप निखर उठा। पुरुषो से किसी अंश मे वह पीछे न रही, कामायनी की श्रद्धा तो पुरुष का पथदर्शक तक बन गई।

कलाकार के रूप मे भी नारी हिन्दी-साहित्य मे सम्मानित रही है। यद्यपि राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियो के कारण बेचारी नारी को अपनी प्रतिभा को विकसित करने का अवसर बहुत कम मिला फिर भी समय-समय पर घोर बादलो को चीर कर चन्द्रमा की भाँति कभी-कभी साहित्य गगन में वह अपनी छटा दिखा जाती थी। वीरगाथा काल तो आपत्ति काल था—उस काल मे चारणो ही की रचनाएँ उपलब्ध होती है, अन्य रचनाएँ काल कवलित हो गई, हो सकता है कि कुछ कवयित्रियाँ भी हुई हो। पर अनुकूल वातावरण प्राप्त न होने के कारण वे अपने को प्रकाश में न ला सकी।

भक्ति काल में भी स्त्री कवयित्रियो के लिए कोई अवसर न था। मुसलमानी राज्य काल था, अल्लाउद्दीन जैसे शाहंशाह सौन्दर्य का आखेट करते थे। स्त्रियो का क्षेत्र घर की चारदीवारी से आगे नही जा सकता था फिर भी सस्कार-जन्य कारणो से इस निविड तिमिराच्छन्न गगन में मीरा जैसे चन्द्र का उदय हो ही गया। युग काल के प्रभाव के अनुसार मीरां को कितनी कठिनाइयो का सामना करना पडा—सांप का पेटारा भेजा गया, विष तक दिया गया. पर मीरा तो पूर्व जन्म के संचित कर्मों के फलस्वरूप अपने गिरिधर के रंग मे रंगी थीं, उन्हे कौन रोक सकता था, सारी लोक-लाज और कुल की मर्यादा को उन्होने तोड कर अपनी सहज-भक्ति का गान किया। उनकी सहज आत्माभिव्यक्ति ही उनकी कविता बन गई। मीरा सन्तों के साथ बैठ-बैठ कर कीर्तन गाया करती थीं, उनका विरह अपना था,

अतः अपने व्यक्तिगत सुख दुःखो को ही वे अपने पदो में चित्रित करती थीं। उन्होने अपने आराध्य कृष्ण की लीला आदि का गान न करके अपने ही अनुभवो तथा भावो का निवेदन प्रस्तुत किया। मीरा गायिका थीं, अतः उन्होंने जो कुछ भी भाव प्रकट किये, गीतो में। फलतः उनकी पदावली सर्वश्रेष्ठ गीतिकाव्य का नमूना बन गई। यद्यपि मीरा को स्वप्न मे भी यह ध्यान न रहा होगा कि उनके पदों को साहित्य मे श्रेष्ठ स्थान मिलेगा और वे श्रेष्ठ कवयित्री भी कभी मानी जायेंगी पर उनके गीतो में वह तन्मयता, भाषा का सौष्ठव और अलंकारहीन सौरस्य है कि मीरा भक्ति-कालीन कवियो में गौरव प्राप्त कर सकीं। गीत-रचना इस युग की विशेषता थी और गीतिकाव्यत्व की दृष्टि से मीरा अपने काल मे सूर को छोड़ कर सब से बढ़ कर सिद्ध हुईं।

मीरा के पदो ने प्रेरणा का भी कार्य किया, फलतः आगे चलकर दयाबाई और सहजोबाई नाम की दो और कवयित्रियाँ मिलती हैं, जिनमें मीरा की भाँति ही हृदय की तड़पन और भावों का माधुर्य मिलता है। दयाबाई और सहजोबाई मीरा की भाँति सगुण-भाव की भक्तिने तो न थीं, सन्त-परम्परा में चरनदास की शिष्याये थीं। उनकी वाणी में कबीर आदि की भाँति अनहदवाद, गुरुमहिमा, त्रिकुटी और शून्य-महल आदि की विचारधारा मिलती है, फिर भी उनमें भी भावो का सौरस्य और सहज भावाभिव्यक्ति मिलती है।

रीतिकालीन काव्य कला विशारदों में नारी काव्य का केन्द्र बिन्दु तो थी, पर वह स्वयं काव्य-रचना करने के योग्य सम्भवतः न थी, पर आलम के साथ शेख रंगरेजन का नाम बड़े सम्मान से काव्य जगत् मे लिया जाता है। कहते हैं कवि आलम शेख की काव्य-कुशलता और काव्य-रसिकता को देख कर ही हिन्दू से मुसलमान हो गये थे और उनकी काव्य-रचनाओ में सदा ही शेख का हाथ रहा है—आलम की समस्त रचनाये वास्तव में दम्पति की संयुक्त रचनायें थीं। शेख की कविता की एक पंक्ति बड़ी ही मनोहर थी और रीतिकालीन काव्य की प्रवृत्तियों के अनुकूल थी, जिसे देख कर ही आलम लट्टू हुए और उन्होंने अपने जीवन में ऐसा घोर परिवर्तन कर डाला। कहते हैं

आलम एक बार अपनी पगडी रंगाने के लिए शेख की दूकान पर गये, शेख का उठता हुआ यौवन और लावण्य देख कर उनके मन में कविता की एक तरंग उठी, उन्होंने एक कागज़ पर दोहे का एक चरण लिख कर अपनी पगडी की खूंट में बांध दिया। जब शेख रंगने के लिए पगडी खोलती है तो उसे खूंट में बंधी हुई पंक्ति मिली, उसमें लिखा था—

'कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन।'

पंक्ति पढकर शेख झूम उठी, उसने रङ्गना बन्द कर दिया, तुरन्त ही उसका आशु कवित्व प्रस्फुटित हो गया। उसने दोहे का दूसरा चरण उसी कागज पर इस प्रकार लिख दिया—

"कटि को केचन काटि विधि कुचन मध्य धरि दीन।"

फिर रंगी हुई पगडी के किनारे में उसी प्रकार उस कागज को बांधकर लौटा दिया—आलम मुस्कराते हुए आये, बडे कौतूहल के साथ उन्होंने गांठ खोली और दोहा पढ़कर दंग रह गये। शेख हाजिर जवाबी में बडी ही प्रवीण थी। उसके एक पुत्र हुआ था जिसका नाम था जहान। एक दिन शाहजादे ने शेख से हँसी की 'क्या आलम ( संसार ) की पत्नी आप ही हैं?" शेख ने तुरन्त उत्तर दिया 'जी जहांपनाह, जहान (संसार) की मां मैं ही हूं।"

जैसा ऊपर लिख चुके है आधुनिक जगत् की परिस्थितियों ने नारियों को स्वतन्त्रता दी, उन्हें भी अपनी बुद्धि का विकास करने और प्रतिभा का प्रकाशन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। अन्तःपुर की विलास-सामग्री वह न रह सकी, घूंघट के पट खोल कर उसने भी अपनी योग्यता का परिचय देना चाहा। पुरुष ने परिस्थितियों के वश उसको पीछे रखा था, अन्धकार के हटते ही पुरुष ने उसको पूर्ण सुयोग दिया। मातृत्व और गृह-स्वामिनी का अधिकार तो उसके पास जन्मजात था ही, उसने अवसर पाकर अपनी हृद्गत सुधा को वाणी का रूप भी दिया। असहयोग आन्दोलन के जिन दिनों में पं० माखन-लाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन आदि अपनी वीर वाणी से नवयुवकों में उत्साह भर रहे थे, सुभद्राकुमारी चौहान भी अपने उत्साहवर्द्धक स्वरों में बोल उठी—

"खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी।"

मातृ-हृदय तो नारी की अतुलसम्पत्ति है, अतः सुभद्रा जी ने अपनी बच्ची के प्रति जो कविता लिखी उसमे वात्सल्य का वही रस टपकता मिलता है जो सूर के पदो मे मिलता था—

'बीते हुए बालपन की यह,' क्रीड़ापूर्ण वाटिका है।
वही मचलना वही किलकना, हँसती हुई वाटिका है॥"

सुभद्रा जी केवल कविता न लिखती थी, उनको कहानियो का एक संग्रह 'मुकुल' नाम से हिन्दी संसार मे सम्मान प्राप्त कर चुका है। दुर्भाग्यवश सुभद्रा जी का जीवन अल्पकालीन ही था, अतः उनकी प्रौढ़, प्रतिभा का परिचय हिन्दी संसार को न प्राप्त हो सका।

गान्धीवादी युग में ही छायावादी कवियों का उदय हुआ। प्रसाद, पन्त, निराला, अपनी-अपनी रहस्यवादी कविताओं को लेकर अग्रसर हुए। इसी समय श्रीमती महादेवी वर्मा, नीरजा, नीहार और रश्मि लेकर आगे बढ़ीं। छायावादी कवि प्रसाद, पन्त और निराला ने छायावाद की रूपरेखा ही बनाई थी, उसकी अभिव्यक्ति को ही सरस, प्रांजल और गम्भीर किया था, पर जिसने छायावादी कविता-धारा की प्राण-प्रतिष्ठा की, मार्मिक रहस्यानुभूति की मधुर और मर्मस्पर्शी भाव-धारा बहाई वे थी श्रीमती महादेवी जी। उनकी कविता मे आध्यात्मिक प्रणय साकार है—

"वे कहते है उनको मैं,
अपनी पुतली में देखूँ।
यह कौन बता जायेगा,
किसमें पुतली को देखूँ।"

वेदना ही महादेवी की कविता का केन्द्र बिन्दु है। उनकी वेदना अशक्त और निस्सहाय की वेदना नहीं है, वे तो विरह और सूनेपन को ही परमानन्द और आत्म तुष्टि मानती है और जलने मे ही सुहाग मानती है—

"अपने इस सूनेपन की,
मैं हूँ रानी मतवाली।
प्राणों का दीप जलाकर,
करती रहती दीवाली॥"

उनका मिलन विरह ही है, वे तो अपने को 'विरह मे ही थिर' समझती हैं और एक रहस्यात्मक स्मृति मे ही अपने जीवन को आनन्द से बिताना चाहती है—

कौन आया था न जाने,
स्वप्न मे मुझको जगाने ।
याद उन मे उगलियो के,
है मुझे पर युग बिताने ।
रात के उर म दिवस की चाह का शर हूॅ ।।"

सच तो यह है कि महादेवी जी ने नारी-जीवन को वेदनामय ही देखा। जिस घर मे उसका लालन-पालन होता है उसे तोड कर सर्वथा अपरिचित किसी घर मे उसे अपना जीवन व्यतीत करना पडता है। पुत्री, भगिनी, वधू, और माता रूप मे सारा जीवन करुणा से खारा हो जाता है। तभी तो वे कहती हैं—

क्या नई मेरी कहानी ?
विश्व का कण कण सुनाता प्रिय वही गाथा पुरानी ।

❀ ❀ ❀

जन्म से मृदु कंज-उर मे, नित्य पाकर प्यार लालन
अनिल से चल पख पर फिर, उड़ गया जब गध उन्मन
बन गया तब सर अपरिचित हो गई कालिका विराना
निठुर मेरी वह कहानी ।

महादेवी वर्मा को भाँति आज अन्य कई कवयित्रियां हिन्दी जगत् में निकल रही हैं। सुमित्राकुमारी सिन्हा, विद्यावती कोकिल के नाम उल्लेखनीय हैं। इन कवयित्रियो मे भी महादेवी जी की भाँति ही निराशा-वेदना और रहस्यात्मक अनुभूति का ही आग्रह है। महादेवी जी जैसे आज की कवयित्रियो की आदर्श बनी हैं। अभी दिल्ली की एक नवोदिता कवयित्री की सुकुमार कविता सुनने का अवसर मिला। कविता मे सुकुमार गान और माधुर्य का अनुपम सौंदर्य है पर उसमे नारी-जीवन के प्रति निराशा का ही दृष्टिकोण स्पष्ट है। कविता है—

कलि तुमने खिलकर क्या पाया ?
सुनसान हृदय के कोने को, पलभर को उजला कर पाया

❀ ❀ ❀

तेरा अंत स्वयं लुटाने का, उसको स्वच्छन्द बना पाया
जब चूस चुका रस लूट चुका, फिर कभी भूल कर भी आया ॥
कलि तुमने खिल कर क्या पाया

इसमे सन्देह नहीं कि भारतीय-नारी की जीवन की कहानी एक निराशा, वेदना, कसक और पराधीनता का इतिहास है। कबीर आदि भक्तों की दृष्टि में वह विष की बेल थी, तुलसी की दृष्टि मे पुरुष के बिना उसका अस्तित्व ऐसा ही था जैसे बिना जीव का देह और बिना जल की नदी। रीति.काल में वह विलास की सामग्री बनी। उसके सौंदर्य के कारण कभी-कभी उसे अपने नायक से पाँव दबवाने, चोटी गुँथवाने का भी गौरव मिल जाता था। जैसे—

"देख्यो दुर्‌यो वह कुंज कुटीर मे
बैठ्यो पलोटत राधिका पॉयन।"—रसखानि
रह्यौ गुही वेनी, लख्यौ मुहवे को त्योनार
लागे नीर चुचान ये, नीठि सुवाये बार ॥"—बिहारी

उसके मान पर नायक को पैरां पड़ना पडता था--

"मोर चंद्रिका स्याम सिर चढ़ि मत करसि गुमान।
लखिवी पॉयन पै परी, सुनियत राधा मान ॥"—विहारी

पर यह सम्मान उसकी प्रतिष्ठा को बढाने वाला न था, इससे उसकी सामाजिक स्थिति में कोई उत्कर्ष नही कहा जा सकता। आधुनिक काल में उसे गौरवमद प्राप्त हुआ है। उसे व्यक्तिगत, सामाजिक, राजनीतिक प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के सदृश एक मात्र स्थान प्राप्त हो चुका है। प्रत्येक क्षेत्र में बढ़ने और गौरव-प्राप्त करने का पूर्ण सुअवसर है। उसे एक प्रान्त के राज्यपाल (सरोजनी नायडू), केन्द्र में मन्त्री (राजकुमारी अमृतकौर), राजदूत (विजयलक्ष्मी) और अन्तर्राष्ट्रीय विश्व संघ में सभापति (श्रीमती पंडित) जैसे उच्च पदों पर आसीन होने का सुअवसर प्राप्त हो चुका है। उसकी निराशा का इतिहास गत हो चुका है, उसे किसी प्रकार की विवशता नहीं। उसे तो सभी सुवि-

धाये प्राप्त हैं, माता-पिता के घर मे लाडली पुत्री है, सभी प्रकार की चिन्ताओं से दूर अपने ही रूप और गुणो की वृद्धि मे निरत, बडी होने पर "उपजत अनत-अनत छवि लहही" के आधार पर अन्य गृह और कुल में जाकर अमर बेलि की भांति सम्पूर्ण सम्पत्ति की स्वामिनी बन जाती है। नवीन विधान और नवीन कानून उसे प्रेम, विवाह आदि की स्वतंत्रता दे रहे है, पिता की सपत्ति मे भी उसका भाग लगने वाला है, उसका जीवन निरापद, निश्चित और जीवन की सभी सुविधाओं से सम्पन्न है। समझ मे नहीं आता आज भी क्यों नारी-कवयित्रियां महादेवी जी की परम्परानुवर्तिनी हैं। क्या वे अपने स्फूर्तिदायक सौंदर्य, प्रेरक मुसुकान, शान्त और निरापद जीवन के अनुरूप काव्य के द्वारा जन-जीवन मे एक लहराती हुई ज्योति का संचार नहीं कर सकतीं ?

---

# कवि पन्त और उनकी कला

कला की आत्मा से इतिहास ने जीवन की जो परिणति ग्रहण की है—उसमे पन्त के द्वारा उसे अबोध सौन्दर्य मिला है। 'युगान्त' से पूर्व पन्त मध्य युग के सम्पन्न वर्ग की भावुकता के कवि रहे है। इतनी बात नवीन अवश्य रही है कि रीतिकालीन रसिकता उनके द्वारा प्रकृति के आंकन में भी व्यापक हुई। पन्त ने रीतिकालीन भावुकता को कवि दृष्टि की उज्ज्वलता दी। रीतिकाल मे प्रकृति के ऊपर कुहरे की तरह फैली तामसिकता को दूर कर पन्त ने प्रकृति की स्वच्छ आत्मा का प्रदर्शन किया।

यह कहने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी कि पन्त की काव्य-आत्मा प्रकृति अपनी व्यथा मे सर्वदा मूक रही, उसका बाह्य क्रीडा कलरव मूक व्यथा का मुखर भुलावा है। पन्त की कविता में सौन्दर्य का अबोध कैशोर्य ही प्रधान है। अनजान मधुरता में उनकी कल्पना निमग्न है। पन्त ने स्वयं ही एक बार इसे स्पष्ट किया था कि मै प्रायः किशोर प्रेम का ही चित्रण करता हूँ। 'लाई हूँ फूलो का हास, लोगी मोल, लोगी मोल।' में व्याप्त अस्पष्टता को विश्लेषण के सहारे दूर करना उन्हे रुचा नही। 'वीणा' मे ऐसी रचनाएँ

अनेक है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि प्रेम का प्रारम्भिक उद्रेक पवित्र होता है, उसमें यौन तत्व का अभाव ही रहता है। वह प्रेम, चुम्बन, परि-रम्भण, विरह आदि मे अभिव्यक्त होकर भी मलिन प्राण नहीं होता। पन्त का यह सौंदर्य प्रेम, यही कारण है कि विश्व की सीमा मे रह कर भी, अलौकिक हो सका है। पन्त का यह दृष्टिकोण 'गुंजन' तक यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है। कैसे गुंजन मे ही परिवर्तित वय की अनुभूतियाँ भी सिर उठाने लगी है—'आज रहने दो यह गृहकाज।' कैशोर्य के पश्चात् यौवन का आगमन सूचित करता है।

प्रारम्भिक अवस्था मे, पन्त में जीवन के प्रति न आसक्ति थी, न विरक्ति, मात्र सहज अनुरक्ति थी। वयःक्रम ने उन्हे आसक्ति की ओर खींचा है। उनके जीवन का प्रारम्भ आध्यात्मिकता से नहीं, भौतिक सरलता से हुआ, यही कारण है कि वयक्रम मे उन्हें यौवन की वक्रता स्वीकार करनी पडी। फिर भी उनका शैशव, उनका यौवन जड नहीं चैतन्य है, वह पशु-आकां-क्षाओं में आबद्ध होना पसन्द नही करता, वह तो हृदय की सहज वृत्तियो के छन्दो में ही आनंद का अनुभव करता है! दर्शन की सीमा मे उनका दर्शन भी भौतिक है। 'युगान्त' और 'ज्योत्स्ना' का दर्शन भौतिक सतह पर नवीन संस्कृति का आभास देता है। उनकी यह संस्कृति न जड है न चेतन; दोनों का समिश्रण उसमे है। मुख्यतः 'पल्लव' और अंशतः उसके बाद की कृतियों में वह वस्तु जगत् से ऊपर उठकर भाव जगत् की ओर उन्मुख हुए।

पन्त की कविता की गति शाश्वत नहीं रही है—टेढ़े-मेढ़े चढ़ाव-उतार से उनकी कविता आगे बढ़ी है। उनकी अनुभूतियाँ भी जो पहले निःशरीर थीं, पीछे चल कर शरीरस्थ हो गईं। पहले पन्त ने भाव जगत् में वस्तु जगत् को हेय माना और आज उनके चेतन का आधार जड है। आवश्यकता की दिशा मे आज वह प्रगतिशील हैं; किंतु आधार की दिशा में वह अपनी ही पूर्व सीमा से बहुत पीछे हट गए हैं। यद्यपि जड-चेतन के संयुक्तीकरण की भाँति वे गीत और गद्य के समन्वय से गद्य-गीत लिख रहे हैं, फिर भी गीत से वह बहुत दूर पड गए हैं। अस्तंगत मासिक 'रूपाभ' में उन्होने अपने दिक्परिवर्तन का बडा ही मार्मिक कारण दिया था—

कविता के स्वप्न भवन को छोड़ कर हम इस खुरदरे पथ पर क्यों उतर आए ? इस युग में जीवन की वास्तविकता ने जैसा रूप धारण कर लिया है, उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना के मूल हिल गए है। श्रद्धा-अवकाश में पलने वाली संस्कृति का वातावरण आन्दोलित हो उठा है और काव्य की स्वप्न जटितआत्मा जीवन की कठोर आवश्यकता के उस नग्न रूप से सहम गई है। निश्चित है कि इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं पल सकती। उस की जड़ो को अपनी पोषण-सामग्री ग्रहण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ा है। और युग जीवन ने उसके चिर-संचित सुख स्वप्नो को जो चुनौती दी है, उसको उसे स्वीकार करना पड़ रहा है।

कौन कह सकता है, युग की वास्तविकता का आमंत्रण स्वीकार कर पन्त वस्तु जगत् का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं कि स्वीय भाव जगत् का !

प्रारम्भ से ही पन्त की एक ही आस्था रही है—सौंदर्योल्लास। 'पल्लव' के जिस कवि की वाणी थी—

'अकेली सुन्दरता कल्याणि !
सकल ऐश्वर्यों की सन्धान।

उसी कवि का छवि-चित्र 'युगान्त' में कितना परिवर्तित है—

आह्लाद, प्रेम औ, यौवन का,
नव स्वर्ग, सद्य सौन्दर्य सृष्टि,
मञ्जरित प्रकृति, मुकुलित दिगन्त,
कूजन-गुञ्जन की व्योम वृष्टि।

वस्तुजगत के आधार तट पर पन्त इसी भावजगत् को प्रतिफलित देखना चाहते हैं। पहिले वह जिस जीवन-सौंदर्य के कवि थे आज वह उसी सौंदर्य के वैरूप्य में संशोधन लाते हैं।

इसे हम हिन्दी कविता का सौभाग्य कहेंगे कि युगके द्वार पर उन्होंने जीवन-व्यस्त वैज्ञानिक होकर नहीं जीवन मुग्ध कवि होकर अपनी उपस्थिति दी है। उनकी भाषा बदली, अभिव्यक्ति बदली, दिशा भी बदल गई किंतु 'अभिव्यक्त' वही है, जिसको लेकर व२ हिन्दी कविता के क्षेत्र में आए हैं। पहिले जिस भाव-

जगत् मे वह कविता के माध्यम से गये थे, आज उसी भाव जगत मे इतिहास, भूगोल और विज्ञान के माध्यम से जाना चाहते हैं। आज उनका दर्शन गांधी-वाद का दर्शन है। सौंदर्य के एकान्त साधक पन्त के साथ आज संस्कृति का भी योग है। उनके सौंदर्य का आधार समाजवाद है। उनकी संस्कृति ने अपना आधार गांधीवाद को बनाया है। विज्ञान और ज्ञान के समन्वय से वह सन्तुलित सौंदर्य को महत्व देने लगे है। फिर भी समाजवाद की ओर उनका झुकाव अधिक है, कारण जो भाव जगत् आज संकटग्रस्त हो रहा है, जिसमे चारों ओर वैषम्य का ही प्रदर्शन है—जवानी जहाँ गरीबी की आंच मे तप रही है, सौंदर्य जहाँ चिथडो मे विह्वल प्राण है, अभावों में जिनका जीवन कुत्सित बन रहा है पहिले उसका उद्धार आवश्यक है। उनक कल्पना सूक्ष्म को स्थूल का आधार देना अपना कर्तव्य मानती है। आज वह भावों को शब्दो मे नही जीवन मे साकार देखने के पक्षपाती है। इसी लिए पन्त ने जीवन की कलात्मक व्यंजना के लिए वस्तु जगत् का आधार-पट लिया है। आज पन्त को वही चाहिए जो मानव जीवन मे जीवनभर सके। वह कहने को बाध्य हैं:—

> कहाँ मनुज को अवसर देखे मधुर प्रकृति मुख ?
> भव अभाव से जर्जर प्रकृति उसे देगी सुख ?
>
> (युगवाणी)

यह प्रश्न उसी कोमल कवि का है जिसने एक दिन हमारे काव्य साहित्य में प्रकृति की सुषमा की चित्रशाला सजा दी थी। आज वह अपनी ही सृष्टि को निराधार पा रहा है। 'पल्लव' के सुकुमार कवि का 'युगवाणी' की ओर आना ही युग की करालता का सबसे बड़ा प्रमाण है। कहाँ वह कोमल कलकण्ठ, कहां यह विकल युग! कही भी उसके लिए वसन्त नही रह गया है। 'आम्र- विहग' का गान कवि सुने तो कैसे—उसे तो यहाँ भी 'युगवाणी' का तकाजा व्यग्र कर रहा है—

> हे आम्र विहग! तुम सुनो सजग,
> जग का उपवन, मानव जीवन,

है शिशिर ग्रस्त, बहु व्याधि त्रस्त,
ये जीर्ण शीर्ण, चिर दीर्ण पर्ण,
जो स्रस्त ध्वस्त, श्रीहत, विवर्ण,
क्षय हो समस्त, युग-सूर्य अस्त।

'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' पन्त की नई दिशा की काव्य-कृतियाँ हैं। हम इन्हे पन्त की रचनाओं का उत्तरार्द्ध कह सकते है। इनकी पूर्व की कृतियां—'वीणा', 'ग्रंथि', 'पल्लव' और 'गुंजन' पूर्वार्द्ध को सूचक हैं।

आज पन्त ने जीवन के कठोर सत्य की कला ली है। आज वह लहरों पर नहीं, पत्थरों पर कला की मूर्ति गढ रहे है। जीवन को वह फिर उसके अर्थ मे उठा रहे है। एक शब्द मे अब तक के इतिहासों को छोड़कर वह एक नवीन प्रस्तर युग से जीवन का प्रारम्भ कर रहे है—आज उनकी दृष्टि में अर्थ, धर्म, कला और संस्कृति सभी मे नवीनता की आवश्यकता है। 'युगवाणी' मे 'गंगा की सांझ', 'जलद' तथा 'प्रलय नृत्य' का आस्वादन करने के बाद पन्त की इच्छा किसी पर अप्रकट नहीं रह जायगी।

'गुंजन' से 'युगान्त' तक हम मुख्यतः पन्त को कलाकार के रूप में देखते रहे हैं, उनका विवेचक रूप हमारे सम्मुख नहीं आया। 'ज्योत्स्ना' में भी उनका कलाकार ही प्रमुख रहा है, विवेचक द्वितीय स्थान पर है। किन्तु 'युगवाणी' मे विवेचक ही प्रमुख है—कलाकार का स्थान द्वितीय है। 'ग्राम्या' मे आकर कवि का जीवन-संस्कार-साधना ने सिद्धि प्राप्त कर ली है। वास्तव में 'ग्राम्या' की कविता कला 'युगान्त' और 'युगवाणी' की संमिश्रित कला है।

चित्रिणि! इस सुख का स्रोत कहाँ
जो करता नित सौंदर्य सृजन?
'वह स्रोत छिपा उर के भीतर,
क्या कहती यही सुमन-चेतन?

('युगान्त' मे 'तितली')

कवि गुरु रवीन्द्र के शब्दों में—सत्य की यथार्थ उपलब्धि मात्र ही आनंद है। वही चरम सौंदर्य है। जब इस सत्य की प्राप्ति होती है, तब सारे द्वंद्व

मिट जाते है और सब कुछ सुन्दर हो जाता है। तब सत्य और सुन्दर वस्तुतः एक ही वस्तु बन जाते है। इस प्रकार उनमें कुछ भेद रह ही नहीं जाता।❀ वह एक रस है जो विश्व को सराबोर कर डालता है, डुबा देता है, पिघला देता है और बज्रकारा को तोड़कर अपनी धारा मे प्रवाहित कर देता है।

पन्त की आँखों को ग्राम्य-जीवन की दैन्यावस्था ने पर्याप्त रूप मे प्रभावित किया है। सत्य ने कठोरतापूर्वक उनके हृदय को झकझोरा है। वह इसी आवेग में अपनी कविता मे ग्रामीण शब्दो का भी प्रयोग कर बैठते हैं। 'धोबियो का नाच', 'चमारो का नाच', 'कहारो का रुद्र नर्तन', प्रभाव की दृष्टि से अत्यन्त ललित चीजें हैं। 'भारत माता', 'ग्राम वासिनी', 'अहिंसा', 'चरखा गीत' जनगण की भावना से पूर्ण हैं। पन्त की प्रारम्भिक अनुभूति इष्ट सत्य की छाया मे संशोधन की कामना रखती है—

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजे होगे गान।
निकल कर आँखो से चुपचाप,
वही होगी कविता अनजान।

की भावना अपने स्थान से डिगने लगती है। क्यों ? कारण स्पष्ट है। पन्त का कवि हृदय आज कोमल का गान ही नहीं सुनता, उसे तो ग्राम के उन भूखे अन्त्यजो का विरह गान भी सुन पड़ता है, जिसमे केवल नग्न सत्य है—

'भूखिया के मारे विरहा बिसरिगा,
भूलिगा कजरी कबीर।
देखि के गोरी के उभरल जोवनमा,
न उठए कलेजवा मे पीर॥

सत्य के लिए नहीं, बल्कि कला के निजी अस्तित्व के लिए ही आवश्यक है कि वह सत्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति करे। आज कलाकार इस बात

---

❀ तखन की हय। तखन द्वंद्व घूपिया त्रिया समस्तई सुन्दर हय, तखन सत्य ओ सुन्दर ऐकई कथा हइया उठे। त खनई बूझिते पारि, सत्येर यथार्थ उपलब्धि मात्रई आनन्द, ताहाई चरम सौंदर्य।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर।

पर विवाद नहीं करेगा कि युग-युग के सत्यों में एकरूपता आवश्यक है। यथार्थवाद, छायावाद, रहस्यवाद, प्रगतिवाद इत्यादि एक-एक युग के सत्य है। इन मे से प्रत्येक उसी प्रकार ठीक है—जिस प्रकार—लेमोनेड के साथ बर्फ।

कला युग की उपेक्षा न कर युग सत्य को ग्रहण और वहन इसलिए करती है कि कलाकार युग की उपेक्षा स्वाभाविक रूप मे नही कर सकता और युग भी कलाकार से अप्रभावित नही रह सकता। दोनो से ही दोनों का निर्माण होता है। युगातीत होने की भी एक अवस्था है। किन्तु, युग से सर्वथा विच्छिन्न होने की दशा अप्राकृतिक तो है ही, कल्पनातीत भी है। जो वस्तुतः कलाकार है, वह कभी सत्य से पराङ्मुख नही देखा गया। बाल्मीकि या व्यास, कालिदास या माघ, होमर या चासर, दांते या गेटे, शेक्सपियर या शेली, कबीर या तुलसी, पुश्किन या मायाकोवस्की, वर्ड्सवर्थ या ह्विट मैन, रवीन्द्र या ईलियट किसे युग सत्य से विमुख कहा जाय।

हम कह सकते हैं पन्त की कविता मे एकरसता का अभाव ही उनकी कविता की सजीवता है। कवि ने अपने को युग सत्य से दूर रखकर आत्म-प्रवंचना नही अपनाई। तथाकथित शाश्वत साहित्य का ढोंग रचकर युग सत्य से पराङ्मुख होना, युग-प्रवंचना, अथवा लोक-प्रवंचना से अधिक आत्म-प्रवंचना है। जब हमारा अन्न और जल, श्वास और विश्वास समाज अथवा युग से अप्रभावित नही रह सकता, तब अनवरत स्फूर्ति देने वाला चेतन मस्तिष्क ही कैसे अप्रभावित रह सकता है। जो युग हमारी नीति, रीति और प्रीति को प्रभावित कर रहा है, वह हमारी 'प्रतीति' को ही अप्रभावित रखने का अपराधी क्यों बनेगा। यह तो तभी सम्भव है जब हम प्रमादवश युग के अनन्त स्पन्दनों को भुला दें।

मानव कभी भूल से भी क्या सुधर सकी है भूल ?
सरिता का जल मृषा, सत्य केवल उसके दो कूल।
आत्मा औ भूतो मे स्थापित करता कौन समत्व ?
बहिरन्तर आत्मा भूतों से है अतीत वह तत्व।

भौतिकता आध्यामिकता केवल उसके दो कूल ॥
व्यक्ति विश्व से, स्थूल सूक्ष्म से परे सत्य के मूल।
(युगवाणी)

यहाँ हमे यह नहीं भुला देना है कि कवि निरपेक्ष दृष्टिकोण से सापेक्षिक दृष्टिकोण को संतुलन देता है। उसकी तटस्थता भी मनुष्य की आत्म-साधना की ओर अधिक ममतालु है तभी तो वह 'ग्राम्या' मे 'आधुनिका' की अपेक्षा 'ग्राम नारी' को अधिक संवारता है।

आलोचना में कला और जीवन पर्याय हैं किन्तु कविता की मांग इससे भी कुछ अधिक है। कवि, जीवन के सुख-दुःखो से स्पन्दित कम्पित होते रहने के कारण स्वभावतः जीवन का आलोचक होता है। यदि वह धर्म परिवर्तन कर दे, कवि कर्म छोड दे, तो भी उसके चेतन मस्तिष्क का, उसके जागरूक दृष्टिकोण का आलोचकत्व उससे दूर नहीं हो सकेगा। अत: उसके चिन्तन की वाणी मे जीवन की आलोचना अनिवार्यतः आएगी और अपनी अनवमान्य मान्यता रखेगी। कविता को जीवन की आलोचना कहने वाला मैथ्यू आर्नल्ड अवश्य ही इस नग्न सत्य से अपरिचित नही था।*

इस प्रकार युग का व्यक्तित्व ग्रहण कर लेने के बाद 'ग्राम्या' में कवि ने जीवन को समाजवादी निरीक्षण और गांधीवादी संरक्षण दिया। पन्त का उद्देश्य दोनो के आंतरिक सत्य को स्वीकार कर दोनों की अपूर्णता को दोनों से पूर्ति देना है। वह जिस प्रकार आत्मा की भूख मिटाना चाहते हैं, उसी प्रकार शरीर की भूख का निवारण भी उनका ध्येय है। 'ग्राम्या' की दो कवितायें— 'महात्मा जी के प्रति' तथा 'बापू, इसकी सूचक हैं। युगवाणी का कवि 'संकीर्ण भौतिकवादियो के प्रति' सर्वदा सजग और प्रश्नशील है—

---

* In Poetry, as a criticism of life under the conditions fixed for such a criticism by the laws of poetic truth and poetic beauty, the spirit of our race will find, we have said as time goes on and as other helps fail, its consolation and stay—Mathew Arnold.

'आत्मवाद पर हँसते हो रट भौतिकता का नाम!
मानवता की मूर्ति गढ़ोगे तुम सँवार कर चाम!

शारीरिक आवश्यकताओं का सब कुछ मान लेने की गलती जागरूक कवि कभी नहीं करेगा, इसीलिए पन्त आत्मवाद और भूतवाद के संयोग से एक नवीन संस्कृति का उद्भव चाहते हैं।

अभी तो मनुष्य विषम विष से मूछित है. वह सूक्ष्म और स्थूल दोनों ही की ओर से बेसुध है। इसमें स्थूल चेतना आ जाने पर सूक्ष्म चेतना स्वयं आएगी। समाजवादी मानव छायावाद का अनादर नहीं करेगा।

कवि का विश्वास है, जीवन का वर्तमान संघर्ष बहुत दिनों तक चलने वाला नहीं है, इसका अन्त भी निकट भविष्य में होकर रहेगा। उस अनागत भविष्य का स्वप्न कवि के पलकों में है—

मौन रहेगा ज्ञान,
स्तब्ध निखिल विज्ञान।
क्रांति पालतू पशु सी होगी शांत।
तर्क, बुद्धि के वाद लगेंगे भ्रांत।
राजनीति और अर्थशास्त्र
होंगे संघर्ष परास्त।
धर्म, नीति, आचार—
रुँधेगी सबकी क्षीण पुकार।
जीवन के स्वर में हो प्रकट महान
फूटेगा जीवन रहस्य का गान।
क्षुधा, तृषा औ, स्पृहा, काम से ऊपर
जाति, वर्ग औ', देश राष्ट्र से उठकर
जीवित स्वर में व्यापक जीवन गान
सद्य करेगा मानव का कल्याण। (युगवाणी)

हम भूलते नहीं हैं तो पन्त का आशावादी हृदय यह विश्वास पालता है कि वह फिर से समय परिवर्तन के साथ अपने व्यक्त गीतों को गाने में

तत्कालीन रसिक कवियों ने आचार्य का लबादा ओढ़ लिया, ताकि वे समाज की दृष्टि में विषय-भोग की गन्दी कविता करने वाले 'कवि' न कहला कर लक्षण ग्रन्थों के रचयिता विद्वान् 'आचार्य' कहलाते रहे और फिर अपनी कविता में भी कवि महोदय जिन व्यक्तियों की शृंगार लीला का चित्रण करते थे, वे कोई लौकिक स्त्री-पुरुष न होकर साक्षात् कृष्ण और राधा जैसे आलम्बन थे, जिनको आधार मानकर भक्तिकाल के असंख्य कवि श्रद्धाभक्ति के भावपूर्ण काव्य लिख चुके थे। इस प्रकार राधा कृष्ण की आड में भी इस काल के चतुर कवियों ने अपना उल्लू खूब सीधा किया और 'दाढी की ओट में शिकार करने' वाली कहावत को चरितार्थ कर दिखाया।

यद्यपि भूषण की रचना में शृङ्गार रस का अभाव है, तथापि उन्हें रीति-काल का प्रतिनिधि कवि माना जाता है। इसका मुख्य कारण है—रीति परम्परा का विधिवत् पालन। भूषण ने वीर रस की कविता लिखकर तात्कालिक रसिक कवियों की एक प्रधान विशेषता को छोडकर महान् साहस का निःसन्देह परिचय दिया, परन्तु 'शिवराज भूषण' जैसा लक्षणग्रन्थ लिखकर रीतिकाव्य की अटूट परम्परा को तोडने मे वे भी समर्थ न हो सके। भूषण ने वीर रस की कविता अवश्य लिखी, किन्तु स्वतन्त्र वीर काव्य के रूप मे नहीं, अपितु एक अलंकार ग्रन्थ के रूप में। 'शिवराजभूषण' मे अलंकारों का लक्षण दोहों मे देकर फिर उन के उदाहरण वीररस से भरे कवित्तों मे दिए गये हैं। अन्य रसिक कवि शृङ्गार रस के उदाहरण देते थे, जब कि भूषण ने अपनी रुचि के अनुसार वीरनायक शिवाजी की प्रशंसा मे कवित्त रचे। इस रूढ़िपालन के कारण ही भूषण को 'रीतिकाल' का प्रतिनिधि कवि कहा जाता है।

यद्यपि हिन्दी कविता का जन्म वीरगाथाओं के समय मे हुआ था। उस समय अनेक 'रासो' काव्यों मे राजपूत वीरों की शूरता तथा उनके युद्धों का ओजस्वी वर्णन भी मिलता है। परन्तु उस समय की राजनीतिक परिस्थितियों को देखते हुए यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि वीरगाथा का कवि अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने, प्रशंसा द्वारा धन प्राप्त करने एवं उनकी संकीर्ण मनोवृत्तियों व व्यक्तिगत कृत्यों ( भले व घृणित ही क्यों न हों ) का विशद वर्णन करना ही अपना कर्त्तव्य समझता रहा। इस भावना को उदार

समर्थ होगा। जिस कवि को जीवन के पूर्वार्ध से कोई मोह नहीं हुआ वह जीवन के उत्तरार्द्ध को भी परिस्थिति के प्रतिकूल अपनी कल्पना से चिपटाए नहीं रहेगा। हाँ, अभी तो कवि का स्वर है---

करुणा रंजित जीवन का सुख,
जग की सुन्दरता अश्रु स्नात,
करुणा से ही होते सार्थक---
ये जन्म-मरण संध्या-प्रभात।

---

# वीर कवि भूषण

हिन्दी साहित्य एक विशाल उद्यान के समान है, जिस में विविध कवि-कोकिलो की काकली विभिन्न स्वर लहरियों में सुनाई पडती है। कभी कविता-कामिनी किसी वीर नृपति को आश्रयदाता बनाकर अपने हावभावो से उसको रिझाती हुई दिखाई देती है, तो कभी भगवान् के मन्दिर में अपनी अर्चना के पुष्प चढ़ाती हुई भक्तिभाव की गंगा बहाती दृष्टिगोचर होती है। जिस समय महाकवि भूषण का रचनाकाल था, उस समय की हिन्दी कविता के कुछ निराले ही रङ्ग-ढङ्ग थे। संस्कृत आचार्यों का अनुकरण करते हुए हिन्दी कवि-आचार्य लक्षण-ग्रन्थो की रचना कर रहे थे। केशवदास इस परम्परा के प्रमुख प्रेरक माने जाते हैं। साहित्यशास्त्र का निर्माण करके उसे हृदयङ्गम कराने के हेतु उदाहरण स्वरूप जिस कविता का निर्माण हुआ, उसे आलोचको ने 'रीतिकाव्य' का नाम दिया। दोहे मे किसी अलंकार, रस, शक्ति आदि की परिभाषा देकर फिर कवित्त-सवैयो मे उसका विस्तृत उदाहरण देना उस समय के लेखकों की निश्चित शैली थी। किसी सिद्धान्त विशेष का विवेचन तथा परिशीलन उस समय नहीं किया गया। कदाचित् उन आचार्यों ने इसकी आवश्यकता ही नहीं समझी, क्योंकि संस्कृत मे विद्वानो ने इस सम्बन्ध में जितना लिख दिया था, उससे अधिक लिखने की कुछ गुंजायश ही नहीं रह गई थी। अतः रीतिकाल में आयश्रदाताओं की रुचि अनुकूल शृंगारी रचना करने तथा निःसंकोच भाव से वासना प्रधान कामुक कविता सुनाने के लिए

तत्कालीन रसिक कवियों ने आचार्य का लबादा ओढ़ लिया, ताकि वे समाज की दृष्टि में विषय-भोग की गन्दी कविता करने वाले 'कवि' न कहला कर लक्षण ग्रन्थों के रचयिता विद्वान् 'आचार्य' कहलाते रहे और फिर अपनी कविता मे भी कवि महोदय जिन व्यक्तियों की शृंगार लीला का चित्रण करते थे, वे कोई लौकिक स्त्री-पुरुष न होकर साक्षात् कृष्ण और राधा जैसे आलम्बन थे, जिनको आधार मानकर भक्तिकाल के असंख्य कवि श्रद्धाभक्ति के भावपूर्ण काव्य लिख चुके थे। इस प्रकार राधा-कृष्ण को आड़ मे भी इस काल के चतुर कवियो ने अपना उल्लू खूब सीधा किया और 'दाढी की ओट में शिकार करने' वाली कहावत को चरितार्थ कर दिखाया।

यद्यपि भूषण की रचना में शृङ्गार रस का अभाव है, तथापि उन्हें रीति-काल का प्रतिनिधि कवि माना जाता है। इसका मुख्य कारण है—रीति परम्परा का विधिवत् पालन। भूषण ने वीर रस की कविता लिखकर तात्कालिक रसिक कवियो की एक प्रधान विशेषता को छोडकर महान् साहस का निःसन्देह परिचय दिया, परन्तु 'शिवराज भूषण' जैसा लक्षणग्रन्थ लिखकर रीतिकाव्य की अटूट परम्परा को तोडने मे वे भी समर्थ न हो सके। भूषण ने वीर रस की कविता अवश्य लिखी, किन्तु स्वतन्त्र वीर काव्य के रूप मे नहीं, अपितु एक अलंकार ग्रन्थ के रूप में। 'शिवराजभूषण' में अलंकारो का लक्षण दोहों में देकर फिर उन के उदाहरण वीररस से भरे कवित्तो मे दिए गये हैं। अन्य रसिक कवि शृङ्गार रस के उदाहरण देते थे, जब कि भूषण ने अपनी रुचि के अनुसार वीरनायक शिवाजी की प्रशंसा में कवित्त रचे। इस रूढ़िपालन के कारण ही भूषण को 'रीतिकाल' का प्रतिनिधि कवि कहा जाता है।

यद्यपि हिन्दी कविता का जन्म वीरगाथाओ के समय मे हुआ था। उस समय अनेक 'रासो' काव्यों में राजपूत वीरो की शूरता तथा उनक युद्धो का ओजस्वी वर्णन भी मिलता है। परन्तु उस समय की राजनीतिक परिस्थितियों को देखते हुए यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि वीरगाथा का कवि अपने आश्रयदाताओ को प्रसन्न करने, प्रशंसा द्वारा धन प्राप्त करने एवं उनकी संकीर्ण मनोवृत्तियों व व्यक्तिगत कृत्यो ( भले व घृणित ही क्यो न हो ) का विशद वर्णन करना ही अपना कर्त्तव्य समझता रहा। इस भावना को उद्गार

या विशाल मानवता की उदात्त भावना नहीं कहा जा सकता, जो सच्चे वीर कवि मे अपेक्षित रहती है। ऐतिहासिक तथ्यों की अवहेलना करके वीरगाथा लेखकों ने जो शृंगारी कल्पनाएं की हैं, उनके द्वारा 'रासो' के वीर नायक सच्चे अर्थों मे 'वीर' कहलाने योग्य नहीं रहे। पृथ्वीराज जैसे सुविख्यात राष्ट्रप्रेमी राजपूत राजा की इतिहास प्रसिद्ध घटना को 'स्वाधीनता संग्राम' जैसे महत्त्वपूर्ण विषय से घसीट कर एक व्यक्तिगत संकुचित भावना का सूचक बना दिया गया। मोहम्मद गौरी को विदेशी आक्रमणकारी के रूप मे देख कर भारत की स्वतंत्रता की रक्षा के लिये पृथ्वीराज ने युद्ध किया था। परन्तु चन्द्रबरदाई ने इस की पृष्ठ भूमि मे एक प्रेम-कहानी की निराधार कल्पना करके 'रासो' को वीर रस की प्रतिनिधि रचना होने से वंचित कर दिया। यही दशा थोड़ी बहुत अन्य रासो-कारो की भी है। इस प्रकार यदि समस्त हिन्दी साहित्य पर दृष्टिपात किया जाये, तो वीर रस का एक मात्र प्रतिनिधि कवि 'भूषण' ही हमारे सामने आता है। भूषण का महत्त्व इस कारण और भी बढ जाता है, कि वह रीति काल के शृंगारी वातावरण मे रहते हुए भी उससे निर्लिप्त रहे। जिस प्रकार अकबर के राज्यकाल मे राणाप्रताप ने अपनी तलवार ऊंची करके तत्कालीन स्वार्थी और देशद्रोही राजाओ के सामने अपनी मातृभूमि की लाज रख ली थी, ठीक उसी प्रकार भूषण ने भी भोग वासना की गन्दी नाली मे बहने वाले रीतिकवियो के सामने अपनी अमर ओजस्वी वाणी सुनाकर भारती मां के मस्तक को झुकने से बचा लिया।

महाकवि भूषण के वास्तविक नाम का आज तक पता नही चल सका। चित्रकूट के सोलंकी राजा की दी उपाधि द्वारा ही सभी लोग इस अमर कवि को 'भूषण' कहने लगे। शैशव से ही स्वाभिमानी प्रवृत्ति होने के कारण भूषण ने अपनी भावज के एक उपालंभ पर घर बार तक छोड़ दिया था। अनेक आश्रयदाताओं के पास जाने पर भी भूषण को सन्तोष न मिला, क्योंकि भूषण किसी भी राजा की खुशामद करने को तैयार नहीं थे। अंत में उनका साक्षात्कार शिवाजी से हुआ। अधिकारी को अधिकारी मिल गया। शिवाजी और भूषण की यह मुलाकात देश और जाति के लिए अत्यन्त कल्याणप्रद सिद्ध हुई। शिवा जी की तलवार की नोक शत्रुओं

के हृदयो को चीर कर लहूलुहान करने लगी तो भूषण की लेखनी की नोक ने हिन्दू वीरों के हृदयो मे दबी हुई स्वतंत्रता की ज्वाला को कुरेद कर भड़का दिया। लेखनी और तलवार ने मिलकर भारत का चित्र ही बदल कर रख दिया। शिवाजी कर्म-जगत् के भूषण बन गए और भूषण भावजगत् का शिवाजी बन गया। दो व्यक्तित्व मिलकर एक हो गए। सरस्वती और दुर्गा के इस शुभमिलन के पश्चात् राज्यलक्ष्मी भी महाराष्ट्र को मिल गई।

कुछ आलोचक भूषण को राष्ट्रीय कवि मानने में आपत्ति करते है। उन का विचार है कि चूंकि भूषण ने हिन्दुओं के हितो की रक्षा करने तथा मुसलमानो की निन्दा करने मे ही अधिकतर अपनी कला का प्रदर्शन किया है एवं एक हिन्दू राजा के आश्रय मे रह कर हिन्दुओं की जातिगत भावनाओ को उभारा है, अतः वे साम्प्रदायिक कवि कहे जा सकते है, राष्ट्रीय कवि नहीं। इस प्रकार की विचार-धारा रखने वाले आलोचको ने भूषण के विषय में एकांगी निर्णय दिया है। यदि वास्तविक स्थितियो का ज्ञान किया जाये, तो भूषण को साम्प्रदायिक कवि मानने की भूल कदापि नहो और न ही इस अमर कवि की शाश्वत वाणी पर यह निराधार आरोप लगाया जाये कि आज भारत एक धर्म निरपेक्ष राज्य है, जिसमे भूषण की कविता द्वारा हिन्दू-मुस्लिम एकता को धक्का लगता है, क्योंकि भूषण की कविता साम्प्रदायिक संकुचित भावनाओ से भरी है।

इसमे सन्देह नही कि भूषण ने औरंगजेब की निन्दा और उसके अत्याचारो का बहुत विस्तार से वर्णन किया है। उदाहरणार्थ—

'कुम्भकर्न असुर औतारी अवरंगजेब कीन्ही कतल,
मथुरा दोहाई फेरी रब की।
खोदि डारे देवी देव सहर मुहल्ला बांके लाखन तुरूक
कीन्हे छूटि गई तबकी।"

किन्तु औरंगजेब की निन्दा को मुसलमानों की निन्दा मान लेना न्याय संगत तो नहीं। यदि भारतीय राजनीतिज्ञ देशभक्तों ने स्वतन्त्रता संग्राम में अंग्रेज शासकों का महान् विरोध किया, तो इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं

था, भारतवासी अंग्रेज जाति के शत्रु थे। प्रश्न है सिद्धान्त का, व्यक्ति या जाति का नहीं। औरंगजेब एक अत्याचारी शासक था, उसने न्याय का पथ छोड़कर हिन्दुओं पर 'जजिया' कर लगाया। 'तबलीग' अर्थात् 'शुद्धि' का प्रचार किया। साम्प्रदायिकता का पक्ष लेकर स्वयं औरंगजेब की नीति अनुदारतापूर्ण रही। यह एक सजीव सत्य है, जिसको प्रायः सभी मान्य ऐतिहासिकों ने प्रमाणित किया है। इस प्रकार औरंगजेब चाहे किस जाति या देश का है, यह प्रश्न न्याय-प्रेमी साहित्यकार या एक निष्पक्ष मानव के लिए भी गौण है। प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह नृशंस शासक और अत्याचारी, क्रूर, पिता और भाइयों तक का अनुचित ढंग से गला काटने वाले मानव रूप मे दानव का विरोध करे। विरोध ही नहीं, प्रत्युत ऐसे 'आततायियों' के लिए तो 'मनुस्मृति' ने यहाँ तक कह दिया है कि—

'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्।'

अर्थात् आततायी पुरुष को आते हुए देखकर बिना सोचे-समझे उसका वध कर डालो। इस पृष्ठभूमि पर खड़े होकर यदि सोचा जाये, तो भूषण ने जो कुछ किया, वह ठीक किया, बल्कि कम किया। 'क्रिया की प्रतिक्रिया' सदैव जोरदार होती है, परन्तु भूषण और उसके उदार आश्रयदाता शिवाजी दोनों मे किसी ने भी ऐसी प्रतिक्रिया नही दिखलाई। 'शठे शाठ्य समाचरेत्' की नीत्ति का भी कोमल रीति से पालन किया। इसका सबसे प्रबल प्रमाण यही है कि औरंगजेब द्वारा मन्दिरों को गिराते और देवमूर्तियों को तोडते हुए देखकर भी शिवाजी ने अपने प्रदेश में कहीं पर भी किसी एक मस्जिद को नहीं गिरवाया तथा कुरान आदि धर्म ग्रन्थो को भस्मसात् नहीं होने दिया। वह यदि चाहते, तो ऐसा कर सकते थे और राजनीति के दृष्टिकोण से उनको बुरा कहने का भी साहस किसी को न होता। परन्तु नैतिकता को छोड़ना शिवाजी जैसे उदार भारत वीर के लिए असम्भव था। इस स्थिति में शिवाजी को भी साम्प्रदायिक मानना असगत है।

दूसरा प्रमाण लीजिये। शिवाजी के सामने जब कुछ मराठे वीर किसी नवाब की सुन्दरी कन्या को पकड़कर ले आये और लूटे हुए धन के साथ उसे भी शिवाजी को समर्पित किया तथा उससे विवाह करने का प्रस्ताव किया,

उस समय छत्रपति ने उनको डांटते हुए जो शब्द कहे, वे विश्व इतिहास मे स्वर्णाक्षरो मे लिखने योग्य है, तथा ससार भर मे केवल भारतवर्ष के ही किसी सुपुत्र के मुंह से निकल सकते है कि 'ऐ मूर्खो ! तुमने अपने शासक को नही समझा। जिस यवन सुन्दरी को तुम मेरे विवाह के लिए लाये हो, काश ! यह मेरी मां होती और मै उसके गर्भ से जन्म लेता ताकि कुछ सुन्दरता का कुछ अंश मुझ कुरूप को भी मिल जाता।' ये शब्द एक बार पहले महाभारत के युग मे भारत वीर अर्जुन ने भी उर्वशी से कहे थे। धन्य है वह वीर और उसकी जन्मभूमि, जहाँ इतना ऊचा आदर्श और इतनी महान् नैतिकता का पालन है। भला सोचिये तो, ऐसी अमर विभूति और दिव्यात्मा को कौन साम्प्रदायिक कह सकेगा ? औरंगजेब के सुपुत्र शाहजादा मुअज्जम भी शिवाजी की कैद में रहे थे, और वहीं से वह छत्रपति के उदार व्यवहार को देखकर उसके प्रशंसक हो गए थे। औरंगजेब की पुत्री रोशन-आरा तो, कहते हैं, शिवाजी पर अनुरक्त भी हो गई थी। किन्तु शिवाजी ने बिना पिता की अनुमति के उसे स्वीकार करना उचित नहीं समझा था। ऐसे असाम्प्रदायिक आश्रयदाता के पास रहने वाला कवि भूषण भला कैसे संकुचित धारणा वाला संकीर्ण मनुष्य हो सकता है।

अन्त में एक और प्रमाण मिलता है, वह यह कि भूषण यदि यवन विरोधी होता, तो अन्य मुस्लिम शासकों की प्रशसा वह कैसे करता। निम्न पंक्तियो मे उसने हुमायूं, अकबर, शाहजहां की स्तुति की है—

"बब्बर के तब्बर हुमायूं हद बांधि गए।
दो मैं एक करो ना कुरान वेद ढब की॥"

इसी प्रकार—

और पातसाहन के हुती चाह हिन्दुनकी,
अकबर शाहजहां कहै साखी तब की॥

अस्तु, भूषण के काव्य की कुछ विशेताओ पर भी विचार कर लेना चाहिये। यद्यपि रीतिकाल में देव और भूषण की भाषा को आचार्यों ने दोष-पूर्ण माना है, किन्तु भूषण को एक दृष्टि से निर्दोष सिद्ध किया जा सकता है। भूषण वीर रस के कवि थे। किन्तु काव्य भाषा ब्रज भाषा थी, जो अपनी

कोमल कांत पदावली के कारण शृंगार रस के लिए ही उपयुक्त समझी जाती थी। इस विकट समस्या को सामने देखकर भूषण को अपने साध्य भावपक्ष के लिए कलापक्ष (भाषा) को कुछ निम्न स्थान देना पड़ा और उसकी उपेक्षा करनी पड़ी। अनुभूति का स्थान सदैव अभिव्यक्ति से ऊंचा ही माना जाता है। शरीर की अपेक्षा आत्मा का महत्व निःसंदेह अधिक है। ब्रजभाषा मे ओजस्विनी भावधारा बहाने के लिये उस मे विदेशी शब्दों का उपयोग तथा देशी भाषाओं के शब्दों में आवश्यक तोड़मरोड भूषण के लिये अनिवार्य हो गई। वीरता की अभिव्यक्ति माधुर्य गुण या वैदर्भी रीति द्वारा हो ही नहीं सकती। ऐसी कविता मे 'ध्वनि' का विशेष महत्त्व होता है। भूषण ने ध्वनि और शब्द द्वारा जो चित्र ब्रजभाषा मे उपस्थित किए वे कितने सजीव हैं। अलंकारों की (विशेषतः अनुप्रास की) छटा भी देखिये—

१. पच्छी पर छीने ऐसे परे पर छीने वीर,
   तेरी बरछी ने बर छीने है खलन के॥

२. मारे रन जोम के जवान खुरासान केते,
   काटि काटि दाटि दाबे छाती दरकत हैं॥
   रनभूमि लेटे वे चपेटे पठनेते परे,
   रुधिर लपटे युगलेटें खरकत है॥

३. ऐल फैल खैल पैल खलक में गैल गैल,
   गजन की ठेल पेल सैल उसलत है॥

४. चाक चक चमू के अचानक चहुँ ओर,
   चाक सी फिरती धाक चंपति के लाल की॥

'शिवराज भूषण' अलंकार ग्रन्थ होने से अनेक अलंकारों के सुन्दर उदाहरणो से भी भरा पडा है। परन्तु जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि भूषण ने कलापक्ष को गौण स्थान ही दिया है, अतएव अलंकारग्रन्थ की अपेक्षा अन्य रचना वीर काव्य के रूप में ही अधिक आदृत और मान्य है। यमक के निम्न प्रसिद्ध उदाहरण में भाव की सजीवता भी दर्शनीय है—

भूखन सिथिल अंग भूखन सिथिल अंग।
विजन डुलाती ते वे विजन डुलाती है॥

अपने नायक की प्रशंसा भूषण ने बहुत की है; जिसे खुशामद न कह कर 'वीर प्रशंसा' ही मानना चाहिये। शिवा जी के प्रबल प्रताप और वीरता की धाक शत्रुओं के दिलों को धड़काती रहती है। भयानक युद्ध के भीषण दृश्य और भय की मूर्त कल्पनायें शत्रु पत्नियों का जो वातावरण दिखाया गया है, वह कहीं-कहीं अधिक नग्न हो जाने से अश्लील सा भी लगता है, परन्तु कवि का उद्देश्य और स्थिति की महत्ता ही इसका कारण समझनी चाहिये। 'अभिव्यंजना' का एक सुन्दर उदाहरण यदि देखना हो, तो भूषण का निम्न-पद्य पढ़िये, जिसमे सुन्दर प्रकार से शिवा जी के भयानक व्यक्तित्व और शत्रुओं की कायर दशा का चित्र खींचा गया है—

पूरब के उत्तर के प्रबल पछाँह हू के
सब पातसाहन के गढ़ कोट हरते।
भूषन कहै यो अवरंग सो वजीर जीति
लावे को पुरतगाल सागर उतरते।
सरजा सिवा पर पठावत मुहम काज,
हजरत हम मरिबे को नहिं डरते।
चाकर है उजर कियो न जाय नेक पै,
कछू दिन उबरते तो घने काज करते॥

कितना सुन्दर ढङ्ग है, कितनी विचित्र युक्ति है।

शिवा जी और भूषण हिन्दू जाति के दो महापुरुष हैं, जिन्होंने अपने समय की विकट और भयानक परिस्थितियो मे साहसपूर्वक आचरण किया तथा देश और जाति की रक्षा की। धर्म का महत्त्व भारत में सर्वप्रधान रहा है। राष्ट्रीयता में भी इस को कभी उपेक्षित नही किया गया। जब धर्म पर ही यवन-शासकों ने आघात करना आरम्भ किया, तभी से देश-भक्तो और धर्म-प्रेमियो ने विद्रोह की आवाज उठाई। वीरो ने तलवारों द्वारा और लेखको ने लेखनी द्वारा देश के बच्चे-बच्चे में उस चिनगारी को सुलगा दिया, जिसका प्रकाश आज भी हम अपने समय मे देख रहे हैं। भूषण ने शिवा जी के वीर पुरुष में धर्मवीर को देखा था। गीता के कथनानुसार धर्म की ग्लानि और अधर्म का प्रचार होता देख उस वीर पुरुष ने तलवार उठाई और

दुष्कृत पापियों का नाश कर के सच्चे महाराष्ट्र की स्थापना की।

शिवा जी से पहले देश मे भय का राज्य था। प्रजा पराधीन थी। धर्म-कर्म की स्वतन्त्रता छिन चुकी थी। अत्याचार सीमा को लांघ चुका था। दमनचक्र मे न्याय की आवाज़ दबा दी गई थी। किन्तु एक महा-मानव के रूप में शिवा जी ने किस प्रकार इस अन्धकारमय युग का नाश किया, इस की स्पष्ट झाँकी भूषण ने दी है।

भूषण के शब्दो मे हम कृतज्ञता का भाव इस प्रकार प्रकट करेंगे—

वेद राखे विदित पुरान राखे सार युत,
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर मे।
हिंदुन की चोटी रोटी राखी है सिपाहिन की,
कांधे मे जनेऊ राख्यो माला राखी गर में।
मीड़ि राखे मुगल, मरोरि राखि पातसाह,
वैरी पीसि राखै वरदान राख्यो कर मे,
राजन की हद्द राखी तेग बल सिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर मे॥

—

# प्रेमचंद की हिन्दी साहित्य को देन

इस बात का निर्णय करने के लिये कि प्रेमचंद की हिन्दी साहित्य को देन क्या है, हमे यह जानना होगा कि प्रेमचंद के पूर्ववर्ती लेखक किस प्रकार के साहित्य का निर्माण कर रहे थे। क्या प्रेमचंद से पहले उपन्यास लिखे जाते थे ? यदि लिखे जाते थे तो उनकी कथा-सामग्री क्या थी ? क्या वे चरित्र-चित्रण और कला की दृष्टि से सफल हो पाये थे अथवा नहीं ? और फिर जब प्रेमचंद ने लिखना शुरू किया तो उन्होंने क्या नई चीज दी और अंत में अपनी कला को किस पराकाष्ठा पर पहुँचाया।

इस दृष्टि से देखा जाये तो प्रेमचंद की हिन्दी साहित्य को बहुत बड़ी देन है और उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। उन का नाम हिन्दी साहित्य में हमेशा एक युग-निर्माता के तौर पर लिया जायेगा।

प्रेमचंद से पहले आधुनिक उपन्यास-कहानी, जिसमे वास्तविकता का यथार्थ चित्रण होता है, मिलती ही नही थी। सैयद इंशाअल्ला खाँ की पुस्तक "रानी केतकी की कहानी" को हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम उपन्यास कहा जाता है लेकिन अगर आज हम इस पुस्तक को पढ़े तो मालूम होगा कि उसमें उपन्यास के तत्त्व बिलकुल नही है। यह दूसरी बात है कि वह हिन्दी गद्य की पहली पुस्तक है और उसमे एक कहानी बयान की गई है, और उसमें बहुत सी अलौकिक बातो का समावेश है। फिर श्रीनिवासदास की "परीक्षा गुरु" और पं० बालकृष्ण भट्ट के "नूतन ब्रह्मचारी" और "सौ अजान एक सुजान" उपन्यास मिलते हैं, जो निश्चय ही 'रानी केतकी की कहानी' से बेहतर है। मगर इन मे भी उपन्यास के तत्त्वों का अभाव है। जिससे वह इतने शुष्क हो गये है कि आज का पाठक उन्हे पढ़ ही नहीं पाता। फिर भी उपन्यास की दिशा में एक अच्छा प्रयास है और उनमे उस समय के ऊपरी समाज, बिगडे हुए सेठो और नवाबो की झाँकियाँ मिलती हैं। इसी से अपने समय में इन उपन्यासों का अच्छा रिवाज रहा।

लेकिन जब प्रेमचन्द ने लिखना शुरू किया उस समय हिन्दी में देवकी-नन्दन खत्री का उपन्यास 'चंद्रकांता संतति' बहुत प्रसिद्ध था और लोग इसे बडे चाव से पढ़ते थे। प्रेमचंद भी जब स्कूल में पढ़ते थे तब यह उपन्यास अपने एक सहपाठी के साथ एक तम्बाकू वाले की दुकान पर बैठकर सुना करते थे, जहाँ शाम को बहुत से लोग इकट्ठे होकर इस अद्भुत पुस्तक को सुनते थे। कहने की जरूरत नहीं कि यह उपन्यास ऊल जलूल कल्पना के आधार पर लिखा गया है और लेखक ने इसे लिखते समय 'अलिफ लैला' और 'तिलस्मे होशरुबा' फारसी की पुस्तको को सामने रखा है। हवा मे उड़ना, आँख झपकते ही गायब हो जाना, मुर्दा से जिंदा हो जाना आदि अस्वाभाविक घटनाओ की भरमार है। आज का पाठक उन्हें किसी तरह गवारा नहीं कर सकता। लेकिन इस उपन्यास की विशेषता यह है कि देवकी-नंदन खत्री ने हिंदी गद्य को सरल, सुबोध और मुहावरेदार बनाया और इसके अतिरिक्त हिंदी उपन्यास के असंख्य पाठक पैदा किये।

लेकिन प्रेमचंद ने अपनी शिक्षा का आरम्भ उर्दू, फारसी से किया था और पहले-पहल उन्होने उर्दू ही मे लिखा। इसलिये हमे यह भी देखना पड़ेगा कि प्रेमचंद पर उर्दू साहित्य का क्या असर था और उन्होने क्या नई चीज हिंदी को दी। यह बात तय है कि उर्दू वालो ने भाषा को अधिक मांजा है और उसमें बोलचाल और मुहावरे को अधिक स्थान दिया है। जिससे उर्दू में हिंदी से अधिक रवानी और करारापन है। उर्दू की दूसरी विशेषता यह रही है कि उस पर फारसी का प्रभाव अधिक और हिंदुओ के अलावा इस भाषा में मुसलमानो ने बहुत अधिक लिखा जिससे उस पर सूफीवाद का प्रभाव अधिक पड़ा है और उसमें संसार को मिथ्या समझने के बजाय प्रकृति मे अधिक से अधिक रम जाने और जीवन मे अधिक से अधिक आनंद पाने की भावना पाई जाती है। उर्दू में रूढ़ि और प्राचीनता को वह सम्मान प्राप्त नहीं है जो हिंदी में मिल गया है। प्रेमचंद से पूर्व उर्दू में मीर अमन का 'किस्साए-चहार-दरवेश', रतननाथ सरशार का 'फिसा-ना ए-आजाद' और मौलवी नजीर अहमद के सुधारवादी उपन्यास मिलते थे। इसके अतिरिक्त 'तिलस्मे होशरुबा' के कुछ भाग भी अनुवाद हो

चुके थे। प्रेमचंद ने पहले-पहल मीर अमन और रतननाथ सरशार के रंग में लिखना शुरू किया। प्रेमचंद ने उनसे भाषा तो अवश्य ली, मगर विषय अपने लिये। उन्होंने जाने-अनजाने समय की जरूरत को समझ लिया था और उनके अपने जीवन मे संघर्ष बहुत अधिक था, जन-जीवन से और यथार्थ से उनका नाता इतना गहरा जुड गया था कि उन्हे हवा में उड़ने की जरूरत नहीं थी। उन्होने ऐयारी और जासूसी किस्से और प्रेम-कहानियाँ लिखने के बजाय, जन-जीवन को कहानी का विषय बनाया। देश मे अंग्रेजी पढ़े-लिखो की संख्या दिन-प्रतिदिन बढती जा रही थी। प्रेमचंद ने भी अंग्रेजी पढी थी और उन्हें अध्ययन का बहुत शौक था। नई पुस्तके बड़े चाव से पढ़ते थे। पश्चिम के वैज्ञानिक विचारो का प्रभाव हमारे जन-जीवन पर पड़ रहा था। देश-भक्ति के आन्दोलन के साथ-साथ ब्रह्म-समाज और आर्य समाज आदि समाज-सुधार के आंदोलन भी जोरो से चल रहे थे। प्रेमचंद इन सब आंदोलनों के प्रति सजग थे और नये विचार बडी उत्सुकता से ग्रहण करते थे। प्रेमचंद ने सभापति के पद से अपने भाषण मे कहा थाः—

"भाषा साधन है, साध्य नहीं। अब हमारी भाषा ने वह रूप प्राप्त कर लिया है कि हम भाषा से आगे बढ़ कर भाव की ओर ध्यान दें और इस पर विचार करें कि जिस उद्देश्य से यह निर्माण कार्य आरम्भ किया गया था, वह क्योंकर पूरा हो।"

प्रेमचंद ने इस उद्देश्य को पूरा करने की जिम्मेदारी को न सिर्फ समझा, बल्कि वे आजीवन इस उद्देश्य को पूरा करने में रत रहे हैं। हिन्दी के वह पहले कथाकार हैं जिन्होंने यथार्थवादी साहित्य का सूत्रपात किया। इस काम को आगे बढ़ाने में उन्हे पश्चिमी साहित्य से भी सहायता मिली। वे अपने भारतीय पूर्ववर्तियो के अतिरिक्त टालस्टाय, गोर्की, चेखोव, चार्लेस डिकन्स और थैकरे आदि से भी बहुत प्रभावित थे। साहित्य की कोई भी नई पुस्तक निकलती थी तो वह उसे झट खरीद कर पढ़ते थे। लेकिन वे पश्चिम के साहित्यकारो का अंधानुकरण नहीं करते थे। उनसे वे चरित्र-चित्रण, कथानक और एक विषय को रोचक बनाकर कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करने के गुण सीखते थे किन्तु अपनी कहानियों और उपन्यासो की सामग्री भारतीय

समाज से लेते थे। उन्होंने भारतीय इतिहास और संस्कृति का अध्ययन भी खूब किया था। इसलिये वे भारतीय परम्परा को समझते थे और अपने समाज का विश्लेषण कलात्मक ढग से करते थे। उन्होंने जहाँ अपनी कलाकृतियो को अपने पूर्ववर्त्तियो से अधिक रोचक बनाया वहाँ समाज और राजनीति के ठोस विषयो को साहित्य का माध्यम बनाया। उपन्यास और कहानियां लिखने से उनका उद्देश्य "चंद्रकांता संतति" की तरह पाठकों का सिर्फ मनोरंजन करना ही नहीं था बल्कि वे अपनी कलाकृतियों से हमारे सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनो को आगे बढ़ाने का काम लेते रहे। जो लोग कला, कला के लिये की बात कहते है या साहित्य का उद्देश्य सिर्फ मनोरंजन समझते हैं, वे उनसे सहमत नही थे। वे 'साहित्य का उद्देश्य' नामी अपने लेख में कहते हैं :—

"हमने जिस युग को अभी पार किया है, उसे जीवन से कोई मतलब न था। हमारे साहित्यकार कल्पना की एक सृष्टि खड़ी करके उसमे मन-माने तिलस्म बांधा करते थे। कही फिसानाये अजायब की दास्तान थी, कहीं बोस्ताने ख्याल की और कहीं चंद्रकान्ता संतति की। इन आख्यानों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था और हमारे अद्भुत-रस-प्रेम की तृप्ति, साहित्य का जीवन से कोई लगाव है, यह कल्पनातीत था। कहानी कहानी है, जीवन जीवन, दोनो परस्पर विरोधी वस्तुएं समझी जाती थी।"

प्रेमचन्द ने इस विरोध को मिटाया और कहानी और जीवन में सामंजस्य स्थापित किया। बंगाल चूंकि अंग्रेजो के सम्पर्क में पहले आया और अंग्रेजी साहित्य का प्रसार वहां पहले हुआ, इसलिये बगाल मे बंकिमचन्द्र और रविबाबू पहले ही यथार्थवादी कहानी साहित्य का निर्माण कर चुके थे और उनके अनुवाद भी हिन्दी मे हुए थे। प्रेमचन्द उनसे भी प्रभावित थे। लेकिन वे अपनी सामग्री हमेशा इर्दगिर्द से लेते थे और पश्चिमी साहित्य में यथार्थवाद के नाम पर जो नग्न और घिनौना चित्रण हो रहा था उसके वे कायल नही थे। जहाँ वे अपने उपन्यासो और कहानियों मे जीवन का यथार्थ चित्रण करते थे; वहाँ एक उद्देश्य, एक आदर्श भी उनके सम्मुख रहता था। वे अपने एक लेख 'उपन्यास' में लिखते हैं :—

"वही उपन्यास उच्च कोटि के समझे जाते है, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया हो। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने के लिए ही यथार्थ का उपयोग होना चाहिए, और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यास की सबसे बडी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि है, जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर लें। जिस उपन्यास के चरित्रो मे यह गुण नहीं है, वह दो कौड़ी का है।"

प्रेमचन्द ने अपने जीवन मे लगभग तीन सौ कहानियाँ और एक दृजन उपन्याम लिखे है उनमें हमे यही भावना ओत-प्रोत मिलती है। उन्होंने नये-नये विषय हमे दिये हैं और भारतीय जीवन का यथार्थवादी चित्रण उन्होने किया है। समाज सुधार और देश-भक्ति हमेशा उनका आदर्श रहा है। जैसे-जैसे उनका अनुभव और ज्ञान बढ़ता गया वह भावुकता को छोड़कर स्पष्ट और सुबोध होते गये और उनकी कला मे प्रौढ़ता आती गई। उनकी कोडियों कहानियाँ ऐसी ही हैं जिनमें उन्होने न सिर्फ उच्च आदर्श प्रस्तुत किया है, बल्कि कला और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी उनमें कोई दोष नहीं निकाला जा सकता। बूढ़ा भगत, गीसू, माधव, मनोहर, कादिर, अमर-कान्त, होरी और धनियां सैंकडो चरित्र ऐसे दिये गये हैं, जो इतने सजीव और सच्चे हैं कि पाठक के मन पर ऐसे छाये रहते है कि वह उन्हे कभी भूल नहीं सकता। फिर वह भारतीय संस्कृति और महान जनता के प्रतिनिधि हैं। उनकी सारी कमजोरियों और दोषो के बावजूद हम उनसे प्रेम करते, उनका आदर करते हैं और अपने जीवन को देश और समाज के लिए उपयोगी बनाने के लिए प्रेरणा भी ग्रहण करते हैं।

प्रेमचन्द की हिन्दी साहित्य को देन क्या है, यह हम ठीक ढंग से उसी समय समझ सकते हैं, यदि हम हिन्दी-साहित्य की पृष्ठ भूमि में उनके साहित्य को रख कर देखें। रूसी, फ्रांसीसी और दूसरे योरोपियन साहित्यकारों के साथ उनकी तुलना करना भूल होगी। पश्चिमी साहित्यकारों को उनके देश और काल की परिस्थितियो ने बनाया और प्रेमचन्द को हमारे देश और काल की परिस्थितियो ने बनाया। उन्होंने जो कुछ दिया यह वाकई सराहनीय

और प्रशंसनीय है। इस नाते उन्हें हमेशा एक युग-निर्माता की दृष्टि से देखा जायगा।

हिन्दी साहित्य को उनकी जो देन है, उसे हम थोड़े में यों कह सकते हैं—

१. प्रेमचन्द से पहले प्रेम कहानियाँ अथवा जासूसी और तिलस्मी साहित्य लिखा जाता था और उसका उद्देश्य केवल मनोरंजन समझा जाता था। प्रेमचन्द ने कहानी साहित्य को यथार्थवादी बनाया और समाज-सुधार और देश-भक्ति को अपना आदर्श बनाया।

२. प्रेमचन्द से पहले घटनाप्रधान उपन्यास लिखे जाते थे। चरित्र-चित्रण और मनोविश्लेषण की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। प्रेमचन्द ने हमें सजीव पात्र दिये और अपनी कहानियो और उपन्यासो में मनोविश्लेषण पर विशेष ध्यान दिया। इससे हिन्दी साहित्य का सम्मान बढ़ा। प्रेमचंद ने न सिर्फ पाठकों की अपने से पहलो प्रवृत्ति को बदला, बल्कि लाखो नये पाठक भी हिन्दी को दिये।

३. प्रेमचन्द चूँकि उर्दू से हिन्दी में आए थे, इसलिए उर्दू की रवानी और करारापन अपने साथ लाये। इसके अतिरिक्त उन्होने हिन्दी के अकसर लेखको की तरह पीछे की ओर देखने के बजाय वर्तमान और भविष्य को संवारने की ओर ध्यान दिया। वे बीसवीं सदी के नये भारत की नई संस्कृति के अग्रदूत थे।

४. प्रेमचन्द ने अपनी कलाकृतियों से राष्ट्रीय आन्दोलन और समाज सुधार में सहयोग देकर हिन्दी भाषा और साहित्य को आम लोगों तक पहुँचाया और बुद्धिजीवियों में उसका सम्मान बढ़ाया।

५. प्रेमचन्द ने अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लड़कर हिन्दी साहित्य की जनवादी परम्परा को आगे बढ़ाया।

———

# हिन्दी साहित्य में नारी की देन

जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रो मे नारी ने पुरुषों को सहयोग प्रदान किया है, पर जहां तक साहित्य की परम्पराओं का सम्बन्ध है, उसमें भी उसकी देन महान् और दिव्य है। नारी का जीवन गीतिमय है। उसकी हर सांस में गीतों का स्पंदन और हृदय की प्रत्येक धड़कन मे काव्य की कड़ी पाई जाती है। जीवन के लोक गीतो से लेकर आत्मा, परमात्मा, जीव, प्रकृति, लोक और परलोक सभी विषयों पर उसने भरपूर लिखा। लिखा ही नहीं, किन्तु उसे अपने जीवन से पूरित कर दिया। हृदय की अनुभूतियो को अपनी सरस कल्पनाओं के पर लगा कर वह कई बार बहुत ऊँचाई तक भावलोक में उड़ी। समय की गति में पदताल देकर वह चली, इसके दर्शन हमें सम्पूर्ण साहित्य में पूर्णतया प्राप्त होते हैं। प्राचीन साहित्य में अपनी अमर साधना की देन देने वाली नारियो मे हम मैत्रेयी, भारती, मंदालसा, लक्ष्मी, विज्जका, शिलाभट्टारिका आदि स्त्रियो को ले सकते हैं। इनमें से कई तो वेदों की मन्त्रद्रष्टा ऋषिकाएँ भी थीं। संस्कृत साहित्य मे चाहे उनका प्रवेश व्यापक नहीं रहा है, किन्तु फिर भी स्तुत्य अवश्य है। जीवन के संग्राम से थके पथिक की सेवा से बचे समय का वह सदा से सदुपयोग करती रही हैं। जैसे कि ऊपर बताया गया है कि उसके घरेलू जगत् में उसके लोक-गीत सदा अमर रहेंगे क्योंकि उसका सुख, दुःख, आल्हाद और विषाद इन्हीं गीतों में ही मुखरित होता रहा है। वह अधिक नहीं लिख सकी, इसका एक मात्र कारण यही है कि वह प्राचीन काल में घर की साम्राज्ञी थी, जिससे वह सामाजिक जीवन से कोसों दूर थी। साहित्य जीवन का दर्पण है। अतः उस काल में उसकी उतनी देन तो नहीं पाई जाती, जितनी कि पुरुष की है, फिर भी स्तुत्य है।

इसके पश्चात् हम हिन्दी साहित्य में प्रविष्ट होते हैं। दुर्भाग्य से आदि-काल वीरगाथा काल है। इस मारकाट के युग में चाहे नारी को स्वयं गाने

का तो अवसर प्राप्त नहीं हुआ, पर फिर भी उसने जौहर की ज्वालाओं से उस युग के साहित्य को प्रकाशित अवश्य किया है। इसके पश्चात् आता है, "भक्तिकाल"। निराश जनता ने सूर और तुलसी के गीतों को सुना और उसका मनमयूर नाच उठा। अंधे सूर के तानपूरे से निकले स्वरों ने क्या स्त्री और क्या पुरुष, सभी के हृदयों को निनादित कर दिया। नारी ने भी इन स्वरों मे अपना स्वर जोड़ा। मीरा हिन्दी साहित्य की सर्वप्रथम कवयित्री है। मीरा प्रेम की दीवानी है। वह संसारत्यक्ता और समाजपीड़िता है। उसके हृदय में अत्याचारों का ज्वालामुखी भडक रहा है, जो समय पाकर गीत बनकर फूट पड़ा है।

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजे होंगे गान।
उमड़ कर आँखों से चुपचाप,
बही होगी कविता अनजान॥

मीरा के गीत प्रेम और भक्ति के अनूठे गीत हैं। कृष्ण भक्ति में सराबोर होकर उसने जो कुछ गाया है, उसमे हिन्दी साहित्य झूम उठा है। उसके गीतों में दर्द, विरह, कसक, पीडा, कचोट और सबसे बढ़कर के तल्लीनता है। उसके वियोग शृङ्गार को लेकर ही अधिक पद रचे गये हैं। इन पदों में हृदय को मर्मस्पर्शी वेदना, वियोगिनी की अनुभूति और दिल की कसक तथा विरह की व्याकुलता ऐसे स्वाभाविक रूप में बही है, जिसे देखते ही बनता है। वह अपनापन खोकर कहती है :—

"हे री! मै तो भई हूँ दीवाणी मेरा मरम न जाणे कोय।
हे री! मैं तो प्रेम दीवाणी मेरा दरद न जाणे कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस विधि सोणा होय।
नभ मंडल पै सेज पिया की, किस विधि मिलणा होय।
घायल की गति घायल जाणे, और न जाणे कोय।
जोहरी की गति जोहरी जाणे, कि जिन जौहर होय।
दरद की मारी बन-बन डोलूँ, बैद मिल्या नहिं कोय।
मीरा की प्रभु पीर मिटे जब, बैद सांवलिया होय॥"

इस प्रकार भक्ति मे तल्लीन होकर वह सब कुछ खो बैठती हैं और अपने प्रिय से केवल इतना ही मांगती है :—

"म्हाने चाकर राखो जी, गिरधारी लला चाकर राखो जी।
चाकर रहसूं बाग लगासूं, नित उठ दरसन पासूं ॥"

इस कविता का प्रभाव विश्ववंद्य रवीन्द्र बाबू पर भी विशेष रूप से पड़ा है, जब कि वह भी झूमते हुए गा उठते हैं :—

"Make me the gardener of your Flower Garden".

इसके बाद बीसियों ऐसी कवयित्रियां हुईं, जिन्होंने अपने भाव-सुमनों की माला पिरोकर भारती का वक्षस्थल सुशोभित किया। इनमे छत्र-कुंवरि, रसिक बिहारी, ब्रजदासी, रत्नकुंवर, बीबी, सुन्दर कुंवर, प्रताप कुंवरि बाई छत्र कुंवरि, सांई, प्रवीणराय आदि को लिया जा सकता है। इन सब के काव्य पर व्यापकता से प्रकाश न डालते हुए केवल दो उदाहरण देकर ही संतोष किया जाता है :—

निरमोही कैसो जिय तरसावै।
पहिले झलक दिखाय हमकू, अब क्यों वेग न आवे।
कब सो तलफत मैं री सजनी, वाको दरद न आवे।
"विष्णु कुंवरि" दिल मे आकर के, ऐसो पीर मिटावे।"
—विष्णु कुंवरि

रत्नाकर लालित सदा, परमानंदहि लीन।
अमल कमल कमनीयकर, रमा कि "राय प्रवीन।"
—प्रवीणराय

कबीर की संत परम्परा से प्रभावित कवयित्रियों ने भी हिन्दी काव्य उपवन में विविध काव्य प्रसूनों को पल्लवित किया। इनमे दयाबाई और सहजोबाई प्रमुख हैं। ये दोनों दासियां सन्त चरणदास की शिष्या तथा उन्हीं की जाति की थीं। दयाबाई की वाणी "दयाबोध" और 'विनय मालिका" में अंकित है। इन पर मीरा का रंग चढ़ा दीखता है। वह भी अपने शब्दों में मीरा की वाणी को प्रतिध्वनित करती हैं :—

"कै मन जानत आपनो, कै लागी जिहि पीर।"

सहजो बाई के गीत "सहजो प्रकाश" में संगृहीत हैं। इनका एक पद नीचे अंकित किया जाता है :—

"साहन कूं तो भय घना, सहजो निर्भय रंक।
कुंजर के पग बेड़ियां, चींटी फिरे निसंक॥"

जिस प्रकार हिन्दू देवियों ने हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि की है, उसी प्रकार मुस्लिम कवयित्रियां भी उनसे पीछे नहीं रहीं। ताज और शेख दोनों की कविताएँ प्रेम की पीर की अभिव्यक्ति में बहुत ऊँची हैं। ताज के प्रेम में भक्ति की पुट है और शेख रंगरेजिन की कविता श्रृङ्गारिकता मे अप्रमेय है। कहीं पर तो यह प्रेम विलासिता की चरमसीमा को भी छूता सा प्रतीत होता है। अपने युग की परम्पराओं मे ये गीत बहुत ऊँचे हैं और वह अपनी समता मे आप ही है। ताज का प्रेम लौकिकता अलौकिकता की ओर जाता सा प्रतीत होता है। नीचे दोनों का एक-एक उदाहरण दिया जाता है:—

"सुनो दिलजानी मेरे दिल की कहानी तुम,
दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूंगी मैं।
देव पूजा ठानी मै निमाज हूँ भुलानी,
तजे कलमे कुरान सारे गुनन गहूंगी मैं।
स्यामला सलोना सिरताज सिर कुल्ले दिये,
तेरे नेह दाग में निदाग ह्वै दहूंगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान ताणी सूरत पै,
हौं तो तुरकानी हिन्दुवानी ह्वै रहूंगी मैं।"—"ताज"

प्रश्न—"कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन।"—"आलम"
उत्तर—"कटि को कंचन काटि विधि, कुचन मध्य धरि दीन।" "शेख"

इसके पश्चात् रीतिकाल आता है। भक्ति की सरिता सूख चली। श्रृङ्गार और विलासिता के स्रोत पहाड़ी झरने के समान सब बाधाओं को तोड़कर बहने लगे। काव्य लज्जा की नग्नता में खुलकर वासना के गीत गाने लगा। भला लज्जा का अवगुण्ठन ओढ़ने वाली नारी किस प्रकार कामुकता के गीत गा सकती। अतः उसे मौन साधना पड़ गया।

धीरे-धीरे युग परिवर्तन हुआ। देशभक्ति की लहर उठी। आदर्श और मर्यादा की पुकार हुई। छाया और रहस्य के गीत गाये जाने लगे। प्रगति की प्रगतिशीलता ने रीतिकाल की लज्जाशीला नारी के अवगुण्ठन का निवारण कर डाला। हमे अनेक देवियो का सरस्वती की वरद् पुत्रियों के रूप में हाथ मे वीणा उठाकर गाते हुए स्वर सुनाई पड़ा। ऐसी कवयित्रियो में आधुनिक मीरा महादेवी का नाम सर्वप्रथम लिया जा सकता है।

महादेवी—इनकी कविताओं में हृदय को पवित्र करने वाली करुणा की अपूर्व कलामयी अभिव्यक्ति है। उनका सुख और दुःख दार्शनिक की सीमाओं मे खेलता है। इनका प्रेम निष्काम है। वह युग-युग तक अपने प्रिय के विरह के तड़पने मे ही आनन्द अनुभव करतो है। वह उसे पाकर के भी खो देना चाहती हैं। वह अमरता नही, किन्तु मिटने का अधिकार चाहती है—

"क्या अमरों का लोक मिलेगा,
तेरी करुणा का उपहार?
रहने दो ऐ देव अरे यह,
मेरा मिटने का अधिकार ॥"

उनका हृदय प्रत्येक क्षण एक अभाव का अनुभव करता है। उसकी खोज में मग्न रहता है। वह इस शून्यता के इस असीम राज्य की साम्राज्ञी है। जिसमें अपने प्राणो का दीप जलाकर वह दीपावली मनाती है—

"अपने इस सूनेपन की मैं हूँ रानी मतवाली।
प्राणों का दीप जलाकर करती रहती दीपावली ॥"

प्रिय के पाने का केवल एक ही पथ है और वह है विसर्जन, आत्म-बलिदान। वह कहती है—

"कौन पहुँचा देगा उस पार,
तरी को ले जाओ मंझधार।
विसर्जन ही है कर्णधार,
डूब कर हो जाओगे पार।
वही पहुँचा देगा उस पार ॥"

सुभद्रा कुमारी—इनका महत्त्व भी हिन्दी-साहित्य मे बहुत ऊंचा है। इन्होंने प्रमुख रूप से दो प्रकार की रचनाये की है—एक में क्षत्राणो का वीर द ं और दूसरे मे नारी हृदय की कोमलता। कुछ कविताओ में भक्त की आत्म-समर्पण की भावनाओ का भी सुन्दर प्रदर्शन हुआ है। 'ठुकरा दो या प्यार करो" नामक कविता मे भक्त का सच्चा हृदय झांकता है। नीचे उनकी कविताओ के दो उदाहरण दिये जाते हैं—

"बुन्देले हर बोलो के मुख हमने सुनी कहानी थी,
खूब लड़ी मर्दानी वह तो झांसी वाली रानी थी॥"

—झांसी की रानी

"मैं बचपन को बुला रही थी बोल उठी बिटिया मेरी,
नन्दन वन सी फूल उठी, छोटी सी कुटिया मेरी।
पाया मैंने बचपन फिर से, बचपन बेटी बन आया,
उसकी मंजुल मूर्ति देखकर, मुझ मे नव जीवन आया।"

—मेरा बचपन

इनके अतिरिक्त और भी बहुत-सी कवयित्रियों ने जो भाव-सुमन चढ़ाये हैं वे भी कम सुगन्धित नहीं हैं। ऐसी कवयित्रियो मे तारा पांडे, होमवती, सुमित्रा कुमारी सिन्हा तथा विद्यावती 'कोकिला' आदि को लिया जा सकता है—

'जननी की ममता बन,
योगी की क्षमता बन,
साधक सा त्यागी,
भक्तों सा करुण-करुण बन।
मन तूं मधुर-मधुर बन॥

—तारा पांडे

गीति क्षेत्र के साथ-साथ गद्य-साहित्य में भी इनकी अनुपम देन पाई जाती है। महादेवी वर्मा सफल कवयित्री ही नहीं, उनकी गद्य रचनाएं भी उच्चकोटि की हैं। "शृंखला की कड़ियां" नारी जागरण की भावनाओं से ओतप्रोत है। 'अतीत के चलचित्र' में उनके करुणार्द्र हृदय का परिचय

मिलता है। उनके आलोचनात्मक गद्य मे भी उनकी प्रतिभा बौद्धिक को छूती है। सुभद्राकुमारी चौहान की कहानियां भी हिन्दी-साहित्य की अमर निधि हैं।

उपन्यास और कहानी क्षेत्र में शिवरानी देवी, उषादेवी मित्रा, श्रीमती होमवती देवी, सुमित्रा कुमारी सिन्हा और कमला देवी चौधरी का नाम अमर रहेगा। शिवरानी देवी मे मुंशी प्रेमचन्द का व्यक्तित्व प्रतिफलित होता है। उषादेवी मित्रा के उपन्यास 'पिया', 'पी कहां', 'व्यथा' आदि अधिक सफल हुए है। 'सत्यवती मलिक' की कहानियो मे हृदय की पीड़ा और पारिवारिक जीवन के मार्मिक व्यंग्य अधिक निखरे हैं। चन्द्रवती जैन और श्रीमती सोनरिक्सा 'छाया' की कहानियां भी उच्च कोटि की हैं। कुमारी कंचनलता सब्बरवाल और शकुन्तला अग्रवाल की साहित्यिक रचनाएं हिन्दी साहित्य का शृङ्गार है। श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल एक आदर्श अध्यापिका होने के साथ-साथ उच्चकोटि की साहित्यिका भी हैं। उनका "शिक्षा मनोविज्ञान" हिन्दी साहित्य की अमूल्य और अभूतपूर्व निधि है। इस पर आपको मंगलप्रसाद पारितोषिक प्राप्त हो चुका है। सेक्सरिया पुरस्कार तो एक दर्जन से भी अधिक महिलाओं को प्राप्त हा चुका है।

अन्त मे हमे उन परिस्थितियों के प्रति भी सतर्क रहना चाहिए जिनमें कि नारी नें साहित्य का निर्माण किया है। वह भी शिक्षा के उतनी ही योग्य है, जितना कि एक पुरुष। उसे भी सामाजिक विकास की उतनी ही आवश्यकता है, जितनी कि नर को। यह सब क्यों? केवलमात्र मानव के नाते और सबसे बढ़ कर इसलिए कि आज हमारा भारत स्वतन्त्र है। हिन्दी की चतुर्मुखी प्रगति मे ही साहित्य का विकास निहित है। नारी का भी उत्तरदायित्व इस समय बढ़ जाता है, और उसे इस बात को याद रखना चाहिए कि यह कार्य स्पर्द्धा से नहीं, किन्तु परस्पर सहयोग की भावना से ही हो सकेगा। क्योकि यह विश्वविख्यात है कि नारी की प्रगति में ही किसी देश की जागृति और उन्नति निहित है।

# साहित्य में राष्ट्रीय भावना

हृदय का सहज भावोद्गार ही कविता है, चाहे वह गद्य में हो चाहे पद्य में। गद्य और पद्य तो साँचे हैं जिसे हम काव्य या साहित्य कहते है, वह एक प्रतिभावान् की वह निधि है जिसे वह प्रकट करने के लिए आतुर होता है। उसकी यह अनुभूति एक चिरनवीन होती है, वह उसमे इसी प्रकार फूटती आती है जैसे एक जलस्रोत पत्थर को फोडता हुआ ऊपर आता है। पत्थर को तोड कर जब साहित्यकार के भावोद्गार उद्वेलित होते है तो उसे कोई शक्ति दबा नहीं सकती। इस रस-धारा में वह स्वयं भी खो जाता है। समस्त सृष्टि जिससे उसका चिर साहचर्य है, इस प्रकार के भावोद्गार को प्रेरक है। उसे न सुन्दर चाहिए और न महान्, वह तो अपनी साधारण से साधारण वस्तु को महान् से महान् समझता है। अपनी जन्मभूमि, अपनी टूटी सी झोंपडी, अपना दीन-हीन वातावरण उसे प्रेरित करता है और वह कुछ कहने के लिए बाध्य हो जाता है। इस प्रकार की स्वतः समुच्छ्वसित जो रचना उसकी वाणी से निकल जाती है अमर हो जाती है।

हिन्दी साहित्य का तो आरम्भ ही उत्साह-वर्द्धक, वीर रसात्मक रचनाओं से होता है। सम्पूर्ण वीर-गाथा-काव्य तत्कालीन राष्ट्रीय-भावना से ओत-प्रोत है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि उस काल में राष्ट्र की सीमा अति लघु थी। छोटे-छोटे प्रान्त राष्ट्र माने जाते थे। अपने-अपने राज्य का झंडा होता था, अपने-अपने झंडे और राज्य के लिए सभी सब प्रकार का बलिदान करने को तत्पर रहते थे। चारण नामधारी कवि वे थे जो अपनी कविता से अपने राज्य के शूरवीरों का उत्साह बढ़ाते थे। उनकी कविता केवल शान्ति-काल में रसानन्द देने वाली न थी वह तो युद्धकाल में धौंसे की भाँति शूर-वीरों की धमनियों में शक्ति भरने वाली थी, चारणो की रचना तोप का वह गोला थी जो चारण के हृदय से प्रस्फुटित होकर अपने सीमित राष्ट्र की विजय-पताका की रक्षा करती थी। प्रत्येक साहित्यकार को हमें तत्कालीन

परिस्थितियों और धाराओं से देखना चाहिए। चन्द वरदायी उस काल का राष्ट्र कवि था, पृथ्वीराज चौहान और दिल्ली ही उसकी राष्ट्र-भावना के प्रतीक थे। इन्हीं के माध्यम से तत्कालीन राष्ट्र-भावना का स्पष्टीकरण पृथ्वीराज रासो में उसने प्रस्तुत किया। जगनिक का प्रामाणिक साहित्य-उपलब्ध नहीं है, आज का प्राप्त आल्हखंड जगनिक का आल्हखंड न होकर उसकी शैली में अनुकरण किया हुआ लोक-वीर-गीत है। शैली की वीर-रसात्मकता जगनिक की ओजपूर्ण रचना पर प्रतिबिम्ब डालती है।

वीरगाथाकाल के उपरान्त भक्तिकाल के आध्यात्मिक वातावरण में भौतिक राष्ट्रीय-भावना विलीन हो गयी। "सीय राम मय सब जग जानी" की भावना सन्तों मे प्राप्त होने लगी। प्रभु की सत्ता सन्त जगत् के अणु-अणु में देखने लगा, ऐसी स्थिति में राष्ट्र का कोई अस्तित्व इन सन्तो के समक्ष न रहा। वे तो समस्त संसार को ही विश्वात्मा का अवयव मानते थे। ऐसी स्थिति में विश्व-रूप तो भगवान् के विराट् में प्राप्त हो सकता था, राष्ट्र का सीमित दृष्टिकोण उस भावना में स्थान न पा सकता था। भक्ति का सम्बन्ध आध्यात्मिकता से है, लौकिकता की उसमे उपेक्षा है, राष्ट्रीयता का सम्बन्ध भौतिकता से है, इसीलिए राष्ट्रीय-भावना का कोई अवयव भक्तिकालीन साहित्य मे नहीं पा सकते। राष्ट्रीयता का देश, देशप्रेम, देश की राजनीति से घनिष्ट सम्बन्ध है, भक्तों का इससे कोई संबन्ध ही न था। कबीर की वाणी में हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की जो भावना थी वह भी राष्ट्रीय तथ्य पर न होकर आध्यात्मिक तथ्य पर आधारित थी।

औरंगजेब के राज्यकाल में धार्मिक भावना राजनीति का अंग बन गयी। बाबर, अकबर और शाहजहाँ के राज्यकाल में देश में राजनीतिक अशान्ति थी, युद्ध होते थे, देश जीते गये थे पर उन सब विजयों में शुद्ध राजनीतिक दृष्टिकोण होता था। अकबर ने विशेषतया धार्मिक-सहिष्णुता को प्रश्रय दिया इसीलिए चित्तौड को छोडकर जिसकी राजनीतिक प्रधानता परम्परागत थी, सभी राजाओ ने अकबर की छत्र-छाया मे रह कर एक राष्ट्र की भावना स्वीकार कर ली थी। औरंगजेब ने राजनीतिक भावना के साथ मरी

हुई धर्मान्धता को पुनः प्रश्रय दिया। फलतः राष्ट्र की समन्वय भावना छिन्न-भिन्न हो गई। औरंगजेब ने धर्म के नाम पर गुरु तेगबहादुर का शीश उतार यशवन्तसिंह के पुत्रों को मुसलमान बनाना चाहा, मथुरा और काशी के मंदिरों को तोडकर मसजिद बनाना चाहा। इसकी प्रतिक्रिया मे एक नई राष्ट्रीय भावना उत्पन्न हो गई जिसमे धार्मिक और संस्कृतिक भावना राष्ट्र का अंग बन गई। गुरु गोबिन्दसिंह ने धार्मिक विचारधारा में राजनीतिक भावना भरी और धार्मिकता के स्थान पर सिक्खों मे राजनीतिक भावना घुस गई। वे धार्मिक न रहकर सैनिक बन गये। मध्यभारत मे राजा छत्रसाल मे औरंगजेब की असहिष्णुता की प्रतिक्रिया हो गई और वह भी हिन्दू-संस्कृति की रक्षा के लिए "हिन्दुवान की ढाल" बन कर खडा हो गया। दक्षिण मे वीर शिवाजी ने एक अद्भुत-जागरण उत्पन्न किया। अपने लिए ही नहीं वरन् हिन्दुत्व की रक्षा के लिए जंगल-जंगल, पहाड-पहाड, और गिरि-कन्दराओं में घर बनाए हुए शेर-शिवराज मुगल-दल-गजघटा पर आक्रमण करने लगा। अब स्पष्ट हो गया कि कबीर और अकबर के हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के प्रचार केवल बनावटी थे, जब तक सांस्कृतिक मूल एक न होगा राष्ट्रीयता को प्रश्रय नहीं मिल सकता। हिन्दू राष्ट्र सौर हिन्दुत्व एक दूसरे के अन्योन्याश्रित हो गये। इसी भावना ने भूषण और गोरेलाल जैसे कवियों को जन्म दिया। दोनों ही कवियों की वाणी मे हिन्दू-राष्ट्रीय-भावना प्रमुख हो गई। फिर बात यह थी कि उस काल मे सांस्कृतिक एकता की ही भावना प्रमुख थी आजकल की राजनीतिक एकता की भावना राष्ट्रीयता के अन्तर्गत न थी। वैसे धार्मिक उदारता उस काल में चल रही थी। हिन्दू राजाओं की सेना मे मुसलमान और मुसलमान शासकों की सेना में हिन्दू सैनिक और अधिकारी रहते थे। स्वयं महाराज शिवाजी इस उदार नीति के पोषक थे। मुसलमानो के लिए उनके हृदय में किसी प्रकार का धार्मिक द्वेषभाव न था। उनकी आज्ञा थी कि लूट-पाट में यदि मुसलमानो के धर्म-ग्रन्थ या स्त्रियाँ हाथ में आ जायं तो उनको किसी प्रकार की हानि न पहुंचाई जाय। कई बार उन्होंने कुरान और मुसलमान स्त्रियों की मर्यादा के लिए सब कुछ किया था। सच तो यह है कि उस समय भी शिवाजी, भूषण या तुकाराम जैसे लोगों का उद्देश्य सम्पूर्ण भारत

को एक सूत्र मे बांधना था। औरंगजेब की धार्मिक-नीति इस उद्देश्य में विघ्न उत्पन्न कर रही थी। अकबर, शाहजहाँ आदि की ऐसी नीति न थी, इसी लिए हिन्दुओ ने उनकी नीति का स्वागत किया था, हिन्दू-मुसलमान भेद-भाव को भूल कर मित्रभाव से रहते थे। भूषण ने इसीलिए स्पष्ट लिखा है—

"बब्बर अकब्बर हुमायूँ हद बाँधि गए,
हिन्दू और तुरक की कुरान वेद ढव की
और बादशाहन में दूनी चाह हिन्दुन की,
जहाँगीर शाहजहाँ शाख दूरै तन की।"

भूषण ने 'तुर्क', 'मलेच्छ' आदि शब्दो का प्रयाग घृणा की भावना के साथ मुसलमानो के लिए किया है पर उनका उद्देश्य इन शब्दो के द्वारा सामान्य मुसलमानों के लिए नही था। उनका लक्ष्य तो औरंगजेब जैसे तानाशाही और अत्याचारी व्यक्ति के लिए ही था। भूषण ने तो राजा जसवन्तसिंह और उदयभान जैसे राष्ट्र भावना हीन व्यक्तियो की भी निन्दा की है। अतः मुसल मानो की निन्दा के लिए ही वे अराष्ट्रीय नहीं माने जा सकते। मुस्लिम बेगमो की दुर्दशा का भी जो वर्णन उन्होंने किया, उसमे हमें उनकी व्यंजना मात्र पर ध्यान देना चाहिए। कवि का उद्देश्य विधर्मियो की नारियो की हँसी उड़ाना न था, वह तो अन्यायी शासको की शक्तिहीनता, शिवाजी का वीरत्व और उनके आतङ्क की व्यंजना मात्र है। शिवराज भूषण अलंकार ग्रंथ हैं। अतः यमक, उल्लेख, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों के उदाहरण होने के कारण भी उसमें अराष्ट्रीयता का आरोप नही माना जा सकता। यद्यपि महात्मा गान्धी जैसे महापुरुष ने भूषण की कविता मे राष्ट्रीय भावना के स्थान पर साम्प्रदायिकता देखी थी, पर सचमुच उसमे साम्प्रदायिकता न थी, इतना अवश्य माना जा सकता है कि भूषण की राष्ट्रीय भावना, युग की परि-स्थितियो के प्रभाव से आज की अपेक्षा सकुचित थी।

आधुनिक काल के आरम्भ से ही राष्ट्रीय कविता का विकास आरम्भ हो गया। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र पहले राष्ट्रीय कवि थे। 'भारत दुर्दशा' उनकी राष्ट्रीय भावना का प्रतीक थी। विदेशी राज्यकाल की विशेष आलोचना

उन्होंने न की पर अंग्रेजों द्वारा देश के धन को ले जाते देख कर बड़े खिन्न हुए थे ।

"पै धन जाय विदेश यही अति ख्वारी ।"

फिर भी भारतेन्दु काल की राष्ट्रीय भावना आज की राष्ट्रीय भावना से सर्वथा भिन्न थी। भारतेन्दु काल मे मुगल और अंग्रेजी राज्यकालो के सन्धि काल की अराजकता और अशान्ति के पश्चात् जनता ने एक प्रकार की शान्ति का अनुभव किया था । देश की दासता, दीन-हीनता और दुर्गति प्रत्येक राष्ट्रीय व्यक्ति के लिये असह्य थी पर वह इस अधोगति का कारण विदेशी राज्य सत्ता को न समझकर अपनी ही अज्ञानता और अकर्मण्यता को मानता था। इसीलिए भारतेन्दु जैसो राष्ट्रीय-भावना से भरा हुआ व्यक्ति भी, लोगों मे उत्साह संचार करता था, भगवान् से प्रार्थना करता था कि वे जगे और सब को जगावे, पर वह राज्य सत्ता पर कोई आक्षेप न करता था। मैथिलीशरण गुप्त जी की 'भारत-भारती' में भी इसी प्रकार की राष्ट्रीय-भावना मिली 'हम क्या थे, क्या हो गये है और क्या होंगे' को दृष्टि मे रखकर वे भी देश के गत गौरव और वर्तमान-दुर्गति का ही चित्र खीचते रहे और इसके द्वारा नवयुवको मे नवराष्ट्रीय चेतना फूंकते थे–

अब भी समय है जागने का देख आँखें खोल के।
सब जग जगाता है तुझे, जगकर स्वय जय बोल के ।।
निःशक्ति यद्यपि हो चुकी है, किन्तु तू भरी अभी।
अब भी पुनर्जीवन प्रदायक, साज हैं सम्मुख सभी ।।

देश की परिस्थितियो में अन्तर हुआ। राष्ट्रीय कांग्रेस सस्था जो कि आरम्भ मे सरकारी नीति का विरोध न करती थी, सरकार से गार्डन पार्टी तक प्राप्त कर चुकी थी सरकार के विरुद्ध हो गई और १६२० से गांधी जी के नेतृत्व मे असहयोग आन्दोलन ही चल पडा। अब राष्ट्रीयता का अर्थ बढ़ गया, अब देश की दीनहीनता का कारण विदेशी शासनकाल समझा गया। फलतः देशोद्धार का एक मात्र उपाय स्वराज्य हुआ और कांग्रेस अब स्वराज्य ( Home rule ) के लिए प्रयत्नशील हो गई। इस भावना का परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रकवियो की राष्ट्रीय रणभेरी बज उठी। इस विचारधारा के

प्रमुख सेनानी हुए श्री माखनलाल चतुर्वेदी। चतुर्वेदी जी की कविता में वीर रस छलक पड़ा, गांधी का असहयोग उसमें प्रतिबिम्बित हुआ और स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर चढ़ने के लिए कवि का हृदय ललकने लगा—

आज अन्तर मे लिए पागल जवानी
पहन ले नर मुण्ड माला
उठ स्वमुण्ड सुमेरु कर ले
भूमि सा तू पहन बाना आज धानी
प्राण तेरे साथ है पागल जवानी
द्वार बलि का खोल

❀ ❀ ❀

चढ़ा दे स्वातंन्य प्रभु पर अमर पानी।

राष्ट्रीय भावना मे क्रान्ति की भावना भर उठी, अब कवि केवल उत्साह संचार ही न करता था वह तो क्रान्ति का राग अलापने लगा। श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की भावना में यही क्रान्ति प्रतिफलित हुई। तब वे बोल उठे—

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ
जिससे उथल पुथल मच जाए।

❀ ❀ ❀

नियम और उपनियमो के ये
बन्धन टूक टूक हो जाये
विश्वबन्द्य की पोषक वीणा
के सब तार मूक हो जाये

❀ ❀ ❀

विश्व मूर्ति! हट जाओ मम
भीषण प्रहार सह न सकेगा,
टुकड़े टुकड़े हो जाओगी
नाश मात्र अवशेष रहेगा॥

गांधी जी इस युग के सर्वश्रेष्ठ पुरुष सिद्ध हुए। उनका प्रभाव राजनीति, समाज और धर्म प्रत्येक क्षेत्र में व्यापक हो उठा। साहित्य में भी उनका

गाँधीवाद ही प्रकट हो गया, सुमित्रानन्दन पन्त, वियोगी हरि, सोहनलाल द्विवेदी और सियारामशरण गुप्त गाँधीवादी विचारधारा का अपनी कविताओं मे चित्रित करने लगे। भारत की राष्ट्रीय-भावना गाँधी जी के द्वारा ही मूर्तिमती हुई है। गाँधी-दर्शन में संकुचित राष्ट्रीयता न होकर विश्व-बन्धुत्व है। उसका मूल-भाव क्रांति न होकर करुणा थी—अहिंसा ही उसका मेरुदंड है। उसमे मानवता है।

करुणा का धरातल व्यक्तिगत या सामाजिक न होकर मानवीय है। करुणा विश्वजनीन है। गांधीवाद का यह व्यापक राष्ट्रीय दृष्टिकोण भी सियारामशरण गुप्त की रचनाओ मे सब से अधिक प्रतिफलित है। उनकी प्रारम्भिक रचनाये मौर्य-विजय नकु.. और आर्द्रा में भी करुणा की ही प्रधानता है पर 'पाथेय', 'मृण्मयी' और 'नोआखाली' मे तो गाँधी-दर्शन की सुन्दरतम अभिव्यक्ति है।

असहयोग-आन्दोलन में स्वयंसेवकों ने अनुभव किया कि आन्दोलन दबाने के प्रयत्न मे जितना अंग्रेज दत्तचित्त थे उससे कहीं अधिक देश के ही धनिक, जमींदार और नौकरशाही के उच्च भारतीय अधिकारी प्रयत्नशील थे।

विदेश से आती हुई साम्यवादी विचारधारा ने भी इस अनुभूति में योग दिया, अतः राष्ट्रीयता के साथ ही धनिको के प्रति भी क्रांति की भावना उठ खड़ी हुई। शोषित जनता शोषकों के विरुद्ध सजग हो उठी। कवियों में साम्यवादी क्रांति जाग गयी। प० सुमित्रानन्दन पन्त छायावाद को छोड कर प्रगतिवादी बन गये, सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने बादल-राग में क्रांति की रणभेरी बजाई। नरेन्द्र शर्मा, रामेश्वर शुक्ल अंचल और रामधारीसिंह 'दिनकर' ने वर्ग-संघर्ष को लेकर राष्ट्रीय-कविता का अगला चरण प्रस्तुत किया—

"दबी सी आग हूँ भीषण क्षुधा की,  
दलित का मौन हाहाकार हूं मैं;  
सजग, संसार तू निज को सँभाले,  
प्रलय का क्षुब्ध पारावार हूं मै।

राष्ट्रीय-भावना का तत्कालीन राजनीतिक विचारधारा से चोली दामन का सम्बन्ध है। यही कारण है कि हिन्दी-काव्य की राष्ट्रीय-धारा का रूप समय-समय पर बदलता रहा है। वीरगाथाकाल में राष्ट्र की परिधि एक राज्य के अन्तर्गत थी, भूषण और गोरेलाल के समय में उसकी सीमा हिंदू-राष्ट्र तक पहुँच कर समस्त देश तक तो पहुँची पर बहुत कुछ साम्प्रदायिक हो गयी, भारतेन्दु और मैथिलीशरण मे उसने जागरण देखा, माखनलाल, नवीन और सुभद्राकुमारी चौहान मे राष्ट्र-भावना उग्र हो उठी, गाँधीवादियो में सत्य और अहिंसा का सम्मिश्रण उसमे हुआ और प्रगतिवादियों मे साम्यवादी हुंकार उसमे प्रविष्ट हुई। देश के स्वतन्त्र हो जाने पर अब फिर राष्ट्रीय-कविता धारा में चिन्तन की प्रधानता होती जारही है। पन्त, नरेन्द्र शर्मा, दिनकर आदि राष्ट्रीयता का एकदेशीय रूप छोड कर विश्व-जनीन भावना भर रहे हैं। भारत की सांस्कृतिक विचारधारा मे संकुचितता नहीं रही है, इसीलिए प्राचीन साहित्य मे राष्ट्रीयता का संचार कम मिला है, फिर भी अपने देश को मातृभूमि कह कर पुकारा गया था और इसे स्वर्ग से भी बढ़ कर बताया गया था—

"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।"

पहाड़, नदी, मैदान के भूखंडो को मातृभूमि का रूप देना ही तो राष्ट्रीयता है, पर यहाँ की राष्ट्रीयता कभी ऐसी नहीं रही है जो अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग मे विघ्न उत्पन्न कर सके।

# भ्रमरगीत-परम्परा

कृष्ण-लीलाएं भक्तो के हृदयों को जितना आनन्द देती रही हैं उतना राम आदि अन्य अवतारो की लीलाए नहीं, इसी लिए कृष्ण भक्ति की शाखाए भी अधिक बनीं। हिन्दी काव्य मे भी कृष्ण-लीलाओ का जितना प्रसार है उतना और किसी भावना का नहीं। कृष्ण-लीलाएं इतनी व्यापक और काव्य-रसानुकूल थी कि सूरदास जी से लेकर आज तक कविगण उतने ही विषय तक सीमित हैं। कृष्ण-लीलाओ मे से भ्रमरगीत कोई लीला न थी। प्रसंगवश ही कवि ने उसे प्रयोग कर लिया था, पर यह प्रसङ्ग इतना लोकप्रिय हुआ कि जिस कवि ने भी कृष्ण-काव्य पर लेखनी उठाई वह भ्रमर-गीत पर बिना कुछ लिखे अपने को रोक न सका। साथ ही इसकी विशेषता यह भी है कृष्ण सम्बन्धी अन्य प्रसगो में तो कवि जन कोई विशेष नवीनता न लाकर पूर्ववत् रचना करते रहे है, पर इस प्रसंग पर प्रत्येक ने कुछ-न-कुछ मौलिक उद्भावना अवश्य प्रस्तुत की है। यही कारण है कि भ्रमरगीत हिन्दी-काव्य का सर्वथा नवीन पुष्पहार बना हुआ है।

कृष्ण-काव्य की अन्य कथाओ की भाँति भ्रमरगीत का मूल भी श्रीमद्-भागवत में ही प्राप्त होता है। भ्रमरगीत परम्परा मे प्रधानतया उद्धव-गोपी संवाद प्राप्त होता है। यह संवाद श्रीमद्भागवत में भी है पर उसका दृष्टि-कोण और स्वरूप कुछ और था। भ्रमर और भ्रमर को सम्बोधन करके गोपिका गीत भी है। संक्षिप्त कथा इस प्रकार है--उद्धव कृष्ण के आदेश पर व्रज में आते है, सायङ्काल नन्द के द्वार पर पहुँचते है और रात्रि भर नन्द यशोदा को प्रबोध करते हैं। नन्द भी कृष्ण की ईश्वरता को समझते और उनके अवतारी कार्यों की प्रशंसा करते हैं। प्रातःकाल नन्द द्वार पर रथ देखकर गोपियो को जिज्ञासा होती है, इतने मे ऊधो मिल जाते हैं, गोपियाँ उन्हें एकान्त मे ले जाकर कृष्ण का कुशल-क्षेम पूछती है। कृष्ण की ईश्वरता का ज्ञान उन्हे भी पहले ही होता है, फिर भी प्रसंगवश वे अपनी दशा का

वर्णन करती हैं। इतने मे एक भौंरा उडता हुआ दिखाई पडता है, उसको देखकर केवल एक गोपी आवेश मे आ जाती है और कुछ प्रलाप करती है। बाद मे ऊधो जी सब को निर्गुण का उपदेश करते है. गोपियो को परम संतोष प्राप्त होता है। उद्धव-गोपी संवाद वहां नहीं है और न भ्रमर के बहाने गोपियाँ कृष्ण और उद्धव पर व्यंग ही करती है। पर गोपियो की विरहावस्था का उल्लेख, उनका प्रलाप, उनके बीच भ्रमर का आना और उसके प्रति गोपी कथन अवश्य है। यही भ्रमरगीत परम्परा का बीज है।

भक्तवर सूरदास ने भागवत में प्राप्त उपर्युक्त बीज को पल्लवित किया। उन्होने कथा में पर्याप्त परिवर्तन किया। उन्होने एक तो इस प्रसंग को लेकर भक्ति और ज्ञान का विवाद प्रस्तुत करना चाहा और ज्ञान-मार्ग पर भक्ति-मार्ग की विजय दिखानी चाही, साथ ही इसके द्वारा विरह काव्य के भीतर व्यंग्यात्मक उपालम्भ काव्य का रसानन्द उपस्थित करना चाहा। भक्ति और ज्ञान के विवाद को लेकर कृष्ण में व्रज-प्रेम की उत्पत्ति होती है पर उनके सखा उद्धव मे ज्ञान का अहकार होता है। उनमे भक्ति को उत्पन्न करने के लिए ही वे उन्हे व्रज भेजते हैं। उद्धव के व्रज जाने का मुख्य उद्देश्य गोपियो को सन्देश देना था न कि नन्द-यशोदा आदि को। इसी लिए सूर-भ्रमरगीत में उद्धव जी सीधे गोपियो से मिलते है और मिलते ही भ्रमरगीत आरम्भ हो जाता है। सूर सागर मे भ्रमरगीत की तीन कथाये तीन रूप में प्राप्त होती हैं। अधिकांश तो मुक्तक पद है। जिनमे गोपियाँ अलि, मधुप, षट्पद, भ्रमर नाम से ऊधो को सम्बोधित करती और अपना विरह-निवेदन, अपनी परवशता, योग मार्ग पर व्यंग्य और कृष्ण के सगुण रूप के प्रति अपनी आसक्ति का निवेदन करती हैं। यही अंश सब से अधिक और काव्योपयुक्त तथा सरस है। दूसरी कथा उद्धव-गोपी संवाद रूप मे चौपाइयों में है। इसमें सरसता नहीं है। सम्भवतः कीर्तन के लिए कवि ने कथात्मक शैली में इसको कभी लिखा है। तीसरी कथा भी एक लम्बे पद में है जिसमे सम्पूर्ण कथा है, उद्धव-गोपी संवाद भी है और सूर के समस्त भ्रमरगीत का एक ही पद में सार है। वास्तव में जिसे हम सूर का भ्रमरगीत कहते हैं वह तो वही है जो मुक्तक पदों में गोपिका उपालम्भ के रूप में है। यही काव्य का प्राण है।

सहृदयता और वचन-विदग्धता का सरस संयोग इसमे मिलता है। विरह-काव्य का अनुपम स्वरूप उसमे है। लक्षणा और व्यंजना का चमत्कार, काव्य-सौष्ठव और गीतिकाव्य का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण इन पदों में प्राप्त होता है। सूरदास जी की लेखनी ने ही इस प्रसंग को इतना चित्ताकर्षक कर दिया कि परवर्ती कवियो के लिए भ्रमरगीत अनिवार्य रूप से अत्याज्य प्रसंग हो गया।

सूरदास जी का अनुसरण नन्ददास जी ने किया। नन्ददास जी की रुचि मुक्तको की ओर उतनी न थी जितनी प्रबन्ध की ओर, अतएव उन्होंने भ्रमर-गीत प्रसङ्ग को लेकर एक छोटे प्रबन्ध की रचना कर डाली। पर ऐसा करने मे भी उन्होंने सूरदास के एक पद "ऊधो का उपदेश सुनो किन कान दै।" को अपने भ्रमरगीत का केन्द्र-बिन्दु माना। इसी लिए उन्होंने गोपियों को छोड कर और किसी को इस कथा मे न आने दिया। उद्धव के ब्रज पहुंचने से पूर्व की कोई कथा उन्होने उसमे न रखी, वे तो अपने भ्रमरगीत का आरम्भ ही ऊधव के उपदेश से करते हैं—"ऊधव को उपदेश सुनो ब्रज नागरी" जैसे ऊधव जी आसन पर बैठे हुए हैं और ज्ञानोपदेश का रिकार्ड लग रहा है। नन्ददास जी के भँवर गीत के प्रधानतया तीन भाग किये जा सकते हैं—पहले तो उद्धव-गोपी संवाद है इसमें निर्गुण-सगुण और ज्ञान-भक्ति का दार्शनिक शास्त्रार्थ है। गोपियाँ ऊधो जी को अपने सिद्धान्तो के तर्क से पराजित करती हैं। तर्क क्रम इस प्रकार रखा गया है कि पाठक को स्पष्टतया ऊधो के तर्क गोपियो के तर्कों के सम्मुख निर्बल प्रतीत होते हैं। नन्ददास की साम्प्रदायिक प्रवृत्ति यहाँ स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। अपने भक्ति मार्ग की विजय उन्हें गोपियों के माध्यम से दिखानी थी, इसी लिए ग्रामीण, अपढ़ गोपियों ने विद्वान् और शास्त्रज्ञ ऊधो को सिद्धान्तो और शास्त्रीय तर्कों से पराजित कर दिया। यह शास्त्रीय वाद-विवाद नन्ददास जी की मौलिक सूझ है। वाद-विवाद के पश्चात् गोपियाँ कृष्ण का स्मरण करके भावावेश में आकर उपालम्भ करना प्रारम्भ करती हैं। उपालम्भ सूर के भ्रमरगीत में भी है पर वहाँ सारा उपालम्भ व्यंग्य है, यहाँ पर प्रत्यक्ष होने से अधिक प्रभाव-शाली है। इसी काल नन्ददास जी भागवत की कथा का अनुसरण करते हुए

भौंरे को वहाँ लाते हैं और एक गोपी के कमल चरण पर बिठा देते हैं। उसे देख कर गोपियाँ, भौंरे का नाम ले-लेकर ऊधो पर व्यंग्य करती हैं। इस प्रकार नन्ददास के भँवरगीत मे भ्रमरगीत का अंश अंत में आता है। भ्रमर-गीत के उपरान्त नन्ददास जी भाव-परिवर्तन दिखाते हैं। भाव-परिवर्तन सूर के भ्रमरगीत मे भी है पर उसमें उसका पूर्वापर ऐसा सम्बन्ध नहीं है जैसा कि यहाँ पर है। तात्पर्य यह कि नन्ददास का भँवरगीत यद्यपि अपेक्षाकृत छोटा है पर तार्किक और मनोहारी वृत्त मे संगठित है। सूर और नन्ददास की गोपियों में भी बड़ा अन्तर है। नन्ददास की गोपियाँ विवाद मे बड़ी विदुषी पर भावुकता मे बड़ी अल्हड़ हैं। कृष्ण का नाम सुनते ही मूर्च्छित हो गयीं पर जल-छींटे से सजग होते ही ज्यों ही ज्ञान का उपदेश ऊधो से सुनती हैं शास्त्रार्थ मे रत हो जाती हैं और अन्त में फिर ऐसा रोना-धोना आरम्भ कराते हैं कि जिन ऊधो पर शास्त्र के तर्कों से प्रभाव नहीं पड़ा था, उनका ज्ञान का गौरव बह निकला। सूर की गोपियाँ विदुषी तो नहीं, पर सहृदयता और वाक्विदग्धतापूर्ण हैं। वे ऊधव के निर्गुण के विरुद्ध तो बहस नहीं करतीं पर सीधी बात करती हैं कि :—

"ऊधो मन नाहीं दस बीस,
एक हुतो सो गयो स्याम सँग को आराधै ईस।"

वे अपने हृदय की परवशता बताती हैं, प्रेम का व्यापक प्रभाव दिखाती हैं और अपने को योग के लिए सर्वथा अयोग्य बतलाती हैं। उनमें भोलापन भी है और वचनचातुरी भी। वचन-वक्रता से वे ऊधो और कृष्ण पर व्यंग्य करती हैं और योग-मार्ग की खिल्ली उड़ाती है। उनकी वार्ता में सिद्धान्त कम पर मनोवैज्ञानिकता अधिक है। उनमें बड़ी गम्भीरता भी है, कृष्ण को किसी प्रकार का दुर्वचन नहीं कहतीं और न अपने सुख के लिए कृष्ण को दुःख ही देना चाहती है। वे तो एक बार उनका दर्शन मात्र चाहती हैं। वास्तव में सूरदास और नन्ददास दोनों के भ्रमरगीत अपनी-अपनी विशेषताओं से युक्त हैं, दोनों ही ब्रजभाषा-साहित्य के जाज्वल्यमान रत्न है।

अष्टछाप के अन्य कवियों—कृष्णदास, परमानन्द, चतुर्भुजदास

छीत स्वामी और गोविन्द स्वामी आदि ने अधिक ग्रन्थ रचनाएँ न कीं। इन लोगो ने फुटकल पद लिखे हैं। भ्रमरगीत पर भी इनके पदों में कुछ फुटकल पद पाये जाते हैं, पर उनका विशेष महत्व नहीं है। इसी प्रकार कृष्ण काव्य पर रचना करने वाले भक्तिकालीन या रीतिकालीन अधिकांश कवियो ने भी उद्धव-गोपी को लेकर कतिपय पदो की रचना अवश्य की है, पर उनमे भ्रमर-गीत का कोई उल्लेखनीय प्रसंग नहीं है।

आधुनिक काल मे कृष्ण-काव्य का पुनरुत्थान हुआ। कृष्ण-लीला को लेकर खंडकाव्य और महाकाव्य प्रस्तुत किये गये है। प्रिय-प्रवास, 'उद्धवशतक', 'फेरिमिलिवो' और कृष्णायत श्रेष्ठ प्रबन्ध काव्य इस काल मे रचे गये। इन सब मे भ्रमरगीत प्रसंग प्राप्त होता है। मुक्तक गीतो के रूप में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और सत्यनारायण कविरत्न ने इस प्रसंग पर सुन्दर पदो की रचना की। कविरत्न जी का 'भ्रमरदूत' तो भ्रमरगीत का एक नवीन स्वरूप है। इसमे यशोदा जी भारतमाता का प्रतिनिधित्व करती हैं और कृष्ण के अवतार की कामना करती हुई भ्रमरदूत भेजती है। इसमे नन्ददास के भ्रमरगीत के ही छंद और शैली में नवीन राष्ट्रीय दृष्टिकोण उपस्थित किया गया है पर इसमें भ्रमरगीत-परम्परा मे प्राप्त उद्धव-गोपी संवाद नहीं है।

'प्रिय प्रवास' का भ्रमरगीत भी परम्परा का भ्रमरगीत नहीं है। हरिऔध ने कृष्ण-लीला का आधुनिक दृष्टिकोण उपस्थित किया है। प्रिय-प्रवास में उद्धवगोपी संवाद बहुत विस्तृत है। आठ सर्गों (१६ वें से लेकर ६ वें तक) मे वही कथा गायी गयी है। कृष्ण जी उद्धव जी को भेजते है, वृन्दावन की वनस्थली का उन पर प्रभाव होता है, उनका रथ देखकर व्रजवासियो को शंका होती है। सर्व-प्रथम ऊधव जी नन्द यशोदा को प्रबोध देते है, फिर गोपियों को उपदेश देते हैं। गोपियाँ उपालम्भ करती है, अपना विरह निवेदन करती हैं। ऊधव जी वन मे छिपे बैठे रहते हैं। गोपी कुसुम, भृंग, वंशी और कोकिला के प्रति अपना विरह निवेदन करती हैं। अन्त में वे राधा को उपदेश करते है। राधा की समझ मे आ जाता है, वे विश्व-सेवा को कृष्ण-प्रेम मान लेती हैं और उसी में रत होजाती हैं। भ्रमरगीत का रूप भी भृंग के प्रसंग मे आ गया है, पर यहाँ प्राचीन रूप नहीं है। 'प्रिय प्रवास' की यह

कथा आरम्भ मे तो सूरदास के भ्रमरगीत जैसी है, संवाद भी कुछ-कुछ वैसा ही है, पर अन्त सर्वथा नवीन है ।

रत्नाकर का 'उद्धव शतक' निश्चय ही भ्रमर गीत परम्परा मे लिखा हुआ सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है । रत्नाकर जी ने अपने विषय को सूरदास और नन्ददास के भ्रमर गीतों के सम्मिश्रण से बनाया है, उसमे स्वयं नवीन और युक्तियुक्त प्रसंग जोडकर उसे अधिक काव्योपयुक्त बनाया है । रीतिकालीन कवियों की शैली और काव्य-कला का उपयोग अभिव्यक्ति के लिए किया है अतः भ्रमर-गीत परम्परा मे काव्य के भावपक्ष और कलापक्ष के संतुलित सामंजस्य से यह सर्वथा नवीन और सर्वोत्कृष्ट रचना बन गयी है । अन्य भ्रमरगीतों मे कथा का आरम्भ एकदम हो जाता था, या तो कृष्ण-उद्धव को व्रज लाने का आदेश कर देते या सीधे गोपी-उद्धव संवाद ही आरम्भ हो जाता था । रत्नाकर जी ने इसका आरम्भ ही बडी चतुराई से किया है— कृष्ण अपने सखा उद्धव के साथ यमुना मे स्नान कर रहे थे, एक आधा मुरझाया हुआ कमल बहता देखा, उसकी सुगन्ध ली, उसमे राधा की स्मृति से बेसुध हो गये । इतने मे तट पर पिंजरे के तोते ने राधा नाम रटा, उनकी मूर्छा छूट गयी । किसी प्रकार उद्धव जी के सहारे बाहर आये । स्मृतियाँ छा गइ; कृष्ण व्रजमय हो गये । उनका गला भर आया, आँखों मे आसू भर गये, हिचकियाँ आने लगीं और इस प्रकार शरीर के सात्विक भावो से विरह की अकथ कथा को कहने लगे । फिर बात-बात मे अपने व्रज-प्रेम का प्रकाशन ऊधव जी से करने लगे । ऊधव जी ने कृष्ण को ज्ञान की बातो से प्रबोध कराना चाहा और कृष्ण जी ने कहा कि ठीक है । मैं आपकी सारी बाते मान लूँगा यदि आप एक बार गोकुल हो आवें—

प्रेम नेम विफल निवारि उर अंतर तैं,
ब्रह्म ज्ञान आनन्द निधान भरि लैहै हम ।
कहै रतनाकर सुधाकर मुहवींचि ध्याय,
आंसुन सो धोइ जोति जोइ जरि लैहैं हम ।।
आवो एक बार धारि गोकुल गली की धूरि,
तब इहि नीति की प्रतीति धरि लैहैं हम ।।

गोपियों के वचनों मे हैं। पर अभिव्यक्ति सर्वत्र रत्नाकर की अपनी है। एक एक पद काव्यार्थ से इतना भूरपूर है कि काव्य-रसिक उन्हे पढ कर आत्म-बिभोर हो जाता है। अभिव्यक्ति की मौलिकता और काव्य कला की छटा शायद ही कहीं प्राप्त हो। देव, बिहारी, और पद्माकर की काव्य-कलाओ का समस्त रूप संगृहीत होकर रत्नाकर के कवित्तो में फूट पडा है।

ऊधव जी की विदाई, उनका व्रज से लौटना, मथुरा पहुँचना और कृष्ण के सम्मुख गोपियों की विरह दशा का निवेदन भी ठीक उसी प्रकार सर्वथा नवीन और मौलिक है जैसे कथा का आरम्भ। कथा का अन्त सूरदास और नन्ददास की भांति आध्यात्मिक नहीं है। इसमें तो उद्धव की परिवर्तित अवस्था मात्र का उद्घाटन है। बात यह है कि सूरदास और नन्ददास भक्त थे, उन्होने भ्रमर गीत की कथा अपनी साम्प्रदायिक वृत्ति की तुष्टि के लिए की थी जब ज्ञान के ऊपर भक्ति की विजय सिद्ध हो गई, फिर गोपी-कृष्ण का अभिन्न रूप दिखाकर उन्होने कथा को समाप्त कर दिया। रत्नाकर जी तो काव्य-रसिक थे, आध्यात्मिकता और भक्ति-ज्ञान के पचडे से उनका कोई सम्बन्ध नहीं, उन्हें तो प्रेम-भाव का रस रूप प्रस्तुत करना था, अतः प्रेम की पराकाष्ठा ऊधो मे दिखाकर उन्होंने ग्रन्थ समाप्त कर दिया।

रत्नाकर जी की प्रवृत्ति रीतिकालीन थी, इसीलिए उन्होंने कवित्तों में उद्धवशतक की रचना की। उसमें अलंकार, व्यंजना, अनुभाव-विधान और उक्ति-वैचित्र्य का अधिकाधिक चमत्कार प्रस्तुत किया है। भ्रमरगीत हम इसे नही कह सकते, क्योकि भ्रमर का कोई उल्लेख इसमें नहीं है। इसमें तो उद्धव-गोपी संवाद है। यह गीत भी नहीं है। इसमे तो कवित्त हैं। अनेक लोगों की धारणा है कि यदि रत्नाकर ने भीं गीतों मे लिखा होता तो और भी सुन्दर रचना बनी होती।

श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र रचित 'कृष्णायन' कृष्ण-काव्य का अभूतपूर्व ग्रन्थ है। इस ग्रंथ में लेखक ने रामायण के अनुकरण पर उसी शैली में, अवधी भाषा में महाकाव्य रचा है। इसमें कृष्ण काव्य का सीमित दृष्टिकोण नहीं है, रामायण के राम की भांति ही कृष्ण का आदर्श चरित उसमें प्रस्तुत किया

गया है। यद्यपि उद्धव-गोपी संवाद मुक्तक प्रसंग के रूप में ही ग्रहण किया गया था, तथापि मिश्र जी ने भी लोकनायक-कृष्ण के जीवन मे भी इस प्रसंग को यथा-स्थान रखा है। उन्होने इस प्रसंग को कुछ परिवर्तित करके अपनी कथा के अनुरूप अवश्य कर लिया। कृष्णायन मे भी उद्धव का व्रज गमन प्रसंग अन्यत्र जैसा ही है। उद्धव जी जब व्रज पहुँचते हैं तो वहाँ की प्रकृति और वनस्थली में किसी प्रकार का आनन्द नहीं पाते। कृष्ण-विरह सर्वत्र व्याप्त दिखाई पड़ता है—

"निर्जन वृन्दावन द्युति हीना।
सूखे तृण-तरु, जीव मलीना ॥"

नन्द के पास पहुंचकर वे कृष्ण का संदेश उनसे कहते हैं। यहाँ उनके सन्देश मे कोई ज्ञान-चर्चा नहीं है, उसमे तो कहा गया है कि असुरो का नाश करने के बाद मैं व्रज आऊँगा।

"देश धर्म-त्रासक असुर, दैहौ जबहिं नसाय।
करिहौं तनिक बिलम्ब नहिं, अइहौ मइया धाय ॥"

गोपियो के प्रति भी उनके वचनो में किसी प्रकार का ज्ञान का उपदेश नहीं है। वे कहते हैं कि इतने दिन हमारे कृष्ण व्रज मे रहे और तुम लोगो को आनन्द देते रहे। हम सब कंस के अत्याचार को सहते रहे। अब दो दिन से जब वे मथुरा गए तो तुम सब लोग क्यो हाय-तोबा मचा रही हो—

"हँसि कह उद्धव गोपिन पाहीं, हमरेहु श्याम, तुम्हारे हि नाहीं।
एतिक दिवस कीन्ह ब्रज बासा, बरसेउ आनंद हर्ष हुलासा ॥
हम यदुजन सब रहे दुखारी, भये अंध दृग पंथ निहारी ॥"

इस पर गोपियाँ अपनी विरह दशा का चित्रण करती है और उनके चरण पकड़ कर विनति करती हैं कि—

आनहु ब्रज अब वेगि कन्हाई, बूड़त ब्रज तुम लेहु बचाई ॥"

अन्त में उद्धव राधा के पास जाते है। राधा तो लज्जा के कारण भीतर चली जाती है और यशोदा उसकी प्रीति की प्रशंसा करती है। इस जगह पर अवश्य ही उद्धव कृष्ण के ब्रह्मत्व का निरूपण करते हैं—

"कृष्ण अनादि अरूप अकारण, नारायण अच्युत जग तारण।
व्यापक ब्रह्म सदा सब पाहीं, विरह प्रसंग वहाँ कुछ नाहीं ॥"

इसके पश्चात् ही इस प्रसंग का अन्त हो जाता है और उद्धव लौट आते हैं।

भ्रमर-गीत कृष्ण-काव्य के भीतर सचमुच एक सुन्दर और महत्त्वपूर्ण अंग रहा है। विषय की दृष्टि से अत्यन्त ही लघु होते हुए भी इसका प्रसार बहुत रहा है। काव्य के भावपक्ष और कलापक्ष दोनो का सुन्दर परिपाक प्रस्तुत करने का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यद्यपि भ्रमर-गीत का आधार कल्पना मात्र ही कहा जा सकता है पर इस कल्पना ने अनुभूति और चिरन्तन सत्य को ऐसा प्रश्रय दिया कि उसे स्थायी साहित्य की कोटि मे आते देर न लगी। इस प्रसंग ने काव्य के सभी रूपो गीत, मुक्तक और प्रबन्ध मे स्थान पाया और काव्य-रसिको को रसानन्द से आप्लावित किया।

---

# हिंदी गीति-काव्य

व्यक्तिगत सुख-दुःखो की सहजानुभूति जब स्वत' द्रवीभूत होकर रागात्मक होती है तो उसे गीत कहा जाता है। गीत में भाव और स्वरो का संगठित रूप होता है। काव्य मे शब्दार्थ की साधना होती है और सगीत मे स्वर साधना। संगीत मे शब्दार्थ सहायक होता है और काव्य मे संगीत। संगीत में विचार सूक्ष्म होते-होते आलाप मात्र रह जाता है, उसकी स्वर-लहरी मे विचारो की सूक्ष्माभिव्यक्ति मात्र रह जाती है, पर इसकी प्रभावोत्पादकता विलक्षण हो जाती है। संगीत का यही तत्व काव्य का सहयोगी बनकर गीतिकाव्य को अधिक मनोहारी और सशक्त कर देता है। गीतिकाव्य मे यद्यपि संगीत पीछे-पीछे सहायक रूप मे रहता है पर उसकी शक्ति अधिक होती है। संगीत के द्वारा हृदय की रागात्मक अनुभूतियां अधिक सजीव और सहज हो जाती है। सहानुभूति अनायास ही सर्वानुभूति बन जाती है।

(१) गीतिकाव्य गीतात्मक (Lyrical) है संगीतात्मक (musical) नहीं। प्रत्येक छन्द संगीतात्मक होता है, उनमें भी ताल, लय का विधान होता

है पर छन्दों की संगीतात्मकता हृदय की उन्मुक्त भाव-धारा के अनुरूप नहीं है। चौपाई, सवैया और दोहे भी गाये जाते हैं पर इनका संगीतात्मक रूप वह नहीं है जो पदो या गीतो का संगीत है। पदो और गीतों के संगीत में स्वर, आलाप और मूर्छना को स्वच्छन्द रूप से प्रवहमान होने का सुअवसर प्राप्त होता है, पर चौपाई, दोहे और सवैया आदि छन्दों मे यति. मति आदि के बन्धन स्वरो के आरोह और अवरोह मे व्याघात उत्पन्न करते हैं। पदो या गीतों की स्वतंत्र स्वर लहरी हृदय की रागात्मक अनुभूतियों का सहज माध्यम बन जाती है।

(२) गेयत्व गीतिकाव्य का शरीर है, तो आत्माभिव्यक्ति आत्मा। गीतिकार अपने अन्तस्थल के व्यक्तीकरण मात्र के लिए ही गीतो की रचना करता है। गीतो में आप-बीती का ही निरूपण होता है जग बीती का नही। जगत् के बाह्य-अनुभवो के प्रकाशन के लिए प्रबन्ध काव्य या मुक्तक छन्द होते हैं। गीत तो अन्तराल की सुख-दुःख की भावावेशमयी अवस्था के प्रकाशन में ही लिखे जाते है। वे तो शुद्ध 'स्वान्तःसुखाय' लिखे जाते हैं, जन-जीवन, समाज और लोक की कोई भी परवाह गीतकार को नही होती। इसमे काई सन्देह नहीं कि गीतो मे मानव-मन के शाश्वत भाव-प्रेम, विरह, आह्लाद, वेदना, आदि ही प्रस्फुटित होते हैं और ये भाव सभी जनों में समान रूप से व्याप्त पाये जाते हैं, इसीलिए गीतिकाव्यकार की स्वानुभूति बडी सरलता से श्रोता में तद्वत्-भावना उत्पन्न कर देती है, सुनने वाला कवि को भूलकर स्वयं ही गीत के सुख-दुःखों में आनन्दाश्रु बहाने लग जाता है।

(३) गीतों की स्वानुभूति अल्पकालीन होती है, अतः उनमे एक ही लघु-भाव होता है, अन्तराल का एक छोटा चित्र ही होता है, उसमें इसीलिए न अधिक बड़े भाव पर विचार की गुंजाइश होती है और न किसी प्रकार के वृत्त या कथा का अवकाश उसमें होता है। गीत तो आकार में छोटे, अपने में पूर्ण और एक ही अल्पकालीन अनुभूति से युक्त होते हैं। शुद्ध गीत में न तो गम्भीर दार्शनिक तथ्य उपस्थित किया जा सकता है और न किसी प्रकार लौकिक आदर्श। उसमें तो केवल हृदय की कोमल मनोवृत्तियों और मनोविकारो को प्रश्रय मिलता है।

गीतो की भाषा सरल और नाद सौंदर्य के अनुकूल होती है। शब्दार्थ की गूढ़ साधना गीतो की स्वर-साधना के अनुकूल नहीं पडती। उसकी शब्दावली ललित, प्रसाद गुण पूर्ण और स्वर-साधना को आवश्यक प्रसार देने योग्य होती है।

गीतो का जो स्वरूप ऊपर उपस्थित किया गया उसके अनुरूप परिस्थितियाँ जिस युग मे होगी उसी युग मे गीतिकाव्य का सृजन होगा। भारत में गीतो का आविर्भाव बहुत प्राचीन काल मे हुआ था। सामवेद मे ही गीत अपने पूर्ण वैभव के साथ प्रगट हो गये थे। फिर भी काव्य और संगीत दोनो ही पृथक् रूप से पल्लवित हुए थे। जयदेव के गीत गोविन्द मे ही सर्वप्रथम दोनो का सम्मिलन हुआ था। तभी से संत लोग काव्य और संगीत की गगा जमुनी बहाते चले आ रहे थे। लोक-गीतो मे भी गीतो का ग्रामीण स्वरूप पल्लवित था। दुर्भाग्य से जिस काल मे हिन्दी-काव्य का जन्म हुआ वह काल गीतो के लिए अनुकूल न था। मार-काट और अशान्ति का युग था। राज्य-क्रांति, युद्ध, रूप-लिप्सा और भौतिक अशान्ति के इस काल मे आभ्यन्तर के प्रकाशन को अवसर कहाँ था, इसीलिए हिंदी के आदि काल में गीतो की रचना न हो सकी। बीसलदेव रासो, आल्हखंड मे जो वीर गीत प्राप्त होते हैं वे संगीतात्मक तो थे पर गीतात्मक ( Lyrical ) नही थे। अमीर खुसरो मे अवश्य ही कुछ गीत मिलते हैं कारण यह कि अमीर खुसरो की हिंदी-कविता मनोरंजन के दृष्टिकोण से ही प्रस्तुत की गयी थी, कभी-कभी उस मनोविनोदी कवि ने अपने भीतर की सुखात्मक अनुभूतियो का प्रकाशन भी किया जो कि राग-रागनियों मे व्यक्त हो गयीं। विद्यापति की पदावली गीत गोविन्द के अनुसरण मे रची गयी। उसमें अवश्य ही हिंदी-काव्य का सर्वप्रथम गीति-काव्य प्राप्त हुआ। कोमल-कान्त पदावली में रचा हुआ विद्यापति कर गीत्तिकाव्य अवश्य ही काव्य और संगीत का मणि-कांचन-योग था। उसमें यदि कोई कमी थी तो केवल आत्माभिव्यक्ति की।

हिन्दी-साहित्य का भक्ति-काल गीतिकाव्य के लिए सर्वोत्तम काल था। संतों का काव्य-जीवन हृदयस्थित रागात्मक अनुभूतियो-मात्र के प्रकाशन के रूप में ही विकसित हुआ था। भजनानंदी साधुओ के लिए गीत ही सब से

अधिक रुचिकर और अनुकूल थे, फलतः कबीर, दादू आदि संतो, सूरदास, नंददास आदि अष्टछाप के भक्तो, तुलसी, मीरा आदि के द्वारा हिंदी-गीति-काव्य अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। इसमे संदेह नही कि हिन्दी-साहित्य के भक्ति काव्य का बहुत बडा अंश प्रचारात्मक भी था—उसमें मतमतान्तरो का प्रतिपादन, लोकादर्शों और उपदेशों का पिष्टपेषण भी समा गया, फिर भी गीत ही भक्त कवियो के भाव-प्रकाशन के माध्यम बने। कबीर आदि सन्तो मे उपदेशात्मक प्रवृत्ति प्रधान हो गयी, तथ्य-निरूपण उनके गीतो का प्राण बन गया—आत्माभिव्यक्ति जिसमे अपने ही सुख-दुःख का प्रकाशन होता है, कम पदो मे मिली। गोस्वामी तुलसीदास जी की विचार-धारा मे राम का मर्यादित जीवन इतना प्रधान बन गया कि उनकी विचार-धारा प्रबन्ध के रूप मे चलने लगी। 'गीतावली रामायण' यद्यपि गीतो मे है, पर उसमे भी 'रामचरित-मानस' की भाँति ही राम-कथा ही गायी गयी है—उसे हम गीतिकाव्य का सुन्दर उदाहरण नही कह सकते। विनयपत्रिका अवश्य ही आत्माभिव्यक्ति के रूप मे लिखी गयी पर उसमे विचारों की महानता, दार्शनिकता और भाषा की इतनी जटिलता आ गयी कि गीतो के सहज-नाद-सौंदर्य से वह कोसो दूर हो गयी। सूरदास के सूरसागर में भी कृष्ण-लीला की प्रधानता हुई पर सूरदास जी ने कृष्ण-लीला को अपनी अनुभूतियो के प्रकाशन का माध्यम मात्र ही बनाया। उनके समस्त गीत आकार मे छोटे, कवि की अल्पकालीन अनुभूति को समक्ष रखे हुए और संगीत के सुर-ताल में खरे उतरने वाले हैं। लीला विषयक पदो को सूरदास ने गीतो मे न लिख कर लम्बे-लम्बे पदो मे लिखा है, जिन में चौपाई, रोला, दोहा आदि छन्दो का प्रयोग है। तात्पर्य यह कि सूरदास जी के गीत काव्य और संगीत दोनों के उचित सामंजस्य से गीतिकाव्य के श्रेष्ठ रूप बन गये हैं। मीराबाई की समस्त पदावली आत्माभिव्यक्ति के रूप में हुई है। संगीतात्मकता भी उसमें सर्वथा निर्दोष है। मीरा का सम्पर्क यद्यपि संतो से था, फिर भी उन्होंने अपनी भक्ति-भावना मात्र ही प्रस्तुत की। इतना अवश्य है कि मीरा का गीत काव्य संगीत के निकट अधिक है, काव्य के कम। उसमे शब्दार्थ-साधना उतनी नहीं है जितनी भावुकता की तरलता है। इस प्रकार गीतिकाव्य जो

कि काव्य का ही एक रूप है और जिसमें काव्य की शब्दार्थ-साधना प्रधान और संगीत सहायक है, मीरा में उतना उत्कृष्ट नहीं माना जा सकता जितना सूर में। यद्यपि आत्माभिव्यक्ति की दृष्टि से मीरा के पद सूर के पदों से गीति काव्य के अधिक अनुकूल हैं। संक्षेप में प्राचीन हिन्दी-गीतिकाव्य में सूर, मीरा, तुलसी और कबीर के स्थान क्रमशः ही होंगे।

हिंदी-गीत-सरिता जो भक्ति काल में भरपूर जल से लहरा रही थी, एकाएक रीतिकालीन मरुस्थल में पड़ कर सूख-सी गयी. कवित्त और सवैयों के स्वरों में किसी प्रकार अपना अस्तित्व मात्र बनाये रही, हाँ आधुनिक काल में अनुकूल भूमि पाकर पुनः उसका आयास बढ गया और पूर्ववत् वेग के साथ वह बह निकली। रीतिकाल में गीतों की रचना न हुई, यद्यपि उस काल में परिस्थितियाँ गीतों के बहुत प्रतिकूल न थीं। शान्ति का युग था, प्रायः प्रत्येक कवि ने भक्ति की रचना की और उसमें आत्माभिव्यक्ति का निक्षेप भी किया। देव, पद्माकर, बिहारी, घनानन्द आदि के अनेक पद ऐसे हैं जो यदि गीतों में लिखे गये होते तो अधिक सुन्दर बनते। इस काल में गीतों की उपेक्षा का मुख्य कारण यह है कि इस काल में रीतिबद्ध रचना को ही लोकप्रियता मिली। गीतिकाव्य स्वच्छन्द भाव-धारा है, रीतिबद्ध होकर वह फल-फूल नहीं सकती। रीतिकाल का कुछ ऐसा प्रभाव था कि रीति का त्याग वे न कर सके। दूसरी बात यह भी है कि गीतिकाव्य की प्रकृति आत्मा के स्वरों के लिए ही है, उसमें शुद्ध आध्यात्मिक भाव ही निकल पाते हैं, रीतिकालीन कवियों में कविता राज्याश्रय की कविता थी, उसमें आध्यात्मिकता के स्थान पर लौकिक शृंगारिकता थी, भक्ति-भाव या राधा-कृष्ण सम्बन्धी रचनाओं में भी शृङ्गारिक प्रवृत्ति ओट में छिपी हुई सर्वत्र विद्यमान है, यह प्रवृत्ति गीति-काव्य के प्रतिकूल है। जब तक कविता को बन्धनविहीन खुला वातावरण और आध्यात्मिक पृष्ठभूमि न मिली, गीतिकाव्य को अवसर न मिल सका।

आधुनिक काल में रीति की प्रतिक्रिया के उदय होते ही गीतिकाव्य को स्वरूप प्राप्त हो गया। हरिश्चन्द्र युग में नाटकों में गीत झलकने लगे, पर कविता के क्षेत्र में द्विवेदी-युग तक छंदों का ही राज्य रहा। जयशंकर

प्रसाद के नाटको मे गीतों को विकास मिला और फिर प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी, रामकुमार, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', आदि के गीतो से हिन्दी-गीतिकाव्य पुनः लहलहा उठा। इन गीतो ने खडी बोली कविता की रही-सही रीतिबद्धता भी उखाड़ फेंकी। स्वर-ताल, शब्द, वर्ण योजना, अलंकरण, और टेकनीक सब मे आमूल परिवर्तन हुआ। सारी रूढ़ियो को छोड़कर कविता स्वच्छन्द हो गयी। द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मक कविता धारा की प्रतिक्रिया में अन्तस्तल की सूक्ष्म अनुभूतियो का प्रकाशन छोटे छोटे गीतो में होने लगा। गीतिकाव्य की आध्यात्मिक भाव-भूमि पुनः प्राप्त हो गयी। भाषा मे मधुरता, लालित्य और सुकुमारता आ गयी। प्रणय, विरह, उल्लास और वेदना के गीत प्रत्येक कवि को हृत्तन्त्री पर झंकृत हो उठे। गीतिकाव्य की प्रकृति के अनुकूल इस युग मे जितने महादेवी जी के गीत रहे उतने औरो के नहीं। क्योंकि स्वरूप में उनके गीत स्वर-साधना के अधिक निकट बने। पन्त और प्रसाद में शब्द-साधना का आग्रह अधिक हुआ। निराला मे प्रतिक्रियात्मक प्रवृत्ति इतनी क्रान्तिकारी बन गयी कि गीत स्वच्छन्दता की सीमा पर पहुँच कर स्वर-ताल और लय से दूर जा पड़े। रबड छन्दो के नाम से अभिहित होने वाले गीत पढ़े ही जा सकते हैं गाये नही जा सकते। निराला की 'गीतिका' के गीत अर्थ-जटिलता और सामासिक पदावली से इतने गूढ़ हो गये कि वे सरल गीतो की कोटि में रखे ही नहीं जा सकते। यद्यपि महादेवी जी के गीतो मे भी हृदय का खुला रूप नहीं प्राप्त होता, विचारों का स्पष्ट प्रकाशन नहीं होता, फिर भी उनमे वह भावुकता अवश्य मिलती है जो भाव को समझे विना भी पाठक या श्रोता मे तन्मयता ला देती है। महादेवी की ही गीत-शैली अन्य गीतकारो मे मिलती है।

प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के विकास मे गीतिकाव्य की भावना पुनः निर्बल हो चली। प्रगतिवाद द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को लेकर आगे बढा। यह भावना ही गीतिकाव्य के अनुकूल नहीं है। निराला का मुक्त-छन्द ही प्रगतिवादियों का प्रिय-वाहन रहा है। उनकी टेढी-मेढ़ी पंक्तियो, कठोर, नीरस शब्दावली की ऊबड़-खाबड भूमि और भौतिकवादी विचारधारा में गीतिकाव्य प्राण-विहीन हो गया। अज्ञेय आदि प्रयोगवादियो के नये प्रयोगो में गीत कहे

जाने वाले पद प्रगतिवादियों के भी कान काट रहे हैं, गीतिकाव्य का कोई भी अवयव इनमे प्राप्त नही है। हाँ, नरेन्द्र शर्मा, विद्यावती कोकिल, सुमित्रा कुमारी सिन्हा, शिवमंगलसिंह 'सुमन', रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' आदि के गीत अवश्य ही गीतिकाव्य के अनुरूप चल रहे है।

आध्यात्मिकता और गान भारतीय संस्कृति के मूल गुण हैं। मूढ से मूढ़ व्यक्ति भी आध्यात्मिक रहस्य की चर्चा करता है और चने बेचने वाला भी गान के माध्यम से ही अपनी वृत्ति कमाता है। ये दोनो वृत्तियाँ भारत की चिरंतन निधियाँ है और अनन्त काल तक यहाँ की भूमि और हवा में विद्यमान रहेगी। इनके रहने पर गीतिकाव्य कभी भी मर नहीं सकता। प्रतिकूल परिस्थितियाँ भले ही गीत धारा को उथली कर दें पर अनुकूल अवसर पाते ही पुनः वह अपना पथ प्रशस्त कर लेगी।

---

# कथाकार प्रेमचन्द्

कथाकार के नाते प्रेमचन्द को हिन्दी-साहित्य में जो स्थान प्राप्त है, उन से पहले और बाद का कोई भी लेखक उनके आस-पास नहीं पहुँचता। इसका कारण यह है कि प्रेमचंद हिन्दी और उर्दू के पहले कहानी लेखक हैं जिन्होंने यथार्थवादी कहानी-साहित्य का रिवाज डाला। उन्होंने पहली बार जन-जीवन और सामाजिक और राजनीतिक समस्याओ को अपनी कहानियो और उपन्यासों का विषय बनाया और जन साधारण को उनका नायक बनाया है। उन्होंने कहानियो और उपन्यासो के अधिकांश पात्र निम्न मध्यवर्ग, किसानों, अछूतो और खेत मजदूरों से लिये। यही वे लोग हैं जो जीवन को सुखी और समृद्ध बनाने के लिये परिश्रम करते है और जो अन्याय और अत्याचार को मिटाने के लिये संघर्षरत हैं। यह एक ऐसा ऐतिहासिक सत्य है जिसे प्रेमचंद ने शुरू ही में जाने-अनजाने समझ लिया था और इसी से उनके साहित्य को बल, प्रौढता और अमरत्व प्राप्त होता है।

प्रेमचन्द ने बीसवीं सदी के आरम्भ में लिखना शुरू किया। यह वह समय था जब देश मे विदेशी साम्राज्य के विरुद्ध राष्ट्रीय आन्दोलन जोर-शोर

से उठ रहा था। उस समय स्वतन्त्रता और स्वराज्य की कोई रूप रेखा स्पष्ट नहीं थी। देश के लिये लडना और उसे विदेशियो से आजाद कराना ही काफी समझा जाता था। प्रेमचन्द ने भी एक इसी प्रकार के सीधे देशभक्त के रूप में कहानी लिखना शुरू किया। उनका नाम धनपतराय था और उनके पिता उन्हे प्यार से नवाब कहा करते थे; इसलिये उन्होंने नवाब राय के नाम से लिखना शुरू किया। हिन्दी मे वे बाद मे आये, पहले उर्दू में लिखा करते थे। उर्दू की प्रसिद्ध मासिक पत्रिका "जमाना" उस समय कानपुर से निकलती थी। उसके सम्पादक मुंशी दयानारायण निगम बहुत ही सुहृदय व्यक्ति थे। 'जमाना' मे प्रेमचन्द की पहली कहानी सन् १६०५ मे प्रकाशित हुई। उसे देखकर मुंशी दयानारायण निगम ने अनुमान लगाया कि यह नौजवान लेखक उच्चकोटि का कथाकार बनने की प्रतिभा रखता है। इसलिये उन्होंने प्रेमचन्द से सम्पर्क बढ़ाया और उनका यह सम्पर्क अंत तक बना रहा। निगम साहब उन्हे हमेशा प्रोत्साहन देते रहे और प्रेमचन्द भी उन्हे बडे भाई के तौर पर मानते थे।

प्रेमचन्द का पहला कहानी संग्रह "सोजे वतन" के नाम से सन् १६०६ मे जमाना प्रेस कानपुर ही से प्रकाशित हुआ। इस संग्रह में प्रेमचन्द की पहली कहानी "अनमूल रतन" भी शामिल थी। इस कहानी मे अनमूल रतन रक्त के उस बिंदु को कहा गया था, जो देश-सेवा मे बहाया गया हो। इस संग्रह मे कुल पांच कहानियाँ थी और उन सब मे लेखक का आदर्श देश-सेवा ही था। और इसी लिये पुस्तक का नाम सोजे-वतन— देश की लगन अथवा प्रेम रखा गया था। उस समय प्रेमचन्द स्कूल-इन्स्पेक्टर थे। उनके अंग्रेज अफसर को पता चल गया और उसने जवाब-तलबी की कि तुमने यह सेडीशन (षड्यंत्र) से भरी हुई पुस्तक क्यों लिखी है? नौकरी तो किसी तरह बच गई; लेकिन यह पुस्तक जब्त कर ली गई और उन पर यह पाबंदी लगा दी कि आगे को वे जो कुछ लिखें, उसे प्रकाशित करवाने से पहले साहब बहादुर के पास भेजे।

'सोजे वतन' की जो सात सौ प्रतियाँ बच रही थीं, वे साहब बहादुर ने मंगवाईं और प्रेमचंद के सामने जला दीं। प्रेमचंद पहले भारतीय लेखक

थे जिनकी पुस्तक देश-भक्ति के अपराध मे जलाई गई और नौकरी मुश्किल से बची। लेकिन प्रेमचन्द इससे निरुत्साहित नही हुए, बल्कि उन्होंने निश्चय किया कि अगर मेरी लेखनी मे वाकई इतना बल है कि साहब बहादुर उससे डरता है, तो मै इस लेखनी और इस बल को राष्ट्रीय सेवा के लिये अर्पित करता हूं। अतएव वे इसके उपरांत अपनी लेखनी द्वारा आगे बढ़ने मे हमेशा प्रयत्नशील रहे।

अब सबसे बडी कठिनाई यह थी कि हर एक चीज प्रकाशित होने से पहले साहब बहादुर को दिखाने की शर्त लगा दी गई थी। न दिखाये तो नौकरी छुट जाने का भय था। इसलिये उन्होंने दयानारायण निगम से परामर्श करके नवाबराय लिखना छोड दिया और प्रेमचन्द के नाम से लिखना शुरू किया और आखिर प्रेमचन्द के नाम ही से प्रसिद्ध हुए।

उन्होने शुरू मे 'रानी सारंधा', 'देश की बलिवेदि पर', 'विक्रमादत्त का तेगा' आदि ऐतिहासिक कहानियाँ भी लिखी हैं। इनकी कथा-सामग्री राजपूतो के ऐतिहासिक जीवन से ली गई है, लेकिन उनका उद्देश्य प्राचीनतावाद नही, बल्कि पाठको की देश-सेवा को प्रौढ़ बनाना है।

प्रेमचन्द ने अपने कथा-साहित्य मे प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियोका चरित्र-चित्रण किया है। उनके पात्रो मे राजे, नवाब, सेठ, जमींदार, डाक्टर, वकील, मिल मालिक, किसान, मज़दूर सभी तरह के लोग मिलते हैं। लेकिन उन्हें अधिक सफलता निम्न या मध्य वर्ग के गृहस्थियों, बुद्धिजीवियों, किसानो और खेत मजदूरों का चरित्र-चित्रण करने मे मिल रही है। इसका कारण यह है कि उनका अपना जन्म निम्न मध्य वर्ग मे हुआ था और किसानो और खेत मजदूरों के बच्चो के साथ खेल-कूद कर बडे हुए थे। वे उनके जीवन और कठिनाइयों को भली प्रकार जानते और समझते थे। इसलिए उनका यथार्थ चित्रण करना उन्हें बहुत आसान था। समृद्ध वर्ग के जिन लेखकों को इस जीवन का अनुभव नहीं होता, वे किसानो और मजदूरो का जो काल्पनिक चित्र प्रस्तुत करते हैं, उसमें वास्तविकता का अंश बहुत ही थोडा रहता है। वे उनके जीवन को इतना काला और दुखी दिखाकर दया दर्शाने की कोशिश करते हैं कि उसमें विकृत भावुकता से अधिक और कुछ नहीं होता।

पाठक को दया तो क्या आनी थी, उलटी हँसी आती है । प्रेमचन्द लिखते हैं—

"इसमें संदेह नहीं कि समाज की कुप्रथाओं की ओर उसका ( पाठक का ) ध्यान दिलाने के लिए यथार्थवाद अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि इसके बिना बहुत सम्भव है हम उस बुराई को दिखाने में अत्युक्ति से काम ले और चित्र को उससे कही काला दिखावे जितना कि वह वास्तव मे है ।"

प्रेमचन्द मेहनतकश जनता के दरिद्र जीवन का चित्र प्रस्तुत करते हैं तो उनका यह चित्र कभी भी अधिक काला नही हो पाता। उनके दरिद्र पात्र अत्यन्त कष्ट और दुख मे हंसते और दीवाली, होली त्योहार मनाते हैं, नाचते-गाते और स्वांग भरते है। यदि उनमें दुःखो को सहन करने का सामर्थ्य न होता तो सदियो की गुलामी और घोर शोषण और अन्याय से वे अब तक कभी के पिस चुके होते। फिर वे हमारी महान जनता के प्रतिनिधि हैं, वे आपत्तियो से जूझते हुए भी अपनी मानवता और महानता को दूषित नहीं होने देते। उदाहरण के लिए प्रेमचन्द की कहानी 'मंत्र' लीजिए। कहानी का नायक बूढ़ा भगत अपनी एक मात्र संतान को ले कर डाक्टर चड्ढा के पास आता है, शायद डाक्टर के देखने से वह बच जाये। लेकिन डाक्टर चड्ढा को गोल्फ खेलने जाना है, वे बूढे की अनुनय-विनय पर ध्यान नहीं देते। लडका उसी रात मर जाता है। उसके थोडे ही दिन बाद भगत को सूचना मिलती है कि चड्ढा के पुत्र को साँप ने काट खाया। बूढ़ा भगत चाहता है कि न जाये, पर उसके मन को चैन नहीं मिलती। आखिर वह रातो-रात गया और डाक्टर के पुत्र को अच्छा करके बिना तम्बाकू पिये ही लौट आया। यह निस्स्वार्थ त्याग और सेवा हमारी महान् जनता का स्वभाव है। "पंच परमेश्वर" इसी जनता की न्यायप्रियता का उज्ज्वल उदाहरण है।

प्रेमचन्द यथार्थवादी हैं फिर भी उनके सामने एक आदर्श रहता है; इस लिए वह जीवन के काले और घृणित पहलुओं को प्रस्तुत करने के बजाय त्याग और महानता के पहलू को दर्शाते है। उनका यह अटल विश्वास था कि कोई मनुष्य चाहे कितना नीच और निकृष्ट हो, उसके हृदय में सद्भावना निहित रहती है जो अनुकूल समय और वातावरण पाकर जाग उठती है। प्रेमचन्द अपनी

कहानियों में मानव को इसी अनुकूल समय और वातावरण मे प्रस्तुत करके उन्हें बुरे से अच्छा बनता दिखाते हैं। कई बार ऐसा करने मे यथार्थ का दामन छूट जाता है और वह आदर्शवादी बन कर रह जाते हैं। यह उन पर गांधीवाद का भी प्रभाव था जिसके कारण वे अपने पात्रों का हृदय परिवर्तन कर देते थे।

लेकिन अंत में उन पर यह प्रभाव नही रहा था। "कफन" संग्रह की कहानियाँ इस बात का उदाहरण है। इनमे वे यथार्थ को यथार्थ के रूप में ही प्रस्तुत करते है। हृदय परिवर्तन मे उनका विश्वास नहीं रहा था। इसी प्रकार 'गोदान' मे भी शोषको का हृदय परिवर्तन नही होता। होरी अत्याचार और अन्याय का शिकार होकर मर जाता है।

फिर जैसा कि हम पहले देख चुके है, प्रेमचन्द ने साधारण देशभक्त के नाते लिखना शुरू किया था, लेकिन जैसे-जैसे उनका अनुभव बढ़ता रहा और वे आर्थिक शोषण के प्रति सजग होते गये, देशभक्ति के बारे मे उनका दृष्टिकोण बदलता रहा। आखिर उन्होंने स्वराज्य की एक रूपरेखा भी निश्चित कर ली। उनकी 'आहुति' कहानी में रूपमणि कहती है:—

"अगर स्वराज्य आने पर भी सम्पत्ति का यही प्रभुत्व बना रहे, और पढ़ा-लिखा समाज यों ही स्वार्थांध बना रहे तो मैं कहूँगी, ऐसे स्वराज्य का न आना ही अच्छा है। अंग्रेजी महाजनों की लोलुपता और शिक्षितों का स्वहित ही हमे पीसे डाल रहा है। जिन बुराइयों को दूर करने के लिये आज हम प्राणो को हथेलियो पर लिये हुए है, उन्ही बुराइयों को क्या प्रजा इस-लिये बढायगी कि वे स्वदेशी है? कम से कम मेरे लिए स्वराज्य का यह अर्थ नहीं है कि जॉन की जगह गोविंद बैठा दिया जाये।"

इसी प्रकार "कर्मभूमि" का अमरकांत कहता है:—"अब क्रान्ति ही में देश का उद्धार है। ऐसी क्रांति जो सर्वव्यापक हो, जो जीवन के मिथ्या आदर्शों का, झूठे सिद्धांतो और परिपाटियों का अंत कर दे। जो एक नये युग की प्रवर्तक हो। एक नई सृष्टि खड़ी कर दे, जो मिट्टी के असंख्य देवताओ को तोड़-तोड़कर चकनाचूर कर दे। जो मनुष्य को धन और धर्म के आधार पर टिकने वाले पंजे से मुक्त कर दे।"

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्रेमचन्द एक ऐसी राजनीतिक और सामाजिक क्रांति चाहते थे जिसमे मानवता शोषण और रूढ़िवाद के बंधनो से मुक्त होकर आगे बढ़ सके। यह गहरा मानववाद ही है जो प्रेमचन्द के कथा-साहित्य को अमरत्व प्रदान करता है, जिसके आगे उनकी सब कला-कृतियां मन्द पड जाती हैं। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि किसी कलाकृति को उस समय तक शाश्वतता प्राप्त नहीं होती, जब तक कि उसमे सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्र-चित्रण न हो, जब कि उसका उद्देश्य मानवता के ऐतिहासिक विकास को आगे बढाना न हो। प्रेमचन्द को दासता के साथ-साथ रूढिवाद से भी घृणा थी। मोटेराम शास्त्री समाज के रूढिवाद का और धर्म की निकृष्टता का प्रतीक है और प्रेमचन्द ने "सत्याग्रह" और "निमन्त्रण" आदि बहुत सी कहानियों मे रक्खा है। फिर हमारा समाज अर्ध-सामंतवादी है और सामंतवाद के अंत ही मे हमारा कल्याण है। प्रेमचन्द ने अपनी कहानियों "राजा हिरदौल" "शतरंज के खिलाड़ी" और "बडा भाई" आदि में सामंतवादी विचारधारा पर कडा प्रहार किया है। फिर हमारी विवाह-प्रथा भी सामंतवादी है और प्रेमचन्द ने इस समस्या को अपने हर उपन्यास और बहुत सी कहानियों मे लिया है और उन्होने ऐसे विवाह का पक्ष लिया है जिसमें स्त्री और पुरुष एक-दूसरे के विकास को आगे बढ़ायें।

जिस देश में आजादी के लिए आन्दोलन छिडता है, तो पुराने के विरुद्ध विद्रोह की भावना बढ़ती और नई संस्कृति का जन्म होता है। प्रेमचन्द की कहानियाँ और उपन्यास हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का मनोवैज्ञानिक इतिहास हैं और उनमें प्रेमचन्द ने बीसवीं सदी के भारत की नई संस्कृति को प्रस्तुत किया है।

यही कारण है कि प्रेमचन्द एक कथाकार के रूप मे हमेशा जीवित रहेंगे और उनका साहित्य आदर और सम्मान से पढ़ा जावेगा।

# आलोचना और आलोचक

साहित्य दो प्रकार का माना गया है—(१) श्रव्य और (२) दृश्य। श्रव्य-काव्यों मे वे रचनाएँ आती है, जिनके सुनने (आजकल पढने) से आनन्द मिलता है, और दृश्य काव्य के अंतर्गत नाटक आदि ऐसी रचनाएँ आती हैं, जिन का अभिनय रंगमंच पर देख कर दर्शको का मन तरंगित होता है। श्रव्य-काव्य के पुनः तीन भेद किए जाते हैं—(१) गद्य, (२) पद्य, (३) चंपू। गद्य रचनाएँ छन्दोहीन होती है तो पद्य रचनाएँ छन्दोबद्ध। गद्य-पद्यमिश्रित रचनाओ को चम्पू कहते है। गद्य के अनेक अङ्ग माने गए हैं। आधुनिक काल में उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना, जीवनी, पत्र आदि गद्य साहित्य के अंतर्गत गिने जाते हैं। आलोचना भी इस प्रकार साहित्य का एक विशेष अङ्ग सिद्ध होता है। साहित्य के लक्षणों में रसमय या आनददायक होना मुख्य है, अतः आलोचना भी तभी साहित्य का अङ्ग बन सकती है, जब उस में साहित्य का लक्षण घटित हो अर्थात् वह भी रसात्मक हो। आलोचना केवल साहित्य पर नियन्त्रण रखने वाला शास्त्र ही नहीं, एक साहित्य का विशेष अङ्ग भी है। कुछ विद्वान् जो आलोचना को केवल एक शास्त्र मान बैठे हैं, उन्हें उस की साहित्यिकता का भी बोध होना चाहिये।

आलोचना के अर्थ में समालोचना, समीक्षा, विवेचना, पर्यालोचन, अनुशीलन, परिशीलन, मीमांसा आदि अनेक शब्दो का प्रयोग किया जाता है। सूक्ष्म रूप से इन शब्दों के अपने-अपने विशिष्ट अर्थ मानते हुए भी स्थूल दृष्टि से इन सब शब्दो को पर्यायवाची मान लेने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। वास्तव मे आलोचना शब्द लोच् धातु से बना है, जिसका अर्थ है—देखना। पूर्ण रूप से (आभिमुख्येन) किसी वस्तु या विषय विशेष की देख-भाल, विचार-विमर्श, विवेचन आदि करना ही आलोचना शब्द से अभीष्ट है। जो व्यक्ति किसी भी प्रकार से किसी वस्तु या विषय विशेष का दर्शन, समीक्षा या पर्यालोचन करता है, वह 'आलोचक' कहलाता है।

आरंभ में आलोचना का वह रूप नही था जो आधुनिक काल मे है। वैदिक युग में भी जब मन्त्रों की रचना (दर्शन) ऋषि लोग कर रहे थे, उस समय कुछ विद्वान् ब्राह्मणों ने उन मन्त्रो की व्याख्या स्वरूप ब्राह्मण ग्रंथों का निर्माण किया था। धीरे-धीरे भाष्य, टीका, व्याख्या आदि के रूप मे अनेक ग्रंथो की भी रचना होने लगी। किंतु यह सब कुछ आलोचना के रूढ़ अर्थ से मेल नहीं खाता। आलोचना का प्रथम रूप से दर्शन संस्कृत साहित्य में उन विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रवर्तित अलंकार संप्रदाय, रससंप्रदाय, ध्वनि संप्रदाय, रीतिसंप्रदाय, वक्रोक्ति संप्रदाय आदि में होता है। साहित्य स्वरूप का विवेचन जितने सूक्ष्म रूप से उक्त आचार्यों ने किया, वह केवल प्रशंसनीय ही नहीं, आश्चर्यजनक भी है। परन्तु आलोचना का विकसित रूप संस्कृत में भी दृष्टिगोचर नहीं होता। उस समय के आचार्य किसी कवि विशेष या काव्य विशेष की आलोचना पृथक् रूप से नहीं करते थे। अपने लक्षण ग्रन्थो में किसी लक्षण के उदाहरण रूप में किसी कवि का श्लोक देकर या उसकी कुछ व्याख्या करके ही वे अपना काम चला लेते थे। इस प्रकार जितना प्रकाश उस कवि की रचना पर पड जाता, उसी से ही तत्कालीन पाठक को संतोष कर लेना पडता।

आलोचना का विकास पूर्ण रूप से यूरोप मे ही हुआ। उस विदेशी प्रभाव मे सब से पहले भारतीय भाषा बंगला ही आई। बंगला की देखा-देखी जब हिंदी में भी सर्वाङ्गीण साहित्य का प्रचार होने लगा, तो आलोचना अङ्ग की भी पुष्टि आरंभ हुई। किंतु इस के पूर्व भी हिन्दी-साहित्य में रीति-काल आ चुका था, जिस में हिंदी के आचार्यों ने सस्कृत-साहित्य के अनुकरण पर अनेक लक्षण ग्रन्थो की रचना की थी। उस समय प्रायः हिंदी के लक्षण-ग्रंथ संस्कृत के लक्षण ग्रंथो का या तो अनुवाद मात्र थे अथवा रूपांतर ही। उन में मौलिक दृष्टिकोण और सिद्धांत निरूपण का अभाव था। कदाचित् इस में एक कारण उस समय गद्य का अभाव भी हो सकता है। संस्कृत में प्रचलित संक्षिप्त सूत्र रूप से किसी कवि या काव्य की आलोचनात्मक पंक्ति के अनुकरण पर हिंदी में भी कुछ पंक्तियाँ प्रारंभ हो गई थीं। जैसे संस्कृत में निम्न पंक्तियाँ ली जा सकती हैं—

उपमा कालिदासस्य भारवेर्थगौरवम् ।
नैषेधे पदलालित्य माघे संति त्रयो गुणाः ॥

इसी प्रकार हिंदी में भी देखिए—

सूर सूर तुलसी ससी, उडुगन केसवदास ।
अब के कवि खद्योत सम, जित तित करत प्रकास ॥

और कवि घड़िया, नंददास जड़िया ।

सतसैया के दोहरे, ज्यो नावक के तीर ।
देखन मे छोटे लगे, घाव करे गभीर ॥

तुलसी गङ्ग दुऊ भये, सुकविन के सरदार ।
जिन की भाषा में मिली, भाषा विविध प्रकार ॥

ब्रजभाषा बरना सबै, कविवर बुद्धि विशाल ।
सब की भूषन सतसई, रची बिहारीलाल ॥

किन्तु आलोचना का आधुनिक रूप पश्चिम की देन है और आज उसी रूप मे इसे ग्रहण भी किया जाता है । भारतेन्दु युग में ही सर्वप्रथम आलोचना का दर्शन होता है। उस समय बद्रीनारायण चौधरी ने अपनी पत्रिका 'आनन्द कादम्बिनी' मे एक लेख लिख कर आधुनिक आलोचना का सूत्रपात किया । वह लेख श्रीनिवासदास द्वारा रचित एक नाटक 'संयोगिता स्वयंवर' के गुण-दोष की विवेचना प्रस्तुत करता है । आलोचक महादय ने आलोचना का अर्थ केवल इतना ही लिया कि किसी पुस्तक के गुण देखकर प्रशंसा कर देना या उसके दोष देखकर निंदा कर देना । आलोचक का वास्तविक रूप उस समय भी नहीं देखा जा सकता ।

भारतेन्दु के पश्चात् द्विवेदी युग आता है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदा ने आलोचना सम्बन्धी केवल लेखो के स्थान पर उस पर पृथक् पुस्तकें लिखने की परिपाटी भी चलाई । उनकी अपनी अनेक आलोचना-सम्बन्धी पुस्तकें प्रकाशित हुईं जिनमे 'कालिदास की निरंकुशता', 'नैषध-चरित चर्चा', 'विक्रमांकदेव चरित चर्चा' आदि प्रमुख हैं। इन आलोचनाओ में सस्कृत भाषा के नाटको के हिन्दी अनुवादो पर विचार-विमर्श किया गया ।

द्विवेदी जी भाषा के महान् संस्कारक माने जाते है, अतः उनका अधिक ध्यान भाषा सम्बन्धी त्रुटियो पर ही गया। मूल के विषय मे तो कुछ कहा भी नही जा सकता था, क्योकि आलोच्य पुस्तकें संस्कृत नाटको का हिन्दी अनुवाद मात्र थी। जो हो, आलोचना के विकास मे द्विवेदी जी एक कदम आगे अवश्य बढ़े थे।

आलोचना केवल साहित्य का निर्देशन या मूल्यांकन ही नहीं करती, बल्कि स्वयं भी साहित्य रूप है, इस बात का प्रबल प्रमाण उपस्थित करने वाले पंडित पद्मसिंह शर्मा थे, जिन्होने हिन्दी मे तुलनात्मक आलोचना का श्रीगणेश किया। पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी सतसई का भाष्य और एक विस्तृत भूमिका भाग लिख कर बिहारीलाल को रीतिकाल का सर्वश्रेष्ठ कवि सिद्ध कर दिया। शर्मा जी की भाषा अत्यंत सरस, अभिव्यक्ति मार्मिक, शैली मधुर और युक्तियाँ उपयुक्त हैं। उर्दू की महफिली शैली मे वकीलो जैसी बहस करके पद्मसिह शर्मा ने देव के पक्षपातियो को खूब खरी-खोटी सुनाई हैं। इसके अतिरिक्त मिश्र बंधुओ ने 'हिन्दी नवरत्न' लिख कर हिन्दी साहित्य के चुने हुए नौ कवियों की समीक्षा भी प्रस्तुत की। उनका 'मिश्र-बंधु विनोद' तो इतिहास की दृष्टि से अत्यंत मूल्यवान् ग्रंथ है। आचार्य शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' के पूर्व इसी ग्रन्थ से ही लोगों ने सामग्री लेकर अपना काम चलाया।

तुलनात्मक आलोचना के मार्ग पर चलने वालों में कृष्णविहारी मिश्र और लाला भगवानदीन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कृष्णविहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' लिख कर निष्पक्ष आलोचना की जो दुहाई दी थी और बिहारी के गुण दिखाकर भी उसे देव कवि से नीचा दिखा दिया था, इसका करारा उत्तर भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' लिखकर दिया। दीन जी ने मिश्र जी की एक-एक युक्ति को लेकर उसका समाधान किया तथा देव की कविता पर अनेक आपत्तियाँ उठाकर बिहारी की श्रेष्ठता सिद्ध की। श्यामसुन्दरदास का 'साहित्यालोचन' भी सैद्धांतिक आलोचना का उत्तम उदाहरण कहा जा सकता है। पत्र-पत्रिकाओ मे आलोचनात्मक लेखों की धारा अटूट रीति से चली आ रही थी। 'सरस्वती' के अतिरक्त 'नागरी प्रचा-

रिणी पत्रिका' आदि मे भी अनेक विद्वानो के आलोचनात्मक लेख समय-समय पर निकला करते थे।

किन्तु आलोचना का स्थिर रूप अब भी हिन्दी पाठकों के सामने नही आ सका था। अब तक या तो कुछ नौसिखिया आलोचक अंग्रेजी की पंक्तियों को ज्यों की त्यों उद्धृत करके किसी हिन्दी के कवि की आलोचना मे रख देते थे, चाहे वे पंक्तियां उस कवि के विषय मे मेल खाती हो या नहीं, और या कुछ आलोचकों का केवल इतना ही काम था कि भाषा की त्रुटियों को बता देना और उनके गुण-दोषों पर प्रशंसा के पुल बांधना व निन्दात्मक उक्तियों की झड़ी लगा देना। वास्तविक आलोचना का स्वरूप अभी तक अज्ञात था। इस अभाव की पूर्ति आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा हुई। शुक्ल जी ने 'तुलसी ग्रंथावली' की भूमिका तथा 'भ्रमरगीत सार' की भूमिका मे जिस नवीन मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक आधारो पर व्याख्यात्मक आलोचना का मार्ग दिखाया, उससे हिन्दी आलोचना साहित्य आगे खूब फैलने लगा। शुक्ल जी ने जायसी को अज्ञान के अंधकारपूर्ण गर्त से निकाल कर उसे हिन्दी साहित्य के तीन प्रमुख कवियो मे स्थान दिलाया। इसमे उनका कोई पक्षपात नहीं था। इसी प्रकार तुलसी के अतीव प्रशंसक होते हुए भी 'कुछ खटकने वाली बातें' लिख कर उन्होंने अपने कठोर धर्म का बड़ी सफलता के साथ पालन किया। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' मे तो शुक्ल जी ने ऐतिहासिक परिचय के साथ कवियो की काव्य-शैलियों और विशेषताओं पर भी आवश्यक प्रकाश डालकर हिन्दी-प्रेमी जगत् पर जो उपकार किया है, वह अवर्णनीय है। उन की एक और उल्लेखनीय कृति 'काव्य में रहस्यवाद' है। शुक्ल जी के समय 'छायावाद' और 'रहस्यवाद' के नाम पर बहुत धांधली मची हुई थी। अनेक कवि अपनी अस्पष्ट रचनाओं को 'छायावादी' या 'रहस्यवादी' कहकर हिन्दी काव्य के क्षेत्र मे मनमानी कर रहे थे। शुक्ल जी जैसे आलोचकों की उस मनमानी को कुचलने की आवश्यकता अनुभव हुई। क्योंकि आलोचक साहित्य का सुधारक होता है, उसका काम त्रुटियो का संशोधन करके साहित्य का पथ शुद्ध और सुन्दर बनाना होता है, अतः शुक्ल जी की उक्त पुस्तक के प्रकाशित होते ही एक भूकम्प सा आ गया।

जो कवि पंख लगाकर मोर बने हुए थे, वे सब देखते ही देखते लुप्त हो गए। वही शेष रह गए जो वास्तविक अनुभूति रखते थे।

आजकल आलोचना पाश्चात्य ढंग से पूर्ण प्रभावित हो चुकी है। अनेक विद्वान् पी० एच० डी० आदि की उपाधि के लिए शोधकार्य मे जुटे हुए हैं। अनेक विद्वानो के 'थीसिस' प्रकाशित भी हो चुके है। वर्तमान आलोचको में सर्वश्री हजारीप्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र, धीरेन्द्र वर्मा, नन्ददुलारे वाजपेयी, सत्येन्द्र, कृष्णशंकर शुक्ल, विश्वंभर मानव, शांतिप्रिय द्विवेदी मुख्य हैं। प्रसाद के नाटकों और प्रेमचंद के उपन्यासो पर पृथक्-पृथक् और उनकी नाट्य-कला व उपन्यास-कला का मार्मिक विवेचन हुआ है। हिन्दी साहित्य के चारो कालो पर अनुसंधानात्मक कार्य हो रहा है, जिसे देखकर यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि हिन्दी समालोचना-साहित्य का भविष्य नितांत उज्ज्वल है।

आलोचना और आलोचक दोनो साहित्य और साहित्यकारों के लिए पथ-प्रदर्शक का काम देते हैं। साहित्य की दिशा को मोडने, उस पर आवश्यक नियन्त्रण रखने, तथा समय-समय पर उसको त्रुटियो की ओर ध्यान आकर्षित कराके आगे सत्साहित्य का सृजन करने की प्रेरणा देना आलोचना का मुख्य उद्देश्य है। इस प्रकार आलोचना नवीन साहित्य-निर्माण में सक्रिय भाग लेती है। किसी पुस्तक की अच्छी आलोचना से प्रभावित और उत्साहित होकर अनेक कलाकार नवीन साहित्य की रचना करते हैं, तथा किसी विशेष रचना की कटु आलोचना से भयभीत होकर अनेक कवि अपना साहस छोड बैठते है। आलोचना की शक्ति अमोघ है, उसका प्रभाव व्यापक है। किन्तु उसका यह तात्पर्य कदापि नही कि आलोचक साहित्य का बाधक बन जाये। उसे तो साहित्य का सहायक, सुधारक और प्रेरक बनना चाहिये। उसकी नीति ऐसी होनी चाहिये कि हर एक साहित्यकार मे अच्छे साहित्य को प्रस्तुत करने का उत्साह पैदा हो? परन्तु जहाँ आलोचक के पास इतनी शक्ति और अधिकार हैं, वहाँ उसका उत्तरदायित्व भी कम नही, क्योंकि उसकी लेखनी की नोक से जहां साहित्य-उद्यान मे वसंत की शोभा चारो ओर फैल जाती है, वहाँ उसमें पतझड का भयानक दृश्य भी उपस्थित हो

सकता है। एक अच्छे लेखक को गन्दा आलोचक यदि मिल जाये, तो साहित्यकार को ही निराश नही होना पडता, साहित्य को भी एक सुन्दर प्रतिभा से वञ्चित हो जाना पडता है। इसी प्रकार एक गन्दे लेखक को अच्छा आलोचक कहां से कहां उठा ले जाता है, जिसके परिणाम-स्वरूप साहित्य मे गन्दगी की मात्रा अधिक फैलने लगती है। अत: आलोचक को आलोचना कार्य सम्भालने से पूर्व स्वयं को पक्षपातहीन और सुयोग्य बना लेना बडा आवश्यक है। साहित्य-रूपी उद्यान मे आलोचक एक माली के समान है। यदि माली समझदार हुआ, तो उपवन की शोभा को चार-चांद लग जाते हैं, अन्यथा माली की मूर्खता से अनेक खिले हुए या विकासोन्मुख फूलों को भी असमय मे ही नाश का मुंह देखना पड़ता है। जिस प्रकार एक माली जी-जान से फूलों को सींचता है, पौधो की रक्षा करता है, जाडा हो या कड़कती धूप, वह बेचारा उन लताओ की देख-भाल करना नहीं भूलता। किन्तु समय आने पर और आवश्यकता पडने पर वही उन लताओं की बढ़ी हुई टहनियो, मार्ग को रोकने वाली शाखाओ तथा आने-जाने वाले लोगो के वस्त्रों को फाड़ने वाली कंटीली झाडियो को काट-छाँट कर साफ भी करता रहता है, इसी इच्छा से कि इन की शोभा उपवन को भी शोभित करने वाली हो, उपवन मे घुसने वालो को कष्ट न हो, वे लोग कांटो या लम्बी लम्बी बाधक शाखाओ के भय से उस मे आना और सुख-लूटना बन्द न करदे। उपवन उजड नही जाए, अतः अपने पाले हुए फूल-पौधो को भी वह माली काट-छाँट कर आवश्यकतानुकूल उपवन के योग्य सुन्दर बनाए रखने का महान् कार्य करता है, और इस काम पर कोई भी उस माली को जैसे, क्रूर, निर्दयी या पुष्पो का शत्रु नहीं कहता, ठीक वैसे ही आलोचक भी यदि कभी-कभी आलोच्य पुस्तक या कलाकार के विषय मे कुछ कटु वाणी का प्रयोग करता है, या किसी रुचि विशेष या प्रवृत्ति को रोकने का यत्न करता है, तो किसी द्वेषभाव से नहीं, अपितु सत्-साहित्य को प्रसारित करने के ही उद्देश्य से ही। इसलिए एक अच्छे आलोचक का यह कर्तव्य है कि वह अपनी वाणी को यथाशक्ति मधुर बनाए। उसे ऐसी रीति से कहना चाहिए, ताकि लेखक निरुत्साहित होने की बजाय अपनी त्रुटियों को दूर करके नवीन साहित्य की

रचना में शक्ति लगाए ।

अंत में एक बात और भी विशेष उल्लेखनीय है कि आलोचक को साहित्य का मर्मज्ञ-विद्वान् होना चाहिये । कम से कम उस काल का तो उसे अवश्य पूर्ण पंडित होना चाहिये, जिस काल की रचना या कवि पर वह लेखनी चलाना चाहता है । आलोचक का दृष्टिकोण उदार तथा सहानुभूति पूर्ण होना चाहिये, तभी साहित्य का कल्याण सम्भव है ।

## जायसी की अध्यात्म-भावना

आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध क्या है ? दोनो मे कितना अन्तर है ? और यह अन्तर कैसे दूर किया जा सकता है ? आदि कुछ ऐसी जिज्ञासाएँ हैं जिनके लिए ससार भर में अनेक प्रयत्न हुए । किसी देश, जाति या धर्म का इस से कोई सम्बन्ध नहीं है, कोई भी सृष्टि की अलौकिकता पर विस्मित होकर इस प्रकार का जिज्ञासु हो सकता है । इसीलिए ससार के भिन्न-भिन्न केन्द्रो मे इस प्रकार की जो आध्यात्मिक खोजें हुईं, उनमे तत्वत: एकताएँ अधिक हैं । संसार की अनित्यता और क्षणभंगुरता इस विचार-धारा मे प्रेरक शक्ति बनती है, इसलिए वैराग्य-मूलक निवृत्ति मार्ग ही इस भावना मे प्रधान है । आध्यात्मिक विचारकों के सिद्धांतो में भी बहुत साम्य मिलता है, क्योंकि बिना उदारता के अध्यात्म-भावना हो ही नहीं सकती ।

जायसी पहुँचे हुए साधु थे । उनके जीवन के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उन्होने गार्हस्थिक जीवन व्यतीत तो किया था पर पुत्र की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने वैराग्य धारण कर लिया था । उनका संपर्क भी पीरो से ही अधिक था, अमेठी के राजघराने मे वे सम्मानित थे । उन्हें जीवन के सुखों का अच्छा अनुभव था, फिर भी उनकी मूल-वृत्ति आध्यात्मिक ही रही ।

जायसी ने हिंदू-दर्शन का भी ज्ञान प्राप्त किया । उनका यह ज्ञान गंभीर अध्ययन का फल न था, सुना-सुनाया मात्र था । जायसी ने जो कुछ दार्शनिक ज्ञान प्राप्त किया उसका प्रयोग अवश्य किया । इसीलिए उनका मत संकीर्ण न रहा उसमें व्यापकता आ गई । कुतुबन, मंझन, उसमान आदि की

भाँति उनकी आध्यात्मिक-भावना एकांगी न रह सकी और न उनके काव्य में नीरसता आ सकी।

जायसी के अध्यात्म की मूल भावना प्रेम है। इश्क मजाजी के द्वारा ही इश्क हकीकी तक पहुँचा जाता है। यही कारण है कि पद्मावत की लौकिक कहानी के सहारे ही उन्होंने अपने आध्यात्मिक-प्रणय का प्रकाशन किया है। पद्मावत एक मसनवी-कथा है। लौकिक-प्रेम का बाह्याकार है, पर बीच-बीच मे आध्यात्मिक संकेत मिलते जाते हैं। कथा के दो भाग हैं—पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध मे आरम्भ से सिंहलद्वीप से प्रस्थान करने तक और उत्तरार्द्ध में शेष कथा भाग है। आरम्भ से ही कवि आध्यात्मिक संकेत करने लगता है। पद्मावती के जन्म मे ही संकेत विद्यमान है—

"सिंघलदीप राजघरवारी। महा सरूप दई औतारी॥"

"औतारी" शब्द ही अलौकिक (ब्रह्म) स्वरू, की ओर इंगित करता है। मानसरोवर-खण्ड मे तो आध्यात्मिक संकेत पर्याप्त मात्रा में हैं। पद्मावती में ब्रह्मत्व की दिव्य झलक प्रतीत होती है—

"सरवर रूप विमोहा, हिये हिलोरइ लेइ।
पॉव छुवै मकु पावै, यहि मिस लहरहिं लेइ॥"

सखियाँ खेल में जो वार्तायें करती है वे सभी आध्यात्मिक संकेतों से युक्त है—

"ऐ रानी मन देखु विचारी। यहि नैहर रहना दिन चारी।

❀ ❀ ❀

पुनि सासुर हम गौनव काली। कित हम कित यह सरवर पाली।
सासु नॅनद बोलन्हि जिउ लेहीं। दारुन ससुर न आवै देहीं॥"

यहाँ पर "नैहर" से जायसी का तात्पर्य संसार से है। जीव को इस संसार में चार दिन ही रहना है, फिर परलोक को गमन करना है। यहाँ संसार रूपी मानसरोवर के पास जीव को अनेक प्रकार के आमोद-प्रमोद के साधन ., पर अन्त में उसे उस पार अवश्य जाना है, जहाँ प्रियतम परमेश्वर है। सास-ननद के कटुवचन से तात्पर्य यह है कि वहाँ कर्मों की गणना होगी और जीवन के गुणों-अवगुणों की ही आलोचना होगी। मुसलमानों के

मत में पुनर्जन्म नही होता, इसी से जायसी लिखते हैं कि ससुर आने नहीं देता।

हीरामन तोता पूर्वार्द्ध में अत्यन्त प्रधान है। वह सूफी पंथ का गुरु है। जहाँ उस तोते का वर्णन जायसी करते हैं, उसमें आध्यात्मिक संकेत विद्यमान हैं—

"जो बोलै तो मानिक मूँगा। नाहिंत मौन बाँधि होइ गूँगा।"

❀ ❀ ❀ ❀

सुरुज चाँद कै कथ्या कहा। पेम क गहन लाइ चित रहा॥
जो जो सुनै धुनै सिर, प्रीति क होइ अगाहु।
अस गुनवंत नाहिं भल सुअटा, बाउर करिहै काहु॥

तोता साधना मार्ग का गुरु है। गुरु के ज्ञान का संकेत माणिक्य और मूँगा से कराया गया है। यह साधना प्रेम-मार्गी है, अतः उसने प्रेम की कथा कह कर राजा में अथाह प्रीति उत्पन्न कर दी। मतवालापन सूफी मत की विशेषता है, इसका संकेत "बाउर करिहै काहु" में कवि ने रख दिया है।

तोते का वर्णन लौकिक है, पद्मावती के नख-शिख मे कोई आध्यात्मिकता नहीं है, पर उसे सुनकर रत्नसेन जोगी बन जाता है। उसमें जागरण हो जाता है और "या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी" को ही जायसी अपने शब्दों में इस प्रकार प्रस्तुत करते है—

"ठाँवहिं ठाँव सोवै सब चेला। राजा जागै आपु अकेला॥
जेहि के हिए प्रेम रङ्ग जामा। का तेहि भूख नींद बिसरामा॥"

पद्मावत प्रेम-गाथा है। कथानक में सैकड़ों स्थल कवि को मिलते हैं, जब कि वह अपने आध्यात्मिक-प्रेम की अभिव्यक्ति करता है। साधारण संवादों में ही जायसी अनुकूल अवसर निकाल कर व्याख्यान करने लग जाते हैं। नागमती-सुआ संवाद में नागमती राजा से कहती है—

"मैं जाना तुम्ह मोही माहाँ। देखौं ताकि तो हौ सब पाहाँ।
तुम्ह सो कोइ न जीता, हारे बररुचि भोज।
पहिलै आपु जो खोवै, करै तुम्हारा खोज॥"

भाव यह कि ईश्वर निर्लिप्त है, उसका आध्यात्मिक-प्रणय-प्रकाश घट-

घट में समान रूप से समाया हुआ है। साधक परमेश्वर प्रेम का एकाधिकारी नही, वह तो केवल उस की कृपा मात्र का पाने वाला है। उसके रहस्य को कोई नहीं जान सकता, उसका प्रेम तो त्याग और उत्सर्ग द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। नख-शिख वर्णन मे भी उन्होंने अवसर निकाला है। पद्मावती की भौहो का वर्णन कर रहे थे, उसी बीच मे आध्यात्मिक-प्रणय का उद्घटन करने लगे।

"उन बानन्ह अस को जो न मारा, बेधि रहा सगरौ संसारा ॥
गगन नखत जस जाहिं न गने, है सब बान ओहिं के हने ॥"

❀ ❀ ❀

बरुनि बान सब ओपह, बेधे रन बन ढंख।
सउजन्ह तन सब रोवाँ, पंखिन्ह तन सब पख ॥

तात्पर्य यह है कि सर्वत्र उसी के प्रेम का प्रसार है। वह सर्वव्यापक है। सूर्य, चन्द्र, तारे, पशु पत्ती, वृक्ष सभी उसी से बँधे हैं।

सूफी-प्रेम की विशेषता विरह है। प्रेम के साथ ही विरह-ज्वाला प्रज्वलित होती है जो कि साधको में जीवन पर्यन्त जगती रहती है। प्रेम तो बाह्याकार है उसका अन्तस्तल विरह ही है—

"नाउँ मीठ खाएँ जिउ दीजै।"

इस मार्ग में दुःख ही दुःख है "एहि रे पंथ सो पहुँचै, रहै जो दुक्ख वियोग।" सूफी विरह-साधना मे जायसी ने भारतीय हठयोग का भी सम्मिश्रण कर रखा है। सिंहलगढ़ मे हठयोगी सिद्धान्तों की अवस्थिति इन्होंने की है। सिंहलद्वीप को इन्होने कैलाश कहा है, उसके पास ही सातवां समुद्र मानसर बताया है। आध्यात्मिक-पक्ष में मानसर मन की साधना का अन्तिम स्थल है। इस स्थिति के पश्चात् ही योगी को परमेश्वर का साक्षात्कार होने लगता है। तभी तो मानसर के समीप पहुंचते ही सभी जोगी "अस्तु अस्तु" बोल उठेः—

"अस्तु अस्तु जोगी सब बोले, अन्ध जो अहे नैन विधि खोले।"

सिंहलगढ़ के वर्णन मे हठयोगी सिद्धान्त स्पष्ट है—

"नव पवरी बाँकी नव खंडा, नवहुँ जो चढ़ै जाय ब्रह्मंडा।

❀ ❀ ❀

हिअ न समाइ दिष्टि नहिं पहुंचै, जानहु ठाढ़ सुमेरु।
कहँ लगि कहौं ऊँचाई ताकरि, कहँ लगि बरनौं फेरु॥"

हठयोगी-साधना के साथ ही उन्होंने सूफी-साधना का मेल बैठाने का प्रयत्न किया है, इसीलिए नवखंड और नवपौरी के साथ ही सूफी मत की चार अवस्थाओं—शरीयत, तरीकत, हकीकत और मारिफत का भी संकेत करते गये है—

"नवौ खण्ड नव पौरी, औ तहँ वज्र केवार।
चारि बसेरे सो चढ़ै, सत सौ उतरे पार॥"

पद्मावती के प्रथम-मिलन में राजा मूर्छित हो जाता है, इससे पद्मावती की अलौकिक सत्ता का आभास मिलता है। द्वितीय मिलन मे भी रत्नसेन आध्यात्मिक-प्रणय का ही संकेत करता है:—

"को सोवै को को जागै, अस हौं गएउँ विमोहि।
परगट गुपुत न दूसर, जहँ देखौं तहँ तोहि॥"

पद्मावती और रतनसेन के मिलन के पश्चात् सूफी-सिद्धान्त का वह अंश शेष रह जाता है जिसमें शैतान प्रेमी और प्रेमिका को अलग करता है। इसीलिए जायसी ने उत्तरार्द्ध में राघवचेतन, अलाउद्दीन और देवपाल की कथाओं को ला जोडा है। शैतान मे चमत्कार होता है, वह चमत्कार इन्होंने राघव-चेतन मे प्रस्तुत किया है। उसे यक्षिणी सिद्ध थी, वह प्रतिपदा में द्वितीया का चन्द्रमा दिखा देता है। शैतान शक्तिशाली और भयंकर भी होता है। उसका यह रूप वह अलाउद्दीन में प्रस्तुत करते हैं। प्रेम-गाथाओ में शैतान दूती आदि के द्वारा छल-प्रपंच भी रचता है, यह कार्य जायसी ने देवपाल से कराया है। तात्पर्य यह कि अपनी कथा को लोकप्रिय और हिन्दू-भावना के अनुरूप करने के लिए जायसी ने शैतान का पूरा काम अपने तीन पात्रों—राघवचेतन, अलाउद्दीन और देवपाल के द्वारा करवाया है। तीनों की शैतानी जायसी ने अलग-अलग स्थल पर पूर्ण रूप से दिखाई है। अन्त में

रत्नसेन के साथ जो व्यवहार किया गया वह शैतान ही कर सकता था—

" माँगत पानि आगि लै धावा । मोगरहुं एक आइ सिर लावा । "

बेचारा रत्नसेन जब पानी मांगता था तो उसे आग दी जाती थी और सिर पर एक लकड़ी की गदा मारी जाती थी ।

वियोग के पश्चात् पद्मावती के सतीत्व के रूप में दोनो का शाश्वत मिलन है । सती-खण्ड में किसी प्रकार का शोक का वातावरण नही है । सूफी मृत्यु में ही प्रियतम का मिलन मानता है और वही उसके आनन्द की चरम सीमा और विरह का अन्त है ।

लै सर ऊपर खाट बिछाई, पौढ़ी दुवौं कंत कंठ लाई ।

❀ ❀ ❀

लागीं कँठ आगि दै होरी । छार भईं जरि अङ्ग न मोरि ॥
रातीं पिउ के नेह गईँ, सरग भएउ रतनार ।
जो रे उवा सो अथवा, रहा न कोई संसार ॥

इस प्रकार रहस्य-भावना-प्रधान कथा का अन्त कवि ने शान्ति में ही किया है । ग्रन्थ न तो दु.खान्त है और न सुखान्त । पुरुषों की वीरगति प्राप्त हो जाने और समस्त स्त्रियों के जौहर कर लेने के पश्चात् जब अलाउद्दीन गढ़ में प्रवेश करता है तो वहाँ राख मात्र ही दिखाई पड़ती है—

" छार उठाई लीन्ह एक मूठी, दीन्ह उड़ाव पिरथमी झूठी ।।"

अन्त मे उपसंहार में जायसी अपनी आध्यात्मिक कहानी का रहस्य भी खोल देते हैं—

"तन चितउर मन राजा कीन्हा । हिय सिंहल बुधि पदमिनी चीन्हा ।
गुरु सुआ जेहि पंथ दिखावा । बिन गुरु जगत को निगुन पावा ॥
नागमती यह दुनियाँ धंधा । बाँचा सोइ न एहिं चित बंधा ॥
राघव दूत सोई सैतानू । माया अलाउद्दीन सुलतानू ॥
पेम कथा एहि भांति विचारहु । बूझि लेहु जो बूझै पारहु ॥"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पद्मावत की सम्पूर्ण कथा को यदि हम आध्यात्मिक रूपक की कसौटी पर कसना चाहें और कथा की प्रत्येक पंक्ति में आध्यात्मिक उपमान खोजने का प्रयास करें तो हमें निराश ही होना पड़ेगा ।

जायसी ने अन्य फारसी मसनवी-लेखकों का ही अनुकरण किया है। फारसी मसनवियों में भी लौकिक-कथा को प्रधानता दी जाती है आध्यात्मिक रहस्य तो लौकिक कथा के वेषाटोप में आवृत रहता है। अनुकूल अवसर पाकर ही कवि स्थल-स्थल पर अपने आध्यात्मिक संकेत को मुखर कर देता है। उसका लक्ष्य आध्यात्मिक ही होता है पर उसका साधन है लौकिक-प्रेम-कहानी। अपने लक्ष्य के लिए वह अपनी लौकिक कहानी की बलि नहीं चढाता, पर अपने उद्देश्य पर पहुँचता अवश्य है और अपने उद्देश्य की सफलता अपने रूपक के उद्घाटन द्वारा प्रस्तुत कर जाता है।

---

# हिंदी-साहित्य में मुसलमानों की देन

संकेतः—१-हिन्दी भाषा और साहित्य का परिचय। २-मुसलमानो का उससे सम्बन्ध। ३-हिन्दी के मुसलमान कवि कौन-कौन। ४-इन कवियों की साहित्यिक देन। ५-हिन्दी की अवहेलना मुसलमानो ने कब और क्यो की? ६-हिन्दी के प्रति मुसलमानो का अब क्या कर्त्तव्य है?

भूमिका—प्रत्येक देश अपनी कोई न कोई भाषा और साहित्य रखता है। जिस भाषा में वहाँ का साहित्य लिखा जाता है वह उस देश की साहित्यिक भाषा कहलाती है, और जिस भाषा का वहाँ के निवासी बोल-चाल के रूप मे प्रयोग करते हैं, वह जन-भाषा कहलाती है। जन-भाषा का प्रयोग वहीं के समस्त निवासियो को अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। क्योंकि ऐसा किये बिना उनका कार्य नही चलता। पर साहित्यिक भाषा का प्रयोग साहित्य सेवियो द्वारा ही अधिक होता है। इस दृष्टि से जब हम हिन्दी भाषा पर विचार करते है तो हमे ज्ञात होता है कि हिन्दी भारत की जन-भाषा भी रही है और साहित्यिक भाषा भी। जन-भाषा के रूप मे हिन्दी को हिन्दू, मुसलमान एवं अन्य सभी भारतीय जातियाँ जिनका सम्पर्क हिन्दी क्षेत्र से रहा है, प्रयोग में लाती रही हैं। हिन्दी क्षेत्र में उत्तरप्रदेश, दिल्ली प्रांत, राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार आदि की गणना की जाती है। यही

क्षेत्र मुसलमानों का निवास स्थल भी उसी प्रकार रहा है जैसे कि हिन्दुओं का। इसलिए स्वभावतः ही हिंदी मुसलमानों की बोल-चाल की भाषा रही है। चाहे भले ही इस सम्प्रदाय मे उर्दू भाषा का आधिक्य रहा हो, पर बोल-चाल के रूप मे मुसलमान हिन्दी का व्यवहार करते रहे हैं।

जिस भाषा को आज हिन्दी कहा जाता है, उसका अस्तित्व मुसलमानों के भारत मे प्रवेश करने पर ही प्रकट हुआ था। निःसन्देह हिन्दी मूलतः भारतीय भाषा है और उसका सम्बन्ध संस्कृत भाषा से स्थापित किया गया है। पर इसके विकास और नामकरण मे मुसलमानो का पर्याप्त हाथ रहा है। नामकरण के लिए तो मुसलमानो को ही श्रेय दिया जाता है। मुसलमान इस भाषा को आरम्भ में हिन्दवी या हिन्दुई कहा करते थे। सबसे पहले इस भाषा का साहित्यिक प्रयोग भी सफलतापूर्वक मुसलमान कवि अमीर खुसरो के साहित्य मे ही मिलता है। इसलिए हिन्दी और हिन्दी-साहित्य, दोनो के निर्माण मे मुसलमानो ने उस समय तक पूर्ण योग दिया जब तक कि अंग्रेज जाति भारत मे नहीं आई थी।

हिन्दी भाषा मे रचित साहित्य को वीर गाथाकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल और आधुनिक काल नाम से चार भागो में विभाजित किया गया है। इसमें से वीरगाथा काल सम्बन्धी साहित्य जिस समय रचा गया उस समय तक मुसलमान भारत मे पूर्णतः स्थापित नही हो सके थे। इसलिये इस काल में किसी मुसलमान कवि का न होना कोई आश्चर्य की बात नही। परन्तु इस काल की भाषा पर भी मुस्लिम भाषा का प्रभाव साहित्यिक रूप में लक्षित होता है। इसके अतिरिक्त अमीर खुसरो का रचना काल सम्वत् १३४० के आस-पास का माना जाता है, जो वीरगाथा काल की समाप्ति का समय भी माना जाता है। इस प्रकार वीरगाथा काल के अन्त से लेकर भक्ति, रीति और आधुनिक तीनों युग के साहित्य में मुसलमान कवियों और गद्यकारों ने हिन्दी की महत्वपूर्ण सेवा की है।

विस्तार—ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी का सर्वप्रथम मुस्लिम कवि अमीर खुसरो ठहरता है। खुसरो ने 'खालिक बारी' नाम का एक शब्द-कोष लिखा, जिसमे अरबी, फारसी के शब्दो के अर्थ ब्रज भाषा मे लिखे। इसके इस प्रयत्न

से सिद्ध होता है कि ये हिन्दू-मुसलमानो में भाषा की समता चाहते थे। इसके अतिरिक्त खुसरो ने पहेली, मुकरियाँ, और दो-सखुने लिखे है, जिनमें इन्होंने अपनी साहित्यिक प्रतिभा का अच्छा परिचय दिया है। इनकी कविता में हास्य की प्रधानता है। हिन्दी का सर्वप्रथम हास्य लेखक इस कवि को कहा जा सकता है। निम्न पंक्तियो में एक कह-मुकरी का परिचय प्राप्त करें—

वह आवे तब शादी होय, उस बिन दूजा और न कोय।
मीठे लागें वाके बोल, क्यो सखि साजन ? ना सखि ढोल ॥

जायसी की 'पद्मावत' महत्त्वपूर्ण रचना है। इस कवि की प्रेम व्यंजना लौकिक धरातल से बहुत ऊंची उठी हुई है—

हाड़ भये सब किंगरी, नसें भई सब ताँति।
रोंव-रोंव से धुनि उठै, कहौ बिथा केहि भाँति ॥

कबीर का लालन पालन नीरू-नीमा नामक मुसलमान दम्पति के यहाँ होने के कारण कुछ विद्वान् कबीर की साहित्य-सेवा को भी मुसलमान कवियों के अन्तर्गत मानते हैं। पर वास्तव मे कबीर की साहित्य-सेवा किसी मुस्लिम कवि की सेवा नहीं कही जा सकती। मुस्लिम कवियों मे आगे चलकर कृष्ण-भक्ति के अन्तर्गत रसखान, रहीम और बेगम ताज के नाम उल्लेखनीय है। रसखान कवि ने हिन्दी में काव्य रस की जो धारा प्रवाहित की काव्यत्व की दृष्टि से इतनी महत्त्वपूर्ण है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस अकेले कवि पर कोटि हिन्दू कवियों को न्यौछावर कर दिया है। सूर की तरह पद न लिखकर मुस्लिम रसखान ने कवित्त और सवैयों में ब्रजभूमि प्रेम तथा कृष्ण की बाल छवि और यौवन छवि के बडे मार्मिक चित्र उतारे हैं। प्रेम की वह लुनाई जो तरुणावस्था में सर्वसाधारण के हृदय में टीस बन कर उठा करती है, रसखान की कविता मे भक्त कवियों की अपेक्षा अधिक मिलती है। साथ ही भक्तिभावना भी इनकी कविता में पाई जाती है। ब्रज भाषा पर रसखान का जोअधिकार है, वह हिन्दू कृष्ण-भक्त कवियों का भी नहीं है। रसखान की कविता में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ वे एक प्रेम-तत्त्वदर्शी की भाँति अपनी भावुकता का परिचय देते हैं—

ब्रह्म मैं ढूढ्यो पुरानन गानन, बद रिचा सुन्यो चौगुनो चायन ।
देख्यो सुन्यो न कहूँ कबहूँ, वह कैसे सरूप औ कैसे सुभायन ॥
टेरत हेरत हारि पर्‌यो, रसखानि बतायो न लोग लुगायन ।
देख्यो दुर्‌यो वह कुँज कुटीर मे, बैठ्यो पलोटत राधिका पायन ॥

नीतिविषयक दोहे लिखने मे रहीम अद्वितीय माने जाते है। संसार की वास्तविक अनुभूति, सम्वेदना और जीवन की गहराइयो के बडे ही मार्मिक चित्र रहीम ने खीचे हैं। संसार की सच्ची अनुभूतियो में इनका हृदय बहुत अधिक रमा है। इनके दोहे जीवन की उपयोगिता से परिपूर्ण हैं। भक्ति, नीति और लोकानुभूति इन तीनों दृष्टियो से रहीम की काव्य कला महत्त्व-पूर्ण है।

अब तक की खोज के अनुसार कुछ विद्वान् ताज को मुगल सम्राट् अकबर की पत्नी मानते हैं। परन्तु इस विषय में अभी तक कोई निर्णय नहीं हो सका। यह निश्चित है कि ताज मुगलानी थी तथा कृष्ण की अनन्य भक्ति मे मीरा की तरह ही तल्लीन रहती थी। ताज की निम्न कविता इसकी प्रमाण है—

सुनो दिल जानी मेरे दिल की कहानी,
तव रस की बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं।
देव पूजा ठानी, और निवाज हूँ भुलानी,
तजे कलमा-कुरानी, सारे गुनन गहूँगी मै ॥
साँवला सलौना सिरताज सिर कुल्लेदार,
तेरे नेह-दाध मे निदाघ ह्वै दहूँगी मै।
नन्द के कुमार! कुरबान तेरी सूरत पै,
हौं तो मुगलानी, हिन्दवानी ह्वै रहूँगी मै ॥

रीति काल के कवियों में रसलीन, आलम और कवयित्री शेख के नाम उल्लेखनीय हैं। इन कवियो ने राधा-कृष्ण प्रेम विषयक काव्य रीति-कालीन कवियों की शैली का लिखा है। रसलीन का निम्न दोहा देखिये—

अमी हलाहल मद भरे, श्वेत श्याम रतनार।
जियत, मरत, झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत इक बार ॥

आधुनिक काल के कवियो मे मुंशी मीर अली का नाम बडे आदर से लिया जाता है। इन्होने खडी बोली में ताजमहल पर बहुत ही सुन्दर रचना की है। गद्य लेखको में अख्तर हुसैन रायपुरी, जहूरबख्श, मीर अहमद आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। हिन्दी का सब से प्रथम कहानी लेखक इशाअल्लाखाँ भी एक मुसलमान ही हुआ है।

इस प्रकार हिन्दी-साहित्य के किसी भी काल में हम मुसलमानों को साहित्य सेवा से पिछड़ा हुआ नहीं पाते। जिन कवियो या गद्यकारों ने हिन्दी की सेवा की है उनका अध्ययन करने से यह भलीभाँति विदित होता है कि वे अपने को भारतीय समझते थे और हिन्दी भाषा को अपनी भाषा समझ कर उसमें साहित्य सृजन का कार्य करते थे। परन्तु अंग्रेजो के शासन काल में जब भेद नीति का प्रयोग होने लगा तथा भाषा और साहित्य की ओट मे राजनैतिक स्वार्थों की सिद्धि की जाने लगी, तो मुसलमानों के मन में यह बात प्रवेश कर गई कि हिंदी उनकी भाषा नही। इसलिए हिन्दी और उर्दू का संघर्ष उत्पन्न हो गया जो भारत की स्वतंत्रता तक निरंतर चलता रहा। स्वतंत्र होने पर भारत की राष्ट्र भाषा हिन्दी घोषित की गई। उर्दू भाषा को पाकिस्तान में निर्वासित कर दिया गया। किसी भी प्रांत में उर्दू को स्थान प्राप्त नहीं हुआ। जिसका कारण द्वेष की भावना न होकर सैद्धान्तिक सत्य है। उर्दू भाषा का आकार-प्रकार एवं प्राण तत्व सभी कुछ विदेशी हैं। इसलिए उसे भारतीय भाषा स्वीकार नहीं किया गया। पर भारत के मुसलमानों का आग्रह अब भी उर्दू के लिए हो रहा है जो सर्वथा अनधिकार चेष्टा है। हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने का कारण यह नही है कि वह हिंदुओं की भाषा है; अपितु हिन्दी की व्यापकता, सांस्कृतिकता और भारतीयता के कारण उसे राष्ट्र-भाषा का पद दिया गया है। भारत की सभ्यता, संस्कृति आदि सभी कुछ हिन्दी मे निहित हैं। हिंदी भाषा और साहित्य को जानने वाला कभी भी भारतीय विचार-धारा के प्रतिकूल नहीं जा सकता। हमारी चिरसंचित अनुभूति, परम्पराएँ, अभिव्यक्ति और संस्कार सभी कुछ हिंदी में ओत-प्रोत हैं। इसलिए हिन्दी का अध्ययन, साहित्य वर्धन और प्रसार भारतीयता का

प्रसार है। यदि हम विश्व मे भारतीयता की रक्षा करना चाहते है तो सर्व-प्रथम हमे हिन्दी की रक्षा करनी होगी। इस नाते जो व्यक्ति हिन्दी का द्रोही है, वह उससे पूर्व देश-द्रोही है। ऐसे देश-द्रोही को भारत में स्थान नहीं दिया जा सकता, यह कथन आज के सभी भारतीय विचारशील व्यक्तियो का है। जो व्यक्ति अपने को जिस देश का निवासी मानता है उसे उस देश की भाषा को भी अपनी भाषा मानना चाहिए। इसलिए भारत के मुसलमानो का कर्त्तव्य है कि वे उर्दू का आग्रह न करके हिंदी भाषा को अपनाएं और उसकी श्रीवृद्धि मे अपना पूर्ण योग दें। तभी वे सच्चे भारतीय नागरिक कहला सकते है।

---

# जयशङ्कर प्रसाद : एक सफल गद्यकार

यह कहना व्यर्थ है कि प्रसाद जी प्रथम कवि थे, फिर गद्यकार। यह आवश्यक नहीं कि कोई महाकवि गद्य क्षेत्र में भी महान् ही ही निकले। आचार्यों ने तो यहाँ तक कहा है कि कवि बनने से कठिन गद्यकार बनना है—"गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।" फिर भी जब हम देखते हैं कि प्रसाद जी गद्य के क्षेत्र में भी अपनी महानता की परम्परा कायम रखने में सफल होते हैं तो स्वभाव से हमारा आकर्षण उनकी ओर अत्यधिक बढ़ जाता है। प्रसाद जी की प्रतिभा पर हम मन्त्र मुग्ध से रह जाते हैं। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में, उनके जैसा फिर अन्य व्यक्ति अवतरित होगा, इस पर हमें सन्देह होने लगता है। प्रसाद जी सभी भांति युग-स्रष्टा कलाकार के रूप में हमारे हृदय में अपना आसन जमा लेते हैं।

भारतेन्दु जी ने हिन्दी को परिष्कृत रूप दिया, यह मान लेने के बाद भी हम इतना कहेगे कि गद्य-क्षेत्र मे उस समय भी पुरानी प्रवृत्ति अभी मिटी नहीं थी जब कि प्रसाद जी कार्य क्षेत्र में आए। आज का मजा गद्य साहित्य उस समय कहां था ? उस समय तो उपन्यास और कहानी के क्षेत्र मे—वही पुराना ढर्रा चल रहा था—"भुवन मन विमोहिनी, मालती के हृदय की लालसा को मदालसा ही व्यक्त कर प्यारे पाठकों को समझा सकती है। ......हाय

विधाता, उसकी जवानी पर कौन पागल बन कर झूम नहीं उठेगा।" आदि। प्रसाद जी का प्रथम कहानी-संग्रह 'छाया' इस प्रसंग पर प्रकाश डालने के लिए पर्याप्त है कि उन्होंने उस समय गद्य का रूप संवारने मे कितनी नवीनता अपनाई। हम स्वयं अपनी ओर से कहेगे, 'छाया' मे गद्य का विकास पूर्ण नहीं है, फिर भी वह तत्कालीत कलाकारो को प्रेरणा देने में समर्थ है। उक्त कृति में से ही प्रकृतिचित्रण का एक दृश्य देखिये—

"संध्या हो गई, कोकिल बोल उठा, एक सुन्दर कोमल कंठ से निकली हुई रसीली तान ने उसे भी चुप कर दिया। मनोहर स्वर-लहरी उसी सरोवर-तीर से उठ तट के सब वृक्षो को गुंजरित करने लगी। मधुर मलयानिल-ताड़ित जल-लहरी उस स्वर के तत्व पर नाचने लगी। हर एक पत्ता ताल देने लगा। अद्भुत आनन्द का समावेश था। शांति का नैसर्गिक राज्य उस छोटी रमणीय भूमि मे मानो जम कर बैठ गया था।"

'छाया' से 'प्रतिध्वनि' तक आते-आते कलाकार की कला और भी प्रांजल हो उठती है। गद्य मे काव्य का स्वरूप प्रतिभासित होने लगता है। प्रसाद जी का किशोर कवि अपनी गद्य-प्रतिभा को समझने के लिए साहित्य-संसार को आमन्त्रण देने लगता है।

'प्रतिध्वनि' का कलाकार यहीं भावुक शैली की नीव डालता है। चिंतन की मात्रा उस मे बढ़ जो गई है। सूक्तियो के समान सुगठित वाक्यों का संग्रह यही लभ्य होता है। 'पाप की पराजय' कहानी मे घनश्याम अपनी पत्नी का दाह संस्कार करता हुआ चिन्तन का मार्ग अपनाता है—

'यदि हम मुसलमान या ईसाई होते तो आह, फूलो से मिली हुई मुलायम मिट्टी में इसे सुला देते, सुन्दर समाधि बनाते, आजीवन प्रति संध्या को दीप जलाते, फूल चढ़ाते, कविता पढ़ते, रोते, आँसू बहाते, किसी तरह दिन बीत जाते। किन्तु यहाँ कुछ भी नहीं। हत्यारा समाज! कठोर धर्म! कुत्सित व्यवस्था। इससे क्या आशा? चिता जलने लगी।"

कहीं-कही तो 'प्रतिध्वनि' में प्रसाद जी का कवि-हृदय उच्चकोटि का काव्य सृजन कर देता है। झिल्लिनी का सौंदर्य कवि से सत्कार पाकर स्वर्गीय

सौंदर्य बन जाता है। समझिए यह गद्य है कि ज्वलन्त काव्य—

'इन्द्रनील की पुतली फूलो से सजी हुई झरने के उस पार पहाड़ी से उतर कर बैठी है। उसके सहज कुञ्चित केश से बन्द कुरुवक की कलियाँ कूद-कूद कर जल-लहरियो से क्रीडा कर रही हैं।''

'आकाश-दीप' प्रसाद जी की कहानियो का तीसरा ग्रन्थ है। और यह प्रसाद जी की अति प्रौढ़ रचना है। 'आकाश-दीप' तक आते-आते उनकी भाषा-शैली प्रत्येक दृष्टिकोण से पुष्ट हो गई है। माधुर्य तथा प्रसाद गुण, लाक्षणिकता, सांकेतिकता, काव्यात्मकता आदि सभी विशेषताएँ इस समय प्रसाद जी का अनुसरण करने लगती है। मनोविज्ञान भी इस समय उनका आधार बन जाता है।

'आँधी' प्रसाद जी का चौथा कहानीसग्रह है। इस में प्रसाद जी की साहित्यिक कला चरम विकास तक पहुँच गई है। भाषा शैली की पूर्णता और मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ की बारीकी इसमे यत्र-तत्र-सर्वत्र दर्शित है। कहानी की दिशा मे 'इन्द्रजाल' उनकी अंतिम कृति है। इसकी अधिकांश कहानियाँ ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि पर चलती है या यथार्थवाद की सीमा मे। 'चित्र वाले पत्थर मे' मुरली के मुख से विधवा मङ्गला की बाबत कुछ उद्‌गारो को सुनिए—

''मेरे जीवन में उसी दिन अनुभूतिमयी सरसता का संचार हुआ, मेरी छाती में कुसुमाकर की वनस्थली अंकुरित, पल्लवित, कुसुमित होकर सौरभ का प्रसार करने लगी। ब्याह के निमन्त्रण में मैंने देखा उसे, जिसे देखने के लिए ही मेरा जन्म हुआ था। वह भी मङ्गला की यौवनमयी उषा। सारा संसार उन कपोलो की अरुणिमा की गुलाबी छटा के नीचे मधुर विश्राम करने लगा। वह भावुकता विलक्षण थी। मङ्गला के अङ्ग-कुसुम से मकरंद छलका पड़ता था। मेरी धवल आँखें उसे देख कर ही गुलाबी होने लगी।''

'कंकाल' और 'तितली' प्रसाद जी के उपन्यास है। 'ककाल' एक प्रकार से यथार्थवाद को प्रोत्साहन देने वाला उपन्यास है। संन्यासमूलक आदर्श-वाद की बौद्धिक और यथार्थोन्मुख प्रतिक्रिया इस मे है। लगता है—प्रसाद जी के हृदय मे समाज के अत्याचारो का बड़ा व्याघात लगा है। वे समाज

के जाल से मानव को मुक्त देखने के अभिलाषी हो उठे हैं—समाज की एक भी मान्यता उस मे स्वीकार नहीं की गई, सब की जड़ें हिला दी गई हैं। एक भी ईमानदार आदमी, जिस अर्थ में ईमानदारी मानी गई है, सारे समाज मे नहीं है। कामना के तीव्र प्रवाह में हिन्दू-मुस्लिम-ईसाई जातीयता बही जा रही है। धर्म की सभी सामाजिक प्रक्रियायें मटियामेट हो रही हैं। समाज से त्रस्त 'विजय' कहता है—'पाप क्या है ? पाप और कुछ नहीं, जो समाज के भय से छिप कर किया जाय वही पाप है।' सक्षेप में हम कहेंगे 'कंकाल' का कथानक समाज के ककाल को आपादमस्तक झकझोर डालता है।

'तितली' का कथानक भी ग्रामीण समस्या को लेकर आगे बढ़ता है। जिस भारत मे दूध-घी की नदियाँ बहा करती थीं' जो धन-धान्य से परिपूर्ण था, वह अंग्रेजों की शोषण नीति के कारण दिन-दिन निर्धन होता जा रहा है। लोग बेकारी और भुखमरी के शिकार होते जा रहे हैं। एक ग्रामीण वृद्ध और बालिका बजो के वार्तालाप के द्वारा प्रसाद जी ने दुःख और कष्टो की सीमा-रेखा जैसी खींच दी है। देश-काल की सफल अभिव्यक्ति इसे ही कहते है—

"क्यों बेटी, मधुआ आज कितने पैसे ले आया ?

"नौ आने, बापू;"

"कुल नौ आने ! और कुछ नहीं ?"

'पाँच सेर आटा तो दे गया है। कहता था, एक रुपये का इतना ही मिला।'

"वाह रे समय"—कहकर बुड्ढा एक बार चित्त होकर सांस लेने लगा।

उसने पूछा—"कैसा समय बापू ?"

चीथड़ो से लिपटा हुआ, लम्बा-चौड़ा, अस्थि-पँजर झनझना उठा। खाँस कर उसने कहा—जिस अकाल का स्मरण कर आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं, जिस पिशाच की अग्नि बीथिका मे खेलती हुई मैंने तुझ को पाया था, वह संवत् ५६ का अकाल आज के सुकाल से भी सदय था, कोमल था। तब भी आठ सेर अन्न बिकता था। आज पाँच सेर की बिक्री में भी कहीं जूं

नहीं रेंगती, जैसे सब धीरे-धीरे दम तोड रहे हैं। कोई अकाल कह कर चिल्लाता नहीं। ओह, मैं भूल रहा हूँ। कितने मनुष्य तभी से एक बार भोजन करने के अभ्यासी हो गए हैं। जाने दे, होगा कुछ बंजो! जो सामने आवे उसे झेलना चाहिए।'

बुड्ढे के शब्दों मे प्रसाद जी की आत्मा बोलती है। वह ३३–३४ का समय बेकारी और भूखमरी का था। बुड्ढा उसी पर अपनी भावना व्यक्त करने को बाध्य हुआ। उस समय को बीते अभी बीस वर्ष हो गए—आज की दशा पर सोचने को न वह बुड्ढा है न ही प्रसाद जी।

ग्रामीण बालिका का सफल प्रतिनिधित्व उपन्यास की 'नायिका' तितली करती है।

तीसरा अधूरा उपन्यास 'इरावती' भी प्रसाद जी की स्मृति दिलाने में पीछे नहीं है। इरावती उनका ऐतिहासिक उपन्यास है, जो उनकी उपन्यास-परम्परा से कुछ दूर जा पडा है, वह उनकी नाटकीय परम्परा के समीप की वस्तु है।

रही प्रसाद जी के नाटकों की बात—इनके लिए यही कहना पर्याप्त है कि उनके नाटक सभी मधु-सिंचित हैं। कारण, वह अपने मूल रूप में कवि थे, जीवन में आनन्द ही उन्हे इष्ट था और इसीलिए वह शिव के उपासक थे। बस, शिव की उपासना उनके मन की प्रवृत्तियों के विश्लेषण के लिए पर्याप्त है। आधुनिक जीवन की विभीषिकाओं को उन्होंने समझा था और सहा था, यह विष उनके प्राणों मे एक तीखी जिज्ञासा बन कर समा गया था। उनकी आत्मा जैसे आलोडित हो उठी थी।

और ऐसा व्यक्ति, किसी प्रकार भी, संसार की भौतिक वास्तविकता को विशेष महत्व नहीं देगा। और वर्तमान से विमुख होने के कारण—जैसा रोमांटिक व्यक्ति के लिए आवश्यक है—वह पुरातन की ओर जायगा या कल्पना-लोक की ओर। प्रसाद जी के सुन्दरतम गीतों का एक . बहुत बडा भाग उनके नाटकों में ही बिखरा पड़ा है। 'आह वेदने मिली बिदाई।' 'निकल मत मेरी दुर्बल आह।' 'तुम कनक-किरन के अन्तराल से लुक-छिप कर चलते हो क्यों?' आदि गीत यदि नाटकों की दुनिया से दूर भी हटा

लिए जाएँ तो उन मे रस की कमी नहीं आ सकती ।

प्रसाद जी के नाटको मे एक जीवित अतीत का चित्रण है—जिसे देख-समझ कर कोई भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता । किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उनके नाटको मे कल्पना का योग नहीं है । रचना पद्धति में पूर्व-पश्चिम का योग स्पष्ट है । उनके नाटको की प्रधान विशेषता संघर्ष अथवा अन्तर्द्वन्द्व मिश्रित कथानक, आदर्शवादी चरित्र-चित्रण तथा कवित्व-पूर्ण शैली है । 'अजातशत्रु', 'स्कन्द गुप्त', 'चन्द्रगुप्त' तथा 'ध्रुव स्वामिनी' आदि में भरत वाक्य और नान्दीपाठ को हटा कर जहाँ उन्होने प्राचीनता की कडी तोडी है वहाँ भारतीय नाट्य पद्धति की आत्मा को सबल भी बनाया है । नाटक के क्षेत्र मे प्रसाद जी का व्यक्तित्व सर्वोपरि रहा है । प्रारम्भ में उनके लिखे चार एकांगी—'सज्जन', 'कल्याणी-परिणय', 'करुणालय' और 'प्रायश्चित्त' भी अच्छे रहे हैं, यद्यपि इनमे कला का गहरा रंग नही । उन की नाट्य-कृतियो मे प्रतीकवादी परम्परा का प्रतिनिधित्व 'कामना' है । कवि की—कलाकार की कहिए, साहित्यकार की विचार-धारा का सामंजस्य 'कामना' मे है । भौतिक विलासिता ने विषमता को जन्म दिया और राजनीति ने उस वातावरण को और भी विक्षोभपूर्ण बना दिया । परिणाम हुआ कि विवेक और संतोष की मूकता, परन्तु ज्ञान के उदय और विवेक एवं संतोष के सहयोग से समाज मे पुनः मङ्गल विधान की स्थापना हुई । मनोवैज्ञानिक विकास के इसी उतार चढ़ाव का मानवीकरण प्रसाद जी ने इस नाटक मे किया है। प्रतीत होता है, जब अपनी चारो ओर बढ़ती हुई असंतोष-लहर से प्रसाद जी ऊब जाते है तो उसी के अंतस्तल मे पैठने का प्रयत्न करते है । इसी प्रकार 'एक घूँट' मे प्रसाद जी ने जीवन के सम्बन्ध मे कुछ विचारो को नाटक-रूप मे रखा है । जीवन का लक्ष्य क्या है ? आदर्श और यथार्थ मे क्या भेद है ? स्त्री और पुरुष—मानव के इन दोनों पक्षो मे किस प्रकार के सामंजस्य की आवश्यकता है ? इन प्रश्नो के उत्तर प्रसाद जी ने अपने विभिन्न चिन्ता-धाराओ के प्रतिनिधियो से दिलवाये हैं । जीवन के गंभीर पहलुओ पर इस प्रकार का विचार नाटक-साहित्य में एकमात्र प्रसाद जी की देन है और वह बड़ा उपयोगी और समीचीन है । युग की माँग के उत्तर में प्रसाद जी ने

मौलिक सहायता दी है।

प्रसाद जी का गद्य साहित्य उनकी कविताओं की भाँति ही अप्रतिम है—अतुल है।

---

# हिन्दी नाटकों का विकास

यद्यपि भारतीय वाङ्मय मे नाटक का अस्तित्व बहुत पुराना है, उसे साहित्य का प्रधान अग माना गया है, फिर भी हिन्दी मे उसका प्रवेश पुराना नहीं है। सूर, तुलसी और कबीर का युग भी कविता के लिए ही सीमित रहा ऐसा कहना अनुचित नही होगा। अकबर के शासन काल मे अन्यान्य कलाओं की उन्नति का उल्लेख मिलता है, किन्तु नाट्य कला तो अंतिम घडी तक उपेक्षित रही। यदि सत्य कहना अपराध नहीं है तो हिन्दी मे नाटको का आरम्भ, रङ्गमंच पर अवध के नवाबो के द्वारा और साहित्य मे 'प्रबोध चंद्रोदय' के अनुवाद से हुआ। अनुवादक जोधपुर नरेश स्वर्गीय महाराज जसवन्त सिंह थे। रचनाकाल लगभग १६४३ ई० है। अनुवाद ब्रजभाषा में हुआ। दूसरा नाटक 'आनन्द रघुनन्दन' है। इसके रचनाकाल का पता नहीं चलता, किन्तु अनुमान से यह सन् १७०० मे लिखा हुआ माना जा सकता है। लेखक रीवाँ नरेश महाराज विश्वनाथ सिह थे। यह नाटक सर्वप्रथम मौलिक नाटक है। इसकी भी भाषा ब्रजभाषा है। कहते है महाराज का लिखा एक 'गीता-रघुनन्दन' नाम का नाटक और है। इन दोनो परम्पराओं—अनुवादित एवं मौलिक नाटको की कडी मे आगे चलकर क्रमशः राजा लक्ष्मण सिंह कृत शकुन्तला ( अनुवाद काल सन् १८६१ ) और भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द्र कृत 'नहुष' ( रचना काल सन् १८४१ ) का नाम आता है।

रंगमंचीय नाटको मे भारतेन्दु ने 'जानकी मगल' को प्रथम नाटक माना है। इसका उल्लेख उन्होंने अपने 'नाटक' मे किया है। दुर्भाग्य से यह नाटक उपलब्ध नहीं है। प्राप्य रंगमंचीय नाटको में सब से पुराना नाटक 'इन्दर सभा' (रचनाकाल १८५३ ई०) है। इसके लेखक सैयद आगा हसन 'अमानत' थे जो उर्दू के प्रसिद्ध कवि 'नासिख' के शिष्य और लखनऊ के नवाब वाजिद

अलीशाह के दरबारी कवि थे। कहते हैं 'इन्दर सभा' का अभिनय हुआ था और स्वयं नवाब ने उसमे इन्द्र का अभिनय किया था। यह नाटक इतना लोकप्रिय हुआ कि पीछे चलकर इसी के आधार पर मदारीलाल ने एक और 'इन्दर सभा' नाटक लिखा जो नाट्य कला की दृष्टि से अमानत की 'इन्दर सभा' से श्रेष्ठ है। उसमे कार्य व्यापार और चरित्र-चित्रण का विकास अमानत की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है।

प्रारम्भिक युग मे कुछ विभेद लिए नाटक की चार धाराओ का पता चलता है—'नाटकीय कविता, अनुवादित नाटक, मौलिक नाटक, और रंग-मंचीय नाटक।

दूसरा युग भारतेन्दु युग है। भारतेन्दु का नाटक रचनाकाल ऐसा समय है जब भारत के हृदय में कुछ चेतना जग पडी थी। सन् १८५७ में पहली बार भारत विद्रोह का हौसला भी पाल चुका था। अंगरेजों के प्रति लोगों के हृदय मे घृणा का बीज अंकुरित हो चुका था। फिर १८६७ तक भारत उस स्थिति में आगया कि वह धार्मिक और सामाजिक आन्दोलन पर सोच सके। स्वामी दयानन्द, राजा राम मोहन राय और केशव चन्द्र सेन का प्रयोग इस युग के लिए अभिनव प्रयोग थे। आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज की स्थापना का प्रभाव साहित्य पर नहीं पडा ऐसा कहना कठिन है।

कहना तो यह चाहिए कि भारतेन्दु के सामने पडौसी बंगाल मे उमडती हुई नवीन साहित्यिक धारा वर्तमान थी। जिसमें अंगरेजी का आधार लेकर नए प्रकार के काव्य और नाटको का सृजन हो रहा था। बंगला के प्रधान नाट्यकार रामनारायण तर्करत्न, माइकेल मधुसूदन दत्त और दीनबन्धु मित्र आदि भारतेन्दु के समकालीन ही थे। इन्ही परिस्थितियो के बीच भारतेन्दु ने अपना मार्ग प्रशस्त किया।

भारतेन्दु के नाटकों को तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है—अनुवादित, रूपान्तरित और मौलिक। 'रत्नावली' भारतेन्दु का प्रथम अनुवादित नाटक है। 'पाखंड-विडंबन', 'धनंजय-विजय', 'कर्पूर मजरी', 'मुद्रा राक्षस' और 'दुर्लभ बन्धु' का क्रम बाद मे आता है। 'दुर्लभ बन्धु' अंगरेजी के 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' का अनुवाद है, किन्तु भारतेन्दु-लेखनी की मौलिकता

ने मूल नाटक के पात्रों का रूप बदल दिया है। शेक्सपियर के Shylock, Bassanio, Antonio, Portia, Lorenzo और Jessica क्रमशः शैलाक्ष, वसन्त, अनन्त, पुरश्री, लवग, जसोदा आदि बन गये है। मूल नाटक के भावों की अवहेलना की बात कहीं भी न आनी थी, न आई।

रूपान्तरित नाटकों में 'विद्या सुन्दर', 'सत्य हरिश्चन्द्र' मुख्य हैं। 'सत्य हरिश्चन्द्र' को रूपान्तरित इस प्रकार कहा जा सकता है कि अपनी संपूर्ण स्थिति मे न वह मौलिक है न अनुवाद।

उनकी मौलिक रचनाओं मे—'प्रेम योगिनी' 'चन्द्रावली', 'भारत जननी', 'भारत दुर्दशा', 'नील देवी' और 'सती प्रताप' का नाम आता है। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', 'विषस्य विषमौषधम्', तथा 'अंधेर नगरी' प्रहसन हैं। कलात्मक दृष्टिकोण से भारतेन्दु के दो प्रहसन—'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति', एवं 'अंधेरा नगरी' बहुत ही ऊँचे प्रहसन माने जायँगे।

भारतेन्दु युग के हिन्दी के नाट्यकारों मे शीतलाप्रसाद त्रिपाठी, देवकी नन्दन त्रिपाठी, रामगोपाल विद्यान्त, दामोदर सप्रे, किशोरीदास गोस्वामी, ज्वालाप्रसाद मिश्र, अंबिकादत्त व्यास, लाला श्रीनिवासदास, राधाचरण गोस्वामी, राधाकृष्ण दास, हरिहरदत्त दुबे तथा गजराजसिंह आदि की रचनाएँ पर्याप्त सुरुचिपूर्ण रही हैं।

हिन्दी नाटकों का तीसरा युग संधिकाल का युग कहा जा सकता है। १६०५ से लेकर १०१५ तक इसकी गति है। यह काल विशेष रूप से भावुकता और बुद्धिवाद का संधिकाल बना। प्रस्तुत काल के नाटक साहित्य की उत्पत्ति और विवरण इन्ही परिस्थितियों से सम्बद्ध है. इस संधिकाल में उच्चकोटि के नाटक-साहित्य का निर्माण तो नहीं हुआ किन्तु उसमे कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ अवश्य उत्पन्न हो गईं जो आगे चलकर लोकप्रिय नाटक-साहित्य में सहायक सिद्ध हुईं और जिनके स्वास्थ्यप्रद प्रभाव ने प्रसाद एवं उनके पश्चात् के नाटककारों के लिए नया मार्ग प्रशस्त किया। पं० बदरीनाथ भट्ट इस प्रवृत्ति के दृढ़ उन्नायक थे।

यहाँ कुछ हिन्दी रङ्गमंच पर कहना असामयिक नहीं कहा जायगा। यद्यपि 'हिन्दी रङ्ग मंच' नाम को सार्थक करने वाली कोई स्थायी चीज हिन्दी-जगत्

के पास आज भी नहीं है। इस ओर बहुत से प्रयत्न समय-समय पर हुए और अभी तक वह जारी है। अतएव हिन्दी रंगमच और उस पर अभिनीत हुए नाटकों का इतिहास वास्तव मे उन नाटकमण्डलियों का इतिहास मात्र है, जिनका जन्म समय-समय पर हिन्दी भाषा-भाषी विभिन्न नगरो मे हुआ और जिन्होने जनता मे हिन्दी भाषा और उसके नाटकों के सम्बन्ध मे रुचि उत्पन्न करने का प्रयत्न किया। ऐसे रंगमञ्चो के नाटककार पं० माधव शुक्ल, आनन्द-प्रसाद खत्री, हरिदास माणिक, माखनलाल चतुर्वेदी, जमनादास मेहरा, दुर्गा प्रसाद गुप्त तथा शिवराम दास रहे हैं। व्यावसायिको द्वारा जो रङ्गमञ्च स्थापित हुए उनकी देन बन कर पं० राधेश्याम कथावाचक, आगा हश्र काश्मीरी नारायण प्रसाद 'बेताब', कृष्ण चन्द्र जेबा, हरिकृष्ण 'जौहर' तथा तुलसीदत्त 'शैदा' आगे आए। जो भी हो, इन व्यावसायिक रंगमञ्चो और उनके नाटककारो द्वारा भी कुछ प्रेरणा हिन्दी नाटक-साहित्य को मिली है।

हिन्दी नाटक का विकसित रूप 'प्रसाद' काल मे ही दर्शित होता है। इसी काल मे शोषक और शोषितवर्ग का अन्तर्युद्ध प्रारम्भ हुआ। जिसने आगे चलकर प्रगतिशील साहित्य को जन्म दिया। आरम्भ में प्रसाद केवल कवि थे। उनमें कल्पना, अनुभूति और काव्यत्व की प्रधानता थी। वर्तमान छायावादी एवं रहस्यवादी कविता के जन्मदाता भी वही थे। यद्यपि आगे चलकर उन्होने इसका नेतृत्व छोड़ दिया और पंत एवं निराला ने इस क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। फिर भी प्रसाद की कविता अपनी दार्शनिकता को छोड़ नहीं सकी। इतिहास के सूक्ष्म अध्ययन और मनन ने भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध मे प्रसाद की धारणाओ को दृढ़ बनाने मे बड़ी सहायता दी। भाषा पर तो उनका पूर्ण अधिकार था ही। फलतः प्रसाद के नाटको मे ऐतिहासिकता और नाट्य विधान की नूतनता आकर्षण का कारण बन गई। उनकी कृतियों मे 'कामना' और 'एक घूँट' का विषय इतना मौलिक है कि उसके लिए यही कहा जा सकता है—हिन्दी मे वैसी सामग्री किसी ने नहीं दी।

अपनी चरित्र-चित्रण कला में प्रसाद जी ने प्रथम वार नई प्रणाली को जन्म दिया है। प्रत्येक नाटक मे ऐतिहासिक घटनाओ के साथ एक ऐसा भी व्यक्ति है, जो विषमता मे समता लाने का उद्योग करता है। संस्कारो मे परिवर्तन,

अधर्म पर धर्म की विजय, कठोरता पर कोमलता का प्रभुत्व और विरोधी के प्रति करुणा का भाव उत्पन्न करना उनका प्रधान कार्य है। यह भी प्रसाद की कुशलता रही है कि उनके पात्र एक ऐसी स्थिति तक नहीं गिरते जहाँ से उत्थान असम्भव हो जाय। प्रसाद ने नाट्यकला मे आदर्श एवं यथार्थ का समन्वय तो दिया ही, एक विशेषता और दी है—वह है सुखान्त और दुःखान्त के सम्बन्ध मे उनकी भावना।

'विशाख' 'चन्द्रगुप्त', 'अजातशत्रु', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'राज्यश्री' तथा 'ध्रुव स्वामिनी' आदि उनके नाटक, हिन्दी नाटको के विकास के उज्ज्वल प्रतीक हैं। भारतेन्दु काल के संवादो का तर्क भी प्रसाद के नाटकों मे मौजूद है साथ ही भावुकता का पुट भी है। यह केवल एक दैवी घटना है कि हिन्दी नाटकों का श्रीगणेश करने वाले भारतेन्दु और उसे चरमोत्कर्ष तक ले जाने वाले प्रसाद, दोनों ही शंकर की नगरी काशी के निवासी रहे।

हाँ, इस वर्तमान युग में साहित्यिक नाटको की परम्परा में रामचरित धारा, कृष्णचरित धारा तथा पौराणिक आख्यान धारा का प्रभाव मन्द पड़ गया ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा। रामचरित धारा में दुर्गादत्त पांडे कृत 'राम नाटक' और कुन्दनलाल शाह का 'रामलीला नाटक' ही सामने आ सका। कृष्ण चरित धारा मे तो 'वियोगी हरि' लिखित 'छद्म योगिनी' का नाम लेना पर्याप्त है। पौराणिक आख्यान धारा मे निम्नलिखित नाम दिए जा सकते हैं—तिलोत्तमा चन्द्रहास तथा अनघ ( राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त), भीष्म ( श्री कौशिक), उषा (शिवनन्दन मिश्र), अज्ञातवास (द्वारिका-प्रसाद गुप्त ), वेन चरित्र ( बद्रीनाथ भट्ट ), पूर्व भारत और उत्तर भारत (मिश्रबन्धु), अंजना ( सुदर्शन ), कून बेन ( हरद्वार प्रसाद जालान), वासना-वैभव, असत्य संकल्प ( बलदेवप्रसाद मिश्र ), वरमाला (गोविन्द वल्लभ पंत), कुरुक्षेत्र ( जगन्नाथ शरण )।

कवि पंत का एक मात्र नाटक 'ज्योत्स्ना' सर्वथा भाव-जगत् की वस्तु है और इसी काल की देन है। रामकुमार वर्मा के एक-दो एकांकी भी अपनी प्रतिभा से प्रतिभासित कृतियाँ कही जायेंगी। अनुवादित होकर तो कितने ही श्रेष्ठ नाटक गुजराती और बंगला से हिन्दी भंडार मे आए। जी. पी.

श्रीवास्तव ने हास्य नाटकों से हिन्दी जगत् को हँसाया। उदयशंकर भट्ट का 'राधा', सेठ गोविन्ददास का 'कर्तव्य और किशोरीदास वाजपेयी का 'सुदामा' आदि नाटक भी अभिनन्दनीय है ।

फिर भी, लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों ने हिन्दी में जो समस्या पैदा की है उन्हें लेकर कितने ही आलोचक सशंक हैं। चिरन्तन नारी की समस्या मे कुछ उलझनें स्वाभाविक ही हैं। स्त्री के प्रेम का स्वरूप क्या है? सेवा अथवा आत्मसमर्पण—अपने प्रेमी के व्यक्तित्व में अपने व्यक्तित्व को मिटा देना? प्रसाद की विचारधारा तक कोई विवाद नही उठा किन्तु मिश्र की विचारधारा उससे भिन्न है। दोनो मे साधनो का भेद है। विशुद्ध काम समस्या में ही नारी जीवन को डुबो देना स्वयं नारी के साथ अन्याय ही होगा। मिश्र के नाटक पश्चात्य नाटककारो से प्रभावित हैं यह तो बुराई नहीं है, बुराई पैदा वहाँ होती है जहाँ भारतीय संस्कृति का रूप विकृत होता है।

इस प्रकार प्रसाद युग के बाद नाटको मे समस्या की प्रधानता दिनों दिन बढ़ती जा रही है—यह प्रकट सत्य है। समस्याओ के रूप भी अनेक हो गये है। पुराण, इतिहास, प्रेम की धारा भी समस्या में इस प्रकार घुल-मिल गई हैं कि इन्हे पृथक् करना आज कठिन कार्य हो गया है। देश के वातावरण और चतुर्दिकी ज्ञान-विज्ञान के विकास ने नवीन प्रयोगो को उत्तेजना दी है और हिन्दी नाटककारो ने उनका समुचित लाभ उठाया।

भाव नाट्य और गीति नाट्य की गति भी सराहनीय हो रही है।

इतना ही क्यो, नाट्य विधान मे भी अनेक परिवर्तन हुए हैं—विशेष कर एकांकी मे। रंगमञ्च का तिरोभाव नवीन युग की नवीनता है। जिधर देखिए उधर ही नवीनता की छाप दिखाई पड़ेगी। उदयशङ्कर का नृत्य और छाया नाटक एवं प्रगतिवादियों का 'खुला थियेटर' कुछ ऐसे प्रयोग है जिनके लिए मङ्गलमयी आशा बाँधी जा सकती है। भविष्य का निर्णय तो भविष्य ही करेगा।

# हिन्दी का उपन्यास-साहित्य

कथा-कहानियों की परम्परा चेतन मानव जीवन के साथ चली, ऐसा कहना अनुचित नहीं होगा। कथा-कहानी के प्रति मानव-मन में प्रारम्भ से ही अनुराग रहा है। वर्तमान उपन्यास और कहानियाँ, उसी परम्परा के नवीन उत्कर्ष हैं। इनकी उन्नति का प्रधान कारण भी मानव-रागों, मनोवेगों और क्रिया-कलापों में मानव की अभिरुचि ही है। और यह कहना तो व्यर्थ ही है कि कहानियों का विकसित रूप उपन्यास है तथा वह परिवर्तित सामाजिक एवं कलात्मक परिस्थिति की देन है। उपन्यास का विकास अभी रुका नहीं है, उसकी वर्तमान प्रगति को देखते हुए ऐसा लगता है कि अभी वह साहित्य क्षेत्र में अधिकाधिक गौरव प्राप्त करेगा।

उपन्यास जीवन की प्रतिकृति है, इसलिए उसका सम्बन्ध मानव व्यापारों, क्रिया-कलापों और घटनाओं से होता है, इसी को उपन्यास की 'कथा-वस्तु' कहते हैं। इन घटनाओं का विधाता मानव उपन्यास-सृष्टि का पात्र कहलाता है। उपन्यास जगत् में पात्रों की बातचीत को कथोपकथन कहते हैं। जीवन की घटनाएँ किसी विशिष्ट समय और किसी विशिष्ट स्थान में घटित होती हैं। उस समय और स्थान को ही परिस्थिति, वातावरण किंवा 'देश-काल' कहते हैं। उपन्यासकार की अभिव्यंजना के ढंग को 'शैली' कहते हैं, यह उपन्यास का पांचवा तत्व है। छठा तत्व उपन्यासकार का जीवन दर्शन है, उपन्यासकार के उद्देश्य की सार्थकता इसी में है।

यदि उपन्यास मानव चरित्र का चित्र है तो उसका सबसे बड़ा गुण है पात्रों की सजीवता। उपन्यासकार की मनः कल्पित सृष्टि में यदि हम अपनी वास्तविक सृष्टि की अनुरूपता न पा सकें, यदि उस नवीन-सृष्टि के पात्र हमें किसी अनजाने देश के लगें और यदि उनके साथ हमारी वैसी ही सहानुभूति न हो सकी जैसी अन्य मानवों के साथ होती है तो वे मानव-सृष्टि के चित्र नहीं और न ही उपन्यासकार का श्रम ही सफल है। यदि हम

पात्रों मे अपने ही जैसा राग, द्वेष, करुणा, प्यार, घृणा आदि भाव पाते हैं, यदि वह विशेष परिस्थितियो मे मानव जैसा आचरण करते हुए दिखाई पडे, तो वही उपन्यास मानव का सफल चित्र कहा जायगा। उपन्यासकार का उद्देश्य भी वहीं सफल कहा जायगा। अतिरंजना और अतिव्याप्ति उपन्यास के लिए भूषण है। कथावस्तु और पात्रो का उचित योग उपन्यासो का एक बड़ा प्रश्न है। यदि वस्तुविन्यास पात्रो का ध्यान रखकर न किया गया तो पात्र का पुतलियों के समान स्थिति की आवश्यकता के अनुसार सूत्र-संचालित जैसे मालूम पडेंगे। दोनो का सामंजस्य आवश्यक है। कथावस्तु चाहे सीधी हो या जटिल उसका विकास इसी के फल-स्वरूप होता है कि कुछ विशेष भावों, प्रवृत्तियो और विचारों वाले मनुष्य साथ-साथ ऐसी परिस्थिति मे रख दिए जाते है जिसमें एक दूसरे पर प्रभाव पडता रहता है, आपस में स्वार्थों का द्वंद्व उत्पन्न होता रहता है। 'जान एडिंग्टन सीमाण्डस' की व्याख्या के अनुसार उपन्यासकार को जानबूझकर कभी उपदेशक नहीं बनना चाहिए।

हिन्दी-साहित्य मे उपन्यासो का जन्म गद्य के साथ ही हुआ ऐसा कहने के बदले यदि हम कहे कि उपन्यासों के साथ गद्य का जन्म हुआ तो वह कथन अधिक उपयुक्त होगा। हिन्दी गद्य का विस्तार, इतिहास की काया में कथा-साहित्य का विस्तार है।

सन् १८०० ई० के आस-पास चार महानुभाव ऐसे हुए, जिन से खड़ी बोली के गद्य को प्रगति मिली। ये हैं—मुन्शी सदासुखलाल, सैयद इंशाअल्लाखां, लल्लूलाल और सदल मिश्र। यह सभी गद्यप्रवर्तक कथा-साहित्य के प्रवर्तक रहे है। लल्लूलाल की रचना—'सिंहासन बत्तीसी (१८०१), वैताल पचीसी (१८०१), माधवानल कामकन्दला (१८०१), शकुन्तला (१८०१) तथा प्रेम सागर (१८०१ से १८०३) कथा-साहित्य की सीमा की वस्तु हैं। सैयद इंशाअल्लाखां की 'रानी केतकी की कहानी' (१८०० से १८०३) किसी हद तक मौलिक रचना कही जा सकती है। लल्लूलाल जी की रचनाएँ अधिकांश मे संस्कृत से अनुवादित हैं।

हिन्दी-गद्य मे कथा-कहानी के द्वारा ही अनुवाद की प्रवृत्ति भी बढ़ी

है—यह याद रखना आवश्यक है। उर्दू-फारसी से भी हिन्दी में प्रथम-प्रथम कथा-कहानी का साहित्य ही आया। किस्सा 'तोता–मैना', किस्सा साढे तीन यार, 'दास्तान अमीर हजमा', 'तिलस्म-ई-होशरुबा' आदि हिन्दी-गद्य के महल की नींव है। भले ही इन मे केवल बाल-कौतूहल को शान्त करने की सामग्री रही, फिर भी उस समय की जनता उस समय इन्ही के द्वारा अपना मनोरंजन करने मे सफल हुई।

भारतेन्दु के युग मे आकर हिन्दी कथा-साहित्य का रूप बदला। अनेकों ऐसे मौलिक उपन्यास भी लिखे गए जिन से कथा-साहित्य मे भावना को प्रोत्साहन मिला। 'कादम्बरी' और 'दुर्गेशनन्दी' का अनुवाद उसी युग में हुआ। भारतेन्दु ने स्वयं इस कार्य में पर्याप्त हाथ बटाया। भारतेन्तु के जीवन चरित्र में राधा-कृष्णदास ने भारतेन्दु द्वारा रचित जिन आख्यायिकाओं का उल्लेख किया है उन मे 'रामलीला' (गद्य-पद्य) 'हमीर हठ' ( असम्पूर्ण अप्रकाशित ) राजसिंह (अपूर्ण) 'एक कहानी —कुछ आपबीती कुछ जगबीती' (अपूर्ण) 'सुलोचना' 'मदालसोपाख्यान' 'शीलवती' और 'सावित्री चरित्र' मुख्य हैं।

कथा-वस्तु तथा वर्णन प्रणाली—–दोनो ही को दृष्टि से 'परीक्षा गुरु' उस युग की प्रथम रचना है। भारतेन्तु काल के इस प्रारम्भिक, परीक्षा गुरु के ही निर्दिष्ट मार्ग का उपन्यास वाङ्मय ने अनुसरण किया, यही उसकी गुरुता है।

इस उपन्यास मे दिल्ली के एक सेठ की कहानी है, जो चाटुकारो की मिथ्या प्रशंसा से गर्वित होकर, बाहरी तडक-भडक और फिजूलखर्ची को अपना कर ऋण के गहरे जल मे डूबने उतराने लगता है। एक उदार सज्जन मित्र के द्वारा किसी प्रकार उस लक्ष्मीवाहन का उद्धार होता है। यह विपत्ति-परीक्षा ही प्रकाश-दर्शक गुरु होती है। युग के विख्यात निबन्ध लेखक पंडित बालकृष्ण भट्ट ने 'नूतन ब्रह्म (१८) तथा 'सौ अजान एक सुजान' नामक उपन्यास की सृष्टि कर आगे का मार्ग कुछ और प्रशस्त किया। फिर भी भारतेन्दु मण्डल के उपयुक्त लेखको के द्वारा उपन्यास साहित्य का वैसा विस्तार नहीं हो सका। यह काल नाटको और निबंधो का काल ही कहा जायगा। उपन्यास साहित्य के विस्तार का श्रेय तो बाबू देवकीनन्दन खत्री

तथा किशोरीलाल गोस्वामी को ही दिया जा सकता है। देवकीनन्दन खत्री जन्म से तो गोस्वामी से ज्येष्ठ थे, किन्तु रचना के क्षेत्र मे चार वर्ष पीछे पड़ गए। देवकीनन्दन खत्री का जन्म मुजफ्फरपुर (बिहार) मे हुआ था। उपन्यास के क्षेत्र मे उस युग मे जितनी प्रसिद्धि उन्हे मिली, उतनी प्रसिद्धि किसी अन्य लेखक को नही मिल सकी। सन् १८९१ मे तथा उसके बाद 'चन्द्रकांता सन्तति' नामक उपन्यास प्रकाशित हुए। इनके प्रकाशित होते ही हिंदी जगत् मे एक धूम सी मच गई। कहते है कितने ही उर्दू भाषा-भाषी लोगो ने एकमात्र इन पुस्तको को पढ़ने के लिए हिंदी सीखी। फिर तो इस प्रकार के उपन्यास की मांग बहुत ही बढ गई। देखा-देखी बहुत लोगो को लिखने का भी शौक हुआ और लेखको की संख्या मे वृद्धि हुई।

भाषा की दृष्टि से तो 'चन्द्रकांता' तथा 'चन्द्रकांता सन्तति' हिन्दी के क्षेत्र मे मार्ग प्रदर्शक उपन्यास कहे जायँगे। उनकी भाषा पर मुग्ध होकर विश्वबंधु बापू को कहना पडा था कि "भारत की राष्ट्रभाषा वही हिंदी हो सकती है जो हिंदी 'चन्द्रकांता' पुस्तक में लिखी गई है।"

किशोरीलाल गोस्वामी की कृतियो मे, कथावस्तु मे नवीनता लाने की चेष्टा देखने मे आती है, किन्तु परम्परा के बंधन मे उलझकर गोस्वामी जी कुछ कर नही सके। उनके समय मे ही बङ्गला आदि भाषाओ से समाज-चित्रण की भावना हिंदी मे आ गई थी, उपन्यास की गति मोड पर पहुँच चुकी थी फिर भी उसका समुचित लाभ गोस्वामी जी उठा नही सके। समाज का स्वच्छ चित्रण करने जाकर भी वह अपनी कृतियो मे उपदेशक बन गए है। हो सकता है, इस विवशता मे उनकी पुरानी संस्कृति का हाथ रहा हो। गोस्वामी जी समय की प्रगति का आदर नहीं कर सके--यह उनकी रचनाओं से स्पष्ट है। कई स्थलो मे तो उन्होने—स्वामी दयानन्द की धार्मिक क्रांति का मखौल उडाया है। प्राचीनता उन्हे अपनी सीमा मे बांधे रही। यदि उनका ध्यान अपनी इस विवशता की ओर गया होता और वह अपने को उस समय प्रगति पथ पर ला सके होते तो उनके उपन्यासों मे वही ओज देखने में आता जो प्रेमचन्द के उपन्यासो में है। प्रेमचन्द जी ने समय को समझा और गोस्वामी जी ने समय को भुलाया—यह नग्न सत्य है।

प्रेम की व्याख्या में भी गोस्वामी जी का रूप भ्रमात्मक रहा—कहना तो यह चाहिए कि उन्होंने उपन्यास क्षेत्र मे कविता क्षेत्र का रीतिकाल लाने का प्रयत्न किया। साहित्य क्षेत्र मे प्रेम किसी कृतिकार को हेय नहीं बनाता है। सभी कलाओं के मूल मे प्रेम की प्राणधारा प्रवाहित होती है। हृदय की यह सुकुमार वृत्ति ही तो मानवता का बंधन है। इसी से तो मनुष्य मनुष्य है और कलाकला, किन्तु प्रेम के नाम पर निम्न कोटि की वासनाओं का चित्रण प्रेम और कला दोनो पर बलात्कार करना है। गोस्वामी जी के उपन्यासो के नामकरण से ही पता चल जाता है कि उसके मूल मे कोई न कोई स्त्री है—चाहे वह चपला, मस्तानी, प्रेममयी, वन-विहँगिनी, लावण्यमयी, प्रणयिनी हो अथवा कुलटा। इनके उपन्यासो के पढने से ऐसा ज्ञात होता है कि गोस्वामी जी के नायक प्रायः सभी कामुक और नायिकाएँ प्राय. सुन्दरी है। एक बार साक्षात्कार होने से हो हृदय मे प्रेम की पीर उठने लगती है फिर तो तडपते दिन बीतते है। उनकी चरित्र-सृष्टि भी सामान्य मानव सृष्टि के मेल मे बहुत कम आती है। तो भी यह तो स्वीकार ही करना पड़ेगा कि भले या बुरे चरित्र-चित्रण की ओर सकेत देने वाले गोस्वामी जी ही हैं और वही हिंदी के पहले उपन्यासकार है। सामाजिक उपन्यासो की नींव हिंदी मे उन्हीं के द्वारा पडी।

अपने हिंदी-साहित्य के इतिहास मे गोस्वामी जी की भाषा के विषय में आचार्य रामचद्र शुक्ल लिखते है—"उर्दू जवान और शेर सखुन की बेढंगी नकल से, जो असल से कभी-कभी साफ अलग हो जाती है, उनके बहुत से उपन्यासों का साहित्यिक गौरव घट गया है। गलत या गलत मानी मे लाए हुए शब्द भाषा को शिष्टता के दर्जे से गिरा देते है। खैरियत यह हुई कि अपने सभी उपन्यासो को आपने यह मँगनी का लिबास नही पहनाया है। 'मल्लिकादेवी' मे संस्कृतप्राय, समासबहुला भाषा काम मे लाई गई है। इन दोनो प्रकार की लिखावटो को देख कर कोई विदेशी चकपका कर पूछ सकता है—'क्या दोनो हिंदी है?' 'हम यह भी कर सकते हैं, हम वह भी कर सकते हैं' इस हौसले ने जैसे बहुत से लेखको को पूर्ण अधिकार के साथ किसी एक विषय पर जमने न दिया, वैसे ही कुछ लोगो की भाषा को भी

बहुत कुछ डांवाडोल रखा, कोई एक टेढ़ा-सीधा रास्ता पकड़ने न दिया।"

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु युग मे और उस के बाद भी अर्से तक उपन्यास क्षेत्र मे बीज वपन मात्र हो सका, उस समय की तो प्रतीक्षा ही रही जब कि वह बीज प्रस्फुटित होकर इस नानारूपात्मक जगत् में अपनी शाखाएँ फैला कर छा जाए। कला के क्षेत्र मे किसी ऐसे युगान्तरकारी परिवर्तन की आवश्यकता बनी रही, जिसके फलस्वरूप कला कृतियाँ मनोरंजन मात्र की वस्तु न रह जाएँ। मानव-जीवन मे उनका कुछ उपयोग भी हो। उनमे समाज का सच्चा चित्र हो, उसकी समस्याओ के साथ सहानुभूति दिखाई गई हो और उनका हल ढूँढने का प्रयत्न किया गया हो। कहना नहीं होगा वह युग आया और प्रेमचन्द के आगमन के साथ आया।

प्रेमचन्द का युग वह युग है जिसे हम सर्वांश में आधुनिक युग कह सकते है। इसी युग मे हिन्दी ने आश्चर्य विमुग्ध होकर कला के नवीनतम रूप को देखा और समझने का प्रयत्न किया। विकास-पथ पर बढ़ने का हौसला रखते हुए भी हिन्दी साहित्य ने किंचित् क्षोभ के साथ अनुभव किया कि बचपन की रंगीनी, सपनो की भरमार लेकर वास्तविक जगत् का कर्तव्य नहीं निभाया जा सकता। संघर्षपूर्ण संसार तो यथार्थ का ही आदर कर सकता है। अपने अस्तित्व को बनाए रखने के लिए हिन्दी संसार को इस चेतन मस्तिष्क की मण्डली मे योग देना पड़ा।

यह वैदिक सत्य होगा कि इस आवश्यकता ने ही प्रेमचन्द को जन्म दिया। सारे रूढि बन्धनो को तोडकर उपन्यास क्षेत्र में युगान्तरकारी परिवर्तन लाने का श्रेय प्रेमचन्द को है। हिन्दी में नवीन आदर्श की प्रतिष्ठा उन्हीं के द्वारा हुई। यह देन प्रेमचन्द की है कि आधुनिक उपन्यास वाङ्मय जीवन की व्यापकता से होड लेता है। मानव की एक-एक वृत्ति, समाज का एक-एक अंग युग की एक समस्या को सुलझाने का ध्येय लेकर आगे बढ़ता है। उपन्यासकार का कर्तव्य यहां अपनी प्रतिभा से मानव तथा समाज का पथ प्रदर्शित करना, उनकी वृत्तियों को मोड़ना तथा गुत्थियो को सुलझाना हो जाता है। अपने उपन्यासो में उपर्युक्त आदर्शों की स्थापना कर अन्य

लेखकों को मार्ग दिखाने वाले प्रेमचन्दही हैं। उनके बनाये मार्ग से हिन्दी उपन्यास की धारा को प्रबल वेग मिली। वर्षा काल की भांति इधर-उधर से नवीन धाराएं फूट पडीं। अच्छे बुरे प्रकार के उपन्यास प्रचुर मात्रा में धड़ाधड़ निकलने लगे। पाठक तो देवकीनन्दन खत्री के द्वारा प्रथम ही तैयार कर लिए गये थे, अतः उपन्यासों के प्रचार मे कोई बाधा न पडी। प्रेमचन्द के अतिरिक्त 'प्रसाद', कौशिक, वृन्दावनलाल वर्मा, जैनेन्द्र कुमार, चतुरसेन शास्त्री, ऋषम चरण जैन, उग्र वियोगी, अनूप लाल मंडल आदि ने उत्कृष्ट कोटि की रचनाएं कर हिन्दी साहित्य का गौरव बढ़ाया। अभी तक उपन्यास रचना की उस गति मे शिथिलता नहीं आई है और दिनों दिन नए-नए लेखक निकलते चले आ रहे हैं। 'निराला', अज्ञेय, भगवतीचरण वर्मा, इलाचन्द्र जोशी, सियारामशरण गुप्त, राधिकारमण सिंह, डा०-श्रीनाथ सिंह, यशपाल, अमृतलाल नागर, नरोत्तम प्रसाद, रांगेय राघव आदि इधर के अच्छे उपन्यासकार हैं।

हिन्दी के उपन्यास-साहित्य पर विचार करते हुए हमे उस प्रवृत्ति को भी नहीं भुलाना है जो पाश्चात्य भावना लेकर हाल मे ही हमारे सामने आई है। यह है मनोविश्लेषण द्वारा उपलब्ध सिद्धान्तो के प्रकाश मे पात्रों का चित्रण। फ्रायड, युंग, एडलर मैगडुगल आदि के मन सम्बन्धी नवीन निष्कर्षों का प्रभाव योरोपीय कथा साहित्य पर पर्याप्त रूप मे पड़ा। इस नवीन मनोविज्ञान के अनुसार आज मानवीय वृत्तियो का परिशोधन हो रहा है। लोग आज सभ्यता की छानबीन भी बारीकी से करने के पक्षपाती बन रहे हैं। मनोवैज्ञानिक कहते हैं—सभ्यता के आग्रह से हमने सचेत मन का सस्कार कर उसे एक नवीन रूप भले दे दिया है किन्तु इसके मूल में पड़ी हुई पशु प्रवृत्तियाँ समय-समय पर हुंकार कर उठती हैं। इन मूल प्रवृत्तियों को मनुष्य जितना ही नीचे दबाता है; वह उतने ही वेग से ऊपर उठने का प्रयत्न करती हैं। इस प्रकार मनुष्य के अचेतन मन से उसके अभिप्रायों की व्याख्या की जा सकती है। सचेतन मन से ईमानदार होते हुए भी मनुष्य अचेतन मन से बेईमान हो सकता है, सचेतन मन से संयमी पुरुष भी अचेतन मन से कामुक हो सकता है और किसी समय किसी मित्र या

सम्बन्धी की रक्षा की अत्यधिक चिन्ता उसकी हत्या की अचेतन इच्छा का आवरण हो सकती है। इस नवीन मनोविज्ञान के अनुसार मनो-रोगों का मूल आधार कामसम्बन्धी उलझने हैं। दमन और उलझन के इन सिद्धान्तों ने मानवीय कार्यकलापों को देखने की एक नवीन दृष्टि दी है। योरोप के कथा साहित्य पर इस नवीन विज्ञान का प्रभाव एक विचित्र रूप में पड़ा। इन सिद्धान्तों को आधार बनाकर लिखे गये उपन्यासो की बाढ़ सी आ गई किन्तु अब जब कि वहां यह जोश ठंडा पड़ गया है हमारे भारत मे कुछ कथाकार उसके पीछे पागल बन रहे है। इलाचन्द जोशी और अज्ञेय योरोपीय प्रवृत्तियो के सन्देश वाहक हैं। हम तो कहेगे कि कोई कारण नहीं कि उपन्यास-कार कथाशिल्पी अपने पात्रों को किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त के प्रकाश मे नहीं देखे किन्तु उसकी दृष्टि व्यक्ति पर रहे न कि सिद्धान्त पर।

'जो कुछ नवीन है केवल वही सत्य है।' इस दृष्टि से हम अपना स्वस्थ विकास कभी नही कर सकते। परम्परा और प्रयोग—यह दोनों ही प्रत्येक कलाकृति के लिये आवश्यक उपकरण है। यदि इनमें से एक की कमी होगी तो कृति कलापरक न होगी। प्रयोग वह क्रिया है जो कलाकार परम्परा के साथ करता है, अन्यथा वह कलाकार कहलाने का अधिकारी ही न होगा। परम्परा वह वस्तु है जो प्रयोग की सम्भावना उपस्थित करती है, इन्हीं दो के मात्रा भेद से साहित्यिक प्रगति की माप होती है।

हिन्दी के उपन्यास साहित्य की बाराखड़ी खत्म होने की वस्तु नहीं—उसका भविष्य दिनों-दिन उन्नति की ओर है और इस क्षेत्र पर प्रभुत्व उन्हीं का होना है, जो इससे असन्तुष्ट हैं और प्रयोगशील हैं।

# सायंकाल का भ्रमण

एक दिन प्रातः काल से ही बादल आकाश पर घिरे हुए थे। हवा बन्द थी, आकाश डरावना सा प्रतीत हो रहा था और सावन की ही एक घटा-भरी दुपहरी थी। वातावरण घुटारहने के कारण स्नान करने के बाद भी शरीर पसीने से तर था, परन्तु थोडे ही समय में आंधी आई, छोटे-छोटे बादल की टुकडियां भी आकर इकट्ठी हो गई। मै कमरे से निकल कर ज्यो ही खडा हुआ तो देखा मूसलधार वर्षा सहसा एकदम ही शुरू हो गई थी। मैं अन्दर आते आते भीग गया। शाम को कुछ बादल थम गये। मैंने अपने गांव की नदी की ओर कदम उठाया। मैं अपनी उमंगो में बहने लगा। रामपुल पर पहुँचते ही मुझे अपने आप का ज्ञान न रहा।

सूर्य अभी डूबा नही था। मैने एक नाव ली और नदी के साथ-साथ चलने लगा। अचानक बादलो को चीर कर पल भर की झलक में सूर्य का लाल गोला धीरे-धीरे झलक देकर छिप गया। सूर्य की ओर केवल एक क्षण देख कर मै उछल पडा। अचानक मेरी दृष्टि काले-काले बादलों में खो गई। छल-छल करती हुई मेरी नाव नदी की चाल से होड़ लगा रही थी, मानो उसे चुनौती दे रही हो।

नदी के किनारे दूर-दूर पर वृक्ष लगे हुए थे, जिनकी शाखायें धीरे-धीरे बढ़ कर पानी में झुक गई है। अचानक मुझे ऐसा लगा, जैसे मेरी जांघ पर कोई वस्तु रेंग रही है। मैंने देखा तो ऊपर के सांस ऊपर और नीचे के नीचे। एक हलके काले रंग का चमकीला सांप मेरी जांघो पर चला जा रहा था। मैं डर कर भी चुप रहा, लेकिन मेरी शक्ति क्षीण हो चली थी। कोई आधे से उतर कर नाव की दीवार पर चढ़ गया। मैने उसकी लटकती पूंछ को जोर से उछाला और फुकांरती आवाज पानी में डूब जाती हुई सुनी। मेरी छाती धौंकनी की तरह फूली हुई थी।

मैंने देखा मैं बहुत दूर आ गया हूँ। वैसे तो आध घन्टे से भी थोड़ा

समय लगा होगा किन्तु बरसाती नदी के साथ-साथ मैं लगभग तीन मील आ गया था। अब मैंने अपनी नाव को लौटाने की ठानी, किन्तु मुझ में इतनी शक्ति थी कहां, जो सावन की तेज़ धारा से उलटा चल सकूं। मैं मजबूर होकर नाव किनारे से लगाने लगा और किनारे लगाकर उतर गया। नाव तो मैंने किनारे से बांध दी, परन्तु मैं सोचने लगा:—

शाम हो गई है। अभी रात हो जायेगी। मुझसे अब नाव कैसे लौटेगी? भाड़ा भी चौगना दिया है। लेकिन सावन मे उन्हें नाव देने का हुक्म नहीं था। बरसाती पानी की तेज धारा और सांप सपूकली की घटना को स्मरण करता हुआ नदी के किनारे-किनारे वृक्षों की कतार और हरी-हरी घास से ढकी हुई पगंडडी पर चलने लगा। पैदल चलते-चलते मैं थक गया और अपनी थकावट को दूर करने के लिये बैठ गया। इतने में वर्षा बहुत जोर से आ गई। आध घन्टे के बाद मैं वहां से चल पडा। अन्धेरा बढ़ता जा रहा था। मुझे इसका डर नहीं था। पर नाव वालों से मैं डेढ घण्टा लेट था। सूर्य छिपने के बाद नाव चलाना बन्द था। मैंने सोचा, अब नाव भाड़े पर नहीं मिलेगी। यह सोचकर मैं तेजी से चलने लगा। पक्षी सब सो रहे थे, वातावरण शान्त था। मेरे जूतों की आवाज़ से पक्षी अपनी गर्दन निकाल कर देखने लगे और चौंक गये। इस रूप को देखकर मैं गुनगुनाने लगा—

सो रहे हैं विहग नीड़ों में, न कोई जानता है,
हो रही बरसात कितनी।

अचानक एक स्थान से सूर्य का गोला उस बरसात मे फिर से चमका। जल, थल, नभ पर सभी कुछ लाल हो गया। बादलों पर यों तीखी और सीधी धारायें पड़ीं, जैसे सूर्य ने पिचकारी से बादलों के कपड़े लाल कर दिये हो। इसी चकाचौंध में मैंने पगडंडी पर काले सांप का जोडा देखा। जिसने इस चकाचौंध के कारण फुंकार कर अपने फन खड़े कर लिए। मैं सावन की इन घटनाओं से डरा नहीं तथापि ऐसे ही दृश्य की याद मेरे दिल मे गहरी बन गई। धीरे-धीरे मैं ऐसे ही सुन्दर दृश्यों को देखता हुआ पुल पर आया और कुछ देर मैं खडा होकर उस ओर निहारने लगा दूर नदी क्षितिज से मिल रही थी। पश्चिम की ओर रंग-बिरंगा धनुष चमक रहा था। पक्षियों

की चहचहाहट के साथ नदी के पानी के बहने का शोर मन को प्रफुल्लित कर रहा था। ऐसा दृश्य जब कभी भी याद आ जाता है तो मैं अपने वश में नहीं रहता और मेरी कल्पना गगनचुम्बिनी हो उठती है।

इस प्रकार सायंकाल के भ्रमण से निरन्तर मुझे बहुत लाभ हुआ है। मैं प्रकृति के आनन्दों को अपने हृदय मे ग्रहण कर लेता हूं। इसमे मेरे प्रकृति-प्रेम के कारण मुझे नित नई कवितायें सूझ पड़ती हैं। कल्पनापूर्ण कवितायें मेरे हृदय को रंग देती हैं। सायंकाल के भ्रमण ने मुझे जागरूक कवि के रूप में परिणत कर दिया है। यदि मै सायंकाल को भ्रमण करने न जाता तो मेरा हृदय संकुचित ही रहता और मैं ईश्वर की बनाई हुई लीलाओ को देखकर उसके साथ अपनापन स्थापित न कर सकता। सायंकाल के दृश्य आज भी रात्रि को सोते समय मेरे मानस पटल पर एक-एक चित्रपट की तरह आते है और अपना स्मरण करा देते हैं।

(श्यामकुमार गांधी)

---

# मेरी पर्वतीय यात्रा

(कुमारी निर्मल शर्मा साहित्य रत्न)

संकेतः—१. यात्राएँ कितने प्रकार की होती हैं। २. पर्वतीय यात्रा का चित्रण। ३. पर्वतीय यात्रा मे अपनी-अपनी रूचि। ४. पर्वतीय यात्रा का महत्व।

भूमिका—यात्राएँ जल, थल, नभ द्वारा तो होती ही हैं, पर पर्वतीय यात्रा भी बड़ी सुखद और मनोरंजक होती है। विशेषकर उन व्यक्तियों के लिए जो थल यात्रा के आदी होते हैं। पर्वत की पगडण्डियो, ऊँचे-नीचे मार्गों, चट्टानों और कन्दराओ को पर्वतीय देशवासी जितना सुगमता से पार करते हैं उतनी सुगमता से थलवासी पार करते हैं। दो-चार थलवासी मित्र मिलकर जब पर्वतीय स्थानों का भ्रमण करते हैं तो यह यात्रा बहुत ही मनोहारी हो जाती है। विन्ध्याचल की पर्वत-श्रेणियों मे स्थित जबलपुर मध्य-प्रदेश का एक बड़ा ही रमणीय स्थान है। नर्मदा नदी के धुँआधार जल-प्रपात

यही के पर्वतो में झरते हैं। जबलपुर नगर से इन प्रपातो तक पहुँचने का मार्ग तो अधिक पर्वतीय नहीं, परन्तु जिस स्थान से उन्नत प्रपात झरते हैं वह इतना ऊंचा है कि वहाँ से गिरकर पानी को फुवारें धुएँ की तरह उड़ती है। प्रपात के निकट की पर्वतीय चट्टाने वृक्षों से आच्छादित नहीं हैं, परन्तु अन्य दर्शनीय स्थान पर्वतों के जिन शिखरो पर स्थित हैं, वे नाना प्रकार के वृक्षों, लताओ और झाडियो से आच्छादित है। इन पर्वतीय स्थानों को देखने के लिए संसार के दूर-दूर कोनो से यात्री पहुँचते हैं। एक बार मैंने भी इन स्थानो को परिवार के साथ देखा।

विस्तार—हम परिवार के पाँच व्यक्ति थे—दो भाई, एक बहिन और माता-पिता। भाई पूर्णतः युवक, बहिन किशोरावस्था की ओर माता-पिता प्रौढ़ता को पार कर वृद्धावस्था मे प्रथम चरण रख चुके थे। रात्रि में हमने खाने-पीने की सामग्री तैयार की और प्रातःकाल ४ बजे कार में बैठकर पर्वतीय स्थानों की इस यात्रा के लिए घर से चल पडे। कार तो हमे सर-सर करती हुई कुछ काल में ही इन पर्वतीय स्थानो तक पहुंचाने में सफल हुई। पर्वतो के ऊपर चढ़ कर बडी कठिनाई से संध्या के सात बजे तक इन स्थानो को देख सके।

सबसे पहले हमने एक प्राचीन शिव मन्दिर के दर्शन किये। यह मन्दिर पवत के लगभग एक हजार गज ऊँचे शिखर पर बना हुआ है। साथ ही दुर्गा आदि कुछ अन्य देवी-देवताओ को मूर्तियां हैं। इस मन्दिर में शिवलिंग की प्रतिमा डेढ़ फुट गोलाकार प्रस्तर की है। मन्दिर तक पहुँचाने का मार्ग पत्थरों को काट-काट कर बनाई गई सीढ़ियो का है। इस मन्दिर के दर्शन करने में हमे कोई विशेष कठिनाई नही हुई। प्रातःकाल के शीतल वातावरण में हमने इस शिखर पर घूमने और चढ़ने मे जिस स्फूर्ति का अनुभव किया, वह बहुत ही सुखद थी।

इसके पश्चात् कार के ड्राईवर ने हमको मुक्तेश्वर महाराज के मन्दिर पर पहुंचा दिया। इस समय यह स्थान आस-पास के वृक्षो और प्रस्तरों को काट कर बहुत स्वच्छ और सरल बना दिया गया है, परन्तु किसी समय यह स्थान इतना गुप्त था कि यहाँ की उस कंदरा में जो गुप्तेश्वर के नाम से प्रसिद्ध

है, कोई साधु एकान्त में बैठकर शिव की आराधना किया करता था। कन्दरा मे झुककर तथा कुछ दूर तक बैठकर उस स्थान तक पहुंचते हैं जहाँ पर शिवलिंग को स्थापना की हुई है।

कन्दरा में किसी समय तो अवश्य ही पूर्ण अन्धकार ही रहा हो, परन्तु अब उसे तीन ओर से काट कर ऐसा बना दिया गया है कि दिन मे असाधारण अंधेरा ही रहता है।

गुप्तेश्वर के पश्चात् हम बैलैन्स रौक ( एक पत्थर पर स्थित हजारो मन का एक पत्थर जिसका थोडा सा भाग ही पत्थर पर ठहरा हुआ, बैलैन्स रौक के नाम से प्रसिद्ध है ) और दुर्गावती का दुर्ग देखने के लिए गये। कार ने हमे इन स्थानो से कई फर्लाङ्ग दूर छोड दिया था। बैलैन्स रौक तक पहुँचने का मार्ग अधिक ऊबड़-खाबड नही था। यहां तक तो हम सपरिवार पहुंच गये, परन्तु दुर्गावती के दुर्ग तक पहुँचने के लिए हिम्मत से काम लेना पड़ा। समय दोपहर के बारह बजे का था। यह महीना तो वैसे मार्च का था, पर कुछ साधारण गर्मी भी इस समय के मौसम में थी जिसे हम हँपा देने वाली गर्मी तो नही कह सकते, पर थका देने वाली अवश्य कह सकते हैं। इस साधारण सी गर्मी के कारण हम कुछ काल के लिए बैलैन्स रौक के समीप बैठ गये। प्रकृति द्वारा सन्तुलित इस चट्टान को देखकर वास्तव मे कुतूहल हुआ। वैसे तो इस स्थान के सभी पर्वतों की बनावट अलग-अलग विशालकाय पत्थरो के रूप मे हुई है। प्रकृति ने एक पत्थर पर दूसरे पत्थर को इस प्रकार जमाकर रखा है कि भूगोल होने पर भी वे सब हिलकर गिर नहीं पडते। उनमे से एक-आध भले ही खिसक जाए परन्तु एक-आध के खिसकने का पर्वतीय भीमता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। पर्वत का विशाल रूप सदा एक सा बना रहता है। परन्तु चट्टान के विषय में कौतूहलपूर्ण बात यह है कि पच्चीस-तीस फुट ऊँचे और लगभग उतने ही चौड़े पत्थर की पीठ पर यह हजारों मन का पत्थर एक फुट से अधिक नहीं टिका हुआ होगा। इसके पास की अन्य चट्टान इसको सहारा नहीं दे रही हैं, परन्तु फिर भी यह अडिग और अचल है। भूकम्प के बड़े-बड़े झटके भी नीचे नहीं गिरा सके।

दुर्गावती के दुर्ग तक पहुँचने के लिए माता-पिता ने असमर्थता प्रकट की। उनमें पत्थरो के इस ऊबड़-खाबड और उन्नत मार्ग पर चलने की हिम्मत न रही थी। इसलिए हम उनको वहीं छोड़ कर ऊपर की ओर चल दिये। पहले एक भाई एक पत्थर से दूसरे पत्थर पर चढ़ता, दूसरा बहिन को सहारा देकर ऊपर पहुँचाता और फिर तीनो पर्वत के ऊँचे स्थान पर खडे होकर चारों ओर दृष्टि डालकर देखते। दूर-दूर तक हरी-भरी पर्वत मालाएँ और कुछ पर्वतो के नग्न शिखर दिखाई देते थे। कहीं दूर पर नीचे की तलहटी में गऊएँ घास चरतीं, दीख पड़ती कही भेड़-बकरियो के झुण्ड भी और कहीं पर लकडी काटने वालो के कुल्हाडों की आवाज का जोरदार शब्द सुन पड़ रहा था। कुछ पक्षी भी हमारे आस-पास की वृक्ष-शाखाओं पर फुदकते हुए सुन्दर दृश्य बना रहे थे। इसी प्रकार पर्वतीय दृश्यो का आनन्द लेते हुए हम दुर्ग तक पहुंचे। यह दुर्ग कोई बहुत बडा नही है। पत्थरों पर काट-छांट कर के ऊपर-नीचे दो कमरे बने हुए हैं, कुछ सहन और चार दीवारी भी बनी हुई है। यह कमरे तो रानी के महल के नाम से प्रसिद्ध है, इसके पास ही पर्वत शिखरो को काटकर रानी के अन्य कर्मचारियो और सैनिको के लिए स्थान बने हुए हैं। हमने मन भर कर इस स्थान का भ्रमण किया। ऊँचे प्रस्तरों पर खड़े होकर परस्पर एक-दूसरे के चित्र खींचे। महल का भी चित्र लिया और फिर नीचे की ओर उतरने लगे। माता-पिता को छोड़े हुए हमे दो घण्टे बीत चुके थे, अतः उनकी भी चिन्ता थी और साथ ही यह भी कि वे हमारे लिए चिंतित होगे। पर्वत से नीचे उतरने का आनन्द चढ़ने की अपेक्षा हमने अधिक अनुभव किया। चढ़ते हुए हमे चढ़ने के लिए बल का प्रयोग करना पडता था, परन्तु उतरते समय ऐसा लगता था जैसे पवत शिखर नीचे की ओर ढकेल रहा हो। पत्थरों पर बहुत ही सम्भल कर पांव रखने की आवश्यकता अब भी उतनी ही थी, जितनी कि चढ़ते समय। हमारे उतरने का क्रम भी वैसा ही रहा जैसा कि चढने का था। जहां बडे-बड़े पत्थरो को लांघने की कठिनाई आती थी, वहाँ एक भाई पहिले पहुंचकर फिर बहिन को सहारा देकर नीचे उतारता तथा फिर दोनों इकट्ठे होकर कुछ देर पत्थर पर बैठते, गीत गाते प्रकृति के रहस्य के विषय में कौतूहलपूर्ण बातें करते और फिर माता-पिता

से मिलने के लिए शीघ्रता से नीचे उतरने का प्रयत्न करते। इस शीघ्रता में आखिर एक भाई का पांव फिसल ही गया तथा वह लुढ़कता हुआ तीन-चार बडे-बडे पत्थरों को पार करके एक खड्ड मे जा गिरा। दूसरे भाई और बहिन को उसकी चिन्ता हुई, पर वह खड्डे से सहसा उठ कर पुकार उठा, मुझे कोई चोट नहीं आई। हमने भी पास जाकर जब उसे देखा तो मामूली सी ही चोट उसको आई थी। फिर हम हंसते और एक-दूसरे का परिहास करते हुए माता-पिता के पास पहुंच गये। हमने देखा कि ड्राइवर भी कार छोडकर उनके पास आ गया था। अब माता-पिता की इच्छा तो वापस लौटने की थी पर हम चौसंठ योगिनी का मन्दिर और धुंआधार जल प्रपात आज ही देखने का विचार कर रहे थे, क्योंकि तीसरे दिन हमको जबलपुर से चले जाना था और दूसरे दिन माता-पिता कभी आने देने वाले नही थे क्योंकि इन स्थानो को वे कई बार देख चुके थे तथा हमारा मन इन स्थानो का वर्णन करके भुला देना चाहते थे। परन्तु हम तीनो ने पहिले से ही निश्चय कर लिया था कि इन स्थानों को भी आज ही देखकर चलना है। इसलिए माता-पिता की बात का समर्थन हम मे से किसी ने नही किया। ड्राइवर को हमने घर से चलने से पूर्व ही अपने पक्ष मे कर लिया था, इसलिए शीघ्र ही हमारे प्रस्ताव का समर्थन हो गया। जब हम चौसठ योगिनी के मन्दिर पर पहुंचे तो संध्या के पांच बज चुके थे। यह मन्दिर भी पर्वत के हजारों फुट ऊँचे स्थल पर बना है। इस पर चढ़ने का मार्ग ईंट और पत्थर की सीढ़ियों की अपेक्षाकृत अच्छा बना हुआ है। इसलिए पद्रह-बीस मिनट में ही हम ऊपर पहुँच गये। चौसठ योगिनियो की सभी प्रतिमाएँ मूर्त्ति कला की दृष्टि से पर्याप्त विकसित कला का परिचय देती हैं। इन प्रतिमाओं को लोग कहते है कि औरंगजेब ने आक्रमण के समय अपने आदमियों ने तुड़वा दिया था। यहाँ के मन्दिर में जो शिव-लिंग है, उसके लिये यह प्रसिद्ध है कि औरंगजेब ने जब उस पर कुल्हाड़ा मारा तो उससे दूध की धार बह निकली थी। इस कथन में कहाँ तक सत्य है यह तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु चौंसठ योगिनियों की एक भी प्रतिमा ऐसी नहीं जो खण्डित न हो। किसी का मुंह टूटा हुआ है तो किसी का हाथ और पाँव, किसी का वक्ष

खण्डित है तो किसी का अन्य अंग। इसी प्रकार शिवलिंग भी खण्डित है। इस मन्दिर के क्षेत्रफल को देखकर हमे ऐसा प्रतीत हुआ कि किसी समय यहाँ पर शिक्षा का भी केन्द्र अवश्य रहा होगा। चीन का बना हुआ एक बहुत बड़ा कांसे का घंटा भी मन्दिर से बाहर खुले स्थान पर लगा हुआ है।

इस मन्दिर को देखने मे हमने समय इसलिए नहीं लगाया क्योंकि हमें धुंआधार जल प्रपात को देखने की आकांक्षा हो रही थी। हम शीघ्र ही नीचे उतर आए तथा कार मे बैठकर जल-प्रपात की ओर चल दिये कार में बैठे हुए संध्याकालीन प्रकृति-छटा का कुछ आभास हमको हो रहा था। पर हम सब चुप थे कभी-कभी इधर-उधर की कोई बात होती थी। पर इस समय बातों का मूड किसी का नहीं था, सभी के मन मे प्रपात देखने का भाव जागृत था। जब हम जल-प्रपात पर पहुँचे तो सध्या के सात बज चुके थे। वैसे नगर मे तो इस समय मार्च के महीने में अवश्य अंधेरा फैलने लगता है, परन्तु जल-प्रपात के खुले हुए वातावरण मे अभी मरीचिमालिकाएँ अपनी छटा बिखेर रही थीं। जल प्रपात के गिरने का स्वर यहाँ स्तब्धता को धू-धू करता हुआ चीर रहा था। संध्याकालीन सूर्य के प्रकाश ने यहाँ के सुन्दर वातावरण को और भी अधिक आकर्षक बना दिया था। आस-पास के नग्न पर्वत-शिखर तथा जल की धाराओ से कटे हुए पत्थरों के समूह सभी अपनी कहानी छटा की जवानी सुना रहे थे। यह जल-प्रपात मार्च के महीने में इतना धुंआधार रूप धारण नहीं करता, जितना कि वर्षा काल मे। वर्षा-काल में तो इसके निकट कोई पहुँच ही नहीं पाता। परन्तु ऋतु की अनुकूलता के कारण हमें इसके निकट तक पहुँचने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ। हमने इस प्रपात के बिल्कुल निकट के पत्थरों पर बैठकर कुछ क्षणों तक प्रकृति का यह एकान्त गान बड़ी तल्लीनता से सुना। प्रपात का झर-झर स्वर हमारे हृदय में उस समय जिन भावो को जगा रहा था, उनकी अनुभूति हमें किसी बहती हुई धारा के समान ही हो रही थी। ऐसा लगता था कि जैसे, हमारे हृदय मे भी कोई निर्झर फूट पड़ा हो।

जल की बौछारों से चिर स्नात शिलाओ पर बैठकर हमने जो चित्र

लिये वे हमारी पर्वतीय यात्रा के मधुर संस्मरण बने हुए हैं, जिन्हें उस समय कैमरे की फिल्म में अंकित करके हम साथ ले आये थे। इस प्रपात से लौटने को अभी हमारा मन नहीं चाह रहा था, परन्तु संध्या के बढ़ते हुए अंधकार ने हमें विवश कर दिया।

---

# ताजमहल

धीरे.. । अरी ओ यमुने, जरा धीरे बोल कितनी बावरी है तू। क्या जानती नहीं है कि मेरे हृदय मे दो बिछुड़े हुए दिल विश्राम कर रहे हैं। तेरी इस कल-कल ध्वनि से कहीं उनकी निद्रा न भंग हो जाय इस लिए तुझे कह रहा हूँ कि जरा धीरे बोल। हाँ तू तो कहती है कि मैं पाषाण हूँ यदि मैं पाषाण हूँ तो तू मुझे इतना चाहती क्यों है। छोड़ कर क्यों नहीं चली जाती। क्यों युगयुगान्तर से मेरी साथिन बनी बैठी है, बता न तू, कहती है कि मैं हृदय-हीन हूँ। एक मूक तपस्वी हूँ। जो तेरे प्रेम निवेदनों की ओर ध्यान ही नहीं देता परन्तु तू ही बता क्या मैं प्रेम के आगे कर्त्तव्यों का होम कर दूँ। अपने प्रेम के लिए उद्देश्यों को भुला दूँ और अपनी सत्ता मिटा दूँ। दो प्रेम-मग्न हृदयों को ठेस पहूँचा दूँ। नहीं नहीं ..मुझ से यह सब न होगा भले ही तू मुझे निर्दय, कठोर, क्रूर, निष्ठुर, निर्मोही अथवा जो भी चाहे कहले। यमुने रुष्ट न हो मुझ से, सब कुछ जानती हुई भी अनजान न बन पहले उस वियोगी शाहंशाह की दर्द की दास्तान सुन ले। मुझ से फिर चाहे रुष्ट हो जाना, तीन सौ वर्ष हो गये होंगे इस घटना को—शाहंशाह हिन्द सम्राट् शाहजहाँ अपने सुन्दर प्रासाद के अन्तरंग भाग में मृत्यु शैया पर पड़ी हुई अपनी प्रेयसी बेगम मुमताज का सिर अपनी गोद में रक्खे हुए अश्रु माला गिरा रहे थे। सम्राट् के वह अनमोल आँसू बेगम के कपोल धो रहे थे। . और बेगम अपने आँसुओं से सम्राट् की अंजली भर रही थी।... ..आह कितना करुण था वह दृश्य जब सम्राट् की प्रेयसी मुमताज, वह मुमताज शाहंशाह जिस पर दीवाना था, सदा के लिए उससे बिछुड़ रही थी।

सम्राट् शोक से विक्षिप्त सा हो उठा। प्रेयसी के अन्तिम शब्द रह-रह

कर गूँज उठते और वह पागल हो उठते और उसे एक अमर प्रेम समाधि बनाने की धुन सवार हो गई, न खाने की चिन्ता न सोने की इच्छा—सम्राट् का एक ही काम रह गया था और वह था मुमताज की कब्र के लिए नक्शे खोजना और एक दिन नक्शा भी मिल गया। सम्राट् के झुलसे हुए हृदय में शांति की एक बूंद पड़ी। मकबरे का निर्माण आरंभ हो गया। विक्षिप्तो की तरह दिन रात उसको निर्माण होते देखता रहा। १८ वर्ष के नितान्त इन्तजार के बाद मकबरा बन कर तैयार हो गया। अपनी पत्नी क नाम पर सम्राट् ने उसका नाम "रोजा ताजमहल" रखा। ओ यमुने मै ही वह ताजमहल हूँ। वही शाहंशाह हूँ जिसने अपने रक्त से मुझे बनाया और जिस उपवन को अपने आँसुओं से सींचा......आह यमुने वही ताज हू जिसके रोम-रोम मे सम्राट् के कुचले हुए अरमान समाये हुए है। यह बारीक नक्काशी तुम मुझ पर देख रही हो यह उसी वियोगी शाहंशाह की अंगुलियों से बनी हुई है। तुम्हें कहाँ तक बताऊँ। और इस प्रकार शाहंशाह की आंखो मे आंसूओं की झड़ी लग गई थी, ओ यमुने मैंने बहुत से प्रेमी देखे। कइयों को यहाँ आते देखा है अगर तुम्हें याद हो तो कई ऐसे भी थे जिन्हे देखकर तुम क्या कह दिया करती थी कितना अपूर्व प्रेम है इनका याद है न। परन्तु मैंने तुम्हारी कभी हाँ में हाँ नहीं मिलाई क्योकि मैं अभी तक उस रात को नहीं भूला हूँ जब शाहजहां मेरी दृष्टि में एक अपूर्व प्रेमी था। मुमताज की कब्र पर बैठा सिसिकियो लेकर उसके अपने चारो ओर दृष्टि डालकर उन्होंने एक लम्बी सांस खींची। यह सांस नही इसे सांस क्यों, कहूँ...वह तो आह थी—एक सर्द आह उस आह में सम्राट् का दर्द बाहर आगया था। उसकी निराशा झलक उठती थी.. तुम्हे कैसे बताऊ कि यह आह कैसी थी। उसमें क्या भरा पड़ा था। वैसे तो सम्राट् की हर एक सांस आह थी, दर्द का पैगाम थी, अगर वह आह! खैर तुम्हे आज बताऊँ शहंशाह धीरे से उठ खडे हुए मेरी ओर देख कर वह कहने लगे ताज मैं अपनी सबसे अधिक अमानत तुझे सौंपे जा रहा हूँ! दोस्त इसे अपनी जान से भी अधिक संभाल कर रखना और फिर मुमताज की कब्र की ओर देखकर कहने लगा, ताजी मैं जा रहा

हूं......परन्तु बेचैन मत होना। मैं जल्द आऊंगा बहुत जल्द मेरी इन्तजार करना अच्छा ताज, अलविदा .....अलविदा......और मैंने देखा कि शाहजहां जा रहे है। मंजिल से भटके मुसाफिर की तरह मुझे रोना आ गया। यमुने! पर आँसू सूख गये थे, रो न सका। सोचने लगा कि जिस मनुष्य के दु:ख को देखने मात्र से मेरा हृदय छलनी हो गया है; जिस पर यह सब गुजर रही है उसका क्या हाल होगा।

एक दिन इन्हीं आँखो से देखा ·.म्राट् का बेवफा और नापाक बेटा औरंगजेब आगरे के किले मे बन्द करने के लिये उसे ले जा रहा है। उस बूढ़े टूटे हुए सम्र ट् पर मैं यह अत्याचार सहन न कर सका। मेरा अन्तर बदले लिये चीख उठा। पर बेवस था और वह बेबसी मेरी आंखो मे आंसू ले केआई। मै रोज सम्राट् को कैद की खिडकी मे से अपनी ओर निहारता पाता। और वहीं बैठे-बैठे मेरी इन्हीं आंखों के सामने एक दिन सम्राट् का जीवन-प्रदीप बुझ गया। उसी समय चंद ईमानदार नौकर सम्राट् की इच्छा के अनुसार उन्हें यहाँ ले आये और मुमताज के पास दफना गये। उस दिन दो बिछुडे प्रेमी मुझ से मिल गये। इसी तरह कई साल गुजर गये। दूर-दूर से यात्री मुझे देखने आते है और अपने को धन्य समझते हैं। मुझे याद है कि एक बार कविसम्राट् रवीन्द्रनाथ ठाकुर मुझे देखने के लिये आये। मेरे अंगो को प्रेम की उज्ज्वल दीप्ति से जगमगाता हुआ देख कर उनका भावुक हृदय कह उठा :—ओ ताज तू समय के कपोल पर पडा हुआ एक चमकदार आंसू है। मैं अपनी यह प्रशंसा सुन जीवित नहीं हुआ क्योंकि मै अपना कर्त्तव्य भली प्रकार समझता था। मुझे संसार की सर्वोत्तम इमारतो में गिना जाने लगा। पर मैने उनकी ओर भी ध्यान न दिया। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं, जो आया उसने मेरी प्रशंसा ही की कई ऐसे भी थे जिन्होने मेरी ओर देखकर घृणा से मुँह फेर लिया। तुम्हें याद है यमुना; एक बार वह कवि कहलाने वाला सुमित्रानन्दन पन्त यहाँ आया था मुझे देखकर उस ने कहा था :—

हाय मृत्यु का ऐसा अमर अपार्थिव पूजन।<br>जब विष्ण्ण पड़ा हो जग का जीवन॥

मानव ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति।
आत्मा का अपमान प्रेत छाया से रति ॥

उसके यह वाक्य सुन मै क्रोध और घृणा से भड़क उठा। निन्दा सुनकर नहीं, उसकी अज्ञानता देखकर मैंने उससे कहा—अरे ओ अनजान जरा सोच के बोल! तू नहीं जानता तू क्या कह रहा है। मै सम्राट् शाह-जहां और साम्राज्ञी मुमताज की प्रेम समाधि हूं। प्रेम अमर होता है। शरीर मिट जाता है प्रेम नहीं मिटता! तू कैसे कह रहा है कि मै मृत्यु का अमर अपार्थिव पूजन हूँ। प्रगतिवाद के झूठे आवरण में प्रेम को मत बदनाम कर क्या तूने कभी प्रेम नही किया? यदि प्रेम करने की शक्ति न रखता हो तो एक अपूर्व प्रेमी युगल की खिल्ली मत उड़ा! किसी के कुचले हुए अरमानों को दो बूंद आंसू बहाने की क्षमता नहीं है तो क्या मौन रहना भी तेरी शक्ति से बाहिर है? तेरा सारा साहित्य प्रेम की अमरता का प्रचार करता है! क्या तेरा अन्तर कुत्सित है कि तू दो थपेडे खा-खा कर तुम्हारी इन लहरों में लीन हो जायगा अरे! तुम तो रो रही हो? क्यों यमुने! क्या शाहंशाह के दर्द का अनुभव करके तुम्हारे नेत्र अश्रुपूर्ण हो गये हैं। बताओ न! मुझे भी नहीं बताओगी! अच्छा मत बताओ मैं भी नहीं पूछूगा! तुम्हें स्वयं ही बतलाना पडेगा एक न एक दिन।

यमुने! मुझ से एक प्रतिज्ञा करो! प्रिय, मैं अमर तो हूँ नहीं, मेरे अन्दर बसा हुआ प्रेम अवश्य अमर है। मेरी अन्तरात्मा अवश्य अमर है! परन्तु मेरा यह स्थूल शरीर अमर नहीं है। एक न एक दिन इसे टूटना होगा! टूटकर मिट्टी में मिलना होगा! परन्तु यमुने तुम इस स्थूल शरीर के साथ शाहजहां और मुमताज का प्रेम नष्ट न होने देना, उन्हें अपने में धारण कर लेना और युगयुगान्तर तक संसार को इनके प्रेम की अमरता का पावनता का सन्देश देती रहना। यदि तुझे मुझ से प्रेम है यदि तू मुझे चाहती है तो मेरी ही तरह कर्त्तव्य के लिये अपने प्रेम का होम करके भी इनके प्रेम की रक्षा करना . ...! हां यमुने, यही हम दोनों के जीवन की सबसे बड़ी सिद्धि होगी। हम दोनों कर्त्तव्यशील प्राणी हैं। कर्त्तव्य के लिये हमारा जन्म हुआ है। कर्त्तव्य को ही अपने पर बलिदान कर देंगे!

# शरत्-पूर्णिमा मे नौका-विहार

संकेत—शरत्-पूर्णिमा कब होती है। २. शरत्-पूर्णिमा की रात्रि में प्रकृति की छटा। ३. इस रात्रि मे नौका विहार।

भूमिका—शरत् पूर्णिमा का पावन पर्व आश्विन मास मे आता है। इस पूर्णिमा की रात्रि मे चन्द्रमा से अमृत की वर्षा होती है, ऐसा भारतवासियों का विश्वास है। शरत् पूर्णिमा से ही शरत् ऋतु का आरम्भ भी माना जाता है। इस समय तक वर्षा का अन्त हो जाता है। उमड़-घुमड कर बरसने वाले बादल हिमाच्छादित पर्वतों की गोद मे जा छिपते है। हरी-भरी वनस्पति, जडी-बूटियां इस काल तक परिपक्व हो जाती हैं। आयुर्वेद का कथन है कि शरत् पूर्णिमा की अमृत वर्षा से जड़ी बूटियां अपने वास्तविक गुण से परिपूर्ण हो जाती हैं। इस पावन पर्व की रात्रि में भारतीय परिवार खीर बनाकर अथवा दूध मे चौले भिगोकर चांदनी मे रख देते हैं तथा फिर इसका सेवन इसी भावना से करते हैं कि इसमे अमृत का असर आ गया है।

इस रात्रि में चन्द्रमा भी अपनी पूर्ण कलाओ से विकसित होता है और प्रकृति के कण-कण को अपनी मधुर चांदनी से प्रक्षालित कर देता है। पर्वतों के शिखर, तरु मालाएँ, सरिताओ के तट और जल की लहरें सभी इस मधुर चांदनी रात मे अपूर्व कान्ति धारण कर लेते हैं। प्रकृति की एकान्त विभूति का अवलोकन इस रात में बडा ही सुहावना, आकर्षक और भला प्रतीत होता हैं। सहृदय व्यक्ति इस रात की प्राकृतिक छटा का आनन्द लेने के लिए प्रकृति के खुले प्रांगण मे क्रीडा करते हैं या निद्रा के मधुर आंचल मे निमग्न होकर सो जाते हैं। भ्रमणशील व्यक्ति प्रकृति के खुले प्रांगण मे भ्रमण करते हैं और नौका बिहार के रसिक नौकाओं मे बैठकर सरिता स्निग्ध धीर विस्तृत वक्ष-स्थल पर विहार करते हैं। शरत् पूर्णिमा में नौका विहार का आनन्द वैसे तो लोग अपनी-अपनी सुविधा के अनुसार किसी न किसी निकटवर्ती सरिता में ले लेते हैं। पर कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो इस रात मे नौका-विहार का

आनन्द लेने के लिए गंगा, यमुना, नर्मदा, आदि बड़ी-बड़ी सरिताओं के तट पर पहुँचते हैं। जबलपुर मे नर्मदा नदी धुँआधार प्रपात से आगे चल कर जिन पर्वतो के मध्य से होकर बहती हैं, वे कई हजार फुट ऊँचे संगमर्मर के पर्वत है। ये पर्वत मालाएँ अपनी सुन्दरता के लिए विश्व में प्रसिद्ध है। केवल श्वेत संगमर्मर की ही नही अपितु नीले, गुलाबी, सलेटी आदि कई रंग के पत्थरो ने इनकी सुन्दरता में योग दिया है। फिर पाँच पाँच, छः-छः हजार फिट ऊँचे पर्वतो के तल में सर्प की सी टेढ़ी गति से मन्द मन्द चाल बहती हुई नर्मदा की श्वेत-धारा बड़ी ही सुन्दर जान पड़ती है। शरत् पूर्णिमा की चांदनी रात मे जब ये पर्वत-मालाएँ चांदनी से स्नात हो जाती है जब तो यहां का दृश्य बड़ा ही मनोहर बन जाता है। इसी मनोहरता का दर्शन कर आनन्द लेने के लिए दूर-दूर के यात्री यहाँ पहुँचते हैं। सौभाग्य से गत वर्ष हमने भी नर्मदा के निश्चल वक्षस्थल पर शरत् पूर्णिमा की रात्रि मे नौका-विहार किया।

विस्तार—नर्मदा के उस तट पर जहाँ से नौकाएँ छूटती हैं, हम संध्या के सात बजे पहुँच गये थे। पहले हमने झर-झर कर बहते हुए एक जल स्रोत के तट पर बैठ कर रात्रि का पाथेय ( जलपान ) किया। घर से बांधी हुई पाथेय की सामग्री को इस तट पर बैठ कर खाने में हमने जो आनन्द लिया वैसा आनन्द जीवन मे कम ही प्राप्त होता है। इस नौका-विहार के लिए हम सपरिवार गए थे। परिवार के व्यक्तियो मे दो भाई, एक बहिन और बडे भाई की पत्नी थे। पाथेय की यह सामग्री भाभी ने तैयार न करके भाई-बहिनो ने मिल कर तैयार की थी, इसलिए इसके आनन्द का श्रेय आज भाभी को न मिल रहा था। परन्तु भाभी के बनाए भोजन की आलोचना करने में उस समय जो रस आ रहा था वह भी कुछ कम न था। आठ बजे तक हम इस तट पर थे। हमारे वहाँ बैठे-बैठे काफी अन्धकार बढ़ चला था क्योकि चन्द्र देवता महाराज अभी पर्वत-मालाओं मे उलझ रहे थे, जब तक वे उनसे ऊँचे न उठ जाए तब तक प्रकाश का विस्तार वहाँ असम्भव था। हमने सोचा, नौका ले ली जाए, परन्तु जब हम दफ्तर मे पहुँचे तो हमें ज्ञात हुआ कि नौकाएँ दस बजे से पूर्व नहीं छुटेंगी। क्योकि दस बजे से पूर्व नर्मदा का वह मार्ग

चांदनी से आच्छादित नहीं होता जिसमे कि हमको नौका विहार करना था। कुछ क्षणो के लिए हम एक प्राचीन मन्दिर के चबूतरे पर जा बैठे। छोटे भाई के मन में कुछ गाने की लहर उठी और उसने गाना आरम्भ कर दिया। उसका गीत अभी समाप्त न हुआ ही था कि मन्दिर के पुजारी ने शिव की संध्या-कालीन स्तुति मे बड़े जोर से डमरू वादन किया, सारा मन्दिर डमरू की मधुर ध्वनि से गूँज उठा, हम भी मन्त्र-मुग्ध से मन्दिर के द्वार पर खडे हो गये तथा स्तुति की समाप्ति पर शिव की भभूति प्रसाद लेकर जब हमने घडी की ओर देखा तो पौने दस बज चुके थे। हम शीघ्रता से उस कार्यालय मे पहुँचे जहाँ कि हमने अपने लिए एक नौका सुरक्षित करा ली थी। जब तट से हमारी नौका चली तो हम परिवार के चार व्यक्ति उस पर आत्म-विभोर से होकर बैठ गये। नौका के दो मल्लाह बडी सावधानी से नौका खे रहे थे। रात्रि में हमे पत्थरो का रङ्ग-बिरंग रूप तो नही दीख रहा था, परन्तु पर्वतों की श्वेत-मालाएँ दोनों तटो पर दिग्गज प्रहरियो की भाँति खडी थीं। हमारे आगे बहुत दूर तक कोई नौका न थी, पीछे भी पहले बहुत दूर तक हमें कोई नौका न दीख पडी, परन्तु हमने अपने मल्लाहो को नौका सरिता की स्वाभा-विक गति के सहारे छोडने को कह दिया था। वे केवल चट्टानो की टक्कर से नौका की रक्षा कर रहे थे, नहीं तो हमारी नौका पानी के मन्द प्रवाह मे धीरे-धीरे चल रही थी। कुछ क्षणो के लिए हमने एक दूसरे से बातें करना बन्द कर दिया, हमे लगा कि जैसे समस्त प्रकृति एक स्तब्धता मे खोई हुई है। एक सन्नाटा, घोर सन्नाटा बस यही हमने अनुभव किया। हमारी इस अनुभूति में कितनी शान्ति, कितनी निर्मलता और कितनी मधुरता थी, यह अवर्णनीय है। हम तो केवल ऐसा अनुभव कर पाये जैसे कि हम सजीव प्राणी भी उन जड शिलाओं की तरह ही बिल्कुल निस्तब्ध, शान्त और मौन हों। परन्तु कुछ क्षणो पश्चात् ही हमारी यह तल्लीनता भंग हुई, एक पक्षी चीं-चीं करता हुआ हमने अपनी परछाईं पर उडते देखा। उसे देखते ही हमारा ध्यान कवियों द्वारा वर्णित चकवा-चकवी पक्षी पर पहुँचा, जिनके विषय में हमने पढ़ा था कि वे रात्रि मे एक दूसरे से बिछुड जाते हैं और फिर अपनी परछाईं को देख-देख कर क्रमशः उडते रहते हैं। कवियो की वाणी में अपनी परछाईं को

ही वे अपना साथी समझ कर उसकी स्मृति लिये चीखते रहते है।

जब हमने परस्पर बातें आरम्भ कर दीं तो फिर मल्लाहों ने भी अपना 'छीयो-हो-छीयो' राग शुरू कर दिया। प्रकृति के उस शान्त वातावरण में मल्लाहों की इस ध्वनि ने गूंज कर एक मधुर स्वर उत्पन्न कर दिया था। उनकी आवाज को सुन कर पीछे आने वाली नौकाओ ने भी अपना राग छेड दिया। मल्लाहों के गीत भी नौका-विहार के अवसर पर कितने भले लगते हैं, यह अनुभव भी हमने इस अवसर पर किया। बीच-बीच मे हम अपने मल्लाहो से कहते जाते थे कि वे हमे यहां के स्थानो का परिचय भी कराते चले। एक स्थान पर पहुँच कर उन्होने हमे बतलाया कि यह हजारो फुट ऊंची पर्वत की चोटी पर बना हुआ मन्दिर किसी प्राचीन राजा का है। दूसरे स्थान पर पहुँच कर उन्होने दो ऐसे पर्वत शिखरो की ओर संकेत किया, जिनमे परस्पर मिलने मे थोडा ही अन्तर था। उन्होने कहा कि इन शिखरों पर से सीता की खोज करते समय हनुमान जी ने छलांग लगाई थी। इसी प्रकार कई ऐतिहासिक परिचय उन्होने हमें दिए। धीरे-धीरे हमारी नौका उस स्थान पर पहुँच गई जहां से अब हमको लौटना था। यहाँ हमें नर्मदा का कुछ समतल तट दीख पडा जो मिट्टी अथवा रेत का न होकर पत्थरो का ही था। इस तट पर एक झोंपडी मे जलता हुआ दीपक देखकर हमने मल्लाहो से पूछा—यहाँ कौन रहता है? इस पर उन्होने हमें एक साधु का परिचय दिया जो वर्षों से सरिता के इस निर्जन तट पर तपस्यालीन हो रहा है। केवल वर्षा-काल में ही वह इस स्थान को छोडता है, वर्षा के व्यतीत होते ही फिर वहां कुटिया बना लेता है। हमारी इच्छा इस महात्मा के दर्शनो की हुई। परन्तु मल्लाहों ने हम से कहा कि इस समय वह ध्यान-मग्न बैठे होगे। हमने यह उचित न समझा कि हम महात्मा की एकान्त साधना में विघ्न उपस्थित करें। इस सारे तट पर जब हमने दृष्टि डाल कर देखा तो हमें ज्ञात हुआ कि हमसे पूर्व कोई नौका नही आई थी। सर्व-प्रथम पहुंचने का गर्व हमने उस समय अनुभव किया। फिर सरिता के वक्षस्थल मे प्रतिबिम्बित तारों, आकाश और चन्द्रमा की ओर भी हमारी दृष्टि गई। वैसे तो हम आरम्भ से ही जल के मध्य में ऊंची-ऊंची पर्वत मालाओं और चाँद-तारो के इस प्रतिबिम्ब को

देखते आ रहे थे। परन्तु जितनी तल्लीनता से हमने जल में प्रतिबिम्बित नभ की छवि को यहां बैठ कर देखा इतना नौका में चलते हुए भी नहीं देखा था। सारा आकाश ही जैसे सरिता के जल में झाक रहा हो, ऐसा हमको यहाँ पर अनुभव हुआ।

जब हमारी नौका जलधारा के विपरीत चलने लगी तो मल्लाहों को चप्पू द्वारा जल काटने की पूर्ण आवश्यकता थी, ऐसा किए बिना हमारी नौका आगे बढती ही न थी। लौटकर आते हुए हमे मार्ग मे और भी बहुत सी नौकाएं मिली जिनमें कई युरोपियन परिवार भी हमने बैठे देखे। इन नौकाओं मे कोई परिवार बिल्कुल चुपचाप, कोई स्तुति, भजन गान करता हुआ और कोई युवक दल प्रेम के संगीत की तान छेडता हुआ चला जा रहा था। कुछ परिवार वाद्ययंत्र बजाकर मनोरंजन कर रहे थे। जल-धारा की ओर बहती हुई उन सभी नौकाओं को छोड़ कर हमारी नौका इधर के तट पर भी सर्व-प्रथम आ पहुँची। अब रात्रि के बारह बज चुके थे, परन्तु नौका-विहार के इच्छुक अब भी तट पर प्रतीक्षा मे खडे थे।

उपसंहार:—शरत् पूर्णिमा का नौका विहार कितना उल्लासमय, सुखद और शान्तिमय होता है, इसकी स्मृति हमारे हृदय में आज भी अंकित है और मन चाहता है कि शरत्-पूर्णिमा का नौका-विहार किसी वर्ष भी न छोड़ा जाए।

# चिन्ता

चिन्ता ! तू बड़ी चंचल है, न जाने तुझे क्या सूझता है। अच्छे-अच्छे विद्वानों और शक्तिशाली योद्धाओ का गर्व तू चकनाचूर करके रख देती है। अर्थशास्त्र के विशेषज्ञ हो या विशाल देशो के राजनीतिज्ञ, सब को तू ने अधीन कर रखा है। उनको न तू हंसने देती है न हंसाने देती है ! उल्टा स्वयं उन पर हंसती रहती है। बेचारों का क्या बुरा हाल कर रखा है। हुलिया तक बदल दिया है उनका। चेहरे पर झुरियाँ आ गई हैं। जवानी में बुढ़ापे का दर्शन होने लगा है। मस्तक की रेखायें प्रतिदिन गहरी होती जाती है। नेत्रो की ज्योति क्षीण हो गई है। रात भर नींद नहीं आती। भोजन हराम कर दिया है। घर-गृहस्थ मे रंगरलियां मनाने वाले एक कोने में दुपक कर अब संन्यासी बने से लगते है। मुंह से एक शब्द भी नहीं निकलता है। इतना कठोर दण्ड उन निर्दोषो को केवल तुमने ही दिया, हां ! केवल तुमने ही।

चिन्ता ! तू निर्दय है, तुझे दूसरो को रुलाने में, सताने में, तड़पाने में इतना मजा क्यो आता है ? क्या तू संसार को हंसता नहीं देख सकती ? फलता-फूलता और फैलता नही देख सकती ? तुझे लोग डायन कहते हैं, पिशाचिनी और राक्षसी के नाम से संबोधित करते हैं। क्या तू यह सब सुनना पसन्द करती है ? यदि तुम्हे यह नहीं पसन्द, तो क्यों नही अपनी बुरी लत को छोड़ देती, क्यो नही अपने पापो से तोबा करती ? परन्तु तू विवश है, कदाचित् अपनी आदत से मजबूर है ना ? मेरी तरह, चिन्तित व्यक्ति की तरह। क्यों न हो ? तुम्हारी बहिन भी तो यही कुछ करती है। उसका काम भी तो जलाना है, जलाकर राख बनाना है। राख बनाकर धूल उड़ाना है। वह भी कमल के समान कोमल अंगो वाली, मृग के नयनो के समान विशाल काली-काली आँखो वाली, चन्द्रमुखी, यौवन के भार से नतांगी, गजगामिनी कामिनी रमणियों को अपने विकराल ज्वाल जाल में जला कर काल के गाल

मे पहुंचा देती है। उसका नाम भी तुम्हारे नाम से मिलता-जुलता है, क्यों न मिले, तुम दोनों के सिद्धान्त, विचारधारा और आचरण भी तो एक दूसरे से मिलते-जुलते है। लो बता दे उसका नाम ? तुम तो जानती हो, उसका नाम है – चिता, चिता,—चिता, समझा, चिता ! तुम्हारी बहिन का नाम चिता है।

चिन्ता ! तुमने गीता का पाठ किया मालूम होता है, समदर्शी योगियों का अनुकरण करने की तुम्हारी प्रकृति ही बना रही है या फिर तुमने साम्यवाद के स्कूल मे शिक्षा पाई है, जहाँ तुम्हे सिखलाया गया है कि तुम्हारे लिये ऊंच-नीच या छोटे-बडे का कोई भेद नही। अमीर हो या गरीब, छोटा हो या बडा, अच्छा हो या बुरा, रोगी हो या स्वस्थ, स्त्री हो या पुरुष, बूढ़ा हो या जवान, सबको तू एक दृष्टि से देखती है—काणी है शायद ! बुरा न मान काणे भी जग को एक दृष्टि से देखते हैं। उसमें बुराई ही क्या है ? संसार मे भेदभाव रखना तो बुरा ही है। यही कारण है कि तू सब पर अपना डंडा चलाती है। सबको अपना शिकार बना कर उन्हें बुरी तरह मारती है। तू पक्की निशानाबाज भी है। तेरा वार कभी खाली भी नही जाता। जिस पर तेरी क्रूर दृष्टि पडी, बस उसका दाना-पानी समाप्त हुआ, वह जीते जी ही मर गया। लाखो उपचार करो, हजारो डाक्टर बुलाओ, भगवान् से सैंकडो मिन्नते मांगो, परन्तु हाथ पांव जोड़ना, सिर फोड़ना यह सब तेरे राज्य मे नहीं चलते। तू किसी को खातिर मे ही नहीं लाती। सब उपचार धरे के धरे रह जाते है। वैद्यराज का ज्ञान बेकार ही जाता है। यह सब तेरा ही प्रचंडी प्रताप है चंडी। मेरा मतलब है चिन्ता।

चिन्ता, तू दिल्लगी भी खूब करती है। विशेष रूप से मेरे साथ। जब कभी मेरी पत्नी अपने मायके चली जाती है, फट तू मेरे कमरे मे आकर घूरने लगती है। मै कई बार रोकता भी हूँ, पर तू कब मानती है। अपने यौवन का उभार और सौंदर्य का सार दिखा कर मेरे मन को तू आकृष्ट कर ही लेती है। फिर क्या, ज्यूं ही मै अपने मित्रो से छुट्टी पाता हूँ, बस तेरे भुजपाश मे बंध जाता हूँ। सारी रात तेरे साथ रहता हूं। आधी-आधी रात तक तू मेरे पास हाँ, हाँ मेरे साथ ही सोने के कमरे मे, यहाँ तक कि सोने की

सेज पर अभिन्न हो सीने से लगी रहती है। मुझे अपने आलिंगन मे जकड कर भीच लेती हैं। कभी-कभी तो तू मुझे इतना जोर से आलिंगन करती है, कि मै चीख उठता हूँ, तड़फ उठता हूं। सचमुच तुम्हारा प्यार भी भयंकर है।

चिन्ता, तुम मूर्ख हो, तुम्हे इतना भी ज्ञान नही कि जब तुम्हे कोई भी नहीं चाहता, तुम सब को क्यों चाहती हो। तुम ढीठ हो, तुम्हे लोग फटकारते है, दुत्कारते हैं, तुम्हारा नाम तक लेना पसंद नहीं करते, तुम्हारी छाया तक से भी दूर रहते है। किंतु तुम हो कि उनके पीछे-पीछे मारी-मारी फिरती हो, उन्हे अपनाने के लिए सैंकड़ो प्रकार के रूप बनाती हो, स्वांग भरती हो, कभी सीधे सामने आ जाती हो, कभी छुप-छुप कर वार करती हो। कभी अपना मुख घूंघट मे छुपा कर उनका पीछा करती हो और कभी एकांत पाकर उनका बलात् हाथ ही पकड़ लेती हो। तुम कितना दुःसाहस करती हो। तुम चरित्र-हीन हो, व्यभिचारिणी हो। तुम्हारे घर वाले क्या कहते होंगे। तुम्हारी बदनामी सुनकर क्या तुम्हारे माता-पिता तुम्हे नही समझाते? अभाव और कामना की सतान कहला कर और रोग, विषाद, पीडा, दुःख, खेद, म्लानता, ग्लानि, लज्जा आदि असंख्य पुत्र-पुत्रियो के होते हुए भी तुम्हारी वासना नष्ट क्यों नही हुई। तू बहुवल्लभा है चिन्ता!

प्यारी चिन्ते! सब तुम्हे बुरा कहते हैं? तुम्हारी सूरत भी देखना पसंद नहीं करते किन्तु ससार मे सभी तो ऐसे नही हैं। कुछ गुणज्ञ भी होते है, और वे हंस बनकर नीर-क्षीर का विवेक करना भी जानते है। नीर का त्याग कर केवल क्षीर ही ग्रहण करते है। आखिर बुरे से बुरे व्यक्ति मे भी तो अच्छाई होती है, उसी प्रकार जैसे अच्छे से अच्छे व्यक्ति मे भी कुछ बुराई अवश्य पाई जाती है। प्रकृति त्रिगुणात्मक ही है ना। सत्वगुण की प्रधानता मे भी तमोगुण का अंश तो अवश्यमेव रहता है और तमोगुणी व्यक्ति मे भी सत्वगुण की आंशिक झलक अवश्य मिलती है। इसलिए चिन्ता! तुझ मे सैकड़ो बुराइयाँ सही, किन्तु तुझ में कुछ अच्छाइयाँ भी हैं। कांटों के साथ फूल भी खिले हुए हैं। तू ही बता, यदि तू न रहे, तो भला वैज्ञानिक लाभकारी आविष्कार कहां से बनायें। यह तुम्हारी ही सहायता का परिणाम है कि बड़े-

बड़े दर्शनकारों ने आत्म-परमात्मसम्बन्धी सत्य सिद्धांत और उपनिषत्कारों ने तत्वज्ञान का अमूल्य कोश संसार को प्रदान किया। कठिन से कठिन कार्य को सरल और सम्भव बनाने में केवल तुम से ही सहायता ली गई। असफलताओं से निराश मनुष्य को सफलता का आनन्द तुम्हारे संसर्ग से ही मिलता है। यदि विद्यार्थी तुम्हारी शरण में न आए तो परीक्षा उत्तीर्ण भी न करें। यदि दुकानदार, सेनापति, राजनीतिज्ञ आदि संसार के सभी कारोबारी लोग लाभ-हानि का ध्यान न रख कर निश्चिन्त हो जायें, तो चिन्ता! तू ही बता, उनकी क्या हालत हो? व्यापारियों को घाटा ही घाटा मिले। सेनापति बेचारे को युद्ध में पराजय का मुख देखना पड़े और राजनीतिज्ञ तो अपने देश की लुटिया ही डुबो दें।

इसलिये ऐ चिन्ता! मैं तेरा अभिनन्दन करता हूं। तेरे ही कारण संसार में कुछ दौड़-धूप और हलचल नजर आती है। तू न रहे, तो सारा संसार गतिहीन, पंगु, निश्चेष्ट होकर प्राणहीन और निर्जीव हो जाए। लोग हाथ पांव हिलाना बन्द कर दें। कोई भी उद्यम न करे, परिश्रम न करे। और चिंता! तुम जानती हो कि यदि संसार उद्योग आदि कुछ न करे, तो क्या हो। एक क्षण में ही प्रलय का भयानक दृश्य उपस्थित हो जाये। संसार में आग लग जाये। नगर नष्ट हो जाएं, मनुष्य का अस्तित्व तक न रहे। इसलिये, चिंता! तू विचित्र है। तुम्हारे एक हाथ में मधुर अमृत है और दूसरे हाथ में कटु हालाहल भी। तुम्हारे हंसी में हास का रस भी है और उपहास की कड़वी चोट भी। तुम्हारे करुण कटाक्ष में शीतल वरदान है तो तुम्हारी क्रूर दृष्टि में अभिशाप की ज्वालाएँ भी छिपी हैं। इसलिए मैं तुम्हें स्पृहणीय भी मानता हूं और अवांछनीय भी! तुम्हारा वास्तविक रूप सचमुच क्या है, कोई क्या कहे। ईश्वर के समान तू भी अनिर्वचनीय है चिन्ता!

———

# सन्तोष-धन

जिधर देखिये, उधर एक दौड सी लगी है। धनी हो या निर्धन, शिक्षित हो या अशिक्षित, छोटा हो या बडा, स्त्री हो या पुरुष सभी चिन्ता मे डूबे किसी की खोज मे व्यस्त नजर आते हैं। उनका लक्ष्य एक है, लक्ष्य तक पहुँचने के साधन अवश्य भिन्न-भिन्न हैं। वे सब चाहते हैं, सुखपूर्वक जीवन की प्राप्ति, आनन्द से आयु व्यतीत करना, 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्' अर्थात् जब तक जियें, सुख से जिये। इसी परम सुख और आनन्द को प्राप्त करने के लिए दिन रात सभी लोग कष्ट उठाते फिरते है। यह कितनी विचित्र बात है कि सुख लेना चाहते है परन्तु उसके लिये जान-बूझ कर दु:ख उठा रहे हैं। कोई धन संचय कर रहा है। विशाल ऊँचे महल बनवा रहा है। सोना चाँदी, हीरे, मोती, पन्ना का संग्रह कर रहा है। पहनने को बहुमूल्य वस्त्र हैं, रहने को आलीशान कोठी है, खाने को स्वादिष्ट पदार्थ हैं. चलने को मोटर गाड़ियाँ विद्यमान हैं, नौकर हैं, चाकर हैं, बडे बडे कल-कारखाने चला रहे हैं। व्यापार में लाखों रुपयो का लाभ ही लाभ है। परन्तु सेठजी हैं कि शरीर में रक्त का नाम नही। मुख पीला, माथे पर झुर्रियाँ, सदैव चिंतित, परेशान। आखिर माजरा क्या है ? इतना धनसंचय हो जाने पर भी उनको सुख क्यों नहीं मिला। पहाड खोदने पर भी चूहा और वह भी मरा हुआ प्राप्त हो। यह कैसी विडंबना है ?

दूसरी ओर देखिए—एक साधु है, नदी के किनारे, नगर से दूर, एक टूटी-फूटी झोंपडी मे रहता है। अकेला कोई साथी नही, सेवक नहीं। खाने को जब भूख लगती है, जंगल के वृक्षो के फल खा लेता है। सरिता का शीतल जल पी कर प्यास बुझा लेता है। घूमने के लिये वह पैदल मीलों चला जाता है। सूर्य के प्रकाश और चन्द्रमा की चाँदनी में नीले आकाश के नीचे वह अपना नित्य कर्म करता है। पूजा पाठ करने के पश्चात् मन की मौज में मस्त रहता है। कभी कभी तो सप्ताह बीत जाते हैं बिना आहार किये हुए।

संसार के इतिहास मे चिरस्मरणीय रहेगा। पांडव भीष्म की इस स्थिति से प्रभावित हुए। उनके सामने भी यह समस्या थी कि आखिर क्या कारण है कि बाणों की तीक्ष्ण नोकें भीष्म के जर्जरित शरीर में चुभ रही हैं। रक्त की बूँदें टपक रही हैं, किन्तु वृद्ध पितामह प्रसन्न चित्त धर्म और नीति का बहुमूल्य उपदेश दिये चले जा रहे है। और चित्र के जरा दूसरी ओर भी देखिये—

दुर्योधन - कौरवराज दुर्योधन, अपार सेना से सुरक्षित, अतुल वैभव से पूर्ण साम्राज्य का एकाधिनायक अपने शयनागार मे शयन कर रहा है। रत्नजटित शय्या पर अतिकोमल रेशमी वस्त्र बिछे हुए है। परिचारिकाएँ व्यजन कर रही है। स्वर्ण के पात्रो मे रखे पुष्पो की सौरभ से वातावरण महक रहा है, परन्तु दुर्योधन की आंखो में नीद नहीं। मन मे आराम नहीं। चिन्ताओं से आकुल और विषाद से व्यथितहृदय कौरव-नरेश करवटे बदल-बदल कर समय बिता रहा है। मृदुल रेशमी वस्त्र उसे तीक्ष्ण बाणो के समान चुभ रहे है और उधर वृद्ध पितामह को शर-शय्या भी पुष्पशय्या प्रतीत हो रही है। इसका प्रधान कारण है दोनो की मनोदशा। दुर्योधन के पास भौतिक सुख-सामग्री तो बहुत है परन्तु मानसिक तृप्ति या संतोष नही, और भीष्म के पास भौतिक रूप से तो दुःख का कारण विद्यमान है किन्तु आध्यात्मिक संतोष के कारण वह आनन्दमग्न हो रहे है। वस्तुतः सन्तोष का सम्बन्ध मन और आत्मा से है। सन्तोष एक ऐसी आनन्दमयी मानसिक और आध्यात्मिक संतुलित दशा का नाम है, जो शान्त सरोवर के अचल जल के समान निर्विकार रहती है। जिस पानी में चांद की चांदनी या बडे-बडे वृक्षों व पर्वतो की छाया पडने से भी कुछ अन्तर नहीं पडता। बडे से बडे आघात पर भी जिस मे हलचल या उथलपुथल नही पैदा होती। सुख हो या दुःख, लाभ हो या हानि, किसी भी अवस्था मे कैसी भी परिस्थिति क्यो न हो; हृदय की शान्त और निश्चल दशा को 'संतोष' कहते हैं।

मनुष्य के समस्त कष्टो और दु.खो का एक प्रमुख कारण है—तृष्णा अर्थात् कभी न तृप्त होने वाली प्यास। जब से मनुष्य इस पिशाचिनी के फंदे में फंसता है, उसको न दिन में आराम और न रात को सुख की निद्रा

प्राप्त होती है। वह निन्यानवे के फेर मे पड़ जाता है। आज उसके पास यदि दस रुपये आये है तो कल वह सौ के चक्कर मे है। परसो वह हजार तक पहुँचना चाहता है और तीसरे दिन उसके मन मे लखपति बनने की धुन सवार होती है। लखपति करोड़पति बनना चाहता है और करोड़पति अरबो के स्वप्न देखता है। निदान इस चक्कर में फँस कर मनुष्य कभी चिन्तारहित जीवन व्यतीत करने योग्य रह ही नही सकता। जिस प्रकार एक प्यासा मृग पानी की खोज मे मरुस्थल मे जा निकलता है और दूर चमकती हुई रेत उसे बहते हुए जल स्रोत जैसी आभासित होती है और वह दौड़ कर वहां पहुंचता है, किन्तु उसके तृषाकुल सूखे मुख मे शीतल जलधारा के स्थान पर जलती हुई गर्म रेत जा पड़ती है। वह व्याकुल हो कर फिर चारो ओर देखता है और उसे पुन. दूर पर पडी चमकती रेत सरोवर का झूठा आभास देती है और इसी प्रकार वह बेचारा मृग दौड़-दौड़ कर अन्त मे थक जाता है और प्यास के मारे अपने प्राण दे बैठता है। ठीक ऐसी ही दशा तृष्णा से पीडित मनुष्य की होती है। ससार के माया-चक्र मे फस कर वह अपनी आर्थिक प्यास को बुझाने का जितना अधिक प्रयत्न करता है, उसकी प्यास उतनी ही अधिक बढ़ जाती है। बिहारीलाल ने अन्योक्ति अलकार द्वारा कितनी ही सुन्दर चेतावनी दी है।

कबीरदास ने भी एक स्थान पर कहा है 'पानी मे मीन प्यासी' अर्थात् इस संसार मे यद्यपि चारो ओर धन का अपार पारावार लहरा रहा है किन्तु मनुष्य का मानस मीन उससे तृप्त नहीं होता। सागर रत्नो का निलय हुआ भी तो क्या, उससे किसी की प्यास तो नही बुझ सकती। इसी लिए जहाँ तृष्णा को सभी दुःखो की जननी कहा गया है, वहां सन्तोष को परमानन्द का वास्तविक साधन माना गया है।

मनुष्य का मन चंचल है, वह हर किसी से झूठी आशाये लगा बैठता है। जब उसकी आशा के अनुकूल परिणाम नहीं निकलता तो वह व्याकुल हो जाता है। तभी तो भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता मे सारांश रूप मे कहा है—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'

अर्थात् मनुष्य को केवल कर्म ही करना चाहिये, उसके फलो की कामना नही करनी चाहिए। इसका भी आशय यही है कि मनुष्य झूठी तृष्णा से दूर रहे। फल की इच्छा को सामने रख कर जो व्यक्ति काम करता है, वह उसके प्राप्त न होने पर अस्थिर हो उठता है। यही तो हल्कापन है। इसे ही अधीरता कहते हैं। धीर मनुष्य वही हैं जो सुख हो या दुःख कभी विचलित नहीं होते। ऐसे ही धीर मनुष्य संतोष धन के अधिकारी माने जाते हैं। भगवान् राम का दृष्टान्त लीजिये—आज उनको सूचना मिलती है कि कल उनका राज्याभिषेक होगा। सहसा इस हर्षदायक समाचार को सुन कर साधारण मनुष्य खुशी से उछल पडता। डरबी की लाटरी मिलने पर सुनते हैं, अनेक मनुष्यो की मृत्यु हो गई है। किन्तु राम के गम्भीर मुख पर विकार की सूक्ष्म रेखा तक भी दिखाई नहीं देती। वह इतने बडे खुशी के समाचार को सुन कर प्रसन्नता मे फूल नही जाते। वह धीर रहते हैं, शांत और संयत रहते है। यही कारण है कि जब उन को दूसरे दिन फिर अचानक यह आज्ञा मिलती है कि 'राज्यतिलक तुम्हारा नही, बल्कि भरत का होगा।' और इतना ही नही 'चौदह वर्षों के लिए तुम्हे वन मे रहना होगा' ऐसी कठोर अन्यायपूर्ण, आकस्मिक कुसूचना सुनकर भी वह विचलित नही होते। चिन्ता या विषाद की क्षीण रेखा भी उनके तेजस्वी ललाट पर दिखाई नही पड़ती। वह संयत और गम्भीर धीर रहते हैं। उनको इतना भयानक समाचार सहसा सुनकर भी निराशा क्यो न हुई। इसका उत्तर है कि उन्होंने राज्यतिलक की कभी आशा भी तो नहीं की थी। यदि राम राज्यतिलक की आशा मे सुख-स्वप्न रचते, तो उनको निराश भी होना पडता। किन्तु वह तो शुभ सूचना पर भी संतुष्ट रहे और कुसमाचार सुनने पर भी। इसी कारण उनको दुःख के त्रिशूल नहीं चुभे।

उक्त बातों के विश्लेषण से अन्त मे यही निश्चित होता है कि मनुष्य यदि सच्चा सुख प्राप्त करना चाहता है, तो वह उसे भौतिक सुखसामग्री में प्राप्त नहीं होगा। जिस प्रकार फोडे को खुजलाने से रोगी को बड़ा सुख मिलता है, किन्तु परिणाम में उसे हानि ही होती है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य भौतिक सुख से सुख नहीं, वास्तव में दुःख ही प्राप्त करता है। सच्चे सुख का

सम्बन्ध मन और आत्मा से है। शरीर के दुखी होने पर भी यदि किसी का मन सुखी है, तो वह सुखी कहा जायेगा। इसी प्रकार शरीर के सुखी होने पर भी यदि किसी का मन दुःखी है, तो वह निःसन्देह दुखी माना जायेगा। इसलिये मनुष्य को सच्चा सुख मानसिक शान्ति या आध्यात्मिक तृप्ति अथवा सन्तोष से ही प्राप्त हो सकता है। यह एक ऐसा धन है जिस के सामने संसार के सभी धन बेकार हो जाते हैं। तभी एक विद्वान् कवि ने भी कहा है—

गजधन गोधन वाजिधन और रतन धन खान।
जब आवे सन्तोष धन सब धन धूरि समान॥

---

# मन के हारे हार है, मन के जीते जीत

संकेत— १. मन की परिभाषा। २. उसकी शक्ति। ३. मन कब और क्यों हारता है। ४. मन के हारने से हार क्यों होती है। ५. मन कैसे जीतता है। ६. मन के जीतने पर जीत क्यों होती है।

भूमिका—मनुष्य मे सोचने विचारने और अनुभव करने की जो शक्ति है उसी का नाम मन है। मानव शरीर मे मन कोई अङ्ग विशेष नहीं न ही वह किसी प्रकार का मांस का लोथड़ा है, बल्कि मनुष्य को प्रकृति ने एक ऐसी शक्ति प्रदान की है कि जो उसे नाना व्यापारो मे लगाये रखती है, सुख, दुख का अनुभव कराती है। उसे हंसाती-रुलाती रहती है, तथा अनेक कर्मों की प्रेरणा देती रहती है। इस शक्ति से प्रेरित होकर ही मनुष्य कभी-कभी भयंकर परिस्थितियों का सामना करता है। इसी की प्रेरणा से वह ऊंचा उठता है, इसी के साहस पर वह विजयी होता है। कोई मनुष्य साधारण सी बात से विचलित हो जाता है और कोई बड़े-बड़े संकटो मे जूझता है। किसी को कांटे का चुभना ही रुला देता है और कोई वक्षस्थल पर तीखा बाण सहकर भी आगे बढ़ता है। किसी को बिल्ली का म्याऊं शब्द ही भयभीत कर देता है और कोई शेर की दहाड़ सुनकर भी नहीं घबराता। इसी प्रकार के दुःसाहस-पूर्ण कार्य और कायरता-पूर्ण कार्य कराने वाली

मनुष्य में जो शक्ति है उसे ही 'मन' की संज्ञा दी गई है।

मानव मन में जब तक निर्भीकता है साहस और ओज है तब तक वह साहसी, पराक्रमी और विजयी है, तथा जब उसका साहस कम होने लगता है या वह भयभीत हो जाता है तब उसके मन की शक्ति दुर्बल हो जाती है। जब तक मन की शक्ति प्रबल बनी रहती है तब तक मनुष्य नहीं हारता पर मन की शक्ति के निर्बल होते ही मनुष्य एक पग भी नहीं रख पाता। बहुत शीघ्र ही पतन हो जाता है। इसीलिए लोक व्यवहार मे यह उक्ति प्रसिद्ध हुई है कि 'मन के हारे हार है मन के जीते जीत'।

विस्तार—कुछ लोग यह समझते हैं कि जो मनुष्य शारीरिक दृष्टि से जितना हृष्ट-पुष्ट हो जाता है उतना ही उसका मन भी। पर बात कुछ इसके विपरीत ही है। बडे-बड़े स्थूल-काय मनुष्य बादल की गडगडाहट मे ही डरते देखे जाते हैं या किसी भयंकर घटना का नाम सुनकर ही काँप उठते है। इसके विपरीत छोटे कद, क्षीणकाय मनुष्य को बडा साहसी और निर्भीक देखा गया है।

मन की शक्ति वैसे तो प्रकृति की देन है पर फिर भी उसका निर्माण बहुत कुछ माता-पिता पर निर्भर है। वीर अभिमन्यु का उदाहरण इस बात का प्रमाण है कि शिशु का निर्माण शारीरिक दृष्टि से ही नहीं अपितु मानसिक दृष्टि से भी गर्भावस्था में ही हो जाता है। साहसी और वीर माता-पिता की सन्तान भी प्रायः साहसी और वीर ही देखी गई है। इसके अतिरिक्त मन की शक्ति का विकास बाह्य वातावरण पर भी निर्भर होता है। शैशवावस्था के शिशु को वीरों के चरित्र, साहस की कहानियाँ और निर्भीकतापूर्ण घटनाएं सुनाई जाती हैं तो उसका मन भी सशक्त बनता जाता है। इसी लिए प्रायः कहा भी जाता है कि बच्चों को हव्वे से डराने की आदत नहीं डालनी चाहिए। जिस बच्चे को आरम्भ से ही साहस की बातें सिखाई जाती हैं वह बड़ा होकर साहसी ही बनता है।

परन्तु परिस्थितियों के कारण भी कुछ व्यक्ति साहस खो बैठते हैं, इतिहास में इसके बहुत से प्रमाण हैं कि परिस्थियों की भयंकरता में बड़े-बड़े

साहसिकों का साहस भी टूट जाता है। लक्ष्मण को धराशायी देखकर स्वयं राम घबरा गये थे। पत्नी और बच्चों के साथ जंगल में भटकते हुए उस समय साहस हारने लगे थे जब कि उनकी लडकी के हाथ से बिल्ली घास की बनी रोटी को छीन ले गई। परन्तु फिर भी ये महा पुरुष कहलाए, यह केवल इसलिये कि उन्होंने मन को कभी हारने नहीं दिया। यदि वे मन को हार बैठते तो उनकी विजय कभी सम्भव नही थी।

सिकन्दर महान् के विश्व विजय की इच्छा रखने वाले सैनिक जब भारत में पहुँच कर साहस खो बैठे तो सिकन्दर को भारत से ही वापस जाना पडा। यह उनके मन के हार बैठने के कारण ही हुआ। यदि वे मन को न हार बैठते तो सिकन्दर कभी भी न हारता। दानवीर कर्ण इतना साहसी और प्रतापी था कि वह युद्ध भूमि में कभी भी अर्जुन से पराजित नहीं हो सकता था, पर नीति निपुण कृष्ण ने शल्य को उसका सारथि बना कर उसका साहस क्षीण करा दिया। युद्ध-भूमि में कर्ण जब भी अपने साथी को अपनी वीरता और साहस की बात कहता था, तभी उसका सारथी उसका साहस तोड देता था। पर दूसरी ओर श्री कृष्ण अर्जुन का साहस बढाते हुए उसे समस्त कौरवों पर विजयी भी बनाते थे। मोह वश जब अर्जुन ने शस्त्र डाल दिए थे उस समय कृष्ण के साहस भरे उपदेश ने ही अर्जुन को कर्त्तव्य सुझाया था।

मन के हारने का कारण कभी विषम परिस्थतियाँ, कभी साथियों का साहसी न होना, कभी मोह—चाहे वह प्राणों या सम्बन्धियों में से किसी के प्रति भी क्यों न हो, कभी प्रलोभन और कभी-कभी आत्म-सम्मान भी होता है। मन के हारने का मूल कारण तो भय ही है। यह भय आपत्तियों की शंका से ही होता है। मनुष्य स्वभावत. शान्ति-प्रिय और सुख का इच्छुक होता है। जिसका कारण उसकी मनः शक्ति हो होती है। मनुष्य जब बहुत साल तक कष्ट ही झेलता जाता है तो उसका मन कुछ हारने लगता है। निरन्तर प्रयत्न करने पर भी जब मनुष्य को सफलता का चिन्ह नहीं दिखाई देता तो वह लक्ष्य के प्रति साहस छोडने लगता है।

जो मनुष्य कम साहसी होते हैं वे तो किसी कार्य को आपत्ति के भय

के कारण करते ही नहीं, मध्यम शक्ति वाले मनुष्य भय जानते हुए भी किसी कार्य को आरम्भ कर कठिनाइयो के आने पर छोड बैठते है, परन्तु जो दृढ़ शक्ति वाले मन वाले हैं वे किसी कार्य को आरम्भ करके छोडते नही। या तो वे लक्ष्य की पूर्त्ति करते है या अपने प्राणों की बलि दे देते है। इस प्रकार के साहसी मनुष्य का बलिदान अन्य लोगो को साहसी बनाने का अवसर प्रदान करता है। दुनिया में जितने भी बडे बडे साहस के कार्य हुए है, वे इसी प्रकार के लोगो द्वारा पूर्ण हुए है, जिनमे प्रबल मानसिक शक्ति थी।

शरीर कष्टों को तब तक सहन करता है जब तक कि मन की शक्ति स्थिर रहती है, परन्तु मन के हारते ही शरीर भी हार जाता है। शारीरिक रोगों की तरह मानसिक रोग भी बहुत से लोगों को रहते है, जिनका प्रभाव शरीर पर पडा गहरा पडता है। मानसिक रोग का कारण चिन्ता को कहा जा सकता है। जब मन में कोई चिन्ता व्याप्त हो जाती है तो मन रोगी हो जाता है। मन के रोगी होने पर मनुष्य का कुछ भी कार्य सुचारू रूप से नही चलता।

जब तक मन आशावान् है, तब तक वह साहसी भी रहता है। मन के निराश होते ही साहस भी नही रहता। ऐसी दशा मे मनुष्य कोई कार्य करता भी है तो उसका कोई अच्छा परिणाम नहीं निकलता। इसलिए मनुष्य को जीवन मे विजयी होने के लिए आशा और साहस की बहुत आवश्यकता है। जो मनुष्य मन पर विजय पाने का प्रयत्न करता है, वास्तव में वही विजयी होता है। क्योकि मन स्वभावतः ही इतना चंचल और गतिमय है कि वह बडी कठिनाई से स्थिर हो पाता है। जब तक मनुष्य मे उसको एकाग्र करने की शक्ति नहीं आती, तब तक वह किसी कार्य में भी सफल नहीं हो सकता।

उपसहार—मन को जीतने के लिए मनुष्य मे संयम शक्ति आवश्यक है। जो मनुष्य मन की इच्छाओ को जितना संयत कर लेता है, वह उतना ही स्थिर-चित्त और सफल होता है। वैसे यह संयम की वृत्ति भी स्वयं मन का ही व्यापार है, पर इस को वृत्ति की मन ऐसी वृत्ति समझना चाहिए, जिसके आधीन वह स्वयं हो जाता है। संयम वृत्ति का विकास होने पर मन की चंचलता जाती

रहती है। मनुष्य अपने मन को चाहे तो बिलकुल स्वतन्त्र छोड़ सकता है और प्रयत्न करने पर उसे जीत भी सकता है। मन के सम्मुख हारने में मनुष्य की पराजय है और मन को जीतने में उसकी विजय है। योगी लोग मन को जीत कर ही इतने ऊँचे उठ पाते हैं कि संसार का सुख और दु.ख वह नही जान पाते, वे विलिप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार मन को एकाग्र करके हम किसी वस्तु पर चिंतन कर पाते है। निस्संदेह मन कुछ क्षणों के लिए ही एकाग्र हो पाता है, यहाँ तक कि जब हम बडी तल्लीनता से कोई कार्य कर रहे हो या किसी वस्तु को देख रहे हो, उस समय भी हमारा मन कहाँ का कहीं दौड़ जाता है। एक क्षण मे वह समस्त आकाश-पाताल की सैर कर आता है। इसलिए मन की शक्ति को जीतना कोई सरल कार्य नही। परन्तु फिर भी मन सर्वथा ऐसी शक्ति नही है कि जिसे जीता ही न जा सकता हो।

जीवन की सफलता-असफलता जब मनः-शक्ति पर निर्भर है, तब मन को ढील देना एक भूल कहा जा सकता है। वास्तव मे प्रकृति ने मनुष्य को मनन की यह शक्ति सफलता की एक कुञ्जी के रूप में प्रदान की है, जिसका सदुपयोग मनुष्य पर ही निर्भर है। इस शक्ति का दुरुपयोग करने वाला मनुष्य भी सफल और सुखी नही बन पाता। इसलिए चतुर मनुष्य सदैव मन को जीतने मे प्रयत्नशील रहते है, केवल अपना ही मन नहीं, किन्तु दूसरों तक के मन को ऐसे मनुष्य जीत लेते है। महापुरुषों की गणना ऐसे ही व्यक्तियों में की जाती है कि जो केवल अपने ही मन को नहीं अपितु दूसरो के मन को भी जीत लेते हैं। इसीलिए महापुरुषों की प्रेरणा से राष्ट्रों का निर्माण और जाति का उत्थान होता हुआ देखा गया है। गाँधीजी ने अपने मन को जीत कर सारे भारत ही नही, अपितु ससार के सामने एक श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत किया है। हम अपने जीवन मे भी प्रायः प्रतिदिन देखते हैं कि मन के पीछे दौड कर हम उतना सुख अनुभव नहीं करते, जितना कि मन को वश में करके करते है। इसलिए मनुष्य को जीवन संघर्ष मे यह उक्ति कभी नही भूलनी चाहिए कि 'मन के हारे हार है और मन के जीते जीत।'

# मेरे सपनों का भारत

संकेत:—१ मैं और भारत से मेरा सम्बन्ध। २. मैंने भारत के लिये क्या किया ? ३. भारत इस समय क्या है ? ४. मै भारत को कैसा देखना चाहता हूं ? ५. मेरे स्वप्न कैसे पूर्ण हो सकते हैं ?

१ भूमिका:—मैं भारत का निवासी हूं। मेरे पूर्वज भारतीय थे, मेरा सम्बन्ध भारत के मूल निवासी सभ्य आर्यों से है। उन आर्यों से जिन्होंने समस्त विश्व को सर्वप्रथम ज्ञान का प्रकाश दिखलाया था। जिन्होंने सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र में महान् उन्नति की थी। उन्ही आर्य्यों की वंश-परम्परा मे मैंने भी जन्म पाया है। भारत भूमि से मेरा चिरस्थायी सम्बन्ध है। मेरी यह भूमि शस्य-श्यामला है और मै इसे सदैव उर्वरा देखना चाहता हूं। केवल धन धान्य की दृष्टि से ही नही अपितु सभ्यता और संस्कृति, कला और साहित्य, विज्ञान और अध्यात्म, मानवता और बान्धुता सभी दृष्टियों से मैं भारत को फलता-फूलता देखना चाहता हूँ। मैंने कथाएं सुनी हैं कि भारत मे दूध-घी की नदियाँ बहती थीं, अतिथि का पूर्ण सत्कार होता था, कर्त्तव्य के लिये लोग मर मिटते थे, सत्य का पालन, धर्म की रक्षा, जाति और देश की उन्नति सबका एक मात्र लक्ष्य होता था।

पर मेरे भारत का वह प्राचीन गौरव खो गया, अतीत की वस्तु बन गया। विदेशियो ने मेरे देश को पादाक्रान्त कर उसके सुख-शांतिमय जीवन को दुखो का आगार बना दिया। मेरे देशवासियों का आर्थिक शोषण ही नही हुआ, अपितु जीवन का सारा उल्लास ही छिन गया। किसी के मन मे उल्लास नहीं, जीवन में आशा नही, सब निराश हैं, पीडित हैं, हड्डियों के कंकाल हैं, । सब की वाणी मूक है। अधिकारों की मॉग भी नही कर सकते। इस लिए मेरे हृदय ने चोट खाई, मैं जागा, चेतना आई और क्रांति के लिए कटिबद्ध हो गया। मैंने देश के समस्त निवासियो को ललकारा और एक मंच पर खड़े होकर पुकारने के लिए कहा—आओ भारत हमारा है, हम

भारतवासी है, विदेशियो का यहां कोई काम नहीं। जो बाहर से आये है, वे बाहर जाएँ। इस प्रकार देश के कोने-कोने को मैंने जगा दिया। भारत का बच्चा बच्चा जाग उठा। अपने अधिकारो की मांग करने लगा। शत्रु विवश हुआ और भारत छोड़ करभा गा। मैंने स्वतन्त्रता का जो स्वप्न लिया था वह पूरा हुआ। मेरे रोम-रोम मे स्फूर्ति का संचार हुआ मै सोचने लगा, मेरे सपनो का भारत अब बन जायगा। परन्तु मुझे निराशा हुई क्योंकि भारत स्वतंत्र होकर भी वह नहीं बन पाया जो कि मेरे स्वप्नो का भारत था।

विस्तार—आज का भारत जिस धरातल पर खड़ा हुआ है न तो उसका मेल उसकी परम्पराओ से ठीक बैठता है और न किसी विदेशी सभ्यता और संस्कृति के अन्तर्गत उसे रखा जा सकता है। आज का भारत बहुरूपिया है। यहाँ पर अफगानी, किरस्तानी, अरबी, पारसी, यहूदी, चीनी, जापानी, रूसी और अमरीकी आदि सभी विचारधाराओ की खिचड़ी पक रही है, जिसकी खदखदाहट में पीडित भारतीयता का स्वर सुन पड़ता है। इस स्वर मे ही मेरे स्वप्नों की पुकार भी रो रही है। स्वतंत्रता पाकर भी यदि कोई मनुष्य उसका उपभोग नहीं कर पाता तो उसका दोषी वह स्वयं है। इसलिए यदि मैं भारतवासी अपनी आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक और धार्मिक व्यवस्थाओं को सन्तुलित नहीं कर पाता, उन्हें कोई स्थायी रूप नहीं दे पाता तो इसका अपराधी मैं स्वयं हूँ।

पर मैं क्या करूं? मेरी कोई सुनवाई नहीं। स्वतंत्र होकर सब उच्छृंखल हो गये हैं। वर्षा ऋतु मे जैसे क्यारियां फूट-फूट कर बह चलती हैं, ऐसी ही दशा भारत की हो रही है। बरसाती नालियो की तरह अनेक विचार-धाराएँ भारत की भूमि पर बिखर-बिखर कर बह रही हैं। आज का हर भारतवासी पीडित है, उद्विग्न है। सुख चाहता है पर मिलता दुख है। जिसका कारण है कर्महीनता, लोग कर्म न करके बातें अधिक करते है। सब स्वार्थी हैं, अपना-अपना सुख चाहते हैं। भौतिक सुखों की लालसा सबके मन में तीव्र रूप धारण किये हुए है। सरल जीवन और ऊंचे सिद्धान्त के विचार को आज के भारतवासी भूले हुए हैं। जीवन मे अधिक से अधिक सुखों का भोग आज के भारतवासी की दिनचर्या है। त्याग वह थोड़ा सा

भी करने को प्रस्तुत नहीं। सत्य, न्याय, सहनशीलता और करुणा के मानवीय गुणों की अवहेलना करता हुआ आज का भारत जिधर जाना चाहता है, वहाँ उसका नितान्त पतन है।

मेरे देश ने भौतिक उन्नति की है। पहले की अपेक्षा भारत की भूमि पर आज अधिक उल्लास है। अंधेरी रात मे भी मार्ग जगमगाते हैं। गगन-चुम्बी अट्टालिकाएँ पाताल की ओर भी दिशा निर्माण करने लगी हैं। भूतल-वासी, जल-गामी, आकाश-गामी और अग्नियान-गामी बन गया है। बडे-बडे नदों की शक्ति को बांधो मे जकड कर आज का भारत भौतिक सुखो के अपूर्व स्वप्न ले रहा है। सोचता है पश्चिमी देशो की तरह वह भी जीवन का वह रस ले सकेगा, जिसके अभाव के कारण उसे जीवन नीरस प्रतीत होता है। परन्तु मेरे स्वप्नो के भारत की विशेषता जीवन के इस वृत्त मे निहित नहीं। मैं तो अपने भारत को एक ऐसा जगमगाता हुआ रत्न देखना चाहता हूँ, जो सूर्य की भाँति प्रकाशमय, तापमय और मंगलमय हो। भारत की महत्ता मेरी दृष्टि से भौतिक सुखों के त्याग मे जितनी निहित है, उतनी उपभोग मे नहीं। विदेशियो की दृष्टि मे मेरा भारत इसलिए कहीं अधिक महान् है, कि यहाँ का चाणक्य जैसा राजनीतिज्ञ एक साधारण सी कुटिया में निवास कर सकता है। राम जैसा शक्ति-सम्पन्न शासक न्याय के लिए अपनी अर्धाङ्गिनी को दण्ड दे सकता है। तथा सावित्री और सीता जैसी सती नारियाँ यहाँ हुई हैं और मिल सकती हैं। इतना ही नहीं, समस्त देश को जागृत करने वाला गाँधी जैसा नेता खद्दर का अंगोछा लपेट कर रह सकता है।

पर ऐसा स्वप्न लेकर क्या मै अपने भारत को जीवन के मङ्गलमय सुखों से सर्वथा वंचित कर देना चाहता हूँ? नहीं! ऐसा कदापि नही। हमारी संस्कृति, सभ्यता, कला, साहित्य, धर्म और इतिहास सभी इसके साक्षी है कि हमने भौतिक सुखो की अनिवार्यता को स्वीकार किया है। किसी काल में चाहे हम कितने ही उन्नत और कितने ही गिरे हुए क्यो न रहे हो, पर जीवन की अनिवार्यता से हम कभी विमुख नही रहे। हमारे दर्शन संसार की हर वस्तु का सत्य रूप दिखाने में समर्थ हुए हैं। किस वस्तु का जीवन मे क्या स्थान है, यह हमे धर्म ने पूर्णतः सिखाया है। पर हमारे तत्व-चिंतन की

प्रणाली यह सिद्ध करने में सफल हुई है कि जीवन की वास्तविक शान्ति इच्छाओं की व्याप्ति में न होकर उनके परित्याग और दमन मे निहित है। इच्छाओं को हम जितना चाहे विस्तार दे सकते हैं, पर उनकी पूर्ति एक जटिल समस्या है। इसलिए हम इच्छाएँ उतनी ही करे जितनी की पूर्ति सम्भव हो सकती है। शरीर के लिए सुख अपेक्षित है, पर मानसिक शान्ति के बिना शारीरिक सुख व्यर्थ सिद्ध होते हैं। मन की अशान्ति आध्यात्मिक चितन के बिना सम्भव नही। कोरा विज्ञान हमे संघर्षशील और हिंसक बना देता है। विज्ञान के साथ-साथ ज्ञान की उन्नति भी अपेक्षित है और यह ज्ञान भी हृदय से शून्य नहीं होना चाहिए।

आज के भारत को जब मै तटस्थ होकर देखता हूँ, तो मै इस निर्णय पर पहुँचता हूँ कि वह आध्यात्मिकता की अपेक्षा भौतिकता की ओर दौड़ रहा है। पश्चिम की भाँति उसने भी हृदयवाद को छोड़ कर बुद्धिवाद को अपना लिया है। इसलिए स्वतंत्रता पाकर भी प्रत्येक भारतवासी चिन्तित और निराश दीख पड़ता है। यदि मेरा भारत विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय करने मे सफल हो जाय ता वह समस्त विश्व को मार्ग दिखा सकता है, तथा इस समय वह, वह भारत होगा, जो कि मेरे स्वप्नो का भारत है। मेरे स्वप्नो में एक ऐसे भारत की कल्पना निहित है। जिसमे हृदय और बुद्धि का सामंजस्य है, भौतिकता और आध्यात्मिकता का संमिश्रण है। सरलता, पवित्रता और महानता की त्रिवेणी मै प्रत्येक भारतवासी के जीवन मे बहती देखना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि यहाँ का प्रत्येक निवासी सुखी, सन्तुष्ट, सहृदय और साहसिक हो। भारत की भूमि पावनता का प्रतीक तभी बन सकेगी, जब कि यहाँ के रहने वालो का जीवन शुद्ध और विचार निर्मल होगे।

उपसंहार—अपने सपनो के भारत को मैं कैसे देख सकूँगा, यह भी एक गूढ़ प्रश्न है। सर्वप्रथम कार्य स्वतंत्रता की प्राप्ति था, वह होचुका है। अब जिस तत्व की कमी रह गई है, वह नैतिकता में निहित है। जिस व्यक्ति अथवा जाति का आर्थिक शोषण होता है, प्रायः उसका नैतिक पतन भी हो जाता है। यही कारण है कि आज के भारतवासियो मे नैतिकता का अभाव है। बहुत कम व्यक्ति ही ऐसे मिलेंगे, जिनका हम विश्वास कर सकते हैं। बड़े-बड़े

उत्तरदायित्व के कार्य जिन लोगों को सम्भालने हैं, उनमें यदि नैतिकता का अभाव है तो वे कदापि उन्नति नहीं कर सकते। नैतिकता, शुद्धाचरण के बिना कभी नहीं आ सकती, और शिक्षा के बिना आचरण की शुद्धता असम्भव है। इसलिए मेरे स्वप्नो के भारत की पूर्ति के लिए उत्तम शिक्षा की अपेक्षा है। जब तक भारत का प्रत्येक व्यक्ति वास्तविक रूप मे शिक्षित नहीं बन जाता, तब तक वह आचरण और नैतिकता के महत्त्व का नहीं समझ सकता। इसलिए यदि मेरे भारत मे सच्ची शिक्षा का व्यापक प्रचार हो जाए तो मैं सम्भवतः अपने स्वप्नो के भारत के दर्शन कर सकता हूँ।

# गाँधीवाद, समाजवाद और साम्यवाद

रूपरेखा—(१) आज का युग वादों का युग है।

(२) वाद का अर्थ है विचारधारा, जिसका किसी युग और देश से संबंध पाया जाता है।

(३) गांधीवाद—परिभाषा, गांधीवाद का मूलाधार, गांधीवाद की विशेषताएँ, विश्व की राजनीति पर गांधीवाद का प्रभाव।

(४) समाजवाद—परिभाषा, समाजवाद का मूलाधार, समाजवाद की विशेषताएँ।

(५) साम्यवाद—परिभाषा, साम्यवाद का मूलाधार, विशेषताएँ।

(६) गाँधीवाद और साम्यवाद मे अन्तर।

(७) साम्यवाद और समाजवाद में अन्तर।

संसार के प्रत्येक कार्य के पीछे काम करने वाली जो सबसे सबल भावना होती है, उसे विचारधारा अथवा वाद के नाम से पुकारा जाता है। इसे ही किसी राष्ट्र की रीढ़ की हड्डी के नाम से पुकारा जाता है। पहले कोई राष्ट्र अपनी कोई निश्चित विचारधारा बना लेता है, और फिर उसपर वह राष्ट्र चलता है। राजनीतियों मे उथलपुथल, सामाजिक क्रांति, और आर्थिक संघर्ष के पीछे यही विचारधारा कार्य करती दिखाई देती है। विचार ही प्रेरणा, विचार ही शक्ति, विचार ही कार्य तथा उससे मिलने वाला परिणाम है।

आज विश्व मे इन्हीं विचारो का ही साम्राज्य पाया जाता है, जिन्हे साम्राज्य-वाद, एकतन्त्रवाद, जनतन्त्रवाद, साम्यवाद, समाजवाद, गांधीवाद आदि के नाम से पुकारा जाता है। वैसे तो प्रत्येक विचारधारा ही अपन युग की भावनाओं को लेकर चलती है, पर आज जैसा तनाव इन भावनाओं मे दिखाई देता है, उतना पिछले किसी युग मे नही पाया जाता था। आज विश्व में प्रमुख रूप से दो वादों का महत्व पाया जाता है, एक अमेरिका द्वारा तथा-कथित लोकतन्त्रवाद और दूसरा रूस का साम्यवाद, पर इन से बढ़कर तीसरी विचारधारा का प्रभुत्व बढ़ता जा रहा है, जिसे गांधीवाद के नाम से पुकारा जाता है। प्रस्तुत प्रस्ताव में हम गांधीवाद और साम्यवाद पर ही अपने विचार प्रकट करते हैं।

## १. गाँधीवाद

यह गाँधीजी की विचारधारा है। गाँधी जी राजनीति के धुरन्धर विद्वान् होते हुए भी संत थे और थे भारत की अमर विभूति। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि भारत की उन्नति या उसका उज्ज्वल भविष्य उसके भौतिक विकास मे नही पाया जाता, अपितु यह तो उसके आत्मिक विकास पर ही आधारित है। वह नीति का आधार कूट नीति को नहीं, अपितु धर्मनीति को मानते थे। यही कारण है कि उन्होने जो कुछ भी कहा, वह भी धर्म को आधार बनाकर और जो कुछ भी किया वह भी उससे प्रेरित होकर। यह नीति पूर्णतया आध्यात्मिक नीति है, और इसका आधार है हमारी प्राचीन ऋषियों की आत्मिक भावनाएं, वे भावनाएँ जो आज भी सत्य हैं, व्यवहार्य हैं।

गाँधीवाद के मूलाधार—इस विचारधारा के मुख्य अधार हैं न्याय सहयोग, सत्य, सेवा, तप और त्याग। ये और कुछ नहीं, हमारे ऋषियों द्वारा, प्रतिपादित सप्त महाव्रत हैं। कुछ लोग इन तत्वों को केवल कल्पना की वस्तु कहकर झुठला सकते हैं, पर ऐसा है नहीं। इन सिद्धान्तो के मुकाबिले में आज का कोई भी शास्त्र नहीं टिक सकता। प्रश्न पैदा होता है, ऐसा क्यो ? इसीलिए कि ये सिद्धांत शाश्वत हैं। आज का विश्व जिन पर विचार कर रहा है, हमारे ऋषियो ने उनपर पहले ही विचार कर लिया था। यदि उन

प्राचीन सिद्धांतो पर यदि कोई आधुनिक वाद खरा उतरता है, तो वह है गांधीवाद। आज संसार में सबसे बड़ा प्रश्न है—"गरीब और अमीर का प्रश्न।" गांधीवाद गरीबों के आर्थिक विकास मे मशीनो की अपेक्षा गृह-उद्योगों को महत्व देता है। मशीनो से तो शोषण को बल प्राप्त होता है। दूसरी ओर जहां तक किये गये कामो का प्रश्न है, वह हमारे हार्दिक सहयोग की भावना को व्यक्त करता है। चर्खा और खादी इस भावना के प्रतीक हैं। गांधीवाद केवल गरीबो का ही हित-चिन्तक नही है, अपितु वह पूंजीपतियों का भी समर्थक है। पर याद रखिये उसके पूंजीवाद और साम्यवाद के पूंजीवाद में महान अन्तर है। गांधीवाद पूंजीपतियो को गरीबों का ट्रस्टी समझता है। गांधीवाद एक ओर पूंजीपतियो में सहयोग को भावना पर बल देता है और दूसरी ओर गरीबों में अपने पैरो पर खड़े होने की भावना को जगाता है।

गांधीवाद का एक व्यापक रूप भी है और वह है विश्व मानवता की भावना। गांधीवाद देशभक्ति के नाम पर राष्ट्रवाद को बल नहीं देता, अपितु वह अपने को विश्व में परिणत करने की विचारधारा को जगाता है। इसके द्वारा विश्व से स्वार्थी भावनाओ का समूलोच्छेदन हो जाएगा। दूसरे शब्दों मे वह सब में विश्व-कुटुम्ब की भावना को जगाता है। वह Live and let live (जीओ और जीने दो) की भावना को प्रचारित करता है।

गांधीवाद राजनीति के साथ समाज को भी लेकर चलता है। सामाजिक क्षेत्र में अछूतोद्धार ( Uplifing of Untouchables ) उसकी सबसे बड़ी देन है। सामाजिक स्तर को ऊंचा बनाने के लिये वह नशीली वस्तुओं का भी निषेध करता है।

अब रहा प्रश्न इस बात का कि गांधीवाद अपनी विचारधारा को विश्व में फैलाता किस प्रकार है। वह विश्व के दूसरे वादो के समान कूटनीतिक साधनो पर बल नहीं देता, अपितु सत्य और अहिंसा के द्वारा उनका प्रचार करता है। वह मानव मन के शासन का प्रचारक है। संसार उनकी अहिंसा को थोथी अहिसा ही मानता है, पर गांधीवादी अहिंसा का अभिप्राय है,

न्याय का प्रचार और अन्याय का नाश। अन्याय करने वाले उसके सहने वाले की अपेक्षा अधिक पापी हैं। अतः गांधीवाद अपने अधिकारो को न्याययुक्त उपायों से रखने और उसपर स्थिर रहने का संदेश देता है। वह शासन की शक्ति की अपेक्षा जनता की शक्ति पर विश्वास करता है। दरिद्र नारायण को तृप्त करके ही राष्ट्र को प्रसन्न किया जा सकता है।

## २. समाजवाद

समाजवाद की भावधारा की सर्वप्रथम स्थापना एंगेल्स ने की थी और उसके पश्चात् उसे व्यावहारिक रूप कार्ल मार्क्स ने दिया था। इस महान् दार्शनिक ने एक छोटी सी पुस्तिका लिखी थी, इसका नाम है "Capital" (पूंजी)। इस पुस्तिका मे वह स्पष्ट करते हैं कि विज्ञान ने पूंजीपतियो को जन्म दिया है और ये पूंजीपति ही आगे चलकर शोषितों को जन्म देते हैं। यह सत्य है कि पूंजी का स्वामी पूंजीपति है पर प्रश्न पैदा होता है कि इस पूंजी का उत्पादक कौन है? उसका उत्तर है कि ये श्रमजीवी ही, जो कि धन का उत्पादन करके स्वयं सदा अभाव में ही पिसते रहते हैं। इससे एक वर्ग संघर्ष पैदा होता है। एक वर्ग है शोषको का और दूसरा है शोषितो का। इस विचारधारा के आधार पर पहले एक स्थिति पैदा होती है, जो आगे बढ़कर दूसरी स्थिति ग्रहण करती है, जिसे प्रतिस्थिति कहते हैं। उसकी भी प्रतिक्रिया होती है, और फिर दोनो का समन्वय होता है। इसे ही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ( Dialectical materialism ) कहते हैं। इसी सिद्धांतके आधार पर पूंजीपतियो ने श्रमजीवियों को जन्म दिया है और ये श्रम-जीवी वर्ग दोनों के समन्वय से एक वर्गहीन समाज को जन्म देगा। बिना उस वर्गहीन समाज की स्थापना के प्रजातन्त्रवाद की स्थापना नहीं की जा सकती। इस प्रकार एक नए समाज की कल्पना पर समाजवाद विश्वास करता है।

## ३. साम्यवाद

समाजवाद का दूसरा रूप ही साम्यवाद है। समाजवाद सभी विश्व में समान रूप से प्रचारित है, जहाँ पर साम्यवाद केवल रूस की वस्तु है। दोनो की मंजिल एक ही है, पर अंतर केवल है साधनो में ही।

समाजवाद वैधानिक आंदोलनों और हड़तालों पर विश्वास करता है, पर साम्यवाद पूर्णतया क्रांति और हिंसा पर बल देता है। वह शक्ति के बल से पूँजीपतियो से सत्ता छीन कर उसे श्रमजीवियों मे बांट देना चाहता है। वह प्रजातंत्रवाद में विश्वास न रखता हुआ भी एक ऐसे वर्गहीन समाज की कल्पना करता है, जो पूर्णतया समता के आधारो पर चले। वह किसी की सत्ता को स्वीकार न करके केवल श्रम की सत्ता को ही स्वीकार करता है।

दूसरा साम्यवाद इस समाज की कल्पना किसी देश विशेष के लिए न करके उसे समूचे विश्व पर स्थापित करना चाहता है। इसके लिए वह हिंसात्मक कार्यवाहियों को भी श्लाघ्य समझता है। पर वह इस बात को भूल जाता है कि सभी राष्ट्र रूस नहीं है, जिन पर एक ही नीति को चलाया जा सके। प्रत्येक देश की सीमाएँ और उनकी परिस्थितियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। यदि वह इस अन्तर को सम्मुख रख कर चले, तो इसके द्वारा विश्व का अधिक कल्याण हो सकता है। पर बडे ही दुःख से कहना पडता है कि वह वर्गहीन समाज पर बल देता हुआ भी एक वर्ग-युक्त समाज की कल्पना कर रहा है, जिसे रूसी वर्ग के नाम से पुकारा जाता है।

अब इसके पश्चात् क्रमशः इनका अन्तर स्पष्ट किया जाता है।

## (१) गाँधीवाद और साम्यवाद में अन्तर

१. भारतीय जनवाद की भावनाओं से ओत-प्रोत होने के कारण गाँधीवाद भारत की वस्तु है, पर साम्यवाद रूसी भावनाओं से पूर्णतया ओत-प्रोत पाया जाता है।

२. गाँधीवाद का दर्शन गाँधी जी के विचारो पर आधारित है, पर साम्यवाद पर कार्ल मार्क्स और लेनिन के विचारों का प्रभाव पाया जाता है।

३. गाँधीवाद आत्मिक शक्ति पर विश्वास करता है। दूसरी ओर साम्यवाद शारीरिक बल के द्वारा ही सब बातो को सिद्ध करता है।

४. गाँधीवाद के मूल में सत्य और अहिंसा की भावना पाई जाती है, पर साम्यवाद हिंसावादी हथियारो का विश्वासी है।

५. गाँधीवाद बुरे का नहीं, किन्तु उसकी बुराई का शत्रु है, जो मान-

वता को अज्ञान और विनाश के पथ पर ले जा रही है। इसलिए वह बुरे की बुराई के विनाश पर अधिक बल देता है। पर साम्यवाद बुरे को ही सब दुःखों की जड समझता है और उसे ही सदा के लिए समाप्त कर देना चाहता है।

६. गांधीवाद समता का समर्थक है और उसमे विश्व-बधुत्व की भावना पाई जाती है। साम्यवाद समता का प्रचारक होते हुए भी वर्ग-भेद को जन्म देता है।

७. गाँधीवाद गृह-उद्योगो का प्रबल प्रचारक है, पर साम्यवाद उद्योग-धंधो के राष्ट्रीयकरण पर बल देता है।

८. गाँधीवाद पूँजीपतियों को मिटाना नहीं चाहता, किन्तु उन्हें राष्ट्र के कोषाध्यक्ष (ट्रस्टी) के रूप में देखना चाहता है, परन्तु साम्यवाद पूँजीवाद को समूल नष्ट करना चाहता है।

९ गाँधीवाद शिक्षा के क्षेत्र में मौलिक शिक्षा प्रणाली को ही मानवता तथा राष्ट्र-निर्माण मे अधिक सहायक समझता है, पर साम्यवाद शिक्षा का भी राष्ट्रीयकरण करना चाहता है।

१०. गाधीवाद प्रत्येक व्यक्ति को अपने धर्म पर दृढ़ रहने की स्वतंत्रता प्रदान करता है, जहाँ साम्यवाद इस धर्म को ही सब अनर्थों की जड़ समझता है।

११. जहाँ गाँधीवाद सामाजिक रीति-रिवाजो मे भी कोई हस्तक्षेप नहीं करता, परन्तु साम्यवाद इन धर्माचार्यों को ही सब संघर्षों का कारण मान कर उनके समूलोच्छेदन पर बल देता है।

## (२) गाँधीवाद और समाजवाद में अन्तर

१. गाँधीवाद का आधार पूर्णतया आध्यात्मिक और प्राचीन संस्कृति पर आधारित है, परन्तु समाजवाद पूर्णतया भौतिक है।

२. गाँधीवाद गृह-उद्योगों पर बल देता है, पर समाजवाद उनके राष्ट्रीयकरण पर बल देता है।

३. गांधीवाद वर्ग भेद किये बिना ही समाज मे पारस्परिक अनुकूलता पैदा करता है, पर समाजवाद एक वर्गहीन समाज की रचना करना चाहता है।

४. गाँधीवाद प्रत्येक व्यक्ति को ऊँचा उठाता है और समाजवाद समूचे समाज को ऊँचा उठाना चाहता है।

५. गाँधीवाद साधनों की नैतिकता का विश्वासी है, पर समाजवाद की इस पर कोई आस्था नही पाई जाती।

अन्त में श्री सुमित्रानन्दन पंत के शब्दो मेः—

"मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता, निश्चय हम को गांधीवाद।
सामूहिक जीवन विकास की, साम्य योजना है अविवाद॥"

# भाषाओं के आधार पर प्रान्तों का पुनर्निर्माण

रूपरेखा—१. भूमिका

२. भाषायी आधार पर प्रान्तो के पुनर्निर्माण की आवश्यकता।

३. पुनर्विभाजन की रूपरेखा।

४. भारत में इस मांग का जोर।

५. विरोध।

६. उपसंहार।

भूमिका :—संसार के अन्य देशों की अपेक्षा भारत का निर्माण परमात्मा ने कुछ और ही प्रकार से किया है। इसके उत्तर में हिमालय, पूर्वोत्तर में आसाम और गारू की पहाडियां, पश्चिमोत्तर में हिन्दुकुश पर्वत, मध्य में सतपुरा की पहाडियाँ, दक्षिण में हिन्दसागर, पश्चिम दक्षिण में अरब सागर और दक्षिण पूर्व मे बंगाल की खाड़ी है। इसके अतिरिक्त भारत में हजारों नदियों का प्रवाह ही इस रूप से हो जाता है कि जो कई प्रान्तों के आधार पर भारत की सीमा बनती है। भारत के विभाजन में रावी पूर्वी और पश्चिमी पंजाब की सीमा रेखा बनी। अब वह अपनी दिशा बदल रही है, जिसके परिणाम स्वरूप कई सौ ग्राम संभवतः पाकिस्तान में चले जायेंगे। इतना ही नही भूगोल शास्त्रियों ने प्राकृतिक आधार पर भारत के चार विभाग ही कर दिये।

१. उत्तरी पूर्वी पर्वत श्रृंखला।

२. गंगा सिंधु का मैदान।

३. दक्षिणी पठार।

४. पूर्वी तट, पश्चिमी तट।

पर इसके पश्चात् भारत मे जब से अंग्रेज आये उन्होंने ज्यों-ज्यों भारत को जीतना प्रारम्भ किया, त्यो-त्यों उन्होने विजित भारत की सीमाएं निर्धारित कर दी। इस विभाजन मे उनका दृष्टिकोण सर्वथा राजनैतिक ही था। वह शासन की सुविधा के लिए ऐसा करते थे। इस प्रकार १६४७ से पूर्व भारत राजनैतिक आधार पर ११ प्रान्तो में विभक्त था। इन प्रान्तो के नाम हैं:—

१ पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत, २. सिंध, ३. पंजाब, ४. बम्बई, ५. मद्रास, ६. बगाल ७. आसाम ८. उत्तर प्रदेश ९. मध्य प्रदेश १०. बिहार और ११. उड़ीसा। इसके अतिरिक्त रियासतो का शासन स्थानीय राजाओं के आधीन होता था, जहां पर अंग्रेजो का रेजिडैन्ट रहता था। इसके पश्चात् भारत का विभाजन हुआ। उसके पश्चात रियासतों का वर्गीकरण करके उन्हें ५ भागों मे विभक्त किया गया तथा अन्य अविकसित प्रान्तों को भी भारत का अंग बना दिया गया और इस प्रकार भारत में कुल १८ प्रान्त बने, पर इनका आधार भी सर्वथा राजनैतिक ही था। इनके नाम निम्नलिखित हैं:—

(१) पूर्वी पंजाब (२) बम्बई (३) मद्रास (४) पश्चिमी बंगाल (५) आसाम (६) उत्तर प्रदेश (७) मध्य प्रदेश (८) बिहार (९) उड़ीसा (१०) देहली (११) कुर्ग (१२) मरु कच्छ (१३) अंडेमान (१४) पेप्सू (पटियाला संघ) (१५) हिमाचल प्रदेश संघ (१६) सौराष्ट्र (१७) विंध्य प्रदेश और (१८) महा राजस्थान।

### पुनर्निर्माण की आवश्यकता—

पर किसी देश के प्रान्तीय करण में इन आधारो का इतना महत्त्व नहीं पाया जाता, जितना कि सांस्कृतिक आधारो का। संस्कृति का मूलाधार है "भाषा"। एक भाषाभाषी व्यक्तियों का प्रायः एक सांस्कृतिक समुदाय बनता

है। इस प्रकार यदि एक सांस्कृतिक आधार पर उनका भाषाभाषी प्रान्त बन जाय, इससे उनके शिक्षा, दीक्षा और सामाजिक नियम बनाने मे भी सरलता हो जायेगी। रूस इतना बडा राष्ट्र है। उसमे एक साथ सैंकड़ों भाषाएं बोली जाती हैं, पर उनके विभाजन का आधार पूर्णतया भाषा ही है, जिसके परिणाम स्वरूप वह अपने विचारो को अपनी भाषा के माध्यम से प्रकट करने में पूर्णतया स्वतंत्र है। इंग्लैंड, फ्रांस, अमरीका आदि राष्ट्रों के विकास के मूल में भी यही भावना काम कर रही हैं। इसलिए भारत जैसे इतने बडे देश में भी इसका प्रचार आवश्यक है। अंग्रेजो के युग मे भी इसी आधार पर दो प्रांतों का विभाजन हुआ था। पहले बम्बई और कराची एक प्रांत थे, पर मुहम्मद अली जिन्ना के सतत प्रयत्न और जनता की मांग के कारण उन दोनों को अलग-अलग कर दिया गया।

इसी प्रकार मधुसूदन दास ने भी बिहार को उड़ीसा से अलग करने का सफल आन्दोलन किया।

कांग्रेस ने स्वाधीनता संग्राम के समय अन्य मांगो के समान इस मांग को भी जोरदार शब्दों मे रखा। १९२२ में 'नेहरू रिपोर्ट' में इसको पूर्णतया मांग और घोषणा कर दी गई और अपने घोषणा पत्र में इसे महत्वपूर्ण स्थान दे दिया गया। क्योंकि भारत के सांस्कृतिक विकास के लिये ऐसा होना अनिवार्य था। अब भारत स्वतंत्र हो चुका है, अतः जब कि कांग्रेस ने स्वयं इसे सिद्धान्त के रूप मे स्वीकार कर लिया था, अत. उसे अविलम्ब रूप में ऐसा कर ही देना चाहिए। १९५८ में एक भाषण में यह कहा था कि, "अब इस मांग को अविलम्ब स्वीकृत करना चाहिये, यदि इसे स्वीकृत न किया गया, तो इसका परिणाम यह होगा कि जनता की भावनाएं कुंठित हो जायेगी अर्थात् उनका दृष्टिकोण और कार्य करने की सभी शक्तियां अपने प्रांतो तक सीमित हो जायेंगी। पं० नेहरू, राष्ट्रपति आदि ने भी इसकी आवश्यकता पर पूर्ण बल दिया।

पुनर्विभाजन की रूपरेखा--

इस प्रकार की मांग को यदि कार्यान्वित कर दिया गया, तो निकट भविष्य में भारत का रूप निम्नलिखित रूप से परिवर्तित हो जायगा।

१. पंजाबी—पटियला और पूर्वी पंजाब के कई नगर।

२. हिन्दी—पूर्वी पजाब के कुछ भाग, देहली, उत्तर प्रदेश, राजपूताना।

३. गुजराती—इसका निर्माण बम्बई, बड़ौदा, सौराष्ट्र वा काठियावाड़ के गुजराती भाषाभाषी प्रदेशों से होगा।

४. महाराष्ट्र—इसमे बम्बई, हैदराबाद, मध्यप्रदेश और बरार मराठी बोले जाने वाले प्रदेश होगे।

५. आंध्र—इसमे मद्रास और हैदराबाद के तैलुगू बोलने वाले प्रान्त होगे।

६. कर्नाटक इसकी रचना बम्बई, मद्रास, हैदराबाद तथा मैसूर के कन्नड भाषो प्रदेशों से होगी।

७. केरल—इसमे ट्रावनकोर, कोचीन तथा मालाबार के प्रदेश सम्मिलित किये जा सकेंगे।

८. बगला—बिहार और आसाम के बंगला बोलने वाले प्रदेशो को बंगाल मे सम्मिलित किया जायेगा।

भारत मे इस माग का जोर—

जैसा कि ऊपर की पंक्तियो मे बताया गया है कि इसकी मांग १९२३ मे कांग्रेस ने "नेहरू रिपोर्ट" मे कर दी थी, किंतु भारत के स्वतन्त्र होने पर तो इसकी मांग प्रबल रूप से होने लगी। पंजाब मे मास्टर तारासिंह ने लेक्चरों, हिसात्मक आंदोलनों और भी सभी साधनो से उसकी प्रबल मांग की। वह तो पंजाबी भाषाभाषी प्रान्त को शक्ति के बल से भी लेना चाहते हैं। आंध्र मे स्वामी सीताराम ने इसकी मांग की। यह मांग दृढ़ होने के साथ साथ प्राचीन भी थी, अत: कांग्रेस सरकारको इसे स्वीकार करना ही पड़ा। इसके लिए कोई ८० बलिदान भी दिए गये। अन्त में 'रामूलू' की मृत्यु के पश्चात् नेहरू ने आंध्र प्रदेश निर्माण की स्वीकृति दे दी। एक आयोग बनाया गया जिसकी सिफारिशों के आधार पर बृहद आंध्र राष्ट्र की स्थापना १ अक्तूबर को कर दी गई। इसकी स्थापना करते समय श्री नेहरूजी ने कहा कि "हमें संकुचित सीमाओं में रहकर सोचने की आदत छोड़नी चाहिए।" श्री प्रकाशम इसके प्रथम प्रधान मन्त्री हैं। इसी प्रकार बृहन्महाराष्ट्र की मांग

का जोर भी बढ़ता जा रहा है। इसकी मांग करने वालों में नरहरि विष्णु गाडगिल का नाम सर्वोपरि है।

भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् इस समस्या पर विचार करने के लिए एक 'दर कमेटी' की स्थापना की गई, जिसने देश की स्थिति का अध्ययन करके इसकी सिफारिश की पर साथ ही यह भी लिखा कि अभी इस मांग को स्थगित ही रखना चाहिए।

विरोध—जहां इसकी मांग प्रबल रूप से बढ़ती जा रही है, वहां इसका विरोध भी कम नहीं। इसके लिए प्रमुख रूप से निम्न विचार प्रकट किए जाते हैं—

(१) भारत पहले से ही इतना बटा हुआ था, जिसे कि बड़ी कठिनता से संगठित किया गया है। ६०० से भी अधिक रियासतों के विलीनीकरण के बाद इसकी मांग देश की एकता के लिए अधिक घातक है।

(२) आज देश की आंतरिक स्थिति भी ऐसी डाँवाडोल है, जिसमें इसकी मांग हानिकारक है।

(३) देश को अनेक समस्याओं में से गुजरना पड़ रहा है। इस समस्या के उत्पन्न होने के पश्चात् अन्य समस्याएँ खटाई में पड़ जायेंगी।

(४) प्रत्येक प्रान्त के सचिवालय, राज्य शासन सामग्री के लिए अरबों रुपए की आवश्यकता पड़ेगी, जो कि अभी भारत के लिए असम्भव है।

(५) कई राज्यों का तो अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। जैसे बम्बई हैदराबाद, आसाम, बिहार आदि।

(६) प्रान्तों के विभाजन में भी भिन्न-भिन्न समुदायों में परस्पर संघर्ष, वैमनस्य तथा द्वेष का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है।

इसके अतिरिक्त डा० राजेन्द्रप्रसाद का कथन है, कि—"सीमा सम्बन्धी झगड़ों को निपटाने के समय भिन्न-भिन्न प्रान्तों में द्वेषाग्नि प्रदीप्त हो जाने की सम्भावना है। देश की वर्तमान अवस्था में जातीय एकता परमावश्यक है। यह विद्वेषाग्नि उसके लिए घातक होगी।"

भारत संविधान सभा में ८ नवम्बर १९४८ को भाषण करते समय पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था—"मुझे चिरकाल से ऐसा अनिवार्य प्रतीत होता

है कि भारत मे प्रांतो का पुनः संगठन करना आवश्यक है—जो उसकी सांस्कृतिक, भौगोलिक तथा आर्थिक अवस्थाओ के अनुकूल हो और जिसे वहाँ के लोग स्वीकार करते हो। हम इस पुन: सगठन के सिद्धान्त को देर से मान भी चुके है। ' परन्तु दुर्भाग्य से मैं देखता हूँ कि इस सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप देने पर, प्राय गर्मी और भावावेश पैदा हो जाते हैं, जिससे मानसिक शान्ति भग हो जाती है और समस्याओ को धैर्यपूर्वक हल नहीं किया जा सकता। इसीलिए मै यही परामर्श दूँगा कि भाषा के आधार पर राज्यो के पुनर्विभाजन को अभी स्थगित रखा जाये—और समय आने पर उस प्रश्न पर पुनर्विचार किया जाये। इसी मे देश का कल्याण है।"

उपसहार—फिर भी सरकार ने इस कार्य को शीघ्रातिशीघ्र सरलतम साधनो को सुलझाने के लिए एक आयोग की स्थापना २२ दिसम्बर १९५३ को कर दी है। इस आयोग के तीन सदस्य हैं। उड़ीसा के राज्यपाल श्री सैय्यद फजलअली, राज्य-परिषद् के सदस्य हृदयनाथ कुन्जरू और काहिरा मे भारतीय राजदूत सरदार पणिक्कर। आयोग को जून ३०, १९५५ तक अपना प्रतिवेदन (रिपोर्ट) दे देना होगा, मगर वह सरकार को अन्तरिम प्रतिवेदन दे सकता है। गृह-मन्त्री डा० कैलाशनाथ काटजू ने राज्य परिषद् में इस आयोग की घोषणा की है।

लोकसभा मे एक वक्तव्य मे श्री नेहरू ने कहा कि "भारत मे आजकल जो राज्य हैं, वे ऐतिहासिक घटनाओ और भारत मे अँग्रेजी सत्ता के पैर जमाने के साथ बने हैं। स्वतंत्रता मिलने पर भारत का विभाजन हो गया और थोड़े समय मे अनेक भूतपूर्व रियासते भारत में मिल गईं। यह अत्यन्त ऐतिहासिक घटना थी।"

आपने आगे कहा कि "राजनैतिक और सांस्कृतिक चेतना के परिणाम-स्वरूप और प्रादेशिक भाषाओं के महत्त्व के बढ़ जाने के कारण, भाषाओ के आधार पर राज्यों की निर्माण होने की मांग जोर पकड़ती जा रही है। परन्तु हरेक राज्यों की मांग पर अलग से विचार करना उचित नहीं समझा गया। राज्यो के पुनर्गठन के समय भाषा के अतिरिक्त अन्य बातो को भी ध्यान मे रखना पड़ता है। सब से पहली चीज यह है कि हमें भारत की एकता और

सुरक्षा को ध्यान में रखना है। आर्थिक, वित्तीय और शासकीय मामलों का भी बराबर महत्त्व है। भारत आर्थिक उन्नति की अपनी एक योजना तय्यार कर चुका है। भारत सरकार ने यह फैसला किया है कि राज्य के पुनर्गठन के सवाल पर एक साथ विचार करना चाहिए। सरकार ने इस काम के लिए एक आयोग नियुक्त करने का फैसला किया है।"

इस प्रकार ऊपर की पंक्तियों में इस मांग की आवश्यकता पर बल दिया गया है और साथ ही इस बात पर भी बल दिया गया है कि हमें कुछ समय इस विषय में प्रतीक्षा करनी चाहिए। इस में हमारा मत भी यही है।

---

# भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना

किसी देश की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि उसके सम्मुख भावी-जीवन के लिए एक निश्चित योजना हो, जिसके आधार पर वह अपना कार्य कर सके। सर्व प्रथम इस प्रकार की योजनाओं का श्रीगणेश करने का श्रेय रूस को दिया जा सकता है। उस ने इस युग की परिस्थितियों के आधार पर जिस सुनिश्चित योजना का निर्माण किया था, उसने थोड़े ही वर्षों में वहाँ पर जो भी आशातीत उन्नति कर दी, उसकी देखा-देखी अमरीका ने भी एक "टैनेसी घाटी" की योजना बनाई। जर्मनी मे भी इसी प्रकार की योजनाएँ बनीं, जिनके द्वारा इन देशो ने कृषि, उद्योग, शिक्षा, सामाजिक-जीवन, भोजन, रहने के साधनो मे विशेष रूप से उन्नति की। इसी प्रकार १५ अगस्त १९४७ मे भारत के स्वतंत्र होने पर यहाँ की सरकार ने भी इसी ओर पग बढ़ाया, जिसका परिणाम यह हुआ कि मार्च १९५० मे एक योजना आयोग (प्लेनिंग कमीशन) बनाया गया। योजना कमीशन को जिन बातो पर विचार करना था, वे निम्न थी।

१. देश की वर्तमान स्थिति को देख कर उसी के आधार पर उसके वैकासिक संभावनाओं पर विचार करना।

२. उन साधनों की, नपे-तुले ढंग से उपयोग करने के विषय में, योजना बनानी।

३. कौन से काम पहले होने चाहिएं और कौन से बाद में इसे विचार कर के इस बात का निश्चय करना कि किन अवस्थाओं में इस योजना को आगे बढ़ाना चाहिए।

४. कार्य मे आने वाली बाधाओं के विषय मे विचार करके उनके निवारण का प्रयत्न करना।

५. विभिन्न अवस्थाओं में योजना को कार्यान्वित करने के लिए किस संगठन की आवश्यकता है, इस विषय मे संकेत देना।

६. योजना के गतिक्रम को देख कर उसमें आवश्यकतानुसार हेर-फेर करने की सलाह देनी।

७. योजना को अधिक सफल बनाने के लिए समय-समय पर उचित परामर्श देना।

इस प्रकार इस योजना आयोग ने इन्हीं विषयों को सम्मुख रख करके जुलाई १९५१ मे एक रिपोर्ट तय्यार की। इस पर पुनर्विचार किया गया और ८ दिसम्बर १९५२ को उस योजना को अंतिम रूप दे दिया गया। यह प्रथम पंचवर्षीय योजना मार्च १९५६ तक के लिए है।

इस आयोजना का उद्देश्य और तरीके—इसका प्रमुख उद्देश्य तो जनता के जीवन के स्तर को ऊँचा उठाकर उसके लिए सर्वसुलभ साधन जुटाना है। जो साधन देश में पाये जाते हैं, उनके द्वारा अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना। साथ ही जीवन के सभी क्षेत्रों मे फैले हुए वैषम्य को दूर करना। इस प्रकार मोटे तौर पर हमारे सामने दो बड़े भारी उद्देश्य पाये जाते हैं—

(क) पैदावार के साधनों को व्यापक और विस्तृत करना।

(ख) असमानताओं का निवारण।

इसलिए इन दोनों का परस्पर सहयोगी रूप से प्रयोग करके ही हम अपने चारो ओर की फैली विषमताओं को दूर कर सकेंगे। क्योंकि हमारा देश एक लोकतांत्रिक देश है, अतः हमे जनता के सहयोग से ही इतने बड़े काम को करना पड़ेगा। इसके नेतृत्व में भी केवल शासकीय शक्ति से काम न लेकर मध्य वर्ग के ऐसे व्यक्तियों का सहयोग भी प्राप्त किया जायेगा, जिससे कि यह योजना सच्चे अर्थों में देश के सभी लोगों की बन सके। क्योंकि योजना

का मूलाधार अर्थ होता है, अतः उसे जुटाने के लिए देश पर कर लगा कर अथवा जनता से ऋण लेकर ही इस कार्य को किया जायेगा। दीखने में तो यह रास्ता जटिल और कष्टप्रद प्रतीत होता है, पर अन्ततोगत्वा तो इसके द्वारा लाभ ही लाभ होगा। इसके लिए हमें तीन बातों का ध्यान रखना चाहिए।

(क) बढ़ती हुई आबादी की समस्या।

(ख) पूंजी संग्रह और राष्ट्र के उत्पादन वृद्धि के मध्य सम्बन्ध।

(ग) राष्ट्र के बढ़े हुए भाग को अधिक से अधिक विकास और उत्पादन में लगाना।

पंचवर्षीय योजना की रूप रेखा—योजना आयोग की सिफारिशों के आधार पर इस पर कुल मिला कर २०६९ करोड़ रुपये खर्च किये जायेंगे।

| सं० | नाम योजना | लागत में | कुल का प्रतिशत |
|---|---|---|---|
| १ | कृषि और सामूहिक विकास | ३६१ करोड़ रुपये | १७'५ |
| २ | सिंचाई १६८ करोड़, सिंचाई और बिजली २६६ करोड़, बिजली योजना (शक्ति) १२७ करोड़। | ५६१ ,, ,, | २७'१ |
| ३ | यातायात और संवाद वहन | ४९७ ,, ,, | २४'० |
| ४ | उद्योग | १७३ ,, ,, | ८'४ |
| ५ | सामाजिक सेवाएं | ३४० ,, ,, | १६'४ |
| ६ | पुनर्वास | ८५ ,, ,, | ४'१ |
| ७ | अन्य ( विविध ) | ५२ ,, ,, | २'३ |
| | कुल योग | २०६९ करोड़ रुपये | १०'०० |

इस उपर्युक्त राशि के खर्च के ब्योरे पर योजना आयोग ने जो संकेत किया है, उसपर आगे की पंक्तियों में प्रकाश डाला जाता है—

| सं० | खर्च और उत्पादन का ब्योरा | राशि |
|---|---|---|
| १ | वह खर्च, जिससे केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो की उत्पादक पूंजी का स्टाक बढेगा। | १,१९९ करोड रुपये |
| २ | वह खर्च, जिससे निजी क्षेत्र में उत्पादक पूंजी के बनने में मदद मिलेगी— | |
| | (क) खेती और गांव विकास पर | २४४ " " |
| | (ख) परिवार और उद्योग | ४७ " " |
| | (ग) स्थानीय विकास के प्रोत्साहन के लिए | १०५ " " |
| ३ | सामाजिक पूंजी सम्बन्धी खर्च | ४२५ " " |
| ४ | कमी वाले इलाकों के लिए | ४९ " " |
| | कुल योग | २०६९ करोड रु० |

इस प्रकार कुल खर्च का ६० प्रतिशत खर्च तो कुछ समय के पश्चात् केन्द्र और राज्य सरकारो की स्थिर सम्पत्ति बन जायगा। इनमें से विशेष रूप से बिजाई, सिंचाई के साधनो, परिवहन और संचार तथा उद्योग आदि को लिया जा सकता है। अब इसके पश्चात् प्रत्येक योजनांश पर संक्षेप में प्रकाश डाला जाता है।

कृषि -भारत एक कृषिप्रधान देश है, अतः इस ओर योजना आयोग ने विशेष रूप से ध्यान दिया है। इसके दो प्रमुख कारण हैं।

(क) देश की अवस्था और साधन।

(ख) कच्चे माल के उत्पादन के द्वारा उद्योग-धंधों का विकास।

इसमें इस बात का ध्यान रखा गया है कि इन पाँच वर्षों मे कम से कम पहले के उत्पादन से कई वस्तु में उसके प्रतिशत से उन्नति हो जाय।

| उत्पाद्य वस्तु | मात्रा (लाखो में) | प्रतिशत बढ़ोतरी |
|---|---|---|
| १. अन्न | ७६ (टन) | १४ |
| २. रुई | १२.६ (गांठें) | ४२ |
| ३. जूट | २०.९ (गांठें) | ६३ |
| ४. गन्ना | ७.९ (टन) | १२ |
| ५. तिलहन | ४.९ (टन) | ८ |

इसके अतिरिक्त जंगलो का विकास करके इमारती लकड़ी को भी २ लाख टन प्रतिवर्ष बढ़ाने की योजना बनाई गई।

सामूहिक विकास योजना—क्योंकि भारत का ८० प्रतिशत जन ग्रामों मे ही निवास करते हैं, अतः इस योजना का उद्देश्य उनके सामाजिक और आर्थिक ढाँचे को बदल करके उन्हे अधिक से अधिक आधुनिक जीवनोपयोगी साधनो से सज्जित करना है। इसका कार्य क्षेत्र कम से कम ३०६ भागो में विभक्त होगा और उसकी जनसंख्या लगभग दो लाख होगी। इसके अनुसार गांव के लोग श्रमदान से खेती, स्वास्थ्य, सडको का निर्माण, तालाबों और नहरें आदि के खोदने का काम स्वयं करेंगे। इन योजनाओं पर १ करोड ११ लाख रुपये का व्यय होगा। भारत के प्रायः सभी ग्रामों में इस ओर विशेष रुचि और प्रगति पाई जाती है। श्रमदान के इन सहयोगियों में हम विशेष रूप से "भारत सेवक समाज" और 'नेशनल कैडिट कोर' (N. C. C) को ले सकते हैं।

सिंचाई—ग्रामोन्नति तथा कृषि-उत्पादन विकास योजना में सिंचाई का महत्वपूर्ण भाग पाया जाता है, भारत के विभाजन से पूर्व २६ करोड़ ८० लाख एकड़ भूमि में से केवल ७ करोड़ २० लाख एकड़ भूमि की ही सिंचाई होती थी। बटवारे मे यह स्थिति और भी बिगड गई। जिसका परिणाम हमारी कृषि पर पड़ते हुए भी परोक्ष रूप से खाद्य समस्या पर पडा है। इस स्थिति का मुकाबला करने के लिए आयोग ने सिंचाई के साधनो को पूरा करने के लिए ५१८ करोड़ रुपये की योजना बनाई है। इसके पूरा हो जाने पर सिंचाई और बिजली मे आशातीत उन्नति हो जायगी। आज जितना इन सिचाई योजनाओं की ओर ध्यान दिया जा रहा है, उतना अन्य किसी ओर भी नही। बडे-बडे बनने वाले बांधों में 'भाकरा नांगल बांध' (८० लाख एकड़), 'दामोदर घाटी' (२७ लाख एकड़) 'हीरा कुण्ड' (११० लाख एकड़) 'तुङ्गभद्रा' (६० लाख एकड़) और 'ककरा पारा' (२६ लाख) को लिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कोसी, कृष्णा, चंबल आदि की योजनाओ को भी लिया जा सकता है। छोटी-छोटी योजनाओं की तो कोई संख्या ही नहीं।

पचासों नहरें, सैंकडों ट्यूबवैल भी इस दिशा मे महत्वपूर्ण कदम हैं। इस प्रकार इससे प्राप्त होने वाले जल से कम से कम २ करोड एकड अतिरिक्त भूमि को सींचा जा सकेगा।

बिजली—इन बडे-बडे बांधो द्वारा निकाली गई नहरें जहाँ पर हमारे देश की खाद्य समस्या को सुलझा सकेंगी, वहाँ उनके द्वारा प्रचुर परिमाण में बिजली का उत्पादन भी हमारी औद्योगिक कठिनाइयों को म्हल कर मकेगा। इस प्रकार इसके द्वारा कम से कम ३९ लाख किलोवाट अतिरिक्त बिजली पैदा की जा सकेगी।

उद्योग—यद्यपि पंचवर्षीय योजना में खेती के विकास—विशेषकर सिंचाई और बिजली उत्पादन—को सबसे अधिक महत्व दिया गया है, फिर भी उसमे उद्योग-धंधो का कोई कम महत्त्व नहीं है। इन उद्योग-धंधों को दो भागो में बांटा जा सकता है। इसे १९४८ के एक सरकारी प्रस्ताव मे यों कहा जा सकता है—"कुछ धन्धे जैसे हथियार और उनके लिए गोला बारूद आदि, एटम शक्ति का नियंत्रण और रेल—सम्पूर्ण रूप से सरकार के हाथो में रखे गये है। कोयला, लोहा, इस्पात, हवाई जहाजों का उत्पादन, जहाज बनाना, टेलीफोन, टेलीग्राफी, और बेतार के यंत्र, खान से उत्पन्न तेल—ये सब राज्यों की जिम्मेदारी में होंगे, पर इसमें निजी व्यवसाय का सहयोग बहुत जरूरी समझा गया है। बाकी सारे उद्योग-धंधे निजी व्यवसाय पर छोडे गये हैं।"

१९५१ में भी इसी आशय का औद्योगिक प्रस्ताव पास कराया गया, जिसका आशय इतना ही था कि वह उक्त प्रस्ताव को कार्यान्वित करा सके। योजना आयोग ने भी तो इसी ही नीति का समर्थन किया है। इसके अतिरिक्त लोहा, सीमेंट, अलमोनियम, इंजिन, रासायनिक खाद, पैट्रोलियम, सूती माल और कृषियंत्र के अधिक उत्पादन में इस योजना में लक्ष्य की मात्रा निश्चित की गई है। इसमें ९२ करोड रुपये की पूंजी सरकार स्वयं लगायेगी और २३३ करोड़ को प्रान्तीय सरकारों की ओर से।

इस उद्योग का दूसरा भाग ग्रामोद्योग है। इसे विशेष रूप से प्रोत्साहित करने का प्रयास किया गया है, क्योंकि इसके द्वारा देश की बेकारी को आसानी से दूर किया जा सकता है। इस प्रकार की योजनाओं में दिया-

सलाई, शहद, चमडा, ताड़-गुड़, नीम के तेल से साबुन, तेल, धान की मढ़ाई, बढ़िया कागज और ऊनी कंबलों को लिया जा सकता है।

परिवहन और संवादवहन—इनमे सर्वप्रथम सडको को ही लिया जा सकता है। इन्हीं के अभाव में तो आज तक हमारे ७० लाख से अधिक गांव एक दूसरे से सर्वथा विश्रृंखलित थे। ऊपर बताया जा चुका है कि ग्रामो की सामूहिक विकास योजना मे इसका अधिक महत्व पाया जाता है। इस योजना मे कम से कम ३५०० मील लम्बी सड़कें बनाई जायेंगी, जिन में केन्द्र और प्रांत दोनों का सहयोग रहेगा।

रेलवे तो आज के भारत का प्रमुख अंग हो चुका है। भारतीय स्वतंत्रता से पूर्व हमें दूसरे देशो पर आधारित रहना पड़ता था, किन्तु अब तो भारत मे इसके निर्माण के दो बड़े स्थान पाये जाते है। एक तो 'चितरंजन लोको-मोटिव वर्क्स' और दूसरा 'टाटा कम्पनी।' इन दोनो में क्रमश: ३०० और २०० इंजिन बनाये जायेगे। जहाजो में अभी दूसरे देशों से मंगवाने पर ही बल दिया गया है।

डाक, तार और टेलीफोन के विकास प्रोग्राम पर भी ५० करोड़ रुपया खर्च किया जायगा। इस योजना के आधार पर २००० या इससे अधिक की आबादी वाले प्रत्येक ग्राम में एक डाकखाना खोलने और बड़े शहरो में टेलीफोन की सुविधा बढ़ाने पर जोर दिया गया है—

सामाजिक सेवा—जब इन योजनाओं का मूलाधार ही जनसेवाऔर उनका विकास है, तो इसमें उनके स्वास्थ्य, शिक्षा आदि का विशेष महत्व पाया जाता है। स्वास्थ्य सम्बन्धी सुधारो मे विशेष रूप से पीने का पानी, गंदी नालियों का प्रबंध, मलेरिया की रोकथाम, अस्पताल, माताओ और बच्चों के स्वास्थ्य, दवाई और चिकित्सा के संबन्ध में आत्मनिर्भरता और परिवार आयोजन पर ध्यान दिया जायेगा। राज्य और केन्द्रीय सरकारें इस पर ६६.५५ करोड़ रुपया खर्च करेंगी।

शिक्षा में सबसे महत्त्वपूर्ण कदम तो आधुनिक शिक्षा संबंधी दोषो को दूर करना होगा। बुनियादी शिक्षा, हाईस्कूल और कालेजो की शिक्षा मे सुधार, स्त्री शिक्षा का विस्तार, अध्यापको को ट्रेंड करना, अध्यापकों के

वेतन की दरों में सुधार, पिछड़ी जातियों और पिछड़े राज्यों में शिक्षा का समुचित प्रबंध। योजना के अनुसार पांच वर्षों में प्रारम्भिक व माध्यमिक स्कूलों में करीब ७५ लाख विद्यार्थी अधिक पढ़ने लगेंगे। औद्योगिक शिक्षा की ओर विशेष ध्यान दिया जायगा।

ग्राम-विकास में पंचायतों को भी प्रोत्साहन दिया जाय। गासहकारी समितियों (Co-operative societies) के द्वारा भी ग्राम्य जीवन को सुन्दर और उपयोगी बनाया जा सकेगा।

विस्थापितों की समस्या—इस समय तक भारत में दोनों पाकिस्तानों से आये हुए शरणार्थियों की संख्या ७६ लाख है। उनकी जमीनों और जायदादों के बटवारे की समस्या भी इस समय बड़ी भारी है। इनके लिये १,५०,००० मकान बनाये जा चुके हैं। ५०,००० अभी अगले दो वर्षों में बनेंगे। उनके लिये काम-धंधों के जुटाने और शिक्षित करने की भी तो विकट समस्या है। उन्हें उचित उद्योगों और कृषि कार्य के लिए ऋण की व्यवस्था भी है।

आवास—ऊपर तो केवल शरणार्थियों की ही समस्या पर प्रकाश डाला गया है, पर यहां तो अन्य व्यक्तियों की आवास की भी तो जटिल समस्या है। पहले तो मकानों की कमी है, बने हुए मकानों में सफाई, प्रकाश और वायु का प्रबन्ध नहीं। जीवन स्तर को ऊंचा उठाने के लिये इनका भी होना आवश्यक है। आयोग इनके लिए भी ५० करोड़ रुपये की सिफारिश करता है।

अन्य—इसमें बेकारी की समस्या, शोषितों की समस्या, पिछड़ी हुई जातियों की समस्याओं को लिया जा सकता है।

जन सहयोग—यह योजना का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। क्योंकि इसके सहयोग के बिना तो बनी-बनाई योजनाएँ अधूरी ही पड़ी रहेंगी। इसी लिए जहां एक ओर जनता के सहयोग की व्यवस्था की गई है, वहां पर सरकारी कर्मचारियों के भ्रष्टाचार को दूर करने के लिये भी दबाव दिया गया है। इसके लिये एक समिति का निर्माण भी किया गया है, जो समय-समय पर आवश्यक मंत्रणाओं से अवगत कराती रहेगी।

इस समय योजना अपनी मध्य स्थिति मे से गुजर रही है। बहुत से कार्य समाप्त हो रहे हैं। कई प्रारम्भ हो रहे हैं और कइयो के विषय में नई कल्पनाएं की जा रही हैं। संभवतः कुछ ही समय में इसमे आवश्यक हेर-फेर भी किया जाय।

---

# भारत की प्रमुख समस्याएँ

अनेक वर्षों के राजनैतिक संघर्ष के बाद भारत १५ अगस्त १६४७ को स्वतन्त्र हुआ। किसी दास अथवा परतन्त्र व्यक्ति की इसके अतिरिक्त और समस्या हो ही क्या सकती है, कि वह दास है और उसे इस दासता से मुक्ति चाहिये। १६४७ से पूर्व भारत की भी यही स्थिति थी। उसके लिये उसने गांधी जी के नेतृत्व में स्वतंत्रता आंदोलन का संघर्ष लड़ा। हजारों नवयुवकों के बलिदान के पश्चात् वह अपनी मंजिल पर पहुंचा। पर वहां पर पहुँचने पर, उसने पाया कि उसकी मंजिल जीर्णशीर्ण है। स्वतंत्रता के मन्दिर-दीपक बुझे पड़े हैं, घण्टे वितीर्ण हुए पड़े हैं, दीवारें जीर्ण-शीर्ण हैं, मूर्ति में दरार (भारत-पाकिस्तान विभाजन) है। अब उसके सामने एक नहीं अनेक समस्यायें थीं। एक ओर लक्षशः विस्थापितों का प्रश्न था, दूसरी ओर रियासतों की समस्या भयानक विस्फोट के समान भारत की स्वाधीनता को नष्ट करने पर तुली थी, तीसरी ओर काश्मीर ज्वालामुखी के समान धधक रहा था, चौथी ओर खाद्य की समस्या तो मानो रीड की हड्डी ही तोड़ रही थी। कहीं भाषा का प्रश्न था, तो कहीं साम्प्रदायिकता का! कहीं शिक्षा की विषमता थी, तो कहीं सामाजिक असाम्य। कहीं आर्थिक पेचीदियां थीं, तो कहीं औद्योगिक क्लिष्टताएँ। भारत के कर्णधारों ने धैर्य नहीं छोड़ा। विपरीत परिस्थितियो मे भी वे उन परिस्थितियों से संघर्ष करते गये। इन में कई समस्याओ का समाधान हो गया और कई शेष रह गईं। इनके अतिरिक्त कई अन्य समस्यायें भी पैदा हुई और आज १६५४ तक आते-आते भारत के सम्मुख विशेष रूप से निम्न समस्याएँ हैं। इन समस्याओं को प्रमुख रूप से दो भागों में बांटा जा सकता है। (१) राष्ट्रीय (२) अन्तर्राष्ट्रीय। नीचे की

पंक्तियों में कुछ प्रमुख समस्याओं पर प्रकाश डाला जाता है।

(क) राष्ट्रीय समस्याएँ इन समस्याओं का सम्बन्ध राष्ट्र के आंतरिक विषयो से है। ये समस्यायें प्रमुख रूप से पांच प्रकार की हैं :—

(१) आर्थिक।
(२) राजनैतिक।
(३) सामाजिक।
(४) नैतिक।
(५) पंच वर्षीय योजना सम्बन्धी।

## (१) आर्थिक समस्याएँ

(क) खाद्य समस्या:—आर्थिक समस्याओं में सर्व प्रथम खाद्य समस्या आती है। कौन नही जानता १९४३ के बंगाल के अकाल मे ३५ लाख व्यक्ति मर गये थे। स्वाधीनता के पश्चात् भारत का अन्नोत्पादक प्रदेश पाकिस्तान में चला गया। शरणार्थियो के आगमन और इधर की भूमि के उचित वितरणाभाव से पिछले चार वर्षों मे तो यह स्थिति अधिक गंभीर हो गई। भारत सरकार को सभी ओर से अपनी दृष्टि फेर कर इस ओर अधिक ध्यान देना पड़ा। विदेशो से अन्न मंगवाया गया। "अधिक उपजाओ" और "वन महोत्सव" का आंदोलन चलाना पडा। भूमि को अधिक उपजाऊ बनाने के लिए वैज्ञानिक साधनो का अधिक से अधिक उपयोग करना पड़ा। किसानो को अधिक सुखी करने के साधनो को बर्ता गया और जिसका परिणाम यह हुआ कि आज भारत की यह स्थिति है कि वह इस दिशा मे पूर्णतया आत्म-निर्भर है। आज देश का ऐसी स्थिति है कि अब भारत मे सङ्कटकालीन "अन्न नियंत्रण" (Food control) की आवश्यकता नहीं है। इतना ही नहीं, अब वह दूसरे देशो को भी कुछ देने में समर्थ हो सकता है। पंचवर्षीय योजना की सफलता उसकी शक्ति को और भी बढ़ा देगी।

(ख) शरणार्थियो की समस्या:—विस्थापितों के अधिक से अधिक संख्या में इधर आने से पुनःस्थापन की समस्या भी देश के आर्थिक आधार पर एक कुठाराघात थी। उनका पाकिस्तान से भारत में आना, यहाँ आकर उन्हें

बसाना, उनकी हानियों को पूरा करना, उनकी शिक्षा, व्यापार, व्यवसाय, कृषि आदि के विषय में विचार करना आदि ऐसी कई समस्याएँ थीं, जिनके द्वारा देश को आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। यह समस्या उस स्थिति में और भी जटिल हो गई, जिस समय कि पाकिस्तान की नीति की असफलताओं के परिणाम वश भारत को विस्थापितों की निष्क्रान्त सम्पत्ति का उचित मूल्य न मिल सका। एक तो भारत सरकार के सम्मुख अनेक समस्याएँ और दूसरी ओर विस्थापितो की निराशा इन सब ने मिल कर इसे उलझनमय बना दिया। फिर भी सरकार ने इस दिशा मे आशातीत पग उठाया। गृह-हीनों को घर दिये। उनमे कृषियोग्य भूमि का वितरण करके उन्हे कृषि योग्य बनाया। लाखों रुपया ऋण रूप मे देकर वैयक्तिक व्यवसायो को बढ़ावा दिया। अनेक शिक्षणालय खोले गये। नौकरी दिलाने वाले कार्यालयों को खोल कर हजारो व्यक्तियो को नौकरी दिलाई और अब तो उन विस्थापितों को उनकी अचल सम्पत्ति के विषय में भी आनुपातिक राशि दी जा रही है। आशा है कि भविष्य में इस दिशा में भी सरकार पूर्णतया सफल हो जायगी।

(ग) आयात और निर्यात की समस्या:—कोई भी देश आर्थिक दिशा में तब तक आत्म-निर्भर नहीं हो सकता, जब तक कि वह प्रत्येक वस्तु का आयात करता रहता है। आज हमें अपने यहाँ कल-कारखानों को इतना उन्नत करने की आवश्यकता है, जिससे कि न ही केवल देश की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके, अपितु विदेशी कल कारखानों का मुकाबिला भी किया जा सके। आयात को निर्यात में बदला जा सके।

(घ) बेकारी की समस्या:—आज के भारत के सम्मुख तो मानो यह समस्या दानवी मुख बाये खडी है। शिक्षित युवकों में यदि बेकारी को दूर न किया गया, तो यह जनता और शासन-सत्ता दोनों के लिए घातक होगी।

(ङ) मिल मालिको और मजदूरों की समस्याएँ:—आये दिन आज देश में होने वाली हड़तालें इस बात का संकेत करती हैं कि मिल मालिकों के अत्याचार इन मजदूरों पर बढ़ते ही चले जा रहे है। आपसी संबंधों की खाई चौड़ी होती जा रही है। इन के वैषम्य का परिणाम भी कम उत्पादन

के द्वारा देश के आर्थिक ढाँचे का ढीला पड़ जाना है। सरकार इस दिशा मे भी मौन नहीं है।

## (२) राजनैतिक

(क) भाषावार प्रांतों के निर्माण की समस्याः—आज के भारत के सम्मुख भाषावार प्रान्तो के आधार पर प्रान्तों के पुनर्निर्माण की समस्या जटिलतर होती जारही है १ अक्टूबर १९५३ को इसी आधार पर आंध्र राज्य की एक स्वतंत्र सत्ता स्थिर की जा चुकी है। तारासिंह की धमकियाँ भी इस दिशा में स्वतंत्र खालिस्तान बनाने में अधिक उलझनों का हेतु बनती जा रही है। गाडगिल के प्रयास भी महाराष्ट्र-निर्माण में कम नहीं हैं। इस से एक भयंकर विषमता पैदा हो चुकी है। यही कारण है कि २३ दिसम्बर १९५३ को राज्यों के पुनर्गठन पर विचार करने के लिए एक कमीशन नियुक्त कर दिया गया है—सैयद फजल अली, हृदयनाथ कुन्जरू और सरदार पणिक्कर इसके तीन सदस्य हैं, जो अपना प्रतिवेदन ३० जून १९५५ तक दे देंगे।

(ख) राजाओं की समस्याः—बडे-बड़े भूमि-पतियो तथा उद्योग-पतियों के समान राजाओं की समस्या भी देश के लिए हौआ है। अंग्रेजो के युग में तो देश में फूट रखने के लिए इन राजाओं तथा नवाबो का अधिक से अधिक संख्या में बंट जाना श्रेयस्कर था, किन्तु आज जब कि देश हमारा है, तो इस सामन्तशाही का क्या महत्त्व। आज तो ये बडे-बड़े सामन्त देश पर भार होने के साथ उस पर कलंक भी हैं। सरकार को उनके अधिकारो से भी वंचित करना है। यह तो अधिकारों का संघर्ष है। जमींदारी समस्या भी इसी का एक अंग है।

(ग) आन्तरिक संघर्षः—आज भारत की राजनीति अनेक दलों की दल-दल में फँसती जा रही है। प्रत्येक दल इस होड़ मे सलग्न है। जहां पर कांग्रेस का बहुमत है, वहाँ को तो जाने दीजिये, पर जहाँ पर उनका बहुमत नहीं, वहां आये दिन क्या नहीं होता! पेप्सू की शासन सत्ता कुछ महीने के बाद पार्टियों से निकल राष्ट्रपति के अधिकार में चली गई। त्रावणकोर-

कोचीन की भी यही समस्या है। आन्ध्र में भी आये दिन सकट के बादल मंडराते रहते हैं। कोई भी देश आन्तरिक समस्याओं का समाधान किये बिना विदेशी कार्यों में हस्तक्षेप भी नहीं कर सकता।

## (३) समाजिक समस्याएँ

राजनीति के समान आज की सामाजिकता भी लड़खड़ा रही है। दशाब्दियों अंग्रेजी सभ्यता मे पले रहने के कारण आज हमारी मनःस्थिति ऐसी हो चुकी है कि उसे बुरा समझते हुए भी हम छोड़ना नहीं चाहते। अशिक्षा आज देश के लिए अभिशाप है। अभी ६० प्रतिशत जनता को शिक्षित करना है। यही शिक्षा ही तो समाज का मूलाधार है। अशिक्षित जनता से लाभ उठा कर स्वार्थी नेता उन में संकोर्णता की भावनाओं को अधिक पनपाते हैं। परस्पर सहयोग का सर्वथा अभाव है। स्त्रियो की दयनीय स्थिति अभी भी वैसी है। नर और नारी के सामाजिक जीवन का संतुलन आज पूर्णतया विशृंखलित हो चुका है। नारी अपने अधिकारों की रक्षा के लिए जिस मार्ग का अवलंबन कर चुकी है, वह पाश्चात्य संस्कृति के आधार पर तो अच्छा हो सकता है, पर उसका भारतीय संस्कृति से कोई मेल नही है। साम्प्रदायिकता की भावनाएँ भी एक विषम राज्य की कल्पना का स्वप्न ले रही हैं। इस प्रकार यह संकीर्णता आपसी द्वेष भाव को बढ़ाने में संलग्न है। स्वार्थ आज के युग की पुकार है और भारत का प्रत्येक व्यक्ति इस संक्रामक रोग का शिकार होता जा रहा है। समाज तो किसी देश की सभ्यता का चिन्ह है, जो कि उसे आपस में उठना-बैठना और व्यवहार सिखाती है। पर दु.ख से कहना पड़ता है कि आज इस भावना का सर्वथा अभाव पाया जाता है।

## (४) (नैतिकता की समस्या)

(क) भ्रष्टाचार:—किसी देश के चरित्र का जब पतन होने लगता है, तो वह अधिक समय तक जीवित नहीं रह सकता। किसी देश की शक्ति उसके धन और जन में नहीं होती, किन्तु उसके चरित्र बल में होती है। द्वितीय विश्व युद्ध ने संसार में जिस अनैतिकता की बेल बोई थी, आज वह बढ़ कर फैल चुकी है। आज देश के प्रत्येक भाग में भ्रष्टाचार की आंधी चल रही

अपनी निश्चित आवश्यकताओं को पूर्ण करना। इसका उद्देश्य जनता के जीवन चतुर्मुखी विकास में करना है, जनता के जीवनस्तर को ऊँचा बनाना है। पर इसकी सफलता केवल राजकीय व्यक्तियों के द्वारा कभी भी नहीं हो सकती। इसकी सफलता तो जनता के हार्दिक सहयोग पर ही अवलंबित है। उसमें अच्छाइयाँ भी हैं और बुराइयाँ भी, पर इसका यह अर्थ नहीं कि दो बुराइयों के लिए १० अच्छाईयो को भी नहीं करना। आज की कॉंग्रेस विरोधी पार्टियां यही कुछ करती है। वह अपना उद्देश्य इसकी आलोचना करना ही समझते हैं, पर वह इस बात को भूल जाते हैं:—

"कथनी मीठी खाण्ड सी, करनी विष की लोय।
कथनी तज करनी करें, विष से अमृत होय॥"

इसलिए हमारा यह कर्त्तव्य है, कि बिना धर्म, जाति, लिंग, संस्था आदि के भेदभाव के सभी व्यक्ति भारत की उन्नति में जुट जायें। इसके लिए विस्तार से हमारा "पंचवर्षीय योजना" नामक लेख का अध्ययन करें।

## (ख) अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ

(क) विदेशी नीतिः—आज सम्पूर्ण संसार ऐसे दो बड़े गुटों में बंटा हुआ है कि किसी भी देश के लिए अपने को संसार मे जीवित रखने के लिए उनमें से किसी एक गुट से अपना संबन्ध जोड़ना अनिवार्य है। भारत अभी-अभी स्वतन्त्र हुआ है। उसे अपनी स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए, ऐसा पथ ग्रहण करना पडा है, जिससे कि वह किसी दल का न होकर दोनों से अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहता है। इस संबन्ध को ही विदेशी-नीति कहते हैं। उसकी विदेशी नीति पूर्णतया स्पष्ट है। उसकी नीति के आधार हैं—

( १ ) संसार भर के राष्ट्रो के साथ मैत्री का वर्ताव। ( २ ) शान्ति की स्थापना और युद्ध विरोधी प्रयास। ( ३ ) राष्ट्रों की स्वतन्त्रता कासमर्थन। (४) जाति-विद्वेष का विरोध।

इस नीति को कार्यान्वित करने में भारत प्रयत्नशील रहा है। यद्यपि इस दिशा में उसके उद्योग कई अंशों में असफल भी रहे हैं। इस असफलता का कारण उसकी कर्मठता का अभाव नहीं, वरन प्रबल राष्ट्रों का स्वार्थ है। इन प्रबल राष्ट्रों में प्रबलतम राष्ट्र अमेरीका है। पिछले तीन वर्षों में भारत ने

जितने भी प्रयास किये हैं, उनमें अमेरिका आडे आया है, और जब-जब वह आडे आया है, तब-तब इसमे अड़चने पैदा हुई हैं। उसकी नीति नकारात्मक है। यह एशिया में इसकी नीति केवल रूसी प्रभाव को कम करने की है, जिसके परिणाम स्वरूप भारत की विदेश नीति उस समय संकट कालीन दिशा में चली जाती है, जब कि वह रूसी नीति का समर्थन करता है। यही कारण है कि आज की विकट अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति मे तात्कालिक आधारों पर भारत की विदेश नीति असफल प्रतीत होती है, पर जहाँ तक उसके भविष्य का संबंध है, वह एक न एक दिन अवश्य सफल होगी। साहस से समय की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता है।

(ख) काश्मीर की समस्या —आज काश्मीर की समस्या भारत और पाकिस्तान के परस्परिक संबंध मे बैल के सम्मुख लाल कपड़े के समान बनी हुई है। पाकिस्तानी कबाइलियों ने इस पर १५ अगस्त १९४७ के पश्चात् आक्रमण कर दिया। धीरे-धीरे वे काश्मीर की राजधानी की ओर कदम बढ़ाने लगे। इस विकट परिस्थिति मे काश्मीर के महाराजा ने शेख अब्दुल्ला के द्वारा भारत से सशस्त्र सैनिक सहायता की प्रार्थना की और २८ अक्तूबर १९४७ को भारतीय सेना पाकिस्तानी आक्रान्ताओं को पीछे धकेलने के लिए भारत से उठी। भारतीय सैनिकों के प्रत्याक्रमण को वे न सह सके। इसके पश्चात् इस समस्या को संयुक्त राष्ट्र सघ के सम्मुख उपस्थित किया गया। ८ जुलाई १९४८ को एक कमीशन पहले कराची और फिर देहली आया। उन्होंने युद्ध विराम का प्रस्ताव रखा, पर मुहम्मद जफरुल्ला खां की शर्तों को वह सुलझा न सके। अलरुड लाजानो ने इस पर साहस नही खोया। वह प्रयत्नशील रहे और अन्त मे ३१ दिसम्बर १९४८ और १ जनवरी १९४९ की अर्ध-रात्रि को युद्ध विराम की घोषणा कराने में सफल हो गये। १२ मार्च को स्थायी रेखा भी निश्चित कर दी गई। इसका कार्य चलाने के लिए शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व मे एक अन्तरिम सरकार को स्थापना कर दी गई। इसके पश्चात् इस समस्या को पारस्परिक सहयोग से निबटाने के लिए मेकनाटन, ओवन डिक्सन, डा० ग्राहम आदि मध्यस्थ आये, पर उन्हे सफलता नहीं मिली। इस समय काश्मीर के इतिहास में एक नये अध्याय का आरम्भ

हुआ। महाराज को गद्दी छोडनी पडी और १० नवम्बर १९५२ के दिन युवराज कर्णसिंह ने "सद्र-ए रियासत" निर्वाचित होकर शपथ ग्रहण की। पिछले वर्ष कई घटनाएँ लगातार घटीं। इनमें से चार बातें प्रमुख हैं:—

१. प्रजा परिषद् का देश व्यापी आन्दोलन।

२. डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी की जेल मे मृत्यु।

३. शेख अब्दुल्ला का कुछ अवैध कार्यों के करने के परिणाम से पदच्युत हो जाना।

४. बख्शी गुलाम मोहम्मद का प्रधान मंत्री बनना।

आज सातवां वर्ष चल रहा है, किन्तु इस प्रश्न मे तनिक भी प्रगति नहीं हुई। उलटा इस से भारत और पाकिस्तानी संबन्धो मे कटुता की वृद्धि ही हुई है।

(३) पाक अमरीकी सैन्य-संधि—सम्पूर्ण दिसम्बर मास इसी संधि की चर्चा का मास रहा है। इस संधि के आधार पर अमरीका पाकिस्तान को सभी सैनिक साधनों से सुसज्जित करेगा। अस्त्र-शस्त्र सहायता भी प्रदान करेगा और पाकिस्तान उसके प्रत्यावर्तन मे उसे अड्डे स्थापित करने की सुविधाएँ प्रदान करेगा। यह एक खतरे की घंटी है। चैस्टर बाउल्ज ने इस पर टिप्पणी करते हुए कहा है कि पाकिस्तान इसके द्वारा अपनी सैन्य शक्ति को हिन्दुस्तान से अधिक बढ़ाना चाहता है। इस्लामी प्रदेशों की दृष्टि में पाकिस्तान का यह कृत्य भारत के प्रति कृतघ्नता का है और नेहरू के शब्दों में इससे तृतीय विश्वयुद्ध भारत के द्वार पर आ जायेगा। श्री लंका के प्रधान मंत्री कोटले वाला इसे दक्षिणी-पूर्वी एशिया के संबंधो में विछेदक मानते हैं। इससे इसकी गम्भीरता प्रकट हो जाती है। आज भारत का जनमत इसका विरोधी है और श्री नेहरू ने २३ दिसम्बर १९५३ को लोकसभा में इसके विषय में स्पष्ट कह दिया है:—"पाकिस्तान के प्रधान मंत्री की इस बात पर हम विश्वास करते हैं कि वह अमरीका को न हवाई अड्डे ही दे रहे हैं और न उसके साथ सैनिक संधि की ही बात है। केवल पाकिस्तान को अमेरिका से कुछ सरकारी सहायता प्राप्त करने के संबंध में वार्ता हो रही है। किन्तु एक बार सैनिक सहायता आने लग गई, तो हवाई अड्डे देने की बात

तो दूर रही, सारा पाकिस्तान अमरीका का अड्डा बन जायेगा ... इस फौजी संधि के कारण एशिया में स्वतंत्रता आंदोलन का रुख ही बदल जायगा, जिससे शांति स्थापित होने की संभावना और कम हो जायगी...... यदि पाकिस्तान को प्रस्तावित अमरीकन सहायता प्राप्त हुई तो काश्मीर में जनमत लेने के सम्बन्ध मे जो समझौता दोनो प्रधानमंत्रियो के बीच हुआ है समाप्त हो जायगा।

ऊपर जिन समस्याओ पर संकेत मे प्रकाश डाला गया है, प्रत्येक भारतीय का कर्त्तव्य है कि उनका समाधान करने के लिए जुट जाय और भारत के कर्णधारो से भी आशा है कि वे भी इन विपरीत परिस्थितियो में भारत की स्वतंत्रता की नैया को खेकर तट पर पहुंचायेंगे।

---

# हमारी खाद्य समस्या

भूमिका—१२ अगस्त १९४७ को भारत स्वतन्त्र हो गया। उसकी स्वतन्त्रता जहां जातीय जीवन के लिए वरदान सिद्ध हुई, वहाँ पर इसके द्वारा देश में अनेक समस्याएं उत्पन्न हो गईं। इन समस्याओ में शरणार्थी समस्या के पश्चात् खाद्य समस्या का महत्व है। यह समस्या चली तो कई वर्षों से आ रही थी, किन्तु स्वतंत्रता के पश्चात् इसकी स्थिति उग्रतर हो गई। हमे ३ करोड टन से भी अधिक अनाज अमरीका, आस्ट्रेलिया, अर्जेन-टाईना, रूस, कैनेडा, बर्मा, चीन आदि से मंगवाना पडा। शस्यश्यामला वसुन्धरा को अन्न के लिए पराश्रित होना पड़ा। यह हमारे आत्म-सम्मान को मानो धक्का था। इतना ही नही, भारत के कई प्रान्तो में तो दुर्भिक्ष की सी स्थिति पैदा हो गई। पशुओं के लिए चारा न मिल सका। चलते-फिरते नर कंकालो के रूप में मानो मृत्यु की कालिमा मंडराने लगी। जीवन कितना सस्ता हो गया। संसार को अन्न भेजने वाला देश दूसरो के सम्मुख झोली पसारने लगा। ऐसी स्थिति में प्रश्न पैदा होता है, ऐसा क्यों ?

महत्त्व:—यह समस्या दीखने में जितनी साधारण सी प्रतीत होती है, पर इसका महत्त्व कितना व्यापक और घातक है। कोई भी देश कितनी

सशक्त, सशस्त्र और ससैन्य हो, पर यदि उसके यहाँ पर खाद्य-सामग्री का अभाव है, तो वह देश कभी भी उन्नति नहीं कर सकता। किसी ने सच कहा है:—

"भूखे भजन न होय गोपाला।"

अथवा

"पेट न पईयां रोटियां सबै गल्लां खोटियां।"

संस्कृत के प्रसिद्ध ग्रन्थ पंचतंत्र में विष्णुगुप्त जी भी लिखते हैं:—

"बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।"

भूखा मानव क्या नहीं करता ? विश्वामित्र जैसे राजर्षि (ब्रह्मर्षि) को भी अकाल से पीड़ित अवस्था में एक श्वपच के गृह से कुत्ते के मांस को लेकर खाना पड़ा था। यह वह स्थिति होती है, जब कि एक मां भी अपने बच्चे को, पेट की ज्वाला शान्त करने के लिए, भून कर खा जाती है। जब सिर पर मौत की भयावह छाया मंडराती है, तो पाप और पुण्य, सदसद् में तनिक भी भेद नहीं हो पाता। शत्रु की दृष्टि भी सदा किसी राष्ट्र के खाद्य विभाग पर ही पड़ती है और युद्ध-भूमि में वे खाद्य स्थानों को भी उतना ही महत्त्व देते हैं, जितना कि शस्त्रागारों को। किसी किले की शक्तिशाली सेना को आत्म-समर्पण कराने के लिए खाद्य जटिलता पैदा कर देना ही पर्याप्त है। इससे यह स्पष्ट होता है कि खाद्य-समस्या का हमारे जातीय जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है। इसलिए किसी राष्ट्र के बलाबल का उसको खाद्य-शक्ति से ही अनुमान लगाया जा सकता है। नीचे की पंक्तियों द्वारा भारत में इस समस्या के पैदा होने के कारणों पर प्रकाश डाला जाता है।

खाद्य समस्या के कारण:—(१) महायुद्ध ने जहाँ लाखों एकड़ भूमि को इस योग्य कर दिया कि उस मे अन्न का एक कण भी न उपज सके, वहाँ साथ ही हजारों किसान भी इस युद्ध में काम आये और इस प्रकार विश्व का बहुत बड़ा भाग कृषिहीन हो गया। चाहे हमारे भारत में इस युद्ध का कोई भी प्रभाव नहीं पाया जाता था, पर हमें जिस खाद्यान्न के लिए दूसरे देशों पर आश्रित रहना पड़ता था वह आयात न हो सका,

(२) ब्रिटिश राज्य काल में भारत भूमि को उपजाऊ बनाने की ओर कोई भी ध्यान नहीं दिया गया और वैज्ञानिक साधनो के द्वारा भी किसी प्रकार की कृषि की उन्नति नही की गई, जिसके परिणाम स्वरूप, जहाँ दूसरे देशों मे कम से कम साधनों के द्वारा वर्ष मे तीन चार फसले काटी जाती हैं, वहाँ भारत में एक वर्ष मे भी उतनी पैदावार नहीं होती, जितनी कि दूसरे देशों में एक फसल मे ही होती है।

(३) भारत पाकिस्तान विभाजन से अधिक उपजाऊ प्रदेश पाकिस्तान में चले गये और इस प्रकार जिस भारत को पहले भी दूसरों पर आश्रित रहना पड़ता था, उसे और भी अधिक समस्या का सामना करना पड़ गया।

(४) भारत मे कृषि योग्य भूमि इतने छोटे छोटे भागो में विभक्त है, जिस से कि सामूहिक रूप से खाद्य समस्या का सुलझाना कठिन है।

(५) भारत कृषि प्रधान देश है, पर यहां का किसान संसार के दूसरे किसानो की अपेक्षा अधिक दुखी, शोषित, अनपढ़, ऋणी और अस्थिर है। वह आधुनिक वैज्ञानिक कृषि साधनो से भी अनभिज्ञ है, जिससे वह उचित प्रकार से कृषि विकास की योजनाओ में सहयोग नहीं दे पाता।

(६) आज भारत की जनसंख्या जितनी तीव्रता से बढ़ रही है, उतनी तीव्रता से कृषि उत्पादन नहीं हो रहा। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री डा० राधाकमल मुकर्जी के कथनानुसार भारत की जनसंख्या खाद्यपदार्थों की उत्पत्ति से कहीं अधिक तेजी से बढ़ रही है।

(७) मुद्रास्फीति और तृतीय युद्ध की सम्भावना भी अन्न की अधिक मंहगाई का कारण है।

(८) प्राकृतिक कारण भी खाद्य समस्या में पर्याप्त सहायक हैं, यथा वर्षा का न होना, वर्षा का अधिक हो, बाढ़ों का आना, टिड्डी दलों का आ जाना आदि बीसियों ऐसे कारण हैं जो कि खाद्य समस्या मे विशेष सहायक हैं।

(९) खाद्यान्नों पर कन्ट्रोल होने से भी बड़े-बड़े धनिकों ने यत्किंचित् लाभार्थ अन्न छिपा लिया। अतः भारत को अन्न विदेशों से मंगाना पड़ा, और मंहगा ही बेचना पड़ा।

**खाद्य समस्या का समाधान**—जैसे कि ऊपर बताया जा चुका है, खाद्य-समस्या किसी देश के लिए महानतम समस्या होती है, अतः उसका समाधान करना अत्यावश्यक है। आज तक इस विषय में सरकार ने क्या किया है और और उसे क्या करना चाहिए, इस विषय पर नीचे की पंक्तियो मे प्रकाश डाला जाता है—

(१) सबसे प्रथम काम जो भारत सरकार को करना चाहिए, वह है भारत की सभी कृष्य भूमि को कृषि योग्य बनाना। इसके लिए अभी तक सरकार निम्न कार्य कर चुकी है—

(क) पंचवर्षीय योजना मे कृषि को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। (इसके लिये इस विषय पर लिखा लेख अन्यत्र पढ़े)

(ख) भारत मे नहरों का जाल बिछाया जा रहा है।

(ग) अच्छे से अच्छे खाद की व्यवस्था की जा रही है। सिन्द्री का खाद का कारखाना इस समय एशिया का सबसे बड़ा कारखाना है।

(घ) अधिक से अधिक आधुनिकतम वैज्ञानिक साधनो से कृषिकारों को उन्नत करना।

(ङ) किसान जो कि देश की रीढ़ की हड्डी हैं, उनके लिए भी सरकार बहुत कुछ कर रही है। पंचवर्षीय योजना मे Community project इस दिशा मे महत्त्वपूर्ण पग है।

(च) सहकारी संस्थाओं के द्वारा भी उनके आर्थिक वैषम्य को दूर किया जा रहा है।

१. अच्छे से अच्छा बीज मंगवा कर सस्ते से सस्ते मूल्य में सरकार द्वारा संचालित बीज संग्रहालयों से बेचा जा रहा है।

२. "अधिक अन्न उपजाओ आंदोलन" और वन-महोत्सव आंदोलन को केवल कार्यालय की चार दिवारी तक ही सीमित नहीं रखना चाहिए, अपितु उसे अधिक से अधिक जन-व्यापी बनाना चाहिए। जिससे भारत भू का कोई भाग भी रिक्त न रह जाये।

३. सरकार को जनता में अन्न की समस्या को सुलझाने के लिए गेहूँ के

अतिरिक्त अन्य वस्तुओं यथा—आलू, शकरकंदी, फल, सब्जियां, मछली, सोयाबीन, दुग्ध आदि के व्यवहार पर भी बल देना चाहिए।

४. बढ़ती हुई आबादी की बाढ़ को रोकने के लिए सरकार को कृत्रिम और अकृत्रिम सभी साधनों का प्रयोग करना चाहिए। इन साधनों में प्रथम कार्य तो नैतिकता का प्रचार हो, नहीं तो निश्चित नियन्त्रण की सीमा निर्धारित कर देनी चाहिए। यदि ऐसा भी न हो सके तो "परिवार आयोजन" (Birth control) की प्रक्रिया करानी चाहिए।

५. भारत के सैनिकों को भी अवकाशगत समय में इस खाद्य-समस्या की निवृत्ति की लड़ाई में जुटाना चाहिए, जिससे खाद्य-समस्या समाधान के साथ-साथ दोनों में सहयोग की भावना बढ़े।

६. सरकार को साम और दण्डभय से जनता में कम खाने और नष्ट न करने की योजना का प्रचार करना चाहिए।

७. प्राकृतिक प्रकोपों से संघर्ष करने के लिए भी सरकार को सभी संभावित उपायों को व्यवहृत करना चाहिए। यथा—टिड्डियों के नाश के लिए उपाय, बाढ़ों से फसलें नष्ट न हों इसके लिए बड़ी-बड़ी नदियों पर बांध बांधे जायें।

(८) किसानों की जमीन को टुकड़े-टुकड़े हो जाने से बचाने के लिए उन्हें संघटित (Consolidate) कराने की व्यवस्था करनी चाहिए। इसके द्वारा देश की अधिकांश भूमि अधिक से अधिक खाद्यान्न उत्पन्न करने में सफल हो सकेगी।

(९) सभी राज्यों को वसूली और वितरण की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए, जिससे वे उचित और सुलभ साधनों से इसे हल कर सकें।

इस विषय में डा० कुमारप्पा के यह विचार अधिक महत्व रखते हैं। "हमें खाद्य पदार्थों की कमी को कई पार्श्वों से हल करना होगा। हमें उत्पत्ति को बढ़ाना होगा। उत्पन्न खाद्य पदार्थों की सुरक्षा का प्रबन्ध करना होगा और फिर उसकी खपत और विभाजन का भी न्यायोचित आयोजन करना होगा। इसके अतिरिक्त हमें वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा नए-नए खाद्य पदार्थों का पता लगाना होगा, जिनका प्रयोग अनाज के स्थान पर किया जा सके। भिन्न-भिन्न

वस्तुओं के भोजन उपयोगी तत्वों को वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में परीक्षणों के द्वारा ज्ञात करके, उन्हें व्यवहार में लाना होगा।

### आधुनिक खाद्य समस्या अथवा उपसंहार

आज सरकार के सतत प्रयत्न और जनता के सहयोग से हमारे देश की खाद्य समस्या पूर्णतया नियंत्रित है। भारत के आधुनिक केन्द्रीय खाद्य मन्त्री श्री रफी अहमद किदवई को इस बात का पूर्ण विश्वास है कि अब भारत खाद्य के विषय में आत्मनिर्भर है। वह चावल अथवा दूसरे खाद्यान्नों में आयात की अपेक्षा निर्यात करने की सामर्थ्य भी रखता है। वैसे प्रायः प्रत्येक प्रान्तो में तो आज विनियंत्रण भी हो चुका है। पर इस वर्ष की घोषित नीति के आधार पर मार्च १९५४ से संपूर्ण भारत में विनियंत्रण हो जायेगा। २ जनवरी १९५४ से मोटे अनाज से कंट्रोल तो उठ ही चुका है।

---

## विश्व-शांति के उपाय

### ( यू० एन० ओ० )

प्रभात का सुनहला आकाश, तारों भरी आधी रात, ब्रह्म मुहूर्त की वेला, हिमालय की निर्जन गुफाएं, एकांत तपोवन, वैरागी की कुटिया, योगी की ध्यानमग्न अवस्था, कवि का साधना काल ये सब एक गंभीर व्यक्ति को क्यों अच्छा लगता है। संध्या समय नगर का बड़ा बाजार, तोपों की गर्जना से कान खाने वाला भयानक युद्ध, व्यापारियों का जमघट, क्रांतिकारी राजनीतिक आन्दोलन और बच्चो का स्कूल उस गंभीर व्यक्ति को क्यो अखरने लगता है? इसका क्या कारण है? शैशव की अबोध अवस्था और संघर्षशील यौवन में क्या अन्तर भरा है। निद्रा की मधुरता और जागरण की स्फूर्ति का क्या भेद है? इसका उत्तर वही है, जो सरिता की स्निग्ध धारा जलते हुए मरुस्थल पर बहते हुए देती है। अथवा किसी सन्तप्त पथिक पर अपनी रुपहली चादर लपेटते हुए शुभ्र ज्योत्स्ना जिसे मुस्कराती हुई कह देती है, वही उत्तर मानव की चिर-साधना है, विधाता का अमर वरदान है, आनन्द का दिव्य स्रोत है

और निरसन्देह संसार की विषम समस्याओं का एक मात्र समाधान है। आर्यों ने वेद के पवित्र मंत्रों का उच्चारण करते समय आरंभ मे तो 'ओं' कह कर सृष्टिकर्ता का स्मरण करना उचित समझा, परन्तु मंत्र की समाप्ति पर अपनी सहज कामना और दिव्य आनंद के स्रोत के पाने के लोभ का संवरण न करते हुए 'ओं' शब्द के साथ उसी चिर अभिलषित वस्तु को मांग लिया, वह चिर अभिलषित वस्तु थी——शांतिः——ओं—शांतिः।

मानव स्वभाव से ही शांति-प्रिय रहा है, क्योंकि शांति से उसे अमंद आनंद की प्राप्ति होती है, और आनन्द की कामना तो उसे निरंतर रहती है। यही कारण है कि जीवन की विषमताओं मे भी वह समता स्थापित करने का यत्न करता रहता है। उसी आनन्द प्राप्ति के लिए या शांति की खोज के लिए आदि काल से वह बीहड़ जंगलो मे भटकता रहा, निर्जन पहाड़ों की खाक छानता रहा। एकांत गुफाओं मे जाकर उसने समाधि लगाई। शीत और ग्रीष्म के विषम वातावरण में रह कर उसने शांति मार्ग की खोज में सहस्त्रों वर्ष बिता दिए और अन्त मे उसे शांति का अमूल्य रत्न मिल भी गया। किन्तु वह शांति एकांगी थी। आध्यात्मिक शांति तो मानव पा गया, परन्तु भौतिक तृप्ति के अभाव मे उसका जीवन पूर्ण सुखी न बन सका। भौतिक सुख सुविधाओं तथा अभावो की पूर्ति के लिए उसने फिर हाथ पैर मारने प्रारंभ किए। मानवीय सभ्यता का समस्त इतिहास इसी संघर्ष-पूर्ण खोज की लम्बी कहानी है। मानव ने शांति को प्राप्त करने के लिए सभी उचित अनुचित संभव असंभव उपायों से काम लिया। एक दिन ऐसा भी आया कि वह मानव से दानव की कोटि को पहुँच गया। शांति चाहने वाला मानव अशांति फैलाने का कारण बना। मानव होकर उसने मानव का रक्त बहाया। तुमुल युद्धों की ज्वाला मे मानव समाज का स्वर्णिम इतिहास जल कर राख हो गया। महाभारत ने भारत को गारत करके छोड़ा। राम रावण युद्ध भी मानवता के महान संघर्ष की एक कड़ी थी। रक्तपात से लहू-लुहान धरती उषाकालीन आकाश से होड़ लेने लगी। पददलित घायल मानवता की त्राहि-त्राहि से गगन गूंज उठा। हिंसा और विद्वेष के शोले चारों ओर भड़क उठे और सबसे बड़ा आश्चर्य यही था कि मानव ने यह अशांति का दारुण मार्ग शांति

प्राप्ति के लिए अपनाया था।

यह ठीक है कि मानव के शांति प्रयत्न सदा विफल होते रहे। उसकी चिर अभिलषित वस्तु उसे मिल कर भी फिर नष्ट होती रही। वह चार दिन शांति से बिताकर फिर अशांति के गहरे गढ़े मे धकेल दिया गया। प्रायः हर शांति ने अशांति को जन्म दिया और हर अशांति की काली रात्रि के पश्चात् शांति का सुनहरा प्रभात निकला। परंतु मानव इससे हतोत्साह नहीं हुआ। उसने हिम्मत कभी नही हारी। वह बराबर शांति के उपायो को सोचता रहा। असफलता ने उसे पुन: सफलता की ओर अग्रसर किया। वह गिरा, मगर गिर कर फिर उठा और चलने लगा—

इस तरह तै की हैं हम ने मंजिलें,
गिर पड़े, गिर कर उठे, उठ कर चले।

महात्मा बुद्ध और अशोक का शांति उपदेश दूर की बात है, यदि थोड़ी ही पीछे दृष्टि डाली जाये, तो यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि शांति के पुजारी धर्मप्रधान भारत देश में ही नहीं, संघर्षप्रिय युद्ध के लिए सदा प्रस्तुत रहने वाले भौतिकवादी पश्चिम ने भी अशांति की भयंकरता के पश्चात् कुछ सांस लेकर अंतत: शांति प्रयत्नो को ही अपनाया है। प्रथम विश्व महायुद्ध की अपार जनधन हानि को देख कर युरोप के राजनीतिज्ञों को भी एक शांति सम्मेलन बुलाने की आवश्यकता का अनुभव हुआ और 'लीग आफ नेशंस' अर्थात् राष्ट्रसंघ का निर्माण कर के पारस्परिक झगड़ों को शांतिपूर्वक निपटाने का सुझाव स्वीकार किया। भौतिकवाद के आधुनिक पग में शांति को प्राप्त करने के लिए यह सब से पहला बड़ा पग उठाया गया था। त्रस्त मानवता के हरे घावों पर इस से मरहम लगने की आशा थी। किन्तु मानव की यह संधि दुरभिसंधि प्रमाणित हुई। उसके स्वार्थ ने सारी कमाई पर पानी फेर दिया। विश्व इटली और जापान के दु:साहस को चुपके-चुपके देखता रहा। अत्याचारी को अन्याचारी कहने के लिए किसी में भी अंगुली उठाने का साहस न हो सका। अमेरिका आदि कुछ बड़े देश पहले ही से इस संघ में सम्मिलित नहीं थे। फलतः जर्मनी ने भी उच्छृंखलता का खेल खेलना आरम्भ किया। राष्ट्र संघ की नपुंसकता का भंडा चौराहे

पर फूट चुका था। हिटलर को विगत पराजय का प्रतिकार लेने का अवसर मिल गया। जर्मनी का खून चूसने वाले निर्दयी राष्ट्रों को मजा चखाने के लिए जर्मनी को गुप्त रूप से असाधारण रूप से शक्तिशाली बना कर नाजी नेता हर हिटलर ने पौलैंड पर आक्रमण कर दिया। जिसके फल-स्वरूप केवल बीस वर्ष तक की आंशिक सुख निद्रा भंग हुई और पहली सितंबर १६३६ को द्वितीय विश्व महायुद्ध प्रारम्भ हो गया।

इस महा-युद्ध में विज्ञान के नवीन आविष्कारों से पूरी-पूरी सहायता ली गई, जिससे नरसंहार का प्रलय-कालीन दृश्य उपस्थित हो गया। लाखों व्यक्तियों के प्राणों की आहुति इस युद्ध ज्वाला में पड़ी। करोड़ों धनराशि इस में स्वाहा हो गई। पांच वर्षों तक यह नरहत्या का तांडवनृत्य पूरे जोवन पर होता रहा। इस का अंत भी एक भयंकरतम घटना से हुआ अर्थात् संसार के सब से भयंकरतम आधुनिक वैज्ञानिक अस्त्र परमाणु बम का प्रथम परीक्षण जापान के हिरोशिया नगर पर किया गया, जिस के फटते ही लगभग पाँच लाख की जनसंख्या का वह आबाद नगर दो क्षण में निर्जन श्मशान बन गया। मानवता के लंबे इतिहास में इतनी दारुण घटना कदाचित् इस से पहले कभी नहीं घटी थी। मजे की बात तो यह है कि यह सब कुछ शांति के नाम पर और शांति के पुजारियों की ओर से किया गया। यह विचित्र विडंबना थी। अस्तु, इस भयानक विश्व महायुद्ध की समाप्ति पर संसार के विचारकों का ध्यान एक बार फिर विश्वशान्ति के उपाय खोजने की ओर गया। पराजित देशों का तो वैसे ही कचूमर निकल गया था। विजेता देशों की भी समस्त शक्ति नष्ट हो चुकी थी। सभी थक कर हार चुके थे। फलतः सभी को चाहे अन-चाहे एक शान्ति सम्मेलन बुलाने की चिंता होने लगी। युद्ध की भयङ्करता ने सबकी आँखें खोल दी थीं। विज्ञान की बढ़ती हुई उन्नति से मानव को प्राणरक्षा की चिंता भी लग गई थी, क्योंकि जिस विज्ञान को दास बनाकर उसने जीवन के अनेक सुख प्राप्त किए थे, अब वही विज्ञान उसका प्राणहारक बनता जा रहा था। रक्षक को भक्षक बना हुआ देखकर पुराणों की भस्मासुर की कथा याद आ आती है। एक बार भस्मासुर ने शिवजी भगवान् की बड़ी कठोर तपस्या की

और अंत में यह वरदान पाया कि वह जिस किसी के सिर पर हाथ रखेगा, वह व्यक्ति तत्काल भस्म हो जायेगा। वर प्राप्त करके उस राक्षस ने सबसे पहले शिवजी भगवान् के ही सिर पर हाथ रखना चाहा, जिस पर शिवजी भयभीत होकर जान बचाने के लिए निकले, अंत में किसी प्रकार भगवान् विष्णु ने उनकी प्राणरक्षा की। इस प्रकार आज का मानव भी शिवजी के समान अपने सेवक विज्ञान से त्रस्त है। फलत: पचास देशों के प्रतिनिधियों ने मिलकर आगामी युद्धों को रोकने के लिए संघटित योजना बनाई। संयुक्त-राष्ट्र संघ ( यू. एन. ओ. ) की स्थापना की गई और उसके महान् उद्देश्यों में विश्वशांति की स्थापना तथा आपसी झगडो को मिल कर बात-चीत के द्वारा निपटाने पर जोर दिया गया। केवल राजनीतिक सुरक्षा ही नहीं, अपितु विश्व के सभी देशों को पारस्परिक सांस्कृतिक विकास करने के लिए भी उत्साहित किया गया।

संयुक्तराष्ट्र-सघ के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रमुख संस्थाएँ बनाई गईं—

१—जनरल असैंबली ( महासभा )

२—सेक्युरिटी कौंसिल ( सुरक्षा परिषद् )

३—यूनेस्को ( संयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा, विज्ञान, संस्कृति संघ )

४—इंटर्नेशनल कोर्ट ( अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय )

५—ट्रस्टीशिप कौंसिल आदि

इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पद सुरक्षा परिषद् का है, क्योंकि विश्व की शांति का महान् उत्तरदायित्व इसी संस्था पर है। यद्यपि यू. एन. ओ. के द्वारा संसार के साठ से अधिक देश एकत्र हो गए हैं, जिनके प्रतिनिधियों द्वारा संसार की बहुत बड़ी जनसंख्या की समस्याओं पर शांतिपूर्वक विचार होता है और आपसी झगडे भी बात-चीत द्वारा सुलझाए जाते हैं। यह कोई साधारण बात नहीं कही जा सकती। आज के स्वार्थपूर्ण जगत् में जब दो व्यक्ति मिलकर बैठना पसन्द नहीं करते, उस दशा में संसार के प्रायः सभी देशों का संयुक्त हो जाना शांति प्राप्ति का सबसे बड़ा साधन बन सकता है। संयुक्तराष्ट्र संघ की अंगभूत अनेक संस्थाओं के कारण विभिन्न देशों की सांस्कृतिक, वैज्ञानिक, आर्थिक, शिक्षा, स्वास्थ्य, सहायता सम्बन्धी बहुत

ही महत्त्वपूर्ण एवं लाभदायक काम हुए हैं। साम्प्रदायिकता की संकुचित प्रवृत्ति को छोडकर राष्ट्रीयता के दायरे से परे भी अन्तर्राष्ट्रीय भावना की जागृति भी अत्यन्त शुभसूचक है। विश्व नागरिकता की भावना ने निःसन्देह विश्वबन्धुत्व की भावना को जन्म दिया है। परन्तु युद्ध और शांति जैसे राजनीतिक प्रश्नो को पूर्णतः सुलझाने मे अभी यह संघटन सफल नहीं हो सका। यद्यपि इस संघ को आज प्रायः सभी शक्तिशाली राष्ट्रों का सहयोग प्राप्त है तथा उनकी सैनिक शक्ति का उपयोग करने का भी नैतिक अधिकार इस संघ को कोरियाई युद्ध में प्राप्त हो चुका है, जो इस संघ की असाधारण संघटन शक्ति का प्रतीक कहा जा सकता है और इसी प्रकार अरब और यहूदियो के विवाद का निपटारा भी इस के द्वारा बिना अधिक रक्त-पात के हो गया है। हिन्देशिया को पूर्ण स्वतन्त्रता भी इसी के प्रयत्नो से प्राप्त हुई है; किन्तु फिर भी कुछ एक महान् जटिल समस्यायें जो विश्वशांति के लिए खतरा बनी हुई हैं, सुरक्षा परिषद् के प्रयत्नों से अभी तक नही सुलझाई जा सकी। इसका एक सबसे महान् कारण है—गुटबन्दी की भावना।

आज संसार में दो बडे धडे बने हुए हैं। अमेरिका एक गुट का संरक्षक है और रूस दूसरे गुट का नेता। इन दोनो महान् देशों की संस्कृति एक दूसरे के पूर्णतः विपरीत है। दोनो की विचारधारा, सिद्धान्त, जीवनदर्शन और राजनीतिक आधार परस्पर भिन्न ही नहीं, विरोधी भी हैं। पूंजीवाद का एक समर्थक है, दूसरा उसका समूल नाश चाहता है। इस गुटबन्दी का ही यह दुष्परिणाम है कि आज हर क्षण अशांति की आशंका हो रही है। द्वितीय विश्व-महायुद्ध के विजय-पत्र की स्याही अभी सूखने भी नहीं पाई कि तीसरे युद्ध की चर्चा सबके होठों पर नाच रही है। युद्ध का ज्वालामुखी अपने भीतर विशाल प्रलय-राशि को छुपाये यद्यपि अभी तक मौन और शांत खडा है परन्तु दूरदर्शी आँखें देख रही हैं कि वह किसी क्षण भी फट सकता है और संसार की रक्षा किसी भी समय अभूतपूर्व नाश के गर्त में सदा के लिए गिर कर नष्ट हो सकती है। दोनों पक्ष शांति की दुहाई दे रहे हैं, परन्तु उनमें से कोई भी एक दूसरे की सच्ची बात भी मानने को तैयार नहीं। दोनो अपनी झूठी आन पर अड़े हुए अपनी-अपनी बात मनवाने पर तुले हुए है।

यही कारण है कि अभी तक कुछ ऐसे देश भी विद्यमान हैं, जो जनसंख्या के विचार से संसार मे सर्वप्रथम होने पर भी केवल अनुचित हठधर्मी के परिणामस्वरूप यू. एन. ओ के सदस्य नही बनाये जा सके। "विश्वशांति के लिए विश्वराष्ट्र संघ की आवश्यकता है, संयुक्तराष्ट्र सं घ की नहीं।" जब तक एक भी देश चाहे वह कितना भी छोटा और पिछड़ा हुआ क्यों न हो, इस संघ से अलग रहेगा, अशांति की सम्भावना ( चाहे वह किसी भी ओर से हो ) बनी रहेगी। संसार के सभी देशो का अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण स्थान है, जिसे स्वीकार करते हुए अपने-पराये की अनुचित भावना को दूर कर न्याय और सत्य का सहारा पकड़ कर शांति का प्रयत्न दृढ़तापूर्वक करते जाना ही प्रथम कर्तव्य है। इस दिशा मे भारतवर्ष निःसन्देह नेतृत्व कर सकता है। इस प्राचीन देश की गौरवशाली संस्कृति, आध्यात्मिक विचारधारा, अहिंसा का सिद्धान्त, 'सत्यमेव जयते' का निर्भीक आदर्श आज के भौतिक युद्धप्रिय युग मे भी शांतिदूत महात्मा गांधी के जीवन रूप में देखा जा सकता है। संसार के इस असाधारण महान् पुरुष, ईसा और बुद्ध के अवतार महात्मा गांधी के पवित्र आदर्शों पर चल कर, भारतीय अद्वैतवाद के धार्मिक सिद्धान्त को राजनीति में भी व्यावहारिक रूप देकर, "आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्। " के पुण्य मंत्र का स्मरण करता हुआ संसार निश्चयात्मक रूप से शांति के दिव्यरत्न को प्राप्त कर सकता है।'

# महात्मा गांधी

जीवन एक गाड़ी है जो संसार की यात्रा पर आदिकाल से चल रही है। इस गाडी पर असख्य व्यक्ति सवार होते हैं और अपने-अपने लक्ष्य स्थान पर उतर जाते हैं। लाखों यात्री किसी स्थान पर उतर पडते है तो लाखो नये यात्री उसमे सवार हो जाते है। गाडी के डिब्बे कभी रिक्त होने में नहीं आते। डिब्बो में विविध यात्री अपनी विविध वेष-भूषा पहने अपनी आवश्यकताओ को संजोये मन की मौज में बहते रहते है। किसी को दूसरे यात्री का पता तक नहीं होता। नाम तक मालूम नहीं होता। उसके सुख-दुःख का ज्ञान नही होता। हरेक आदमी इस बडे मेले मे भी अकेलापन अनुभव करता है। कोई चढ रहा है या उतर रहा है, इससे यात्रियो के मन पर कोई विशेष अन्तर नहीं पडता। परंतु कभी-कभी गाडी पर कोई ऐसा व्यक्ति भी सवार हो जाता है, जो सबके निकट परिचय मे आ जाता है। प्रत्येक यात्री उसके नाम, धाम, काम एवं विचारधाराओं को जानकर उससे प्यार करने लगता है। अपने कानो को उसकी वाणी की ओर केन्द्रित कर लेता है। उसकी बातें सुनने तथा तदनुकूल कार्य करने मे सबको आनन्द का अनुभव होता है और जब वह व्यक्ति अपने निश्चित स्थान पर आकर उतर जाता है, सारी गाड़ी में शोक का वातावरण छा जाता है। यात्री उसके विरह मे व्याकुल हो उठते हैं। जब तक यात्रा चलती रहती है, उस विशिष्ट यात्री की चर्चा सबके होठों पर रहती है। उसके गुणों का स्मरण कर लोग अपने सामने नवीन आदर्श रखते हैं। वह दिव्य यात्री अन्य सबके लिये अनुकरणीय और चिर स्मरणीय बन जाता है।

ऐसे यात्री इस संसार में कभी-कभी अवतीर्ण होते हैं। जब कहीं आपत्ति विशेष आ जाती है, 'धर्म का नाश' और 'अधर्म का प्रसार' होने लगता है। अत्याचारी लोग अमानुषिक व्यवहार करते है, न्याय का साम्राज्य उठ जाता है, तभी 'धर्म संस्थापन' तथा 'साधु पुरुषो के परित्राण' के लिए ही दिव्य

महा पुरुषो का जन्म होता है; जिनके शांति-उपदेशो से संतप्त जनता को शीतल शांति प्राप्त होती है। देश, काल और व्यक्ति की सीमा से ऊपर उठ कर वे महापुरुष सार्वदेशिक, सार्वकालिक और सार्वजनिक बन जाते हैं। उनके पद चिन्हो पर चल कर शेष मानवता चिरंतन सुख समृद्धि को पाती रहती है। ऐसे ही महापुरुषों की एक जन्मभूमि भारतवर्ष भी है। समय समय पर यहां राम, कृष्ण, प्रह्लाद, बुद्ध, अशोक, प्रताप, शिवाजी, शंकराचार्य, कबीर, तुलसी जैसे संत महात्माओं, राजर्षियो और महर्षियों ने जन्म लिया तथा अपनी विशेष परिस्थितियो में देश-काल की समस्याओ का समाधान करके पीड़ित मानवता की रक्षा की।

एक बार ऐसी विकट परिस्थिति पुनः पैदा हुई। भारतवर्ष की स्वतंत्रता को विदेशी आक्रमणकारियो ने छीन लिया। भारतमाता बन्दिनी हो गई। उसके हाथों में हथकड़ियां और पैरो में बेड़ियां पहना दी गईं। उसके तेंतीस करोड बच्चे भूख से तिलमिलाने लगे। उनको खाने के लिए रोटी और पहनने को वस्त्र तक न मिल सका। संकट की घटायें चारों ओर से उमड़ने लगीं। निराशा का गहन अंधकार छा गया। दुःख के अथाह सागर में भारत की जनता डूबने लगी। इसी समय भारत के पश्चिमी तट पर एक दीपक की ज्योति जगमगाती नजर आई, जिसके प्रकाश से केवल भारत या एशिया ही नहीं, अपितु समस्त संसार देदीप्यमान हो उठा। आशा और नव जीवन का प्रकाश सभी ओर बिखर गया। भारत माँ के मुरझाये चेहरे पर हंसी की चाँदनी खेलने लगी और पराधीनता की जंजीरें छन-छन करती हुई टूट पडीं। उस अमर दिव्य ज्योति का उत्पत्ति स्थान था पोरबंदर, उत्पत्ति काल था २ अक्तूबर १८६९ और शुभ नाम था मोहनदास कर्मचंद गांधी।

महात्मा गांधी ने प्रारम्भिक शिक्षा अपने घर पर ही प्राप्त की और वकालत पढ़ने के लिए वह इंगलैण्ड चले गए। वहां से बैरिस्टर बन कर भारत लौटे किन्तु उनकी वकालत यहां चल न सकी। सहसा उन्हें एक मुकद्दमे के लिए दक्षिणी अफ्रीका जाना पड़ा, जहां से इनका महामानव जागृत हो उठा। परिस्थितियां ही महापुरुषों को जन्म देती हैं, इस उक्ति के अनु-

सार गांधी जी को महात्मा गांधी बनाने वाली भी परिस्थितियां ही थी। दक्षिणी अफ्रीका के भारतीयो के साथ अपमान-जनक और अमानुषिक व्यवहार देखकर गांधीजी की आत्मा व्याकुल हो उठी। साम्राज्यवादी शासको के विरुद्ध 'सत्याग्रह' आरम्भ कर दिया और भारतीयो को मानवाधिकार दिला कर विजयी के रूप मे गांधी जी भारतवर्ष लौटे। अब स्वदेश की समस्यायें सुलझाने तथा पराधीन भारत को पुनः स्वाधीन करने की चिन्ता हुई। कांग्रेस की बागडोर अपने हाथ में लेकर शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध गांधी जी ने स्वतन्त्रता-संग्राम छेड दिया। सत्य और अहिंसा की अमोघ-शक्ति पर विश्वास करके देश के करोडो नर-नारियों ने गांधी जी के नेतृत्व में सत्याग्रह तथा असहयोग आन्दोलन द्वारा शासको के दमन चक्र को व्यर्थ सिद्ध कर दिया। अन्त में ६ अगस्त १६४२ को 'भारत छोड़ो' की घोषणा की गई। फलतः अंग्रेजों को भारत की सजग आत्मा के सामने झुकना पडा। १५ अगस्त १६४७ को भारतवर्ष हजारो वर्षों की दासता के अन्धकार से निकल कर स्वाधीनता के दिव्य ज्योति मन्दिर मे प्रविष्ट हुआ। यद्यपि भारत की स्वतन्त्रता के लिये पाकिस्तान जैसी मंहगी कीमत भी साथ चुकानी पडी; किन्तु गांधी जी देश-विभाजन के सदैव विरोधी रहे। संक्षेप मे भारत को आज़ाद कराने में जिन असंख्य देशभक्तो ने अपना तन, मन, धन बलिदान कर दिया, उनमे गांधी जी का नाम अग्रगण्य रहेगा। महात्मा गांधी वह सौभाग्यशाली माली थे, जिन्होने अपने खून से सींच कर बड़े किये हुए आज़ादी के पौधे का फल भी अपने जीवन काल मे चख लिया।

संसार के इतिहास मे भारतीय स्वतन्त्रता की कहानी अपनी किस्म की सबसे अधिक विचित्र और महत्वपूर्ण कहानी है। इस कहानी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस का प्रतिनायक जहां विज्ञान के भयानक शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित विश्व का शक्तिशाली सम्राट् था, वहां इसका नायक एक दीन, दुर्बल, निहत्था, लङ्गोटीबन्द फकीर। राम और रावण की तुलना इस कहानी के साथ खूब मेल खाती है। संसार के अन्य देशों में स्वाधीनता की लड़ाइयो मे हजारों घर बरबाद किये गये, लाखों निर्दोष व्यक्तियों का खून किया

गया, असंख्य व्यक्ति युद्ध की ज्वालाओं में भस्म हुए। हिंसा की भयानक राक्षसी ने महानाश का तांडवनृत्य किया, तब जाकर उन देशों को स्वतन्त्रता कहीं मिल सकी। किन्तु धन्य है, यह देश और इसका विश्ववन्द्य बापू, जिसने अहिंसा के द्वारा हिंसा से टक्कर ली और उसे झुका दिया। रक्त की एक बूंद बिना गिराये भारत के चालीस करोड़ लोगों को स्वतन्त्र कर लिया। तोपों और बमों की गड़गड़ाहट को अपनी मधुर 'रामधुन' से मूक कर दिया। यह एक जादू था, इंद्रजाल था, माया थी या कोई चमत्कार? कोई कुछ नहीं कह सकता। मुट्ठी भर हड्डियों के ढांचे ने विशाल शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य को घुटने टेकने पर विवश कर दिया। एक दुबले-पतले नंग-धड़ंग साधु ने चालीस करोड़ भारतीयों को अपने वश में ऐसा कर लिया कि उसके अन्नजल त्याग देने पर चालीस करोड़ घरों में अन्नजल ग्रहण रुक जाता था। उसके अनशन की घोषणा से जान के शत्रु गले मिल जाते, दंगे-फसाद रुक जाते, रक्तपात बन्द हो जाता, कलह-विरोध मिट जाते, सब भाई-भाई होकर एक स्वर से 'गांधी की जय' पुकार उठते। कदाचित् संसार के इस अद्भुत महापुरुष के विषय में संसार के सबसे बडे वैज्ञानिक आईनस्टीन ने कहा था— 'कि आने वाली नसलें यह विश्वास भी न कर सकेंगी कि महात्मा गांधी जैसा कोई हाड-मांस का पुतला व्यक्ति इस धरती पर जीवित-जागृत रूप में कभी रहता था।''

महात्मा जी का जीवन सत्य, सेवा और त्याग का सजीव आदर्श था। आरम्भ से ही सत्यवादिता तथा सदाचार की अग्निपरीक्षा में वे सफल हो चुके थे। चरित्रनिर्माण तथा स्वार्थहीनता उनके प्रिय लक्ष्य थे। दृढ़ प्रतिज्ञा की कसौटी पर भी वे पूरे उतरे। इनकी सफलता का सबसे बड़ा कारण यही था कि वे जो कुछ कहते थे, उस पर पहले वे स्वयं आचरण करते थे। मन, कर्म और वचन की एकता ने ही उन्हें एक असाधारण महापुरुष बना दिया। वे सच्चे कर्मयोगी थे। गीता के बचनानुसार फल की कामना से वे सदैव दूर रहे। ईश्वर पर अगाध श्रद्धा उनको शैशव से ही थी और इसी का सहारा वे जीवन के अंत तक पकड़े रहे। 'राम' की कृपा को उन्होंने सर्वोपरि माना।

बड़े-बड़े कष्टों और कठिन परिस्थितियों में से जब भी गांधी जी को छुटकारा मिला, उन्होंने इसे 'राम का ही प्रताप' समझा। ऐसे आध्यात्मिक जीवन को प्रस्तुत करके उन्होंने भारत के प्राचीन ब्रह्मर्षियों की स्मृति ताजा कर दी। अन्तरात्मा की प्रेरणा ( Inner voice ) के अनुसार ही सदा उन्होंने कार्य किया। इसी आत्मबल ने ही गांधी जी को महान् प्रभावशाली और अजेय महापुरुष बना दिया। प्रातः-साय ईश्वर प्रार्थना करके प्राचीन भारतीय संस्कृति का वह ज्वलंत स्वरूप संसार के सामने रखा कि देशी, विदेशी, अपने-पराये सभी उस दिव्य तेज के सामने एक बार तो अवश्य नतमस्तक हो गये। गांधी जी ने सब को प्रेम और शांति का उपदेश दिया। व्यक्तिभेद को मिटाकर सब को जाति-धर्म निरपेक्ष रहना सिखाया। मानव को मानवता का पाठ पढ़ा कर उसे संकुचित एवं संकीर्ण मार्ग से हटा महान् बनने को प्रेरित किया। यही कारण है कि भारत मे ही नहीं, संसार भर मे रहने वाले व्यक्तियों को वे सदा आत्मीय समझते थे। हिन्दू-मुस्लिम-एकता स्थापित करने के लिये उन्होंने अपने विरोध तथा अपमान की भी कभी चिन्ता नहीं की। अपने निश्चित सत्य और अटल सिद्धांतों पर वे सदा निर्भय हो कर चलते गए। अस्सी वर्ष की अवस्था मे भी बापू ने नवाखली के क्षेत्र की पैदल यात्रा की और बिना पोलीस की सहायता के सांप्रदायिकता की ज्वाला में जलने वालों, हिंसा के पुजारियों, अत्याचारी गुंडे मुसलमानों को शांति और प्रेम का संदेश सुना कर उनके हृदयों को जीत लिया। १५ अगस्त का दिन, भारतीय स्वतन्त्रता का चिर प्रतीक्षित स्वर्ण-अवसर भी उनको नवाखली के पीड़ित क्षेत्र में से वापिस न बुला सका। भारत की राजधानी में लालकिले पर पहली बार तिरंगा झंडा लहरा रहा था, परन्तु भारत का राष्ट्र-पिता राजधानी से हजारों मील दूर दुखियों की सहायता के लिए नवाखली के रक्तपात को दूर करने का अद्भुत कार्य पूर्ण कर रहा था। सचमुच ऐसा दृष्टान्त महात्मा बुद्ध या महात्मा ईसा को छोड़ संसार में मिलना कठिन है। लार्ड माऊंटबेटन के शब्दों में "शताब्दियों तक गांधी जैसा महापुरुष भारत ही नहीं, अपितु संसार फिर प्राप्त न कर सकेगा।"

राजनीतिक जीवन के अतिरिक्त गांधी जी ने भारत के सामाजिक जीवन

को भी उन्नत करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया। उनके स्वराज्य की कल्पना 'रामराज्य' के आदर्श पर आधारित थी, जिसमे ऊंच-नीच का भेद भाव न हो, धर्म, जाति या व्यक्तिगत विश्वास, धारणा के कारण कोई बड़ा-छोटा न माना जाए। प्रजातंत्र का व्यावहारिक रूप प्रचलित हो। इसी आदर्श पूर्ति के लिये गांधी जी ने 'अछूतोद्धार' का आन्दोलन चलाया। अछूतो को 'हरिजन' सा पवित्र नाम प्रदान कर के उनको विशेष अधिकार दिलवाये, ईसाई धम स्वीकार करने के लिए बाध्य नौ करोड़ अछूतो की रक्षा कर के हिन्दू जाति पर महान् उपकार किया। इस के अतिरिक्त गांधी जी ने 'ग्राम सुधार' का भी अपना लक्ष्य माना। क्योंकि उनका विश्वास था कि भारत की आत्मा ग्रामो मे निवास करती है। अतः यदि देश का उद्धार करना है, तो गांवो का सुधार करना होगा। ग्राम पचायतो को पुनः सजीव करके घरेलू उद्योग-धंधो को प्रोत्साहित करने पर भी गाधी जी ने बडा बल दिया। चर्खा कातना तो गांधी-नीति का अनिवाय अंग बन चुका था। देश के बड़े-बड़े नेता भी गाधी जी के साथ बैठ कर नित्यनियम के रूप मे सूत कातना अपना कर्तव्य समझते थे। आज भी भारत के राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद और प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। खादी का प्रचार कर के गांधी जी ने राष्ट्रीय उद्योग को उन्नत करने की योजना सिखलाई। शिक्षा के क्षेत्र में भी रचनात्मक कार्य-क्रम प्रस्तुत किया। संक्षेप मे कहे, तो महात्मा गांधी केवल राजनीतिक नेता ही नहीं थे, सच्चे समाजसुधारक, धर्मात्मा और वास्तव मे सांस्कृतिक युग-पुरुष थे।

आज गांधी जी सशरीर हमारे पास नहीं हैं। ३० जनवरी १९४८ को सायंकालीन ईश्वर प्रार्थना मे इस विभूति का भौतिक अंत हो गया था। हिंसा के हाथो अहिंसा के बलिदान का वह रोमांचकारी दृश्य था, जिसे देख समस्त संसार शोक के घने अंधकार मे डूब गया। सूर्यास्त के साथ-साथ मानवता का यह सूर्य भी सदा के लिये अस्त हो गया। परन्तु प्रकाश की जो दिव्य किरणें वह पीछे छोड़ गया, उसकी ज्योति युगों-युगो तक अशांत मानवता को चिर शांति का सन्देश देती रहेगी। जब तक भारतवर्ष इस संसार के चित्र पर रहेगा, जब तक सत्य का अस्तित्व इस धरती पर रहेगा, महात्मा गांधी का नाम भी अमर रहेगा।

# राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता

आज के युग में मानव हृदय के लिए राष्ट्रीयता जितना महत्व रखती है अन्तर्राष्ट्रीयता का महत्त्व भी उतना ही है। आज का मानव समाज अपने जीवन मे जिस सीमा तक व्यापक संबंध-सूत्र अपना चुका है, उससे स्पष्ट है कि वह एक पल के लिए भी दुनिया से आँखे मूद कर अपना अस्तित्व खो देगा। व्यष्टि की सीमा से हट कर जिस दिन मानव समष्टि भाव का कायल हुआ उसी दिन वह केवल अपने लिए नहीं रह गया। राष्ट्रीयता और अन्त-र्राष्ट्रीयता की सृष्टि मानव प्रगति की कथा कहती है। आज का मानव न परि-वार की सीमा मे बंधा है, न समाज-देश की सीमा मे घिरा है—वह तो विशाल पृथ्वी का एक प्राणी है, उसकी आँखो मे किसी स्थान विशेष का चित्र नहीं है, किसी देश-महादेश पर ही उसकी आस्था नहीं रह गई है, वह अपने को देखता हुआ पृथ्वी तल के एक-एक मानव को देखता है।

दूर यूरोप मे सघर्ष छिडता है, उसका प्रभाव भारत पर पडता है, दूराति-दूर अमेरिका में मंहगाई फैलती है, उसका प्रभाव भारत के बाजार पर पड़ता है। पृथ्वी के किसी कोने में कोई हलचल पैदा होती है, हम देखते हैं वह हलचल हमारे घर में भी फैल गई है। एक शब्द मे—'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना आज मूर्त रूप ग्रहण कर चुकी है, व्यवहारो मे उसकी उपयोगिता अपना अधिकार जमा चुकी है। समय ने एक-दूसरे के भाग्य को परस्पर मिला दिया है।

यह कहना व्यर्थ है कि अन्तर्राष्ट्रीयता की छाया में राष्ट्रीयता की परिभाषा मांजल हुई है—राष्ट्रीय गानो का रूप बदल गया है। आज से केवल १५-२० वर्ष पूर्व तक राष्ट्रीयता की परिभाषा किसी देश-विदेश की स्वार्थ रक्षा रही है, उस देश का आतंक दूसरे देश पर लादना रहा है—उस समय का राष्ट्रीय कवि भी जो कुछ सोचता-विचारता है, अपने देश के स्वार्थ की त्रिज्या के चारों ओर ही। इंग्लैंड के तत्कालीन राष्ट्रीय गीत को समझते हुए यह समझना शेष नही रह जाता है कि उस समय की राष्ट्रीयता कितनी संकुचित थी—

"ब्रिटेनिया महान् है,
उसका एक-एक बच्चा महान् है।
ब्रिटेनिया शासक राष्ट्र है,
उसका एक-एक बच्चा शासक है।
दुनिया के सभी समुद्रों पर ब्रिटेन का शासन है।
उसका एक-एक नवजवान शासन करने की शक्ति रखता है।
ब्रिटेन हमारा है,
यह दुनिया हमारे शासन के लिए है।"

कोई भी विचारक इस पर अपनी राय देते हुए यही कहेगा कि जिस राष्ट्रीय कवि ने यह गीत लिखा है, निश्चय ही उसका हृदय उदार नहीं होगा। ब्रिटेन के प्रति प्रकट की गई श्रद्धा वांछनीय है। वह मानव हृदय नहीं है जिसमें अपने देश के लिए श्रद्धा-प्रेम न हो, किन्तु उसके लिए यह छूट भी मानवता नही देती कि वह अन्य देशों को अपने पैर के नीचे रखे, उसके गौरव पर आघात पहुँचाए। दूसरे देश की गौरव-रक्षा करते हुए ही अपने देश की गौरव-वृद्धि की जा सकती है।

जिस प्रकार देश-प्रेम और राष्ट्रीयता का आत्मस्वरूप एक है, उसी प्रकार विश्व-प्रेम और अन्तर्राष्ट्रीयता मे एक भावना काम करती है। अन्तर्राष्ट्रीयता से दूर हट कर हम राष्ट्रीयता को पवित्र नहीं रख सकते हैं। हमारा उद्देश्य सदा ही उच्च होना चाहिए। जहाँ हम अपने राष्ट्र के लिए सर्वस्व त्याग की भावना रखते है वहाँ अन्य राष्ट्रों के लिए कम से कम मंगल कामना की गुंजाइश तो रखें ही। मानवता का विकास हृदय-विकास से ही संभव है। यही कारण है कि भारत आदि काल से ही अपनी राष्ट्रीयता के साथ अन्य देशों की राष्ट्रीयता को भी सम्मान देता रहा है। भारत का विश्व-बंधुत्व भाव ऐतिहासिक महत्व रखता है। भारत के इतिहास में ऐसी घटनाओं का सर्वथा अभाव है, जिससे यह सिद्ध किया जा सके कि भारत ने किसी समीपस्थ किंवा दूरस्थ राष्ट्र पर आक्रमण किया हो। कभी संघर्ष का अवसर भी आया तो वह संघर्ष तक ही रहा, आक्रान्त देश की राष्ट्रीयता का हनन भारतीयों के द्वारा नहीं हुआ। राम रावण का युद्ध अपने ढंग का अनोखा युद्ध कहा जायगा।

राम की शक्ति से लंकावासियों की शक्ति विजित होती है, किन्तु राम उस पर अपना प्रभुत्व तक लादना स्वीकार नही करते। लंका का शासन, लंका की विभव-परंपरा लंकावासी के हाथों ही सौंप कर राम खाली हाथ अपनी अयोध्या लौटते है। युद्ध का खर्च भी वसूल किया जाय, ऐसी भावना राम के हृदय मे नही उठती।

सच तो यह है कि भारत की राजनीति मे भी अध्यात्म-भावना प्रबल रही है। अध्यात्म भावना से पृथक् होकर राजनीति अपनी पवित्रता स्थिर नहीं रख सकती। पूरे दो हजार वर्षों के बाद अभी-अभी भारत स्वतन्त्रता की सांस ले सका है। स्वातन्त्र्य की छाया में आने के साथ ही भारत अपनी पुरानी परंपरा के अनुसार सोचने को बाध्य हुआ। यहा भी राष्ट्रीय प्रगति की जानकारी रखने वाले इस सत्य से अवगत होंगे कि प्रथम स्वातंत्र्य समारोह के दिन ही 'तिरंगे' की वन्दना मे गाए जाने वाले गीत की प्रथम कडी—'विजयी विश्व तिरंगा प्यारा।' पर आपत्ति प्रकट की गई। लोगो ने महसूस किया कि 'विश्व विजय' की कामना पवित्र राष्ट्रीयता नहीं हो सकती। यह कामना तो 'तिरंगे' को कलुषित बनाएगी। फलतः उसी वडी 'प्रेमी-विश्व तिरंगा प्यारा' के रूप मे लागो ने उसका परिमार्जन किया।

दुःख की बात है कि आज भी भूमंडल के अधिकाश राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना से दूर हैं। पल-पल सुलगने वाली महासमर की ज्वाला यह स्पष्ट कर रही है कि उन्हे स्वार्थ की ओट में अन्तर्राष्ट्रीयता पर आघात करना ही भाता है। 'शांति' की घडी में 'अशांति' का आह्वान करने वाले राष्ट्र भी अन्तर्राष्ट्रीयता की दुहाई देते हैं, दूसरे राष्ट्र को पददलित करने का प्रयास करने वाले भी विश्व स्वातंत्र्य के प्रचार से पीछे नहीं हटते। एशिया का वायु मंडल विषाक्त हो रहा है, कोरिया सर्वनाश की सीमा में पहुँच गया है फिर भी अमेरिका के स्वर में अन्तर्राष्ट्रीयता की दुहाई गूंजती है, यह आत्म विडंबना नहीं है तो क्या है? ब्रिटेन और फ्राँस का फंदा आज भी कितने राष्ट्रों के गले को कस रहा है और अन्तर्राष्ट्रीयता का उपदेश भी चल रहा है, यह स्वार्थ का माया-जाल नहीं है तो क्या है? कभी 'हाइड्रोजन बम' का सहारा लेकर शक्तिहीन राष्ट्र को भयग्रस्त करने का प्रयास चलता है तो कभी 'नाइट्रो-

जन बम' का उद्घोष सुन शक्तिशालियों का भी हृदय स्वयं कंपित होता है।

आवश्यक है कि आज एक एक राष्ट्र जिसे अपनी राष्ट्रीयता प्यारी है, अन्तर्राष्ट्रीयता को महत्व देते हुए ऐसे घातक प्रयासों के विरुद्ध आवाज उठाए। यदि कोई राष्ट्र अपने ढंग से स्वयं को समृद्ध बनाता है तो किसी राष्ट्र को यह अधिकार नहीं होना चाहिए कि वह अपनी नीति का भार उस पर लादने का प्रयत्न करे। चीन के साथ ऐसी ही बात चल रही है, अर्से तक अमेरिका के क्रूर पञ्जों में फंसा चीन कराहता रहा, चांग और उसके अनुयायियों की दुरभिसंधि में वहाँ की जनता तबाह होती रही, तब तक कोई बात नहीं हुई, किन्तु जब वहाँ के चेतन प्राणों ने अपने राष्ट्र को स्वतंत्र बना लिया, दुनिया के राष्ट्रों को उसके खिलाफ भड़काने का प्रचार प्रारंभ हो गया। उसे साम्यवादी कहकर राष्ट्र संघ से अर्से तक दूर रखा गया। अन्तर्राष्ट्रीयता की शुद्ध नीति यह नहीं बताती कि पूंजीवादी अमेरिका के विरोध में प्रचार किया जाय, न ही वह कभी ऐसा निर्देश देती कि साम्यवादी रूस से घृणा पाली जाय। अमेरिकावासी पूंजीवाद का बोझ सिर ढोना पसन्द करते है, इसके लिए वह सर्वथा स्वतंत्र है। रूस या चीन यदि साम्यवाद की आराधना में कल्याण देखता है तो वह भी अपनी निष्ठा मे स्वतंत्र है। हमारा अन्तर्राष्ट्रीय संबंध सबके साथ सहानुभूति पूर्ण होना चाहिए। यदि हम अपने पड़ौसी का घोड़ा चढ़ना पसंद नहीं कर सकते तो कब संभव है कि उसे हमारा मोटर पर चढ़ना पसंद आए।

समय के परिवर्तन के साथ मानव जीवन मे भी परिवर्तन आता है—प्रकृति मे परिवर्तन स्वाभाविक है। मानव समाज वह दिन भी देख चुका है, जब समष्टि की भावना भी अज्ञात गर्भ मे थी। मानव-समाज वह दिन भी देख चुका है जब एकात्म-सत्ता प्राणिमात्र को कल्याण बांटती थी। आज का दिन भी मानव समाज के संमुख है जिसमें संघ का महत्व है, सत्ता के प्रति घोर घृणा का भाव है। यदि साम्यवाद के आश्रय में मानव अपना सुख देखेगा तो साम्यवाद के प्रचार को कोई रोक नहीं सकता।

सूत्र रूप मे हम कहना चाहेंगे, कि जिस प्रकार राष्ट्रीयता में हमे बन्धुत्व का संबल लेकर आगे बढ़ना है, उसी प्रकार हमारी अन्तर्राष्ट्रीयता भी बंधुत्व की पूंजी से ही निभ सकती है। आज का हमारा जीवन, पृथकत्व की सीमा मे, पनप

नहीं सकता। हमें संपूर्ण विश्व के परिवार को अपना परिवार बनाना आवश्यक है, ऐसी स्थिति मे हमारे लिए यह भी आवश्यक है कि हमारा सद्भाव सभी के साथ हो। स्वतंत्र भारत की अंतर्राष्ट्रीय नीति किसी भी राष्ट्र को आश्वासन दे सकती है कि वह निरस्त और त्रस्त करने की क्रिया को प्रश्रय नहीं देगी। ऐसी घोषणा हमने अपनी आंतरिक सद्भावना के सहारे ही की है।

महाप्राण बापू ने एक बार राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था कि जिस प्रकार राष्ट्रीयता हमे व्यक्तिगत और सामाजिक स्वार्थों से ऊपर उठाकर राष्ट्र के स्वार्थ को महत्त्व देने की प्रेरणा देती है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता हमे राष्ट्र के स्वार्थ से ऊपर उठकर विश्व के स्वार्थ को समझने की चेतना प्रदान करती है। अन्तर्राष्ट्रीय की आराधना हमे 'मानव' से 'महामानव' बनाने मे समर्थ है। .... केवल राजनीति न तो हममे राष्ट्रीयता की भावना भर सकती है, न ही अन्तर्राष्ट्रीयता की छाया छूने दे सकती है, इसके लिए हमे 'मानवता' का द्वार खटखटाना पडेगा, अध्यात्म का प्रश्रय लेना पडेगा।

तो पारिवारिक और सामाजिक भावना का विकास राष्ट्रीयता में है और राष्ट्रीय भावना का विकास अन्तर्राष्ट्रीयता की सीमा में होता है।

---

# भारत की अन्तर्राष्ट्रीय नीति

आज का युग प्रगति का तो है ही, साथ ही आज स्पर्द्धा का जोर भी बढ़ गया है। एक-एक राष्ट्र यही चाहता है कि वह दूसरे को पीछे छोड़कर आगे बढ़ जाय। चाहे वह प्रगति व्यापार के क्षेत्र मे हो, चाहे सैन्य शक्ति के संचय में। प्रगति के ढंग मे भी प्रगति हो रही है। इस दौड में कुछ राष्ट्र आगे निकल गए हैं, कुछ बहुत पीछे पड़ गए हैं। कुछ को तो उस प्रगति के मार्ग से ही हट जाने को विवश होना पड़ा है, कारण उन्हें भय है कि इस दौड़ में वह दूसरो के पैरो तले न आ जाएँ।

यहाँ एक बात स्मरणीय है कि इन दौड लगाने वाले राष्ट्रो मे अधिकांश को यह ज्ञात नहीं है कि वह किस लक्ष्य बिंदु को आगे रखकर दौड़ लगा

रहे है, उनकी इस दौड का क्या परिणाम होगा, संसार के हृदय पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा ? उनके हृदय मे केवल यही भावना जोर मार रही है कि न्य राष्ट्र उनसे आगे न निकल जाएँ। वह सर्वथा अंधे होकर दौड़ लगा रहे हैं। उन्हे न तो समय का विचार है, न साधनों की उपयोगिता की चिन्ता ही है। उन्हे इतना अवकाश कहा कि क्षण भर रुककर वह अपनी स्थिति पर सोचें तथा दूसरो की अवस्था पर विचारें।

यह स्पष्ट है कि अमरीका, इंग्लैंड और फ्रांस सभी अपनी नीति का लक्ष्य प्रजातन्त्रवाद की स्थापना बता रहे है और यह अधिक स्पष्ट है कि उनकी छाया मे साम्राज्यवाद और पूंजीवाद ही फल-फूल रहे हैं। प्रजातन्त्र-वाद की ओर तो उनकी आँखें ही नही उठती। हिन्द-चीन, गायना तथा भारतस्थित विदेशी बस्तियों पर किस प्रकार साम्राज्यवाद और पूँजीवाद अपना तांडव दिखा रहा है, यह देखने का किसी के पास समय नहीं। आश्चर्य तो तब होता है जब उनकी ओर से यह बताया जाता है कि इन राष्ट्रों की सुरक्षा का ध्यान रखकर ही ऐसा किया जा रहा है। सत्य को असत्य का और असत्य को सत्य का जामा पहनाना आज की राजनीति की विशेषता हो गई है। वैसे कहा जा सकता है कि यदि यह राष्ट्र स्वतन्त्र कर दिए जाते हैं तो उनके साम्राज्यवादी तथा पूंजीवादी स्वार्थ को आघात पहुँचने का भय है। कोरिया युद्ध भी सर्वांश मे अमरीकी प्रतिद्वन्द्विता का परिणाम है। एशिया में अमेरिका अपना पैर कहीं भी इसीलिए जमाए रखना चाहता है कि रूस से होड़ लेने मे सुविधा रहे। कोरिया की तबाही का दोष, कोई भी निष्पक्ष राजनीतिज्ञ अमेरिका को ही देगा। स्वार्थवश ही तो अमेरिका एशिया की शांति और उन्नति का खून कर रहा है। ब्रिटिश गायना मे डाक्टर छेदी-जगन की सरकार को पदच्युत करने-कराने में यही नीति कारण है। दक्षिणी अफ्रीका में एक लम्बे अर्से से अशांति चल रही है। इधर नए सिरे से अमे-रिका ने पाकिस्तान के साथ जो स्वार्थ भरा गठबन्धन किया है, उससे एशि-याई देशों को खतरा उत्पन्न हो गया है। इस प्रकार किसी राष्ट्र की प्रगति आज इस नीति मे नहीं मानी जा सकती कि उसमें अन्य राष्ट्रों की प्रगति का भी सम्मान है। किसी को सहयोग देकर आगे बढाने की भावना की तो

छाया भी उन राष्ट्रो के हृदय मे नहीं ढूँढी जा सकती।

उन प्रगतिशील राष्ट्रो की एकान्त इच्छा यही है कि विध्वंसात्मक प्रयत्नो से दूसरे राष्ट्रो को किसी भी प्रकार पीछे ढकेल दिया जाय, इसकी गति को अवरुद्ध कर इन्हे पंगु बना दिया जाय और इस प्रकार स्वयं का प्रगतिशील घोषित किया जाय। आज की प्रगति मे विजेताओ की वह महानता नहीं, वह उदारता नही, जिससे पिछडे हुओ को प्रगति का अवसर मिल सके, बल्कि उनकी विजय भी पराजय की खीझ और चिढ़न है, जो किसी को एक क्षण के लिए भी चैन नहीं लेने दे सकती।

उनकी प्रगति का इतिहास कही भी यह प्रकट नहीं करता कि आज तक उनसे किसी को सहारा मिला है। इसके विपरीत उनका इतिहास अन्य राष्ट्रो को कुचलने का प्रमाण अवश्य प्रस्तुत करता है। प्रारम्भ मे इंग्लैंड की कोई मान्यता संसार मे नही थी, उसने शक्ति संतुलन। दूसरे राष्ट्रो को लड़ा-भिड़ाकर स्वयं को शक्तिशाली बनाने की नीति अपनाई। इसी क्रिया से वह स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस आदि राष्ट्रों को पीछे हटाने में समर्थ हुआ और अपने को प्रगतिशील राष्ट्रो के बीच खडा कर सका। तत्पश्चात् कुछ देशो को गुलाम बनाकर उसने अपनी गणना महान राष्ट्रों मे करवाई। अन्त मे वह उन्नति के शिखर पर भी इसी कूटनीति के सहारे पहुँचा—ससार के अधिकांश राष्ट्र उसके फंदे मे फस गए, उसने कौशल-पूर्वक उनकी शक्ति का सत्यानाश किया और स्वयं को अप्रतिम घोषित किया। आज वह इस परिवर्तन से क्षुब्ध हृदय है कि उसकी वह शक्ति क्षीण क्यो हो गई। कुछ दिनो के लिए फ्रांस भी महान् बना था— नेपोलियन की शक्ति ने उसे भी महान् बना दिया था। जर्मनी और इटली के तानाशाह हिटलर और मुसोलिनी की प्रगति का इतिहास भी संसार के सत्यानाश का ही इतिहास है। अरब, ईरान, अफगानिस्तान, सीरिया, थाइलैंड आदि देश प्रगतिशील राष्ट्रों मे कभी इसीलिए नहीं आए कि उन्होंने किसी की स्वतन्त्रता नहीं छीनी। अफ्रीका के देश आज भी पिछडे देश कहे जाते है, क्यो? केवल इसीलिए कि वह आज भी दूसरे के फदे में फंसे हैं। प्रगतिशीलो की ओर से पिछडे हुए की इज्जत उन्हे दी जाती है, जिन्हे वह गुलामी मे बनाए रखना चाहते हैं। अन्यथा

यदि अफ्रीका के देशों को यह स्वार्थवृत्ति वाले राष्ट्र अपने पैशाचिक शिकंजों में न फँसाए होते और उनकी स्वतन्त्रता को सुदृढ़ करते हुए उन्हे सहयोग प्रदान करते, तो निश्चय यह भी आज प्रगतिशील होते। आज की राजनीति ने प्रगति का अर्थ ही बिल्कुल बदल दिया है, उसकी परिभाषा को नितान्त घृणास्पद बना दिया है। आज की प्रगति मनुष्यो के खून और मांस से मोटी होती है।

अमेरिका की प्रगति और महानता का इतिहास सबसे आधुनिक और सबसे अधिक रहस्यप्रद है। निर्धन राष्ट्रो को अपने पैसे के जाल मे फँसा कर ही वह अपने को महान् बना सका है। आज तो वह चाहता है, सारा संसार उसके पैसे की गुलामी का जुआ अपने कँधे पर डाल ले। पिछले महायुद्ध में जापान पर अणु-शक्ति का प्रयोग कर वह अपने मुकाबले मे किसी को भी मानने के लिए तैयार नहीं। हिरोशिमा का महाप्रलय जापान के हृदय का घाव है किन्तु वही अमेरिका के सिर का विजय तिलक बन गया है। अपने कार्यों पर बिना किसी प्रकार का ग्लानि अपनाए आज भी अमेरिका 'हाइड्रोजन बम' का आतंकपूर्ण प्रचार कर ससार को आतंकित करने का प्रयत्न चला रहा है। शांति के अनमिल राग के साथ आतंक-प्रचार कितना वैषम्य उपस्थित करता है। इस पर सोवियत सरकार का वक्तव्य विचारणीय है। यह वक्तव्य प्रेसिडेन्ट आइसन होवर के भाषण पर दिया गया था। सोवियत सरकार के वक्तव्य यो हैं :—

'इस प्रकार, लाजमी तौर पर, यह नतीजा निकालना पड़ता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रेसिडेन्ट द्वारा प्रस्तुत शांति स्थापना का सुझाव, अपने वर्तमान रूप मे न तो ऐटमी हथियारो के बढ़ते हुए उत्पादन को रोकता है, न ही इन हथियारो का इस्तेमाल करने की सम्भावना को सीमित करता है। यह एक ऐसी बात है, जिसे प्रस्तुत सुझाव का वास्तविक अर्थ आंकते समय, ध्यान में रखे बिना नहीं रहा जा सकता। उस समय इस शांति स्थापन के सुझाव का दूसरा अर्थ निकलता, यदि यह—ऐटमी हथियारों पर जो कि हमला करने के हथियार हैं—रोक लगाने की आवश्यकता की अनुभूति से उद्भूत होता। लेकिन संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के प्रेसिडेंट का भाषण ऐटमी

हथियारो पर रोक लगाने की आवश्यकता का जिक्र तक नहीं करता। बावजूद इस तथ्य के कि प्रेसिडेन्ट आइसनहोवर ने आज के ऐटमी युग में संसार की जातियो के लिए ऐटमी हथियारो के विशेष खतरे पर बल दिया है। एटमी हथियारो पर रोक लगाने के सवाल को भाषण में दर गुजर कर दिया गया है।"

सवाल उठता है, क्या यह संभव है कि एक ओर अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करने की आवश्यकता की बात की जाय और इसी के साथ-साथ, ऐटमी हथियारों पर रोक लगाने की समस्या को दरगुजर कर दिया जाय? इस सवाल के दो भिन्न जवाब नहीं हो सकते। वह सब जो अन्तर्राष्ट्रीय संबंधो में तनाव को कम करने और शांति को मजबूत बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं, सरकारो से यह मांग किए बिना नहीं रह सकते कि वह इस समस्या को सुनिश्चित रूप से शीघ्र हल करने के लिए काम करें।

इतना सब कुछ जान लेने पर यह जानने की उत्कण्ठा स्वाभाविक है कि चलती हुई अन्तर्राष्ट्रीय नीति मे भारत की नीति का क्या रूप है? भारत की स्थिति अभी वैसी नही है कि बलपूर्वक किसी को सीधी राह चलने को विवश करे, फिर भी उन राष्ट्रो की नीति और प्रगति की स्थिति मे सुधार करने और लोकहित की भावना उत्पन्न करने का श्रेय भारत को है। उपदेश और सुझाव के रूप मे ही नही, क्रियात्मक रूप मे हमने अपने को आगे रखा है। ब्रिटेन के आजन्म शोषण के शिकार होकर भी सत्य और अहिंसा की नीति को अपना कर स्वतंत्रता के पश्चात् हमने कोई हानि पहुँचाने का उपक्रम नहीं किया। अंग्रेजो से हमने अपनी वस्तु ली, उनकी कोई वस्तु उन से नहीं छीनी, फिर भी जिस प्रकार स्वप्न मे प्राप्त हुई वस्तु को भी स्वप्नद्रष्टा अपनी समझता है और उसके खो जाने के बाद सिर धुनता है, उसी प्रकार ब्रिटेन को भी भारत के खोने से दुःख हुआ। जाते-जाते भी ब्रिटेन ने भारत मे आग सुलगाने का ही प्रयत्न किया। भारत और पाकिस्तान का बटवारा ब्रिटेन की देन समझते हुए भी हमने उसके साथ मित्रता की नीति अपनाई। भारत के एक-एक कार्य से स्पष्ट है कि वह ब्रिटेन का बुरा नही चाहता। भारत का प्रयत्न तो यही रहा है कि इसके पुराने शत्रु भी सुखी हो। आगे भी भारत की यही

कामना रहेगी कि विश्व के समस्त राष्ट्र उन्नति करे और एक दूसरे को हानि न पहुंचा सकें। पाकिस्तान के साथ भारत का जो व्यवहार चल रहा है, वह विश्व की राजनीति मे ईमानदारी, सचाई और सन्मैत्री का सबमे आश्चर्यप्रद उदाहरण है। काश्मीर पर हमला कर, अमानवीय लूट-मार मचाकर जहाँ पाकिस्तान ने अपनी कुनीति का परिचय दिया वहाँ भारत ने उसके प्रतिशोध में पाकिस्तान पर हमला न कर अपनी सुरक्षा का यत्नभर तक किया। शत्रुता की घड़ी मे भी उससे सत्संबंध बनाए रखने का साहस अपनाया। काश्मीर पर से पाकिस्तान का मोह अब तक हटा नहीं है, आज भी वह उसे हड़पने की चाल चल रहा है, फिर भी भारत शांतिपूर्वक समझौते के लिए तैयार है। कोरिया मे शांति स्थापित करने के लिए भारत ने जो नीति अपनाई तथा उसके कारण उसे जो श्रेय मिला, विश्व के इतिहास में उसका उदाहरण कठिन है।

इस छल और कपट के युग मे राजनीति की प्रवंचनाओ को दूर कर, सचाई, ईमानदारी, सहयोग, त्याग और निःस्वार्थ सेवा की भावनाओ से परिपूर्ण आदर्श राजनीति का निर्माण भारत के द्वारा हो रहा है। सम्राट अशोक के समय मे उसने एक बार जो सन्देश विश्व को दिया था, अशोक चक्र की छाया मे फिर से आज वही दुहराया जा रहा है। यह कहने में कोई बुराई नहीं कि यदि संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत न होता तो वहाँ की नीति कुछ और ही होती।

तृतीय विश्व-युद्ध की आशंका को लेकर सारा संसार त्रस्त है, भारत को भी उसकी वैसी ही चिन्ता है। वह चाहता है, प्रथम तो भावी विश्व-युद्ध हो हीन हीं, यदि हो तो उसका केन्द्र एशिया में न हो। यूरोपीय राष्ट्रों तथा अमेरिका द्वारा लाए गए अभिशाप से कम से कम एशिया की भूमि त्रस्त न हो। भारत की हार्दिक इच्छा है कि एशिया को एशिया वालो के लिए छोड़ दिया जाय। एशिया की समस्या एशिया स्वयं हल करे। इसी उद्देश्य को लेकर भारत ने एक बार एशियाई सम्मेलन भी बुलाया था। शांति प्रयास को भी भारत हृदय से आगे बढ़ाना चाहता है—रूस द्वारा आयोजित शांति आन्दोलन का समर्थन भारत ने दिल खोल कर किया है। साम्यवाद का

समर्थन, भले ही कुछ कारणों से उचित रूप मे भारत नहीं कर रहा है, फिर भी भारत का जनगण साम्यवाद की मंगल कामना करता है। साम्राज्यवाद और पूंजी को स्थिर बनाने वाले मोहक प्रचारों का प्रभाव कम से कम भारतीय जनगण पर नहीं पड सकता।

जहाँ इंग्लैंड, अमेरिका, फ्रांस आदि अपनी शक्ति से दूसरों को कुचल कर, प्रगति और शांति का मजाक उडाते हैं, जहाँ उनकी प्रेरणा औरो केलिए विनाशप्रद होती है, इसके विपरीत भारत अपने व्यवहारो से गुलाम तथा पिछड़े राष्ट्रो को संगठित होकर उन्नति की ओर बढ़ने का संदेश देता है। वह वाणी से ही नहीं, कर्तव्य से भी कल के शत्रु को क्षमा कर आज के लिए मित्र बना लेने का आदर्श पालता है। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भारत की नीति शांतिपूर्ण समझौते की है। सत्य और अहिंसा की विभा भारत के प्रत्येक कार्यकलाप से फूटती है।

---

# भारत धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र

धर्म की आड मे मानव कभी-कभी ऐसी गर्हित भावना का शिकार होता है कि उसे मानवता की साधारण श्रेणी से भी नीचे गिर जाना पड़ता है। विशेषकर शासन क्रिया मे तो धर्म का प्रश्रय और भी घातक होता है। मध्य युग में- भारत में मुसलमानो ने धर्मान्ध होकर जो अत्याचार ढाए, उसकी कहानी कहते हुए इतिहास की आँखो मे भी आँसू भर आते हैं। मुसलमानो की उस धार्मिक बर्बरता को भारत भूल चुका है, किन्तु इतिहास किसी भी प्रकार उसे भुला सकेगा यह सम्भव नहीं। सत्य लोहे की चारदीवारी से भी चिल्लाता है। उसकी ध्वनि कभी मन्द नहीं पड़ सकती। यह सत्य सदा ही सत्य रहेगा कि यदि मुसलमान शासक अपने धर्म की अपेक्षा मे जुल्म का जोर न बढ़ाए होते तो उनका शासन उतनी जल्दी भारत से न मिटा होता।

पिछले इतिहासों को दृष्टि मे रखते हुए और तत्कालीन भारत और पाकिस्तान के बटवारा स्वरू। पाकिस्तानी खूरेंजी पर लानत भेजते हुए कब सम्भव था कि भारत अपने को धर्म-सापेक्ष राज्य बनाने की भूल करता। भारत

ने स्थितप्रज्ञ की भाँति घोषित किया, कि भारत राष्ट्र मे किसी धर्मविशेष का महत्व नही दिया जायगा, न ही किसी धर्मविशेष की उपेक्षा की जायगी। धर्म किसी व्यक्ति की योग्यता-अयोग्यता का भी परिचायक नही होगा। धर्म किसी भी व्यक्ति की अपनी चीज होगी, उससे शासन का कोई सम्बन्ध नहीं होगा। कोई भी व्यक्ति किसी भी धर्म को मानने मे स्वतन्त्र होगा।

इस प्रकार भारत ने धर्म-निरपेक्षता की घोषणा की, किन्तु अन्य राष्ट्रों की भांति घोषणा मात्र से अपने कर्तव्य को पूरा मान लिया, यह बात नहीं। स्वीय घोषणा को कार्य रूप मे परिणत करने के लिए कुछ उठा नहीं रखा। अपने पड़ौसी पाकिस्तान द्वारा किए गए कुकांडो की ज्वाला में भी भारत ने अपना धैर्य खोया नहीं। पाकिस्तान का मजहबी शासन किसी भी अन्य-धर्मी देश को बुद्धिहीन बना देने मे समर्थ कहा जा सकता है फिर भी यह विशेषता भारत की है कि पाकिस्तान का विषम व्यवहार वह वज्र की भांति सहन करता रहा। अपने यहाँ हिंदू-मुसलमान दोनो को ही सर्वथा शान्त और बन्धुत्व की छाया में रहने को बाध्य किया। इतिहास काल से हिंदुओं के जो धर्म-स्थान मुसलमानो के कब्जे मे चले आ रहे थे, जिन धर्म-स्थानो की याद में हिन्दू सदा खून के आँसू बहाते रहे, उन धर्म-स्थानो की वापिसी के लिए वे अपने बहुमत शासन में मौन रहे, यह अलौकिक धैर्य है। आज का प्रत्येक समझदार भारतीय मुसलमान सोचता है, काशी के शिव मंदिर को तोड़कर मस्जिद के रूप में परिणत करने का दुष्कर्म किसी समय मुसलमानो ने किया, किन्तु आज जब वह मस्जिद अपना अर्द्ध परिवर्तित काया लेकर बार-बार इतिहास के दुखद पन्नो को पलटती है, भारत सरकार उसे हिन्दुओ को सौंप क्यों नहीं देती ? और भारत राष्ट्र की धर्म-निरपेक्ष भावना उसे प्रेरणा देती है वह इस आवश्यकीय धार्मिक निर्णय मे भी अपने को नही डाले।

भारतीय गणतन्त्र शासन के कार्यों को लेकर एक भी प्रमाण ऐसा नहीं उपस्थित किया जा सकता है, जिसमें धार्मिक मोह का आभास हो, बहुमत का धर्मभाव अल्पमत धर्म पर हावी हुआ हो, सरकार बहुमत धर्म से दबकर अपने पर धार्मिक रंग चढ़ाने के लिए बाध्य हुई हो।

फिर भी विचारों की कसौटी पर कसते हुए भारत को धर्म निरपेक्ष राष्ट्र कहने के बदले हम अल्पमत धर्म रक्षक राष्ट्र कहना अधिक उपयुक्त समझेंगे। अनेकानेक धर्मों के बीच उसकी निरपेक्षता बहुत ही ऊंची रही है, इसे मानते हुए भी हम यह नहीं मान सकते कि भारतीय सरकार अपने बहु-मत धर्म की सीमा मे भी निरपेक्ष रही है। भारत सरकार की स्थिति उस दार्शनिक के समान कही जा सकती है जो बाहर तो मूर्ति पूजा मात्र का बहि-ष्कार करता है और अपने घर में इस बात पर महाभारत मचाता है कि पूजा की मूर्ति पत्थर की नही हो, 'गणेश' तो मात्र 'गोबर' का बन सकता है। हिंदू कोड बिल का निर्माण-का मोह ऐसा ही है। एक धर्म-निरपेक्ष शासन में, हिंदू कोड बिल, मुसलिम कोड बिल, किंवा ईसाई कोड बिल लाना, शासन की बुद्धिहीनता का परिचायक है। धार्मिक बिलो पर विचार करने का मोह अप-नाते हुए धर्म-निरपेक्षिता का जामा पहनना हास्यास्पद है। यह दुःखद प्रसंग उस समय और भी दु खद हो जाता है जब भारत राष्ट्र के कर्णधार यह कहते हैं कि हिन्दू कोड बिल पास नहीं हो सका तो हमारी सरकार पदत्याग कर देगी। धर्म-निरपेक्ष शासन के कर्णधार को ऐसी उक्ति क्या अर्थ रखती है, यह समझना कठिन पड़ जाता है।

थोडी देर के लिए हम यह भी मान लेते हैं, हिन्दू कोड बिल धार्मिक बिल नहीं, समाज-सुधार का प्रयोग है, धर्म के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु उस समय हमे इसका समाधान नहीं मिलता कि इस नवीन प्रयाग से समाज का कल्याण किस प्रकार होगा? सामाजिक आचरणों में ही तो धर्म का रूप दर्शित होता है, उन आचरणों को परिवर्तित करने वाला किस प्रकार कह सकता है कि वह धर्म मे परिवर्तन नहीं ला रहा है।

भारतीय ललनाओ के लिए पतिव्रत धर्म बताया गया है—वह आचरण के रूप में ही धर्म की संज्ञा प्राप्त करता है। जो धर्म आचार में नहीं आया वह धर्म ही नहीं कहा जा सकता। हिन्दू कोड बिल के लाने वाले कहते हैं—इस बिल से धर्म पर कोई आघात नहीं पहुँचता। हम उनसे यह जानना चाहेंगे हिन्दू कोडबिल का 'तलाक' पातिव्रत धर्म पर आघात पहुँचाता है कि उसे बल प्रदान करता है? तलाक प्रथा प्रचलित करने के पहले यह आवश्यक है कि

सीता-सावित्री की गौरव-गरिमा मिटाने के लिए, उनके आदर्श चरित्रों को समाधि देने के लिए, हमारे राष्ट्र-निर्माता समुचित प्रबन्ध करें। धर्म के नाम पर वितंडावाद करना व्यर्थ है, किन्तु यदि आदर्श चरित्र को मिटाना समाज सुधार है तो कहना ही पड़ेगा कि वह सुधार हमारे तथाकथित सुधारक अपने पास रखें। भारत ने कभी भी जडता को धर्म का रूप नही दिया, वह सदा से विचारक रहा है। उसके आंगन में आचार-भ्रष्ट जावालि भी सम्मान पाते रहे हैं फिर भी आचार-भ्रष्टता को अपनाने की घडी में वह सदा सावधान रहा। नास्तिकों को भारत ने कभी प्राण दण्ड देने की व्यवस्था नहीं की फिर भी स्वयं को नास्तिकता से बचाता रहा।

सगोत्र-विवाह की व्यवस्था देकर हिन्दू कोड बिल के विधाता भाई-बहिन का परिणय उचित मान सकते हैं किन्तु भारतीय संस्कृति का कायल कोई भी हृदय इसे स्वीकार करेगा, ऐसा सम्भव नहीं दीखता। भाई-बहिन की पवित्रता धार्मिक रूप ग्रहण कर चुकी है, आज नहीं लाखों वर्ष पूर्व ही इसे विशुद्ध धर्म मानने का निर्णय भारत कर चुका है। आज धर्म-निरपेक्ष शासन का दम भरने वाले हृदयो को इसे शांत होकर सोचना आवश्यक है।

अन्तर्जातीय और अन्तर्धर्मीय विवाह की समस्या भी ऐसी है। भारत आदि काल से अपनी पवित्रता बनाये रखने का पक्षपाती रहा है। घोर संकट काल में, मुसलमानो के भयावह शासन युग मे भी भारत इस कुकृत्य के लिए तैयार नहीं हुआ। मानसिंह के पिता ने अपनी पुत्री अकबर को नहीं दी, किसी अज्ञात नाम-कुल की कन्या मुगल-हरम को भेज दी गई, फिर भी इतिहास का निर्णय उन्हे कलंकी बनाने में सफल हुआ। समाज में जो घृणा मानसिंह और उसके वंश वालो को मिली, वह अवर्णनीय है। आज हिन्दू कोड बिल के द्वारा यह छूट दी जाती है कि एक हिन्दू-कन्या अपनी पितृ-सम्पत्ति के साथ किसी विधर्मी के घर को, किसी विजातीय परिवार को शोभा प्रदान कर सकती है।

हम भूलते नहीं हैं तो जिस समय कि हिन्दू कोड बिल को जन्म दिया गया था कुछ लोग उक्त बिल पर महामान्य राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद से सम्मति मांगने गए थे। महामान्य राष्ट्रपति ने बहुत ही संयम शब्दो मे कहा था—

इस बिल पर मेरी सम्मति से अधिक उपयुक्त मेरी पत्नी की सम्मति रहेगी। अच्छा हो आप उनसे मिलिए, किन्तु मिलने के पूर्व इतना प्रबन्ध कर लीजिए कि कही आपकी चांद गंजी न हो जाय। यह बिल सर्वथा धार्मिक संस्कारो को भूमि-गर्भ मे डाल देगा।

यह सब कहते हुए, हम विषयान्तर नहीं अपना रहे हैं। हमारे कहने का तात्पर्य यही है कि यदि हम अपने को किसी वस्तु से निरपेक्ष रखना चाहें तो हमें उसके किसी भी अङ्ग से अपेक्षा नहीं रखनी चाहिए। भारत धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र तभी हो सकता है जब कि अपने को धार्मिक उलझनो से सभी प्रकार अलग रखे। उसका कर्तव्य यदि समाज सुधार को महत्व देता हो तो वह ऐसा वातावरण पैदा करे कि जनता स्वयं सुधार की ओर अग्रसर हो। रूस में एक धर्म के लोग नहीं बसते, अनेक धर्मों का रूप वहाँ दर्शित है, किन्तु स्थिति यह है कि वहाँ धर्म का कोई महत्व नहीं है, बदले हुए वातावरण में लोग स्वयं धर्म को भूल गए हैं। वहाँ के किसी भी धर्म मे सुधार का प्रयत्न सरकारी तौर पर नही हुआ। क्या भारत वैसी धर्मनिरपेक्षता नहीं अपना सकता ?

हमें ऐसा लगता है कि भारतीय शासन के संचालक धर्मनिरपेक्षता को लेकर कुछ-कुछ हीन भावना के शिकार भी हैं। अल्पमत-धर्म-रक्षा के प्रयत्न में वह बराबर यह भ्रम अपनाते है कि कहीं अल्पमत धर्म के अनुयायी यह न समझें कि शासन पर बहुमत धर्म का प्रभाव है। विशुद्ध आर्थिक रूप-रेखा रखने वाले प्रश्न—गोरक्षा पर उनकी बुद्धि काम नहीं करती दीखती। गोरक्षा का प्रश्न भारत राष्ट्र के लिए धार्मिक प्रश्न किसी भी अवस्था मे नहीं हो सकता। भारत गो-जीवी राष्ट्र है, उसका जीवन गोवंश पर है। मुसलमान शासकों द्वारा गोवध पर लगाए प्रतिबन्धों का ज्वलन्त प्रमाण संमुख है फिर भी यह सोच कर कि कहीं भारत का मुसलमान-समाज हमें अन्यथा न समझ ले, राष्ट्र के शासक गोवंश का ह्रास देखते हैं, देख कर चुप रह जाते हैं। भारत का मुसलमान-समाज गोरक्षा की मांग करता है, अपनी ओर से सहयोग का आश्वासन देता है फिर भी हृदय की 'हीन-भावना' शासन को दृढ़ नहीं होने देती।

समय का तकाजा है, भारत राष्ट्र अपनी दुर्बलता को हटाए, अपनी धर्म-निरपेक्षिता के दृष्टिकोण को बदले। वर्तमान युग स्वयं धर्म को चुनौती दे रहा है। निकट भविष्य का अनुमान सहज में किया जा सकता है। उस समय राष्ट्र तो सर्वथा धर्म-निरपेक्ष रहेगा ही, व्यक्ति भी धर्म-निरपेक्ष ही होगा। समाज और संस्कृति को कानून के जोर से बदलना कठिन है—उसे समय ही बदलने में समर्थ है। भगवान् मनु का कथन है—"समय और परिस्थिति मे मनुष्य स्वयं धर्म मे परिवर्तन लाता है, धर्म की अपेक्षा या निरपेक्षा समय और परिस्थितिजन्य होती है।"

आज से बीस वर्ष पूर्व—जिस समय धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र रूस दृढ़तापूर्वक अपना कार्य आगे बढ़ा रहा था, कविगुरु रवीन्द्र ने उसके प्रति अपनी श्रद्धांजलि देते हुए कहा था—'रूस के सभी धर्म और सभी जाति के लोग बिना किसी भेद-भाव के एक जुट हो शिक्षा के वरदान तथा समान राजनीतिक अधिकार का उपयोग करते हैं। यदि मैंने अपनी आंखों से नही देखा होता तो कभी विश्वास नही करता कि मात्र दस वर्षों के अन्दर उन्होंने इतना कर लिया। शासन धर्म और जाति से किस प्रकार अपने को दूर रख सकता है, इसका प्रबल प्रमाण रूस है।

—

# प्रजातन्त्र

संकेत—१ परिभाषा। २-प्रजातंत्र की आवश्यकता क्यों हुई? ३-विकास कैसे हुआ? ४-प्रजा तन्त्र के गुण-दोष। ५-विशुद्ध प्रजातन्त्र किन परिस्थितियो में पनपता है?

भूमिका—राज्य की वह प्रणाली जिसमें जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि-राज्य संचालन का कार्य करते हैं, प्रजातन्त्र कहलाती है। अमेरिका के उद्धार-कर्ता प्रेजिडैण्ट अब्राहिम लिंकन ने जनता द्वारा, जनता के लिए, जनता पर किये जाने वाले शासन को प्रजातन्त्र कहा। इस शासन प्रणाली के अन्तर्गत राज्य के अधिकार राजा कहलाने वाले किसी व्यक्तिविशेष के हाथ में न रह

में भी राज सत्ता के विरुद्ध क्रान्ति होने लगी।

विस्तार:—यूरोप में सबसे पहिले फ्रांस में राजतन्त्र के स्थान पर प्रजातंत्र की स्थापना हुई। फिर इटली, अमेरिका, जर्मन आदि देशों ने प्रजातन्त्र प्रणाली को अपनाया। इंग्लैण्ड में राजा के पद को सुरक्षित रखते हुए प्रजा-तन्त्रात्मक शासन की स्थापना हुई। चीन में भी प्रजातन्त्रात्मक राज्य सन् १९१२ में आरम्भ हुआ। रूस के निवासियो ने वहाँ के शाही जार परिवार को समाप्त करके साम्यवादी ढंग का प्रजातन्त्र स्थापित किया। तत्पश्चात् आस्ट्रेलिया, कनाडा, युगोस्लेविया, स्पेन, दक्षिण अफ्रीका आदि देशों और द्वीपों भी प्रजातन्त्रात्मक शासन प्रणाली का उदय हुआ। भारत १५ अगस्त १९४७ से पूर्व अंग्रेजो के आधीन था तथा यहाँ पर भी एकतन्त्र प्रणाली विद्यमान थी। अंग्रेजों के अधीनस्थ प्रान्तो मे ही नहीं, अपितु हैदराबाद, उदयपुर, जयपुर, काश्मीर आदि भारतीय रियासतों मे भी राजतन्त्र प्रणाली ही थी। परन्तु देश के स्वतन्त्र होते ही भारत की समस्त रियासतें तथा प्रान्त एक विधान और एक निशान के अन्तर्गत आ गये और २६ जनवरी १९५० से भारत में भी पूर्ण प्रजातन्त्र प्रणाली से कार्य होने लगा। देश में व्यापक चुनाव हुआ सब प्रान्तों और रियासतों के वयस्को ने अपने-अपने प्रतिनिधि चुने। इस समय में भारत में राष्ट्रपति श्री राजेन्द्रप्रसाद जी, प्रधान मन्त्री श्री नेहरू आदि सभी मन्त्रिगण तथा सदस्य प्रजा-तन्त्र प्रणाली से चुने गये तथा भारत मे जनता के प्रतिनिधियों द्वारा शासन व्यवस्था चल रही है।

प्रजातन्त्र में स्त्री-पुरुष, ऊँच-नीच, शिक्षित-अशिक्षित सभी को यह अवसर प्राप्त होता है कि वह जीवन के प्रत्येक मार्ग से उन्नति करे। इस तन्त्र मे यह कोई बन्धन नहीं कि राष्ट्रपति का पुत्र ही राष्ट्रपति होगा या राजप्रमुख का पुत्र ही राजप्रमुख। पाँच वर्ष बाद जो दूसरा चुनाव होगा उसमें कोई भी जनसेवक जनता के बहुमत से राज्य का कार्य संभाल सकता है। सिद्धान्तो की दृष्टि से प्रजातन्त्र बहुत ही महत्वपूर्ण, उपयोगी और माननीय है। मानवीय हितों की जितनी रक्षा इस प्रणाली में होती है, उतनी राजतन्त्र प्रणाली में नहीं हो पाती। उन्नति और विकास का अवसर भी इस प्रणाली द्वारा हर व्यक्ति को प्राप्त होता है। परन्तु इस प्रणाली की समस्त विशेषताएँ उस

समय समाप्त हो जाती हैं, जब कि धन को प्रधानता दी जाती है। कहने को तो इस समय लगभग सभी उन्नत देशो में प्रजातन्त्र राज्य है, पर वास्तव में वे प्रजातन्त्र न होकर पूँजीतन्त्र हैं, जो लोग धनवान् हैं वे धन के बल पर मत प्राप्त कर लेते है क्योंकि चुनाव लडने का वर्तमान तरीका इस ढंग का है कि जिसमे धन की बहुत अधिक आवश्यकता है। जब तक किसी व्यक्ति के पास चुनाव के लिये पर्याप्त धन नहीं होगा, तब तक कोई व्यक्ति चाहे कितनी भी योग्यता क्यों न रखता हो वह चुनाव मे सफल नहीं हो सकता। धन के सम्मुख लोगो की सेवा का भी कोई मूल्य जनता नहीं समझती। वर्तमान युग का कोई भी प्रजातन्त्रात्मक देश निष्पक्ष होकर नही कह सकता कि वहाँ के जनसेवको और अधिकारी व्यक्तियो को वहाँ की जनता ने चुना है। जब कि यह प्रत्यक्ष सत्य है कि सभी देशों मे धनवान् लोग चुनाव में सफल होते है।

प्रजातन्त्रात्मक राज्य जनता के लिए निस्सन्देह वरदान है, परंतु जब वह अपने विशुद्ध रूप में नहीं चल पाता तो इससे बड़ा अभिशाप भी और कोई नही हो सकता। जब तक किसी देश की जनता शिक्षित, अपने अधिकारों को समझने वाली और अधिकारो का सदुपयोग करने वाली नहीं होती, तब तक प्रजातन्त्र राज्य वरदान सिद्ध नही हो सकता। जिस अनपढ़ व्यक्ति को यह ज्ञान ही नहीं कि मुझे मत किसे देना चाहिए, तो उसे प्रलोभन देकर कोई भी उससे मत ले सकता है। प्रायः देखा भी यही गया है कि अनपढ़ लोगों का कोई एक मुखिया बन जाता है जो जिधर चाहता है उनसे मत दिलवा देता है। ऐसा करने में धन का प्रलोभन बहुत अधिक चलता है। कभी-कभी किसी अन्य दबाव के कारण भी अनजान लोगो से मत जबर्दस्ती ले लिए जाते है। इसलिए मत देने का अधिकार शिक्षित व्यक्तियों को ही होना चाहिए तथा जो व्यक्ति चुनाव लड़ता है, उसके लिए तो ऊँची शिक्षा ही अपेक्षित है। ऐसा करने से एक तो देश में शिक्षा का प्रचार बढ़ता है, लोगों में शिक्षित बनने की रुचि उत्पन्न होती है, साथ ही उत्तरदायित्व को समझने की क्षमता भी सुशिक्षित व्यक्ति में ही अधिक होती है।

बहुमत सर्वथा सत्य का समर्थन करता है, यह समझना भूल है। बहुत

से बुरे लोगों का बहुमत मिल कर किसी असत्य अथवा बुरे व्यक्ति का समर्थन कर सकता है। जब बुरे व्यक्ति शासन व्यवस्था मे एकत्र हो जाएँगे तो फिर उनके द्वारा राज्य की व्यवस्था सुचारु रूप से कभी नहीं चल सकती।

भारतीय प्रजातन्त्र व्यवस्था मे इस समय लोगो को जिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ रहा है उनका बहुत कुछ कारण यहाँ की जनता का अशिक्षित होना है। अन्य देशो मे प्रजातन्त्र प्रणाली इसीलिये सुखद और सफल सिद्ध हुई है कि वहाँ की जनता अधिकतर शिक्षित है तथा शिक्षा, सम्पत्ति, जाति-पाँति आदि की जो विषमता भारत मे विद्यमान है, वह अन्य देशो मे नहीं। भारत की शासन व्यवस्था भी इस समय पूँजीपतियो के हाथ में खेल रही है। शिक्षा का अभाव होने के कारण प्रजातन्त्र प्रणाली को आज की भारतीय जनता राजतन्त्र से बुरा ही समझती है। पर ऐसा समझने से राजतन्त्र की दोष-पूर्ण प्रणाली निर्दोष सिद्ध नही हो जाती। वास्तव मे अभी तक प्रजातन्त्र प्रणाली का विशुद्ध रूप भारत मे नहीं आया, इसी-लिए यह प्रणाली भारतवासियो को कोई अधिक मंगलकर दिखाई नहीं पड़ती।

उपसहारः—हम अन्य देशो की बात को तो उन पर ही छोड़ते हैं, परन्तु भारत के लिए हम यह आवश्यक समझते हैं कि यदि यहाँ पर विशुद्ध प्रजातन्त्र राज्य बनाना है तो हमें पहिले ऊँच-नीच, जाति-पाँति; धनी-निर्धन, शिक्षित-अशिक्षित आदि सभी विषमताओ को दूर करना होगा। जब तक एक जाति अपने को दूसरी जाति से श्रेष्ठ समझती रहेगी, जब तक व्यक्ति-व्यक्ति के प्रति उदारता और मानवता का व्यवहार नहीं सीख लेता, तब तक प्रजातन्त्र की राज्य प्रणाली भारत के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती। हमे अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को देश और जन-हित के लिए भूल जाना चाहिए। प्रजातन्त्र प्रणाली मे आत्म-निर्भर होना परमावश्यक है। लोगों को सरकारी कर्मचारियो की ओर अधिक न देख कर अपनी समस्याओ का हल स्वयं सोचने की अपेक्षा इस प्रणाली मे अधिक होती है। निस्सन्देह राजकर्म-चारियों को यह धारणा बनाने की अपेक्षा है कि वे जनता की सेवा और सुविधा के लिए नियुक्त हुए हैं, अधिकारों का दुरुपयोग करने के लिए नहीं।

जब तक राजकर्मचारी अपने को अफसर समझते रहेंगे, तब तक वे जनता की सच्ची सेवा नहीं कर सकते ।

प्रजातन्त्र का यह अभिप्राय कभी नहीं हो सकता कि उससे हर व्यक्ति जो चाहे सो करने को स्वतन्त्र है । प्रजातन्त्र में भी हर व्यक्ति को चलना तो कानून के अनुसार ही पड़ता है । अन्तर केवल इतना रहता है कि वे कानून उसके ही द्वारा चुने गये व्यक्तियों के द्वारा उसकी ही भलाई के लिए बनाए जाते हैं । स्वभावत: जिस व्यक्ति को जनता ने चुना है, वह उसके हित की रक्षा करने वाला होना चाहिए, परन्तु जब ऐसा न हो तब जनता क्या करे ? जनता ने पाँच वर्ष के लिए अपना कोई प्रतिनिधि चुन लिया है, दैवयोग से वह स्वेच्छाचारी और स्वार्थी बन जाता है, ऐसी स्थिति में जनता को अधिकार होना चाहिए कि वह उसके स्थान पर किसी दूसरे को प्रतिष्ठित कर सके । अन्यथा प्रतिनिधि अपने को पाँच वर्ष के लिए स्वतन्त्र समझ कर स्वेच्छाचारी बन जाता है । पर यदि उसे अपने पदच्युत होने का डर रहेगा तो वह अवश्य जनता का शुभचिन्तक बन कर चलेगा । यदि जनता व्यर्थ में ही किसी प्रतिनिधि की विरोधी बन जाए तो ऐसी स्थिति मे राष्ट्रपति को यह अधिकार होना चाहिए कि वह उसके हितों की रक्षा करे । अन्यथा जनता और प्रतिनिधि की यह समस्या भी एक दिन प्रजा और राजा की तरह दु:खमय हो जाएगी ।

---

# संयुक्तराष्ट्र-संघ

मानव ने जब से विश्व-संघ की कल्पना की है, उसके मूल में विश्व-शान्ति की भावना भी तभी से आने लगी है। इसका मनोवैज्ञानिक कारण मानव की शांतिप्रियता है। वह युद्ध भी करता है, तो केवल शांति की मूल-भावना के लिए ही—"If you want peace, be prepared for war"। पर जब से मानव के हृदय मे स्वार्थ की भावना घर करने लगी है, तभी से ही मानो युद्ध उसके जीवन का अनिवार्य अङ्ग हो गया है। पर फिर भी शान्ति प्राप्ति की कामना उसके हृदय क्षितिज पर धुँधली आग के रूप में जागा ही करती है। अशोक ने भी एक लोम-हर्षक युद्ध रचा था, पर उसके बाद उसको जो प्रतिक्रिया हुई थी, वह विश्वविदित ही है। वह शान्ति का पुजारी ही नहीं बना था, अपितु प्रचारक भी बना था। पिछले ५० वर्षों मे भी मानव के सम्मुख दो ऐसे विश्वव्यापी युद्ध छिडे, जिनकी कल्पना ही मानव को दहलाने के लिए पर्याप्त है। उनमे लाखों व्यक्ति मरे, संस्कृति और कला का समूलोच्छेदन हुआ, बेकारी और अव्यवस्था के साथ युद्ध के दानवी परिणामो ने संक्रामक रोगों का प्रसार किया। मानवता शांति के लिए कराह उठी। १६२० में जेनेवा में 'राष्ट्र-संघ' की नीव रखी गई—पर २० वर्ष के अन्दर ही पुनः युद्ध छिड गया और उसके परिणाम स्वरूप शान्ति के लिए एक और महान् कदम उठाया गया। अक्टूबर १६४४ में वाशिंगटन में एक कान्फ्रेन्स हुई। इसके पश्चात् २५ अक्तूबर १६४५ में सान फ्रांसिस्को मे विविध राष्ट्रों के प्रतिनिधियों के द्वारा एक विधान-पत्र (Charter) तय्यार किया गया। इसके अनुसार संयुक्तराष्ट्र-संघ की स्थापना की गई, जिसे यू० एन० ओ० (United Nation's Organisation) कहते हैं।

इसकी रचना एक महान् उद्देश्य से की गई है। इसके विधान में निम्न आदर्शों की ओर संकेत किया गया है:—

१. आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा सम्बन्धी तथा वैद्यकी के क्षेत्र मे अन्तर्राष्ट्रीय सहकारिता की वृद्धि करना।

२. अन्तर्राष्ट्रीय विधान का निर्माण करके उसको अधिक से अधिक व्यवहारोपयोगी बनाना।

३. जाति, लिंग, भाषा और धर्म के भेदो को हटाते हुए मानव के मूलाधारों को प्राप्त कराना।

४. अन्तर्राष्ट्रीय विरोधी विषयो को सभी संभावित शान्ति-पूर्ण ढङ्ग से सुलझाने का प्रयास करना।

५. पिछडी हुई जातियो को विकसित करके मानव जीवन के स्तर को ऊँचा करना।

इस कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए अनेक सहायक संस्थाओ और समितियो का निर्माण किया गया। उनके नाम और कार्य नीचे की पंक्तियों में अंकित किये जाते हैं :—

विभाग—१. साधारण असेम्बली ( General Assembly )।

२. सुरक्षा परिषद् ( Security Council )।

३. आर्थिक और सामाजिक परिषद् ( Economic and Social Council )।

४. ट्रस्टीशिप कौंसिल ( Trusteeship council )।

५. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ( International Court of Justice )।

६. सचिवालय ( Secretariate )।

कार्य—१. साधारण असेम्बली—इस असेम्बली में प्रत्येक राष्ट्र के अधिक से अधिक पांच सदस्य होते हैं। परन्तु मत (vote) प्रत्येक राष्ट्र का एक ही होता है। साठ राज्य इसके सदस्य हैं। इसके प्रमुख रूप से चार कार्य हैं—

१. ऊपर जिन ५ मूलभूत आदर्शों का प्रतिपादन किया गया है, यह संस्था उन्हें अधिक से अधिक व्यवहारोपयोगी बनाती है।

२. यह संस्था सुरक्षा परिषद् के छः स्थायी सदस्य, आर्थिक और सामाजिक परिषद् के १८ और कुछ ट्रस्टीशिप कौंसिल के सदस्यो को चुनती है।

३. सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर एक प्रधान मंत्री भी चुनती है।

४. सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर असेम्बली संयुक्त राष्ट्र संघ के नये सदस्य चुनती है और पदच्युत भी करती है।

२. सुरक्षा परिषद्—इसका निर्माण अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाये रखने के लिए किया गया था। इसमें कुल ११ सदस्य होते हैं। पांच तो स्थायी राष्ट्रों के सदस्य और छः अन्य देशों के जिन्हे सभा दो वर्ष के लिए चुनती है। अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, रूस और चीन ये इसके पांच स्थायी सदस्य हैं। इसमें विशेष अधिकार (veto power) का प्रयोग भी किया जा सकता है। किसी देश को आक्रान्ता देश घोषित करने के लिए जिन सात सदस्यो की सहमति की आवश्यकता होती है, उनमें पांचों बड़े देशो को सहमति भी अनिवार्य है। इसके तीन कार्य हैं:—

१. वह विश्व शांति के खतरे को दूर करने का सतत प्रयास करती है।

२. यदि इसका कोई सदस्य राष्ट्र कथन न माने तो यह उसके विरुद्ध सैनिक शक्ति का प्रयोग भी कर सकती है।

३. इसकी सलाह से ही किसी नये राष्ट्र को सदस्यता प्राप्त होती है अथवा किसी को निकाला जा सकता है।

३. आर्थिक और सामाजिक परिषद्—इसके अठारह सदस्य होते हैं, जो साधारण असेम्बली के द्वारा नौ वर्षों के लिए चुने जाते हैं। एक-तिहाई सदस्यों की सदस्यता प्रत्येक तीन वर्ष के पश्चात् समाप्त हो जाती है! इसके दो प्रमुख कार्य होते हैं—

१. यह अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा और स्वास्थ्य संबन्धी विषयों का अध्ययन करके उसकी सिफारिश साधारण असेम्बली को भेजती है।

२. यह आर्थिक और सामाजिक विषयों पर अन्तर्राष्ट्रीय परिषदें बुलवाती है और स्वनिर्मित संस्थाओ को सभी प्रकार की सहायता प्रदान करती है।

४. ट्रस्टीशिप परिषद्—संयुक्त राष्ट्र संघ के आधीन पराजित राज्य तथा परतंत्र राष्ट्रों की देख-रेख यह परिषद् करती है। पांच स्थायी राष्ट्रो के आधीन जितने भी उपनिवेश हैं, वे सब इसके सदस्य हैं।

५. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय—इसके अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधीशो की संख्या १५ होती है, जिनकी नियुक्ति साधारण असेम्बली द्वारा होती है। इसका प्रमुख कार्यालय हेग में है। इसके निर्णयो को पालने में प्रत्येक राष्ट्र वचन-बद्ध होता है। यदि कोई नहीं मानता, तो इसे अपने वचनो को कार्यान्वित करने के लिए सुरक्षा परिषद् के प्रयोग का पूर्ण अधिकार है।

६. सचिवालय—यह न्यूयार्क मे है। इसमें ६० देशो के लगभग ४००० कर्मचारी कार्य करते हैं। इसमे संघ के अधिकारीमंडल और सेक्रेटरी जनरल हैं। सेक्रेटरी-जनरल मुख्य शासकीय अधिकारी होता है। यह सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर साधारण-असेम्बली के द्वारा चुना जाता है।

संयुक्तराष्ट्र संघ के द्वारा लाभ :—१. इसका सबसे बड़ा लाभ तो यह हुआ है कि विश्व मे एक ऐसा वातावरण उपस्थित हुआ है, .जसमे कि प्रत्येक राष्ट्र एक दूसरे के हित और अहित को विचार सके।

२. प्रत्येक राष्ट्र में जो आपसी तनाव पाया जाता था, उसमें भी इसके द्वारा पर्याप्त कमी हुई है।

३. विश्वसघ की कल्पना जो किसी युग में असम्भव मानी जाती थी, आज वह सुलभ ही गई है।

४. इसकी यूनेस्को (United Nation's Educational, Scientific, Cultural Organisation) शाखा के द्वारा विश्व में साक्षरता प्रचार मे विकास।

५. इसकी अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य संस्था (World Health Organisation) के द्वारा लाखों व्यक्तियो को संक्रामक रोगों से बचाया गया है।

६. इसके अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ (Internationa Labour Organisation) के द्वारा श्रमिकों की समस्याओं को सुलझाया जा सका है और उनके परिवारों को भी अधिक से अधिक लाभ पहुँचाया गया है।

७. अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी संगठन के द्वारा (I. R. O.) भी शरणार्थी

और निष्क्रान्त व्यक्तियों को सब प्रकार की सहायता पहुँचाई जा रही है। पिछले चार वर्षों में १० लाख से भी अधिक युद्ध-पीड़ितो को सहायता दी जा चुकी है।

८. अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank) के द्वारा अल्पविकसित देशों में विकास सम्बन्धी योजनाओं को पूर्ण करने के लिए धन दिया जाता है।

हानियां—जहां इस संस्था के द्वारा विश्व में शान्ति के प्रयत्नो और अविकसित राष्ट्रों को विकसित होने में पर्याप्त सहायता मिली है, वहां इसके द्वारा कई देशों के आपसी तनाव में भी कम उन्नति नहीं हुई है। काश्मीर की समस्या को लेकर भारत और पाकिस्तान का साधारण सा प्रश्न आज इतना टेढा हो चुका है कि उसका तनाव केवल इसी प्रश्न पर ही बढ़ता जा रहा है। दक्षिण अफ्रीका के प्रश्न को लेकर के भी काले और गोरे की समस्या पहले की अपेक्षा अधिक ही जटिल हो गई है।

कोरिया तो मानो युद्ध क्षेत्र ही बना हुआ है, जहाँ पर कोरिया के नाम पर रूस और अमरीका के स्वार्थों की टक्कर हो रही है।

चीन का प्रश्न भी अमरीका के लिए सिर दर्द बना हुआ है। चीन का पहला रूप (राष्ट्रवादी चीन) तो उसका सदस्य है ही, किन्तु आज तो चीन का रूप ही कुछ और है। वहाँ साम्यवादी सत्ता कार्य कर रही है, इसलिए अमरीका लालचीन को संघ का सदस्य-राष्ट्र घोषित नहीं करना चाहता।

फिलिस्तीन, इंडोनेशिया, बर्लिन, स्वेज नहर की समस्या भी विश्व की शान्ति के लिए कम खतरा नहीं हैं।

इन समस्याओं को देख कर यह प्रश्न स्वाभाविक ही होता है कि जब इसकी रचना इसलिए की गई थी कि विश्व में शान्ति स्थापित की जा सके, तो फिर विश्व में ऐसा ज्वालामुखी क्यों? तो इसके प्रमुख रूप से तीन कारण हैं:—

१. बड़े राष्ट्रों का अधिक महत्वशाली होना और शेष राष्ट्रों की उपेक्षा करना।

२. संयुक्तराष्ट्र-संघ में केवल उन्हीं राष्ट्रों को ही स्थान दिया जाता है,

जिनका सम्बन्ध अमरीका से है। रूस से सम्बन्धित राष्ट्रों का उसमें कोई स्थान नहीं।

३. सुरक्षा परिषद् के होते हुए भी उसके पास ऐसे साधनों का अभाव ही पाया जाता है, जिससे कि बलपूर्वक वह अपने निर्णय को दूसरे राष्ट्रों से मनवा सके।

इस प्रकार इस संस्था की स्थापना तो इसलिए की गई थी, कि विश्व मे बार-बार आने वाले युद्ध के संकट को टाला जा सके, पर बड़े दुःख से कहना पड़ता है कि स्वल्प-काल मे ही इसकी असमताओं से विश्व आज तृतीय विश्व युद्ध के ज्वालामुखी पर खड़ा है। आज की इस कराहती मानवता की रक्षा के लिए इसकी कितनी आवश्यकता थी, पर वह इसमें असमर्थ हो रहा है। क्या संसार में मानव का सदा से चला आता हुआ विश्व-संघ और विश्व-शान्ति का स्वप्न अधूरा रहेगा? नहीं। मानव को शान्ति की परिभाषा को बदलना पड़ेगा। उसे युद्ध की तृष्णा दफनानी पड़ेगी। प्रसाद जी के शब्दों मेः—

"यह महा दंभ का दानव,
पीकर अनंग का आसव।
कर चुका महाभीषण रव,
सुख दे प्राणी को मानव।
तज विजय पराजय का कुढंग॥"

स्वार्थ और दंभ की यह शाश्वत भावनाएँ जो किसी भी युद्ध के मूल में सदा से पाई जाती रही हैं, आज भा पाई जाती हैं। इसलिए जब तक इन भावनाओं को नष्ट-भ्रष्ट न किया जायेगा, तब तक विश्व में शान्ति की कल्पना करना भी असंभव है। इसके लिए हमें विश्व-बंधुत्व और परस्पर सहयोग की भावना को जन्म देना पड़ेगा। हमें एक ऐसा वातावरण उपस्थित करना पड़ेगा, जिसमे विरोधी दलों के होते हुए भी शान्ति की स्थापना की जा सके। कम से कम मानवता की भावी स्थापना और कराहते विश्व को ढाढस बंधाने के लिए तो हमें अवश्य ही इन स्वार्थों को रसातल की गहराइयों में धंसाना ही होगा।

# —भारतीय संविधान—

'विधान' शब्द से किसी 'विधि' अथवा 'रीति' का बोध होता है। राजनीति शास्त्र में किसी देश के शासन का स्वरूप और वहां की सरकार के अधिकार तथा कर्तव्यों के क्षेत्र को निर्धारित करने के लिए एक निश्चित व्यवस्था या विधि होती है। सरकार के कर्त्तव्यो और अधिकारो की सीमा का उल्लेख करने वाली यह लिखित अथवा अलिखित विधि ही शासन विधान कहलाती है। प्रत्येक देश का शासन विधान वहाँ की सांस्कृतिक प्रवृत्तियों तथा सामाजिक परिस्थितियों के सघर्ष का निष्कर्ष होता है, अत: उसमें समय, काल और देश के विचार से भिन्नता का होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं। भारतवर्ष में भी ऐसा ही होता रहा है। मुगल राज्य मे राजा की 'इच्छा' ही राज्य व्यवस्था थी, उसके शब्द आधुनिक वैधानिक धाराओं से कम महत्व न रखते थे। सन् १८५७ के पश्चात् अंग्रेज जाति ने भारत को सदैव दासता की श्रृंखलाओ में जकडा रखने की अपनी इच्छा को 'वैधानिक रूप' दिया। इस शासन विधान का विरोध देश ने हिंसात्मक और अहिंसात्मक दोनों रीतियो से किया। ब्रिटिश शासन के इस विरोध-संघर्ष मे भारत के सहस्रों वीर सपूतो ने स्वतन्त्रता की वेदी पर अपने प्राण न्योछावर कर दिए। फलतः शताब्दियो की दासता एवं विदेशी साम्राज्य का अन्त हुआ और २६ जनवरी सन् १६५० को भारतीयो द्वारा बनाया विधान लागू हुआ जिसकी घोषणा ही उक्त विधान के आधारतत्व का पर्याप्त आभास करा देती है। यह घोषणा भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने भारतीय विधान परिषद् के सदस्यों के सम्मुख इस प्रकार की थी—

"हम भारत के लोग भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य तथा उसके समस्त नागरिकों को, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने तथा उन सब में व्यक्ति की

गरिमा और राष्ट्र की एकता सुरक्षित करने वाली बंधुता बढ़ाने के लिए दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस विधान सभा में आज ता० २६ नवम्बर १९४९ को एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।"

यह संक्षिप्त सी घोषणा वास्तव मे भारतीय सविधान का मूलाधार है। जिसके एक विहंगम अवलोकन से ही इसमें अन्तर्निहित निम्न शुभ कामनाओं एवं मधुर कल्पनाओ का बोध होता है—

भारतीय संविधान मे ३९५ धाराएं तथा ८ परिशिष्ट हैं। इसके प्रस्तुत करने मे २८० सदस्यो ने निरन्तर तीन वर्ष तक परिश्रम किया है। विधान परिषद् ने लगभग ६३ लाख रुपया खर्च कर २६ नवम्बर सन् १९४९ को डा० राजेन्द्रप्रसाद की अध्यक्षता मे उक्त विधान की घोषणा की, जिसके अनुसार भारत में २६ जनवरी १९५० को एक सर्वसत्ता सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य का प्रादुर्भाव हुआ। ससार के सभी राष्ट्रों में यह विधान सबसे बृहद्, विचित्र एवं अद्भुत है। विधान परिषद् को अपने कार्य काल में ही लगभग २॥ हजार संशोधन पर विचार करना पडा है जो उक्त विधान के विस्तार का प्रमाण है।

जन्मजात तथा पैत्रिक अधिकार के अनुसार लगभग सभी राष्ट्रों में नागरिक अधिकारप्राप्त किए जा सकते हैं परन्तु इस स्वाभाविक नागरिकता के अतिरिक्त यह विधान बर्मा, मलाया और श्रीलका के उन भारतीयों को भी अपनी नागरिक स्वीकार करता है जो वहां शताब्दियों से है परन्तु किन्हीं राजनैतिक परिस्थितियों के कारण वे उन देशों में नागरिक अधिकार प्राप्त करने में असफल रहे। विभाजन के पश्चात् भारत मे, भारत को अपनी भूमि कहने वाला प्रत्येक व्यक्ति, बिना जाति-भाव के यहां का नागरिक है और उसे मत देने का पूर्ण स्वतन्त्र अधिकार प्राप्त है। प्रत्येक वयस्क व्यक्ति (२१ वर्ष से अधिक) को मत देने का पूर्ण स्वतन्त्र अधिकार है। मताधिकार के सम्बन्ध में उदारता से काम लिया गया है क्योंकि १९१९ के एक्ट के अनुसार ३%, १९३५ के अनुसार केवल १० % व्यक्ति अपना मत देने के अधिकारी थे परन्तु यह विधान ५०% जन संख्या को मत देने का अधिकार देता है। इस अधिकार से उपरोक्त नागरिकों (देश-वासी, पुरुषार्थी तथा समुद्र पार भारतीय)

में से किसी को भी वंचित नहीं रखा गया।

यह विधान अपने सभी नागरिकों को कुछ मौलिक अधिकार भी देता है जिनमें—

समता—सभी नागरिक राज्य से अपने संरक्षण का अधिकार रखते हैं किसी भी व्यक्ति को जाति, धर्म और लिंग भेद के कारण उसके मौलिक अधिकारों से वंचित नहीं किया जा सकता। साथ ही फौजी तथा शैक्षणिक पदवी के अतिरिक्त राज्य किसी भी व्यक्ति को कोई पदवी (ब्रिटिश राज्य की भांति खाँ बहादुर और राय साहब इत्यादि) न देगा। राज्य यह भी प्रयत्न करेगा कि अपने प्रत्येक नागरिक को राज्य सभी प्रकार की नौकरी ग्रहण करने का पूरा-पूरा अवसर प्रदान करे। इस नागरिक समता के अतिरिक्त सामाजिक समता भी इस विधान की देन है क्योंकि अस्पृश्यता के उन्मूलनार्थ इसको अवैधानिक घोषित किया है और प्रत्येक नागरिक को सभी सामाजिक स्थानों (मन्दिर, कूपादि) पर जाने की स्वतन्त्रता उसका अधिकार मान लिया है।

स्वतन्त्रता—प्रत्येक नागरिक को किसी भी धर्म, व्यवसाय को अपनाने का पूर्ण अधिकार है। साथ ही सभा (Assembly), वक्तृता (speech) एवं भाव प्रकाशन के लिए भी वह स्वतन्त्र माना गया है। भाव प्रकाशन में समाज, समाज के सदस्य अथवा किसी भी समुदाय के प्रतिनिधि को सरकारी नीति की आलोचना करने के लिए अधिकारी माना जाता है परन्तु यह आलोचना राष्ट्र के लिए स्वास्थ्यप्रद विमर्श (Healthy Criticism) के रूप में होनी चाहिए। वर्ग विशेष का विरोध साम्प्रदायिकता और घृणा को जन्म देता है अतः अवैधानिक है। जीवन रक्षा के लिए भी सभी पर लागू होने वाले नियम और कानून की व्यवस्था की गई है।

धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्वतन्त्रता—इन उपरोक्त अधिकारों के अतिरिक्त नागरिकों को इच्छानुसार शैक्षणिक और सांस्कृतिक उन्नति की भी सुविधा दी गई है। इस सुविधा के अन्तर्गत किसी विशेष धर्म का अनुकरण तथा उसके प्रचारादि की स्वतन्त्रता का उल्लेख है। अल्प संख्यकों

(Minorities) की भाषा, लिपि और संस्कृति की रक्षा का भी यह संविधान आश्वासन दिलाता है।

संपत्ति-स्वतन्त्रता—विधान व्यक्तिगत-संपत्ति के संरक्षण के लिए भी उत्तरदायी है। प्रत्येक नागरिक को अपने लिए संपत्ति-अर्जन करने, उसे रखने अथवा बेचने का अधिकार है। किसी भी व्यक्ति को उसकी संपत्ति से वंचित नहीं किया जा सकता। राज्य यदि किसी की संपत्ति को सार्वजनिक हित के लिये हस्तगत कर ले तो राज्य को उस संपत्ति के स्वामी को प्रतिकार (Compensation) देना पडेगा।

विधान शोषण-नीति का भी विरोध करता है। चौदह वर्षीय बालकों की आयु से कम वालों को खानों, कारखानो अथवा किसी संकटास्पद कार्य या व्यापार में न लगाने की नीति अपनाने की सुन्दर कामना की गई है जिससे श्रम शोषण का दमन हो सके। अनिवार्य अवकाश तथा मंहगाई आदि का भी आदेश दिया गया है।

इन सभी अधिकारों के संरक्षणार्थ एक उच्चतम न्यायालय की स्थापना भी इस विधान का एक अच्छा प्रयत्न है। यह सर्वोच्च न्यायालय नागरिक के मूलाधिकारों एवं विधान की रक्षा का उत्तरदायित्व भी लेता है।

समस्त देश को तीन प्रकार के राज्य ( States ) में विभक्त किया गया है। राज्य केन्द्र से किस प्रकार सम्बन्धित हैं और इन राज्यों को क्या करने की शक्ति है? इन प्रश्नों की जटिलता को दूर करने के लिए स्पष्टतया सारे अधिकारों को तीन भागो ( राज्य सूची, संघ सूची और समवर्ती सूची ) में बांट दिया है, परन्तु संकटकालीन अवस्था में राष्ट्रपति इन सब राज्यों के अधिकारो को हस्तगत कर सकता है। ऐसी अवस्था में इन राज्यों में राष्ट्रपति का शासन होगा। विधान ने केन्द्र को दृढ़ बनाने के लिए इस प्रकार की व्यवस्था की है, ऐसा उक्त विधान के पोषक-वर्ग का मत है।

इस उपरोक्त सूक्ष्म परिचय से यद्यपि विधान में निहित काल्पनिक शुभ-कामनाओं का पाठक को आभास अवश्य होता है, परन्तु प्रतिभापूर्ण मस्तिष्क की गंभीर दृष्टि इसके निर्माताओं की पद-लिप्सा तथा शासन सत्ता की भूख को भी देखे बिना नहीं रहती। राज्यपाल एवं राजप्रमुख की नियुक्तियाँ

१७ वीं तथा १८ वीं शताब्दियो के "सामन्तवाद" की स्मृति दिलाती हैं। जागीरदार प्राचीन काल में राजा और नवाबो के दूत होते थे। यह दूत वर्ग ही शोषण और दमन का एक मात्र साधन था। अर्वाचीन युग मे इस शोषण और दमन को समद् के बहुसख्यक दल ने देश के नाम पर इन राज्यपालों तथा राज्यप्रमुखों के रूप मे नवजीवन प्रदान किया है। मौलिक अधिकारो के विभाजन और वर्णन मे निस्संन्देह उदारता से काम लिया गया है परन्तु विधान की यह 'उदारता' आख में धूल डालने का प्रयास-मात्र है क्योंकि शिक्षा, जीवन, धर्म, सपत्ति और संस्कृति की स्वतन्त्रता को तो प्रदान करना विधान ने कर्त्तव्य समझा परन्तु इन सब कर्मों की सिद्धि के जिस माध्यम (अर्थ धन) की आवश्यकता पडती है उसकी व्यवस्था संभवतः विधान के निर्माता भूल गए। राज्य परिषद् ( House of Lords अथवा (Uupper House) का निर्माण एक ओर देश की भूखी जनता पर करो के रूप में अभिशाप है, तो दूसरी ओर कुछ चापलूस स्वार्थी व्यक्तियो को प्रसन्न करने का साधन। लोक सभा के हाते हुए यह अपव्यय असहनीय है। संकटकालीन अवस्था की घोषणा (Proclamation of Emergency Ruge) जर्मनी के होमर विधान की देन है जिसके मूल में तानाशाही की भावनाएं हैं। हमारे विधान मे इस 'होमर' की तानाशाही नीति को अपना-कर 'प्रजातन्त्रवाद' का गला घाटा गया है। श्रम-शोषण के विरोध की काल्पनिक चेष्टा तो की गई है, परन्तु 'श्रम' का क्रियात्मक रूप मे अनिवार्य मूल्य आंकने का प्रयत्न तक नही किया गया। 'श्रम-महत्व' की इस अवहेलना के कारण समाज आज भी जीवन-यापन मे अभाव ही देखता है जो असंतोष को जन्म देकर 'क्रान्ति' को निमन्त्रण द रहा है। विधान का पोषक वर्ग अंग्रेजो के चले जाने मात्र को 'क्रान्ति' समझ बैठा है, परन्तु 'क्रान्ति' का अर्थ जनता को संतुष्ट करना होता है, उनके आर्थिक ढाचे मे अभाव की पूर्ति ही वास्तविक क्रान्ति होती है। उपन्यास सम्राट मुन्शी प्रेमचन्द ने भी सन् १९३० में कहा था "जोन के स्थान पर गोबिन्द का बैठाना क्रान्ति नही।" इन शब्दो को पढ़कर उस मनोविज्ञान के महान् पण्डित के प्रति नेत्र श्रद्धा से झुक जाते हैं, जिसने इस क्रान्ति की निन्दा २० वर्ष पूर्व ही की थी।

ऊपर विधान की प्रत्येक दृष्टिकोण से आलोचना की गई है। अन्त में यह कह देना आवश्यक है कि उक्त विधान एक शिशु-राष्ट्र का प्रथम प्रयास है। जनता और आलोचक को त्रुटियों की ओर अधिक ध्यान न देकर निर्माण-कार्य की ओर बढ़ना चाहिए और संशोधनों द्वारा विधान वर्त्ती त्रुटियों को दूर करना चाहिए, जिससे देश और राष्ट्र उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो।

---

# ग्राम-सुधार

भारत एक कृषिप्रधान देश है। ग्राम इस राष्ट्र की एक इकाई है। ऐसी ही लगभग ७ लाख इकाइयों के सम्मिलित रूप पर हमारे देश और राष्ट्र का अस्तित्व अवलम्बित है। यहाँ की ८६ प्रतिशत जन-संख्या को ये ग्राम ही अपने क्रोड मे आश्रय दे रहे है। यही कारण है कि ६० % जनता के ये ग्राम, भारतीय राजनीति के ढाँचे मे एक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। इसीलिए भारतवर्ष को 'ग्रामों का देश' भी कहा जाता है। इस रहस्य को नीतिनिपुण 'गांधी' ने भी समझ लिया था, तभी वह कहा करते थे कि भारत की वास्तविक स्थिति का सच्चा ज्ञान कलकत्ता और बम्बई जैसे विशाल नगरो के देखने से नहीं हो सकता; यदि किसी व्यक्ति को भारत का सच्चा स्वरूप देखना है तो उसे ग्रामों की ओर जाना चाहिए।

एक समय था जब प्राचीन भारतीय ग्राम सुख एवं शान्ति के केन्द्र थे, परन्तु आज तो वे दुःख, क्लेश, अशान्ति तथा बेकारी की याद मात्र हैं फलस्वरूप राष्ट्र और देश के आकर्षक रूप ने भी एक घिनौना आकार धारण कर लिया है। अतः यहाँ पहले आधुनिक ग्राम की समस्याओं के विषय में लिख देना ही अनिवार्य जान पड़ता है।

शताब्दियों की दासता ने जहाँ हमारे राष्ट्र के नैतिक साहस का ह्रास किया वहाँ जनता के दृष्टिकोण को भाग्यवादी बनाने में भी सहायता दी। इस भाग्यवादी दृष्टिकोण का अधिक प्रबलतम प्रभाव यह हुआ कि भारतीय

किसान में हानि को दूर करने के स्थान पर हानि को 'दैविक प्रकोप' स्वीकार करने की दुर्बुद्धि का जन्म हुआ और उसने ईश्वर के क्रोध को शान्त करने के लिए अपने साहस और मस्तिष्क को भेंट कर दिया। दुर्भिक्ष और असफलता ने उसे निराश कर दिया है। उसकी यह निराशा उसके जीवन मे सुख, स्वास्थ्य और उन्नति के प्रति उदासीनता ले आई है। उसकी उदासीनता, निराशा और भाग्यवादी दृष्टिकोण ने उसके भविष्य को नितान्त अन्धकारपूर्ण बना दिया है। वह वर्तमान में प्रकृति के अस्थिर और चंचल व्यवहार से इतना भयभीत रहता है कि उसने पुरुषार्थ को तिलांजली दे दी है। उसको यह विश्वास हो गया है कि उसकी दशा कभी नहीं सुधर सकती। भविष्य के प्रति इस अविश्वास ने उसका प्रयत्न करने से भी हाथ पकड लिया है।

आर्थिक संकट के कारण उसकी दुर्बलता ने 'साहस और शक्ति' ग्रहण करने के लिए बहुत सी कुप्रथाओं को जन्म दे लिया है। इन सामाजिक कुप्रथाओं के प्रति उसका अन्ध विश्वास उसे नित्य-प्रति और आगे लिए जा रहा है। अतः उसकी आर्थिक दुर्बलता के कारण उसकी सामाजिक और मानसिक स्थिति भी दुर्बल हो गई है जो आर्थिक क्रान्ति के बिना असाध्य रोग बन गया है।

भारतीय किसान के भाग्यवादी दृष्टिकोण ने और इस आर्थिक संकट ने उसे शिक्षा से भी दूर रखा। वैसे तो हमारे ग्रामों में शिक्षा की वैसे ही कमी है परन्तु जहाँ–कहीं कुछ शिक्षा के साधन भी हैं, वहाँ पर जनता आर्थिक दोष के कारण अपनी सन्तान को समुचित शिक्षा देने मे असफल रही। शिक्षा-अभाव में राजनीति ने भी बहुत कार्य किया। विदेशी शोषण-नीति ने किसान को क्या किसी भी भारतवासी को उन्नति करने का अवसर न दिया। अब भारत स्वतंत्र है, अतः हमारी सरकार को चाहिए की वह अधिकाधिक ध्यान ग्रामों की ओर दे।

शिक्षा की कमी के साथ-साथ सब से अधिक ग्रामों में सफाई की कमी है। शुद्ध वायु और प्रकाश के कारण ग्राम निवासियों का स्वास्थ्य अच्छा होना चाहिए, परन्तु वस्तुस्थिति सर्वथा भिन्न है। ग्राम ये आ

दिन चेचक, हैजा और प्लेग के भयंकर रोगो से दुखी रहते हैं क्योंकि उनके पोखर और ताल खुले रहते हैं। पशु उस जल को अशुद्ध कर देते हैं। ग्राम के चारों ओर खाद के गड्ढे सारे शुद्ध वातावरण को दूषित और अपवित्र कर देते हैं। शौचस्थान और नालियो का उचित प्रबन्ध न होने के कारण ग्रामों की गलियो और सड़कों पर प्राय. गन्दगी फैली रहती है, जिसके कारण किसान का स्वास्थ्य भी ठीक नहीं रहता।

ग्रामो में मनोरंजन के साधनो का भी अभाव है। बालकों के खेलने के लिए मैदान नहीं होते और नही वहाँ कोई पुस्तकालय होता है, जिसके फलस्वरूप बच्चे अथवा अन्य व्यक्ति अपने शारीरिक तथा मानसिक बल को संचित नहीं कर पाते। ऐसे सामाजिक स्थानो के अभाव में उनमें मेल-जोल की भी कमी रहती है। उनके व्यक्तिगत स्वार्थ उनमें समाज के लिए उदारता आने नही देते, जिसके फलस्वरूप उनके विचारों में संकीर्णता आ जाती है। संकीर्ण विचारों वाले व्यक्ति द्वेषपूर्ण व्यवहार से मुकदमे आदि में फंस अपने और अपने पड़ौसियों के जीवन को दुःखपूर्ण बना देते हैं।

ग्राम-निवासी आर्थिक-उत्पीडन के कारण महाजन से ऋण लेता है, जिसको वह इस जीवन में कभी नही दे पाता। इस ऋण के कारण उस का जीवन इतना दुखी हो जाता है कि वह अपनी उन्नति के सभी मार्गों को समाप्त कर देता है।

ये हैं वे बुराइयाँ जिनके आधार पर भारतीय ग्राम अवनति की ओर बढ़ रहे हैं, परन्तु यदि सरकार चाहे तो निम्नलिखित साधनों द्वारा ग्रामों की दशा सुधार सकती है:—

(१) शिक्षा प्रचार और विद्यालयों की स्थापना।
(२) प्रौढ़-शिक्षा।
(३) सफाई के साधन।
(४) खाद और ऋण की व्यवस्था।
(५) ट्यूबवैल की स्थापना।

(६) ग्राम-पंचायतो के द्वारा सुख एवं शान्ति का बीजारोपण करना।
(७) ग्रामीण उद्योग-धन्धो का प्रसार।
(८) सहकारिता तथा साख समितियाँ।

---

# भूदान यज्ञ

आज जबकि सम्पूर्ण विश्व एक प्रयोग मे से गुजर रहा है, साम्यवाद, समाजवाद, गांधीवाद, लोकतंत्रवाद, साम्राज्यवाद, एकतंत्रवाद आदि के समान "भूदानयज्ञ" भी एक महान् प्रयोग है — एक ऐसा प्रयोग, जिसकी सफलता, केवल भारत के लिये ही नही, किन्तु समूचे विश्व के लिये महत्वपूर्ण है। इसकी कल्पना सब से प्रथम श्री विनोबा जी को १८ अप्रैल १९५१ को सूझी थी, जबकि तेलंगाना (हैदराबाद दक्खिन) के पोचमपली ग्राम में उन्होने इसे प्रारम्भ किया। इसके पश्चात् दो मास में ही १२००० एकड भूमि उन्हें प्राप्त हुई। वह कल्पना क्या थी, मानो भविष्य मे उस उदय होने वाली अहिंसात्मक क्रांति की पृष्ठभूमि थी, जिसने थोडे ही समय में भारतव्यापी क्रांति का रूप ग्रहण कर लिया। उन्हीं दिनों योजना आयोग की स्थापना की जा चुकी थी अतः कृषि सुधार की इस अहिंसात्मक योजना से प्रभावित होकर श्री नेहरू जी ने अपने विचार उस आयोग के सम्मुख रखने के लिये उन्हें निमंत्रित किया। इधर उत्तर प्रदेश के सर्वोदय प्रेमी कार्यकर्त्ताओ के दबाव से वह वहाँ पर भी गये और वहाँ शीघ्र ही उन्हे १ लाख एकड भूमि प्राप्त हो गई। यह मानो ईश्वरीय संकेत था। इसके पश्चात् तो सेवापुरी के सर्वोदय सम्मेलन मे अगले दो वर्ष में १५ लाख एकड़ पृथ्वी प्राप्त करने की योजना बनाई गई। यह ठीक है कि इस थोड़ी सी भूमि से इस विशाल भारत की समस्या हल नहीं हो सकती थी, किन्तु इसका उद्देश्य भारत मे एक ऐसा वातावरण उपस्थित करना था, जिसके द्वारा आने वाले युग संदेश को सारे भारत में प्रसारित किया जा सके। इस भूमिदान मे सभी लोगों ने सहयोग प्रदान किया। इस की

स्थापना मे क्या भावना कार्य करती थी, इसके विषय मे हम श्री विनोबा जी के अपने ही विचार व्यक्त करते हैं। उन्होने अकबरपुर से २८-४-५२ को एक पत्र लिखा, जिसमे वह लिखते हैः—

"भूमिदान यज्ञ मे 'दान' शब्द आता है। उससे परहेज करने की जरूरत नहीं है। 'दानम् संविभागः" -दान यानी सम्यक् विभाजन. यह है शंकराचार्य जी की दान की व्याख्या। उसी अर्थ में हम उस शब्द का प्रयोग करते हैं। जिसको जमीन मिलेगी, वह मुफ्त खाने वाला नहीं है। वह जमीन पर मेहनत मशक्कत करेगा, अपना पसीना उसमें मिलायेगा, तब खा सकेगा। इसलिये उसे दीन बनने का कारण नही है। उसका अपना अधिकार हम उसे दिला रहे हैं।"

"हम विनय से, प्रेम से और वस्तुस्थिति समझाकर मांगते है। हमारे तीन सूत्र है :—

(१) हमारा विचार समझने पर अगर कोई नही देता तो उससे हम दुःखी नहीं होते, क्योकि हम मानते हैं कि जो आज नहीं देता, वह कल देने वाला है। विचार-बीज उगे बगैर नहीं रहता।

(२) हमारा विचार समझकर अगर कोई देता है, तो उससे हमे आनन्द होता है क्योंकि उससे सद्भावना पैदा होती है।

(३) हमारा विचार समझे बगैर किसी दबाव के कारण अगर कोई देगा तो उससे हमे दु.ख होगा। हमें किसी तरह जमीन बटोरना नही है, बल्कि साम्ययोग और सर्वोदय की वृत्ति निर्माण करनी है।"

आगे चल करके १३-११-५१ में उनके एक प्रवचन का कुछ अंश हिन्दुस्तान टाईम्ज में यों छपा—"मै जमीन के मालिको से कहता हूँ कि आप मुझे भी अपने लड़को मे से एक मान लो, और मेरा उत्तराधिकार मुझे दे दीजिये, जो कि मैं गरीबो में बाँटूंगा। जहां ऐसी राजनीतिक व सामाजिक क्रान्ति करने की बात है, वहां मनोवृत्ति बदल देने की जरूरत है। यह काम लड़ाइयों या हिंसक क्रान्तियों से नही हो सकता। ......आखिर तो मैं जो चाहता हूँ, वह सर्वस्व दान की बात है—सब के कल्याण के लिये अपना सब कुछ समर्पण कर देना है।"

१४-११-५१ के उक्त समाचार पत्र में उनके प्रवचन का सार यूँ आया—"मौजूदा समाज व्यवस्था स्पर्धा और विषमता की नींव पर खड़ी है। मैं स्पर्धा की जगह समानता और सहकार के आधार पर नई व्यवस्था खड़ी करना चाहता हूँ। जब तक ऐसा नहीं होता, तब तक मनुष्य के लिये मुक्ति नहीं है। जिस तरह चार भाइयों की मां एक होती है और मां का सब पर प्रेम होता है,—उसी तरह भूमि सब की है, किसी एक की नहीं।...लोग अपनी जमीन की मालिकी के समर्थन में कानूनी दस्तावेज पेश करेंगे। लेकिन ये कानूनी दस्तावेज ही दिलों के टुकड़े कर रहे हैं। इस लिये मैं कहता हूं कि कानूनी कागज होली में जला दो। अन्यथा समाज कदापि उन्नति नही कर सकता।"

"मैं भिक्षा के तौर पर जमीन लेना नही चाहता। यदि भिक्षा के तौर पर लूँगा, तो आर्थिक ढाँचा बदलने की इच्छा पूर्ण नहीं होगी।" १९-११-५१ तथा २४-११-५१ के हिन्दुस्तान मे उनके प्रवचन का लम्बा रूप छपा, यहां केवल उसके एक-दो अंश ही दिये जाते हैं:—

"सुबह एक भाई आये और बहुत उत्साह के साथ कहने लगे—आप का कार्यक्रम अच्छा है, लेकिन कब पूरा होगा, यह नही कह सकते। कानून से जल्द से जल्द पूरा हो सकता है और हो जाना चाहिये। तो मैंने कहा—मेरी योजना अहिंसक योजना है। अहिंसा की योजना में कानून नहीं आ सकता, ऐसी बात नही है, लेकिन पहले लोकमत का प्रदर्शन होना चाहिये। उसके लिये पहले हवा तैयार की जाती है...तब कानून मदद के लिये आ सकता है।....कानून तो साम्यवादी भी चाहते हैं। उनकी योजना में भी कानून होता है। लेकिन पहले कत्ल से प्रारंभ होता है, और फिर वे कानून बनाते हैं, तो उस कानून में कत्ल का रंग चढ़ जाता है। मेरा काम भी कानून से समाप्त होगा लेकिन आरंभ करुणा से होता है। मैं कई बार दुहरा चुका हूँ कि जिस तरह हवा, पानी और प्रकाश ईश्वर की देन है और उसमें कोई भेद-भाव नहीं किया जाता, उसी तरह जमीन भी ईश्वर की देन है। कुछ लोग कहते हैं कि मैं श्रीमानों का एजेंट हूं। बात ऐसी नहीं है। सही बात यह है कि मैं खुद गरीब हूँ और गरीबों के बीच रहा

हूँ, इसलिये मैं गरीबों का एजेंट रहा हूं।"

जहां तक भूदान यज्ञ संबंधी विचारों का सम्बंध है, उसके विषय में ऊपर की पंक्तियाँ पूर्णतया प्रकाश डालती हैं। नीचे हम पाठकों की सरलता के लिये उसे अपने शब्दों में यों कह सकते हैं:—

(१) भूदान यज्ञ" अन्य राजनीतिक भावनाओं के समान कोई तंत्र नहीं है, अपितु यह तो एक आध्यात्मिक विचारधारा है।

(२) यह केवल मात्र आर्थिक समस्याओं का भारतीय समाधान है।

(३) इसमें हिंसात्मक क्रान्ति के लिये कोई स्थान नहीं है।

(४) यह गांधी जी द्वारा प्रचारित "सर्वोदय" की विचारधाराओं को लेकर चला है।

(५) इसमें कानून की अपेक्षा हृदय परिवर्तन पर बल दिया जाता है।

(६) वह भूमि वितरण में कौटुम्बिक योजना पर विश्वास करता है।

(७) इसका उद्देश्य मानव को स्वावलम्बी बनाना है।

(८) इसका कार्य दबाव के द्वारा नहीं, किन्तु सहयोग की भावना से होता है।

(९) वह इसे केवल भारतीय ही नहीं, अपितु सार्वजनीन और सर्वदेशीय बनाना चाहते हैं।

इसमें साम्ययोग की भावना पर विशेष बल दिया जाता है।

जब इसे प्रारंभ किया गया था, तो इस ओर सब का उपहासपूर्ण दृष्टिकोण था, पर इसकी स्वल्पकालीन सफलता को देखकर प्रायः सभी राजनीतिक दल इसके प्रति आकृष्ट होने लगे।

योजना आयोग ने इसके प्रति उद्गार प्रकट करते हुए कहा थाः—
"Thc movement for making gifts of land, which has been initiated by Acharya Vinoba Bhave, has special value, for, it gives to the landless workers an opportunity not otherwise easily available to him."
अर्थात् यह भूमिहीन व्यक्तियों को कार्य करके उन्नति करने का अवसर प्रदान करता है।

कांग्रेस ने तो मानो इसे अपना पूर्ण समर्थन ही प्रदान कर दिया। उसने हैदराबाद के वार्षिक अधिवेशन (जनवरी १९५३) में इसके समर्थन का प्रस्ताव ही पास कर दिया। इतना ही नही भूतपूर्व कांग्रेस महामन्त्री श्री शंकर राव देव, उत्तर प्रदेश के बाबा राघवदास, मध्यप्रदेश के सेठ गोविन्ददास, तामिलनाद के श्री कामराज नादार तो अपना अधिकांश समय इसके प्रचार में लगाने लगे। आधुनिक महामन्त्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल तो अपने प्रत्येक प्रवचन और लेख में इसके प्रति संकेत देते रहते है। प्रजा सोशलिस्ट पार्टी के सभी महानेता इसे अपना ही कार्य समझकर सहयोग दे रहे हैं। जय-प्रकाशनारायण तो पूर्णतया कमर कसकर इस कार्य में कूद पडे हैं। उनके दृष्टिकोण मेः—"It is a giant stride in the direction of the agrarian reforms in the Country" अर्थात् कृषि की दिशा में यह एक महान् कदम है। इसके अतिरिक्त श्री कृपलानी और अक्षयकुमार करण का भी इसमें पूर्ण सहयोग प्राप्त है। जनसंघ पार्टी के नेता भी इसमें भारतीय संस्कृति की छाप देखते हैं। कम्यूनिस्ट पार्टी जो कि सदा से इस प्रकार की नीतियो की विरोधी रही थी, उसके प्रमुख नेता श्री ए. के. गोपालन एक स्थान पर लिखते हैं·—"हम समझते हैं कि कानून के बिना भूमि का सवाल हल नहीं हो सकता, लेकिन हम भूदान आंदोलन के खिलाफ नही हैं"

इस प्रकार यह निर्विवाद सत्य है कि भारत की सभी प्रमुख संस्थाओं का सहयोग, आशीर्वाद और समर्थन इस यज्ञ को प्राप्त है. पर यह तो और भी कटु सत्य है कि कुछ अपवादो को छोड कर उपर्युक्त सभी संस्थाएँ इसमें सक्रिय भाग नहीं ले रही हैं। प्रश्न उठता है कि इसका क्या कारण है? इसका सर्वप्रथम और महान् कारण यह है कि प्रत्येक संस्था और व्यक्ति इस का समर्थन करते हुए भी संस्थाओ से ऊँचा नही उठना चाहते, वह अपनी संस्था से ऊपर किसी भी अन्य वस्तु को अपनी राजनीति का अंग नहीं बनाना चाहते। और दूसरा कारण उनकी वे मजबूरियाँ हैं, जिनसे कि वे स्वप्न में भी नहीं छूट सकते और यह तभी हो सकता है, जब कि एक ऐसी सरकार की स्थापना की जा सके, जो स्वतन्त्र लोकमत पर आश्रित और निर्मित हो। यह ठीक है कि ऐसी सरकार की स्थापना के पश्चात् यह कार्य सरल हो

जायेगा, पर प्रश्न यह है कि जब तक कि ऐसी जनमत की एकतंत्रीय सरकार स्थापित नहीं हो जाती, तब तक इसी पथ का पथिक बनकर ही हमें इसे अधिक व्यावहारिक बनाना चाहिए। इसलिए भारत के आर्थिक ढांचे को आमूलचूल बदलने के लिए सभी संस्थाओं का नैतिक कर्तव्य है कि वे इसे अधिक सफल बनायें, नहीं तो विनोबा जी के शब्दों में, "आज तो मैं अपना अधिकार आप से मांगता हूँ, नहीं तो कल मैं जबरदस्ती लूँगा। क्योंकि यह वस्तु मेरी है और अपनी वस्तु का मांगना कोई पाप नहीं।"

# विद्यार्थी और राजनीति

'विद्यार्थी' आज केवल विद्यार्थी है किन्तु उसके कल के लिए कुछ भी कहना कठिन है। उसका कल महान् ही नहीं विशाल भी है। वह कल राष्ट्र का जागरूक नेता हो सकता है। देश को ऊपर उठाने वाला सुदृढ़ कारीगर हो सकता है, समाज का भरण-पोषण करने वाला कृषक हो सकता है, मानवता की रक्षा मे प्राण विसर्जन करने वाला सैनिक हो सकता है, फिर विद्यार्थी किन अपेक्षित विषयों से अपना सम्बन्ध रखे और किन कार्यों से अपने को दूर समझे एक शब्द में कह देना कठिन है।

विद्यार्थी जीवन वह जीवन है, जहाँ से जीवन का, विविध अङ्गों से युक्त जीवन का प्रारम्भ होता है। विद्यार्थी जीवन वह जीवन है, जिसमे भविष्य के लिए पथ संबल का ही प्रमुख कर्म है। भारत के बाहर अन्य देशों में किसी को यह देखकर अचरज नहीं हो कि विद्यार्थी मोटर चालक के आसन पर क्यों बैठा है? किसी खेत में विद्यार्थी को हल चलाते देख भी कोई विस्मय नहीं अपनाता; हजारों हजार को जन-सभा में विद्यार्थी को भाषण करते देख लोग खुश होते हैं, किसी दुर्घटना में घायल किंवा अपाहिज व्यक्ति को कंधों पर लादकर ले जाते हुए विद्यार्थी को देखकर समझने वाले समझते हैं कि वह अपना कर्त्तव्य निभा रहा है। राष्ट्र के पुनरुत्थान में, देश की आर्थिक और सांस्कृतिक चेतना के क्षेत्र में, राजनीति के कर्णकटु कोलाहल में खड़े

विद्यार्थी का जीवन प्रगतिशील भावनाओं की सीमा मे प्रगति की स्थिति को ही व्यक्त करता है।

मानव जीवन के प्रति, मानव जीवन की खुशहाली और विकास-शान के प्रति, मानव जीवन की बढ़ती हुई नैतिक और चारित्रिक उन्नति की सम्भावनाओं के प्रति कुछ विशिष्टता का अर्जन ही विद्यार्थी का कर्त्तव्य कहा जा सकता है।

विद्यार्थी उसी संसार का प्राणी है जिस संसार में प्रत्येक दिशाओं में बढने की होड़ है विद्यार्थी कहते ही उसे हैं जो बढ़ने की होड़ का प्रण लेकर एक विशिष्ट समाज का सदस्य बना है। इतिहास बताता है किसी राष्ट्र की कोई भी क्रांति आई उसमें वहाँ का विद्यार्थी-समाज सबसे आगे रहा।

विद्यार्थी राष्ट्र स्रष्टा! तत्वतः एक राष्ट्र स्रष्टा का उमंग भरा पुतला—वर्तमान पीढी के लिए ही नहीं आने वाली पीढी के लिए भी क्षेत्र निर्माण करने की धुन में मस्त रहने वाला कर्मठ साधक। किसी भी राष्ट्र को चेतना प्रदान करने वालों की पांतों में हमे वही लोग दिखाई देते हैं, जिन्हें विद्यार्थी जीवन में तत्परता की सीख मिली, जिन्होने जीवन के किसी पहलू से अपने को पृथक् नहीं रखा।

फिर 'विद्यार्थी और राजनीति' का प्रश्न स्वयं व्याख्या का मुहताज नहीं रह जाता। राजनीति का क्रियात्मक अनुभव यदि विद्यार्थी के लिए आवश्यक नहीं किसके लिये आवश्यक है? भारत जिन दिनों गुलामी के पंजों में जकड़ा हुआ था; देश के करोड़ो-करोड़ जनगण अचेतन अवस्था में अपनी गुलामी को भी भाग्य प्रदत्त वस्तु मानकर उसे हृदय से चिपकाए रहने में ही कल्याण समझ रहा था उन दिनो राष्ट्रपिता बापू ने असहयोग के मैदान में विद्यार्थियों का आह्वान किया था उनके आह्वान के शब्द स्पष्ट थे, दिवा प्रकाश की भाँति स्पष्ट थे—

"राष्ट्र के आह्वान में सबसे आगे विद्यार्थी को आना है। विद्यार्थी ही किसी नवीन राष्ट्र की नींव और गिरते जीर्ण राष्ट्र के सहारा बन सकते हैं। विद्यार्थियों को असहयोग की लड़ाई में क्रियात्मक सहयोग देना है, विद्यार्थी

उत्साह और उमंग के साथ मरने का संकल्प लेकर आगे आयें।"

कौन कह सकता है, बापू के एक-एक शब्द विद्यार्थी को राजनीति में सम्मिलित होने का निर्देश नहीं दे रहे हैं। यदि बापू के शब्दों की सही व्याख्या की जाय तो 'राजनीति से सम्बन्ध' की बात बहुत ओछी ज्ञात होगी, मरने का संकल्प राजनीति से आगे का कदम है। कहना नही होगा बापू के आदेशों का आदर जितना विद्यार्थियों के द्वारा हुआ उतना किसी के द्वारा नहीं। १९२१ से लेकर १९४२ तक का स्वातंत्र्य संग्राम, विद्यार्थी-समाज के साहसिक त्यागों से बलि भावनाओं की उमग से ही उज्ज्वल-आनन बना रहा है।

और हम आज यह सुनते हैं—विद्यार्थी का राजनीति मे क्रियाशील होकर भाग लेना ठीक नहीं है। इस प्रश्न पर आवश्यक और अनावश्यक रूप में छोटे से लेकर बडे नेता तक अपने विचार प्रकट करते हैं। उस समय हमें स्तब्ध रह जाना पड़ता है जबकि विद्यार्थी के लिए, उसी के भावी जीवन की सीमायें, विधि-निषेध की बात कही जाती है। कुछ लोग तो यह भी कहते दृष्टि गोचर होते हैं कि ऐसे कार्यों से चलती हुई शिक्षा के क्रम में व्यवधान पैदा होता है।

कहने वाले आखिर ऐसा कहते क्यों हैं? यह विचारणीय विषय है। भारत में ही विद्यार्थी समाज के लिए ऐसी बात क्यो कही जाती है? यदि विद्यार्थी समाज की सेवाएं भविष्य मे राष्ट्र के लिए वांछित है तो आज अवांछित क्यों!

गंभीर विचार के बाद एक ही निष्कर्ष निकलता है कि इस प्रकार परहेज-गारी का उपदेश देने वाले, विद्यार्थी की प्रतिभा, लगन और चेतना शक्ति से भय खाते हैं। नेतृत्व कायम रखने के लिए अचेतन प्राणों की आवश्यकता पड़ती है। आज भारत राष्ट्र में चारों ओर नेतृत्व का रोग फैल गया है और एक एक व्यक्ति अपने नेतृत्व को बनाये रखने के लिये व्यग्र है। ऐसा कहना अत्यन्त कटु होगा कि अधिकांश प्राणों की लालसा—मात्र नेतृत्व स्थापन के लिये ही—भारत राष्ट्र को अर्से तक अचेतन अवस्था में देखने की है।

विद्यार्थी पूर्णतः चेतन प्राणी नहीं कहा जा सकता फिर भी उसमें अर्द्ध-चेतना की बात स्वीकार ही करनी पडेगी। और वह अर्द्ध चेतन विद्यार्थी राजनीति से सम्बन्ध जोड़कर उस क्षेत्र के नेतृत्व के लिए मंगलकारी सिद्ध नहीं होगा। यह बात निर्विवाद रूप से मान ली गई है कि आज का नेतृवर्ग सशंक हो उठा है, चाहे वह किसी भी दल का नेतृत्व करने वाला हो। उसे भली भांति ज्ञात हो चुका है—चेतन मस्तिष्क नेतृत्व के विरुद्ध ये सोचने लगा है। विद्यार्थी जहां समाज और राष्ट्र के लिए मगलकारी वरदान है वहां नेतृवर्ग के लिए अमंगलकारी अभिशाप। देश के विभिन्न दलों के नेताओं को कुछ सोचते हुए इतना अवश्य सोचना चाहिए कि स्वार्थ भरा नेतृत्व अधिक दिनो तक नही टिकता है और त्याग की छाया मे पनपने वाले नेतृत्व को मिटने का कोई भय नही। चेतन मस्तिष्क विनाशक नहीं होता वह सृजन का पक्षपाती होता है।

विद्यार्थी को राजनीति से दूर रखने का अर्थ होगा उसके ज्ञान को अधूरा रखना। आज की शिक्षा निराधार रूप मे व्यर्थ मान ली गई है। शिक्षा-विशारदो का एकमत निर्णय है, निराधार शिक्षा समय की बर्बादी है। विद्यार्थियों के लिए साधारण शिक्षा आवश्यक है। वह शिक्षा भले ही, कारखाने में काम करने की शिक्षा हो, खेतो मे हल चलाने की हो, विद्यालयो में अध्यापन कार्य की हो, वैज्ञानिक अनुसंधान की हो प्रत्येक अवस्था में शिक्षा को आधार चाहिए। राजनीति की निराधार शिक्षा विद्यार्थी के समय की बर्बादी होगी। आधार हीन अवस्था में शिक्षा पाए हुए विद्यार्थी ही तो दृष्टि-विशारद होकर भी 'मक्के' के पेड़ो में लगने वाला फल बतलाते है। 'गेहूँ' को 'सेम' को लताओ में लगने वाला बीज कहने को बाध्य होते हैं। यदि राजनीति का ज्ञान भी आवश्यक ज्ञान का रूप है तो उसे हृदयंगम करने के लिए आधार चाहिए, क्रियात्मक आधार। समाज शास्त्र का ज्ञान समाज से दूर रहकर प्राप्त नहीं हो सकता, नहीं राजनीति का ज्ञान राजनीति से दूर रहकर अपनाया जा सकता है।

कविगुरु रवीन्द्र १६३० में सोवियत संघ की बौक्स—अर्थात् दूसरे देशों

के साथ सांस्कृतिक संबंध स्थापित करने वाली संस्था के निमन्त्रण पर रूस गए थे। वहां वह अपनी आंखो से एक नये संसार का जन्म देखने तथा यह जानकारी प्राप्त करने कि सोवियत सघ में सार्वजनिक शिक्षा का संगठन किस तरह हुआ है और इस क्षेत्र मे कितनी सफलता प्राप्त हुई है—रूस के प्रति विपरीत धारणा करते हुए ही वहां पहुँचे थे।

वह ऐसा समय था जब सोवियत जनगण ही विद्यार्थी बनकर समाकवादी उद्योग, सामूहिक कृषि-निर्माण तथा संस्कृति के विकास को प्रगति देरहा था। कवि गुरु देखकर आश्चर्य चकित रह गए कि विद्यार्थी की व्याख्या किस प्रकार इतनी व्यापक बना दी गई है। उन्होंने लिखा—'उन देशों मे जहा स्वार्थ और पद-सत्ता का मोह है, जहां का व्यक्ति समूह के स्वार्थ मे विश्वास नहीं रखता, वहां इस तरह को शिक्षा सम्भव नहीं है।''

उन्होने बड़ी दिलचस्पी के साथ वहां के विद्यार्थियों को राजनीति, समाज, अर्थ तथा कला के क्षेत्र में क्रियात्मक भाग लेते हुए देखा। सोवियत किसानो को भी विद्यार्थी रूप मे सामने पाकर कवि गुरु आत्म विस्मृत हो गए। उन विद्यार्थियों को जीवन प्रणाली के सम्बन्ध मे उनके ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं—इन विद्यार्थियों ने न सिर्फ किताबे पढ़ना सीखा है, वरन् उनके सोचने का तरीका भी बदल गया। बौद्धिक दृष्टि मे उनका विकास हुआ है। विद्यार्थी का शिक्षा क्षेत्र यहां विशाल है, किसी प्रकार की शिक्षा यहां निराधार नहीं चलती।

पूरे २४ वर्षों के बाद आज हम यह याद करते है कि कवि गुरु ने रूप मे ऐसा देखा था। बापू को अपने बीच में उठ जाने के बाद हम सोचते हैं बापू का निर्देश क्या था फिर भी हमें भारत राष्ट्र की वर्तमान स्थिति को देखते हुए याद करना और सोचना ही हाथ लगता है। यदि भारत राष्ट्र निश्चय पूर्वक इसका निर्णय भी नहीं दे सकता कि कितने विषय शिक्षा की सीमा मे रहे और कितने विषय अज्ञान के गर्त में फेंक दिए जायँ तो वह क्या निर्णय दे सकता है, परमात्मा ही जाने। आज भारत राष्ट्र के प्रत्येक क्षेत्र मे ऊहापोह की अवस्था है, प्रत्येक दिशा में भ्रांति का समान है। यह अवस्था राष्ट्र की प्रगति की सूचक नहीं हो सकती।

विद्यार्थी और राजनीति की सीमा मे ही हम सोचें इससे अधिक उपयुक्त यह होगा कि विद्यार्थी को भी एक मानव समझते हुए मानव और राजनीति का द्वन्द्व दूर करें। कोई युग ऐसा भी रहा है, जब मानव राजनीति से दूर होकर जी सकता था, राजनीति उस समय इतनी व्यापकता नही अपना सकी थी। आज का युग वैसा नहीं है—राजनीति का असर चूल्हे-चौके मे पहुँच गया है। हल्दी-नमक में राजनीति का भैरव दर्शन हो रहा है, ऐसी स्थिति में यदि किसी को भी जीने की लालसा है तो उसे राजनीति को समीप से जानना—समझना पड़ेगा। विद्यार्थी को तो स्कूल-कालेज के मुख्य द्वार पर पहुँचते ही चारो ओर राजनीति का रूप दिखाई पड़ना स्वाभाविक है। राज्य-संचालकों का शासन प्रत्येक क्षेत्र को अपने नीचे रखना चाहता है। शिक्षा क्षेत्र भी उससे किसी प्रकार मुक्त नहीं। वशिष्ठ और संदीपन का गुरुकुल आज नहीं है। राज्य के बजट में घाटा आया नहीं कि शिक्षा का शुल्क दुगुना हो गया। विद्यार्थी इधर-उधर से पुस्तकें खरीदते ही हैं। थोड़ा अधिक मूल्य देकर सरकार द्वारा प्रकाशित पुस्तकें खरीदकर राज्य की सहायता क्यों नही करेंगे? इस प्रकार की राजनीति जहां काम कर रही है, वहां पर आवश्यक हो जाता है कि प्रत्येक क्षेत्र का प्राणी, चाहे वह विद्यार्थी ही क्यो न हो, अपने लिए प्रयुक्त राजनीति की समझे, उसमें सक्रिय भाग ले। इसी प्रकार वह अपने को जीवित रख सकता है। आज के युग में राजनीति का तात्पर्य मानव-जीवन-नीति हो चुका है और इस मानव-जीवन-नीति का द्वार सभी के लिए मुक्त है।

'विद्यार्थी' और 'राजनीति' पर ग्रहण और वर्जन की व्यवस्था को दृष्टिगत रखते हुए किसी भी सुधी हृदय का यही कथन हो सकता है कि आज के युग मे राजनीति किसी के लिए वर्जित नहीं है, विद्यार्थी के लिए भी वह वर्जित वस्तु नहीं।

# भारतीय संस्कृति

संसार की प्राचीन संस्कृतियों मे एक भारतीय संस्कृति भी मानी जाती है। चीन, मिश्र, रोम और यूनान की संस्कृतियां भी बहुत पुरानी हैं। किन्तु आज इन देशो मे जिस संस्कृति के दर्शन होते हैं, वह अधिक प्राचीन नही कही जा सकती। वर्तमान इटली, यूनान, मिश्र आदि देशों पर आधुनिक पश्चिमी सभ्यता का ही अधिक प्रभाव मिलता है। इन देशों के पूर्वजों का रहन-सहन, विचारधारा, धर्मभावना, साहित्यिक रुचि, कलात्मक दृष्टिकोण, राजशासन और सामाजिक संघटन आदि आज कही देखे नहीं जाते। जिस संस्कृति के गौरव से इन देशो का गौरवशाली स्थान संसार के इतिहास मे था, वह संस्कृति इन देशो में पूर्णतः लुप्त हो चुकी है। परन्तु आज भी अतीत के घने अंधकार को चीर कर अपनी सत्ता का प्रमाण देने वाली एक संस्कृति धरती पर फल-फूल रही है। हजारों वर्ष पुराने आचार-विचार, सभ्यता के रंग-ढंग, धर्मभावना के विविध रूप और राजनीति की पद्धति आदि आज भी किसी न किसी अंश और रूप मे अवश्य देखी जा सकती हैं। वह देश है, भारतवर्ष। भारत की वैदिक संस्कृति के नमूने आधुनिकता की गहरी छाप से भी नही मिटाये जा सके।। आर्यों की धर्म-भावना भौतिक वाद के तूफान में भी चट्टान की तरह भारत के कण-कण मे विद्यमान है। विदेशी संसर्ग भारत के शरीर को प्रभावित भले ही कर पाया हो, परन्तु उसकी आत्मा आज भी भारतीय है। इंडिया और हिन्दुस्तान के चित्र में भी भारत की भव्यमूर्ति झांकती हुई स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। दूसरे देशो में प्राचीन गौरवशाली संस्कृतियां मृत हो चुकी हैं, एक पुरानी कहानी बन चुकी हैं, स्मृति की वस्तु रह गई हैं, जब कि भारत में भारत की प्राचीन महिमामयी संस्कृति आज भी जीवित जागृत दिखाई पड़ रही है। यूनान, रोम, मिश्र आज वे नहीं हैं, जो कल थे, किन्तु भारत आज भी वही है, जो कल था। भारत कल भी भारत था और आज भी भारत है; परन्तु यूनान

और रोम कल तक तो यूनान और रोम थे, आज कुछ और ही बने हुए हैं। कदाचित् इसी सत्य का संकेत उर्दू के प्रसिद्ध कवि इकबाल ने अपनी प्रसिद्ध कविता 'हिन्दोस्तान हमारा' में किया था—

यूनानो मिश्र रूमा सब मिट गए जहाँ से।
बाकी मगर है अब तक हिन्दोस्ताँ हमारा ॥

संस्कृति और सभ्यता दोनों शब्द एक दूसरे से परस्पर निकट सम्बन्धित होने पर भी कुछ अपनी पृथक् विशेषताएँ लिये हुए है। सभ्यता समाज के बाहरी विकास को कहते है, उसकी भौतिक उन्नति को कहते है, जबकि संस्कृति में समाज की मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति का सम्बन्ध रहता है। सभ्यता समाज का शरीर है और संस्कृति उसकी आत्मा। इसीलिए शरीर का विकास शीघ्र होता है, जब कि आत्मा की विकास-परम्परा मे बहुत देर लगती है। कोई भी व्यक्ति धोती-कुर्ता उतार कर पश्चिमी सभ्यता का अनुकरण करने के लिए बूट, पतलून और हैट पहन सकता है, किन्तु केवल वेषभूषा के परिवर्तन के साथ उस व्यक्ति की विचारधारा तो नही बदली जा सकती। केवल दाढ़ी रखने या चोटी कटवाने मात्र से ही तो कोई मुसलमान नहीं हो जाता। इस्लामी संस्कृति का सम्बन्ध समाज की आंतरिक अवस्था से है न कि बाह्य बन्धनों से। यद्यपि सभ्यता के महत्त्व को नहीं भुलाया जा सकता। संस्कृति के निर्माण मे भी सभ्यता का गहरा हाथ रहता है, परन्तु संस्कृति की अपेक्षा सभ्यता शीघ्र परिवर्तनशील है, यह मानने में कोई संकोच नही। सभ्यता की आयु छोटी होती है किन्तु संस्कृति चिरायु और चिरंतन रहती है। संस्कृति के निर्माण मे, उसकी स्थिति मे और उसके नाश मे भी समय लगता है। शताब्दियों तक संस्कृति का जन्म होता रहता है, युगो तक, वह फलती, फूलती और फैलती रहती है और एक लम्बे समय तक उसका ह्रास होता रहता है।

किसी देश की संस्कृति का सम्बन्ध उस देश की प्रधानतया चार बातो से ही रहता है और वही चार बातें ही उस जाति की संस्कृति को जानने का साधन हैं, माध्यम हैं या कसौटियां हैं। वे चार बातें हैं साहित्य, राजशासन, समाज-व्यवस्था और धर्मभावना। कला-विज्ञान का अंतर्भाव साहित्य मे और

दर्शन का धर्म मे हो सकता है। इसी प्रकार राजशासन मे भी आर्थिक विकास कर समावेश होता है किसी भी देश या जाति की सामाजिक परम्परायें और व्यवस्थाएँ उसके धार्मिक व दार्शनिक विश्वास, एवं राजनीतिक पद्धति तथा साहित्यिक रुचि ही एक ऐसा दर्पण है, जिसमे उस देश और जाति की संस्कृति का सच्चा चित्र देखा जा सकता है। एक देश के लाखो करोडो मनुष्य सै डो हजारो वर्ष तक एक साथ रहने से रहन-सहन के कुछ समान ढंग अपना लेते हैं, समान राजनीतिक और सामाजिक नियम बना कर समान विचार-धारा के द्वारा हृदय और मस्तिष्क मे एक स्थायी संस्कारो की छाप डाल लेते हैं, जो उनके जीवन को एक विशेष दिशा मे अग्रसर करती हुई उनमे एकता और अभिन्नता की स्थिति उत्पन्न कर देती है, जिसका अमर प्रभाव युगो तक उस जाति के जीवन पर से नही उठता। वही संस्कार, जीवन लक्ष्य, विचार-धारा आदि 'संस्कृति' के नाम से प्रसिद्ध होती है। इस संस्कृति मे उस देश की भौगोलिक स्थिति का भी गहरा हाथ होता है। यही कारण है कि ससार के भिन्न-भिन्न प्रदेशो मे भिन्न-भिन्न संस्कृतियो का विकास हुआ है।

भारतीय संस्कृति की विशेषताओ को भी जानने के लिए भारत के युगो के पुराने साहित्य का अध्ययन करना पडेगा। आर्यों की धार्मिक रूढ़ियों, दर्शन की विभिन्न विचारधाराओ और सामाजिक परंपराओ की भी जानकारी प्राप्त करनी होगी। उसके राजनीति शास्त्र को भी देखना पड़ेगा। भारतीय संस्कृति का इतिहास बहुत पुराना है और इसलिए बहुत विस्तृत भी। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि भारत की प्राचीन संस्कृति का आज भी लोप नहीं हुआ। विदेशी आक्रमणकारियो के निरन्तर प्रयत्नो से भी इसकी अमरता में कुछ परिवर्तन नही आया। हजारो वर्षो के असख्य आघातो को सहन करती हुई भी यह संस्कृति गिरती-पड़ती आगे बढ़ती चली गई। कुछ समय के लिए इसका ह्रास अवश्य हो गया, किन्तु इसका पूर्ण नाश कभी न हो सका। औरंगजेब की तलवार बेकार हो गई। नादिरशाह का 'कत्ले आम' नाकाम हो गया। 'तब्लीग' की भयानक आग भी उस को आंच न पहुँचा सकी। 'जिहाद' के भूकंपों में भी इसकी स्थिरता में कुछ अन्तर न आया। और सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि पाश्चात्य सभ्यता की मधुर छुरी ने भी इसका

गला काटने का जो भयानक किन्तु गुप्त प्रबन्ध किया, वह भी सफल न हो सकी। पश्चिम ने पूर्व को भी पश्चिम बनाना चाहा, किन्तु प्रकृति के अटल नियमों को और शाश्वत धर्मों को भला कौन बदल सकता है? विज्ञान कितना भी एड़ी-चोटी का जोर क्यो न लगाये, वह पूर्व को पश्चिम तो नहीं बना सकता। पूर्व सदा पूर्व ही रहेगा और पश्चिम सदा पश्चिम। सभ्यता और संस्कृति का प्रकाशमान सूर्य पूर्व से निकला था, जो समय की गति के अनुसार पश्चिम में जा कर डूब गया। किन्तु वह डूबना पुनः उदय होने के लिए ही था। युगों के अन्धकार के पश्चात् स्वामी दयानन्द सरस्वती, राजा राममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, परमहंस रामकृष्ण, महात्मा गांधी, भगवान् तिलक, पंडित मदनमोहन मालवीय और योगी अरविन्द के प्रताप से पूर्व दिशा पुनः जगमगा उठी है और भारतीय संस्कृति के जीर्ण शीर्ण शरीर में जीवन की ज्योति फिर से चमक उठी है। आज के भारत में भी भारतीय संस्कृति की अज्ञात आभा के दर्शन सहज में हो सकते हैं। मंदिरों में देवपूजा के लिए इतने घण्टे, शख और घड़ियाल उसी भारतीय संस्कृति का जयघोष करते सुनाई पड़ते है। हवनकुंडो मे वेदमंत्रो के साथ पड़ती हुई घी और दूध की आहुतियां वैदिक कालीन ऋषि जीवन की पवित्र झलक दिखा देती हैं। कोट, पतलून पहने हुए भारतीयों के मस्तक पर देदीप्यमान तिलक की रेखाएँ सनातन हिन्दू धर्म का चित्र खींच देती हैं। पश्चिमी शिक्षा-दीक्षा में दीक्षित व्यक्तियों के विवाह-संस्कार और मुंह से निकले हुए 'जयराम जी की' या 'नमस्ते' के शब्द भारतीय सस्कृति की अमरता को ही दोहराते हैं। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि भारत की संस्कृति में ऐसी संजीवनी शक्ति है, जो उसे मिटने नहीं देती। भारतीय संस्कृति के पश्चात् विकसित होने वाली संस्कृतियां उसके सामने ही मिट गईं, परन्तु भारत की अमर संस्कृति आज भी फल-फूल और फैल रही है। आखिर इसका क्या कारण है?

भारत की महान् संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण आधार उसकी आध्यात्मिक भावना है। इसी भावना ने उसे सदैव आस्तिक बनाये रखा। सहनशीलता सिखाकर विश्वबन्धुता की भावना उसमें जीवित रखी। किसी को भी भिन्न न समझ करके 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त आर्यों के जीवन का

चिरतन लक्ष्य बन गया। भौतिक जगत् के पीछे छिपी हुई कोई और शक्ति है, जो इस सासारिक लीला को चला रही है। सूर्य, चन्द्र और तारे उसी की ज्योति से ज्योतिष्मान् होते हैं।। प्रकृति का कण-कण उसी के स्पर्श से स्पंदनशील है। वह चेतन सत्ता सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् है। उसी को खोज करना और उसकी प्राप्ति आर्यों के जीवन का परमोद्देश्य है। यह भावना केवल भारत के विद्वान् विचारकों मे ही नहीं, अपितु जनसाधारण मे भी सदा विद्यमान रही है। भारत का बच्चा-बच्चा ईश्वर के अस्तित्व पर विश्वास करता रहा है। 'ईशावास्यमिदं सर्वं' का वैदिक सिद्धान्त सबका अनुभूत सत्य बना हुआ था।

सभी प्राणियों मे एक ही आत्मा है, इस विश्वास ने आर्यों मे भेद में भी अभेद की धारणा को जन्म दिया। उनकी यह नित्य प्रार्थना होती थी कि—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

अर्थात् 'संसार के सभी प्राणी सुखी और नीरोग जीवन व्यतीत करें। सभी को कल्याण का दर्शन हो, कोई भी, व्यक्ति दुःखी न रहे।' कितनी उदार और उदात्त भावना है। सब का 'मित्र की चक्षु से देखने' की मनोवृत्ति आर्यों में जाग रही थी। यही कारण था कि 'अनेकेश्वरवाद' की तथाकथित प्रवृत्ति ने भी उनमे द्वेष और भेदभाव को जन्म नहीं दिया। "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" अर्थात् एक ही ईश्वर भिन्न-भिन्न रूप धारण करता है और लोग भी उसी एक का विविध रूपों में वर्णन करते हैं। कोई किसी से भिन्न नहीं और कोई किसी का विरोधी नहीं। सब का लक्ष्य एक है, केवल मार्ग ही भिन्न हैं। इसलिए सहनशीलता का सद्गुण आर्य जीवन का मुख्य अंग बन गया। 'मैं सब में हूँ और सब मुझ में हैं' के विचार से अपनत्व की दृष्टि जाग उठी, फलतः चारों ओर मित्रता, प्रेम और सहानुभूति का वातावरण फैल गया।

आर्यों में उक्त भावना ने 'ग्रहणशीलता' की भी शिक्षा दी। कोई भी धर्म और धर्मावलम्बी पराया नहीं है, उसे अपना समझकर अपना बनाने की मनोवृत्ति भी उनमें जागने लगी। भारतीय संस्कृति ने अनेक विरोधी संस्कृतियों

को भी आत्मलीन करके उन्हें अपना अभिन्न अंग बना लिया। इस देश में द्राविड, कोल, शक, हूण, यवन, मुसलमान, आदि अनेक संस्कृतियो ने अपने अस्तित्व के लिए सघर्ष किया, किन्तु सभी अंत में भारतीयता के रंग मे ही रंगी गईं। महात्मा बुद्ध यद्यपि वेदों की निन्दा करते थे, उन्होंने ईश्वर पर भी विश्वास नहीं प्रकट किया, तथापि उन्हे भारतवासियों ने विरोधी न समझ कर अपना लिया। विष्णु के चौबीस अवतारों में बुद्ध की भी गणना की जाती है। यह भारतीय उदारता और ग्रहणशीलता का सुन्दर उदाहरण है।

भारतीय संस्कृति में पुनर्जन्म की स्वीकृति ने आशावाद का खूब प्रचार किया। इस्लाम और ईसाई मत में यह विश्वास पाया जाता है कि मरने के पश्चात् हमारी आत्मा भी सो जाती है। कबरों मे मुर्दे सोते रहते हैं। जब प्रलय का दिन आता है, तब भगवान् के दरबार मे प्रत्येक व्यक्ति के कर्मों का न्याय होता है। उस समय सभी मुसलमान और ईसाई अपनी-अपनी कबरों में से निकल कर उठ खडे होते हैं। इस प्रकार एक बार मर कर मनुष्य फिर प्रलय तक नही उठता। इस विचार ने निराशावाद को जन्म दिया। किन्तु भारतीय संस्कृति में यह घोषणा कर दी गई कि केवल शरीर का ही नाश होता है, आत्मा का नहीं। शरीर के मर जाने पर भी आत्मा अमर रहती है। जैसा एक व्यक्ति पुराने वस्त्रों को उतार कर नया वस्त्र पहन लेता है, उसी प्रकार आत्मा भी एक शरीर को छोड कर नये शरीर को धारण कर लेती है। अतः मृत्यु का भय व्यर्थ है। आर्यों का यह विश्वास रहा है कि यदि किसी का मनोरथ एक जीवन मे पूर्ण नही हो पाया, तो वह अगले जन्म में अवश्य पूर्ण होगा। भारतीय नारी तो अपने पति को जन्म-जन्मान्तर में प्राप्त करने की प्रार्थना किया करती थी। भारत के इस सिद्धांत ने मानव जीवन को उत्साह, कल्याण, हर्ष और संतोष से भर कर मंगलमय बनाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया।

वर्णव्यवस्था भारतीय जीवन का एक और प्रधान अङ्ग था। यद्यपि आज वर्णव्यवस्था रूढ़िगत बंधनों में जकड़ी जाकर कहीं-कही विकृत रूप भी धारण कर चुकी है, तथापि प्राचीन काल में किसी भी मानव-जीवन के लिए चार

आश्रमो तथा चार वर्णों की आवश्यकता को अस्वीकार नही किया जा सकता। मनुष्य जीवन की सफलता के लिए धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की कल्पना की गई थी। किन्तु धर्म और मोक्ष को ही प्रधानता देकर अर्थ और काम को गौण पद दिया गया था। अर्थ का सम्बन्ध धर्म के साथ था, अर्थात् धन कमाओ, जिस से धर्म के कार्य हो सकें, तथा कामनाएँ ऐसी करो जिस मे मोक्ष या मुक्ति मिल सके। जीवन की यात्रा को सुचारु रूप से चलाने के लिए भारत के विद्वान् धर्मशास्त्रियो ने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमो की व्यवस्था की। विद्याध्ययन २५ वर्ष तक करने के पश्चात् ब्रह्मचारी को गृहस्थ धर्म मे प्रवेश करने की आज्ञा थी। २५ वर्षों तक गृहस्थ का सुख भोग कर फिर आर्यो को वानप्रस्थ बन कर वन मे जाना पडता था। जहाँ २५ वर्षों के साधनापूर्ण समय के पश्चात् वह संन्यासी बन कर विकारहीन जीवन बिताता तथा ससार की कल्याण-कामना और परोपकार मे अपनी शेष आयु बिता देता था। सामाजिक कार्यों को कुशलतापूर्वक करने के लिए अध्ययन-अध्यापन करने वाले वर्ग को 'ब्राह्मण' कहा जाता था, युद्ध करना तथा शत्रुओं को हटा कर प्राण रक्षा करना 'क्षत्रियों' का धर्म था। व्यापार आदि द्वारा धन उपार्जन करके समाज की आर्थिक स्थिति को ठीक रखना 'वैश्य' का कर्तव्य था तथा तीनो वर्णों की सेवा का भार 'शूद्र' वर्ण पर रहता था।

किन्तु चारो वर्णों मे किसी भी प्रकार का कोई ऊँच-नीच भाव नहीं था। एक वेदमन्त्र के अनुसार चारो वर्णों का अपना-अपना महत्त्वपूर्ण स्थान था। समाज एक शरीर के समान माना गया है, जिसमे ब्राह्मण सिर है, क्षत्रिय उस की भुजाएँ, वैश्य उसका उदर तथा शूद्र चरण माने गए हैं। बिना पाँव के शरीर खड़ा भी नहीं हो सकता, अत. पाँव को क्षुद्र नहीं समझा गया। सब के लिए शास्त्रकारो का आदेश था कि वे अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए ही सद्गति पाने के अधिकारी हो सकते है। जिस व्यक्ति का जो धर्म है, वह उसके लिए आवश्यक है, चाहे वह दूसरों की दृष्टि मे घृणित भी क्यों न हो। सभी को अपने ही धर्म का आचरण करना चाहिये। गीता में तो भगवान् कृष्ण ने यहाँ तक कह दिया।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।

अर्थात् स्वधर्म में मर जाना कल्याणकारी है, किन्तु दूसरे के धर्म को ग्रहण करना उचित नहीं । इसी स्थान पर यह कह देना भी अनुचित न होगा कि महाभारतकार ने आर्यों के लिए जिस सुनहरे सिद्धांत का आदेश दिया है, उसे आज के पश्चिमी विचारक भी अन्तर्राष्ट्रीय हित के लिए साधन मानते हैं । वह सूक्ति है—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ।

अर्थात् जो वस्तु अपनी आत्मा या आपके लिए प्रतिकूल है, उसे दूसरों के लिए भी नहीं करना चाहिये । अंग्रेजी में भी कहा है—

Do unto others as you wish to be done by.

भारतीय संस्कृति की एक प्रधान विशेषता है—गीता मे कहा हुआ कर्मयोग का सिद्धांत । मुक्ति प्राप्त करने के लिए निष्काम कर्मयोग का उपदेश भगवान् कृष्ण ने दिया था । इसका आशय है कि मनुष्य को केवल कर्म करते रहना चाहिये, उस के फल की कामना कभी न रखनी चाहिये । फल की चिन्ता न रखने से मनुष्य में सुख-दुःख, जय-पराजय, आशा-निराशा, हानि-लाभ, जन्म-मृत्यु में समत्व बुद्धि उत्पन्न होती है । ऐसे व्यक्ति जीवन्मुक्त कहलाते हैं । धूप-छाया में समान रूप से अपना जीवनरथ चलाते हुए वे दुःखों से मुक्त रहते हैं । ऐसा आदर्श जीवन संतोषधन से पूर्ण होने से जहाँ अपने लिए आनंददायक होता है, वहाँ दूसरों के लिए भी अविरोधी और पथ प्रदर्शक बन जाता है ।

भारतीय संस्कृति सदैव आध्यात्मिक भावना की पोषक रही है । आत्म-तृप्ति और आत्मसंतोष ही आर्य-जीवन का चरम लक्ष्य रहा है । मुक्ति की भावना से प्रेरित होकर भारत मे नाना धार्मिक संप्रदाय भी चले, किन्तु उनके मूल सिद्धांत अविरोधी और एक थे । किन्तु भारतीय संस्कृति एकांगी न होकर सर्वाङ्गीण है । उसने भौतिकवाद को अस्वीकार कभी नहीं किया । शरीर से आत्मा को श्रेष्ठ अवश्य माना है, किन्तु शरीर का महत्त्व कभी नहीं भुलाया । यही कारण है कि भारत में जहाँ एक ओर ब्रह्मर्षि उत्पन्न हुए—वहाँ राजर्षि भी कम नहीं हुए । चक्रवर्ती सम्राटों ने भौतिक संपत्ति से भी देश को समृद्ध

सभ्यता से चलाने के लिए नर और नारी दो पहिये हैं। दोनों एक दूसरे पर निर्भर हैं, और दोनों एक-दूसरे के सहायक। यदि एक पहिया निर्बल हो, तो रथ का चलना कठिन है, इसी प्रकार जिस समाज में केवल पुरुषों की उन्नति हो या उनके लिए ही विकास के साधन प्रस्तुत किए जाएँ, नारी की उपेक्षा हो वह समाज भी कदापि उन्नति नहीं कर सकता। भारतीय नारी वैदिक युग में नर के साथ कंधे से कंधा मिला कर चल रही थी। अतः उस स्वर्णिम युग में मानव समाज पूर्ण रूप से उन्नत था। यदि संसार के श्रेष्ठ ज्ञान के भण्डार वैदिक मंत्रो का दर्शन ऋषियो को हुआ, तो विश्ववारा जैसी ऋषिकाएँ भी उस गौरव से वंचित नहीं रहीं। गार्गी, अनसूया, भारती, मन्दालसा का नाम किसे ज्ञात नही, जिन्होने अपनी सन्तान को जन्म काल में ही।—

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि।
संसारमायापरिवर्जितोऽसि॥

जैसा दार्शनिक तत्त्वपूर्ण उपदेश दिया था। भारत का प्राचीन काल नारी जाति के गौरव का काल था। भारतीय जीवन मे उस समय यज्ञ का स्थान सबसे ऊपर था और उस यज्ञ की सफलता बिना नारी के असंभव थी। भगवान् राम को भी युद्ध की सफलता के लिए सीता की स्वर्णमूर्ति बनवा कर अपने वामांग में स्थापित करनी पड़ी थी। अर्धांगिनी का नाम भी उसके महत्त्व को स्पष्ट सूचित करता है। जहां आज नारी-सुधार की दुहाई देने वाला यूरोप नर-नारी के समान अधिकारों का ढोल पीटता है, वहाँ भारतीय सभ्यता में नर की अपेक्षा नारी के विशेषाधिकारों का स्वीकृत होना उसको खुली चुनौती दे रहा है। यही नही, वाल्मीकि के आश्रम में लव-कुश के साथ आत्रेयी का पढ़ना 'सहशिक्षा' की डींग मारने वालों का मुख बन्द करने के लिए पर्याप्त उत्तर है। कला जैसे सरल विषयों में ही नही, गणित, जैसे कठिन और शुष्क विषयो पर प्रामाणिक ग्रंथ लिखने वाली 'लीलावती' जैसी नारियां भी इस देश में दुर्लभ नहीं थीं। युद्ध विद्या में भी भारतीय नारी ने पुरुषों से कम रुचि और योग्यता नहीं दिखलाई। चित्रांगदा का अतुल पराक्रम महाभारत के युग की एक ज्वलंत घटना बन चुका है। शकुन्तला ने अपने प्रसिद्ध पुत्र 'भरत' को धनुर्विद्या की

शिक्षा स्वयं दी थी। कैकेयी को भी दो वरदान युद्ध में वीरोचित साहस दिखाने पर ही मिले थे। भारतीय संस्कृति में नारी को जो तीन रूप लक्ष्मी, सरस्वती और शक्ति दिए गये हैं, वे नारी जाति की सर्वांगीणता के ही सूचक हैं। दुर्गापूजा, शक्तिपूजा, कन्यापूजा आदि कृत्य तथा राधाकृष्ण, सीताराम, माता-पिता, आदि शब्दों में नर की अपेक्षा नारी का प्रथम नामोल्लेख भी नारीमहिमा का अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत करता है। श्रुति भी यही दोहराती है—

मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव

निदान भारत के प्राचीन युग की नारी अपनी मातृत्व शक्ति के उच्च सिंहासन पर आसीन देवीपद पर शोभा दे रही थी। नारीजीवन में अपेक्षित सभी सुविधाएँ और स्वतंत्रताएँ विद्यमान थीं।

किन्तु 'सब दिन होत न एक समान' के अनुसार काल-चक्र के घूमने से परिवर्तन अवश्यम्भावी है। भारत पर पराधीनता की बुरी छाया पड़ने लगी। विदेशी आक्रमणकारियों की लूट-खसोट ने भारत की राजनीतिक परिस्थिति को ही प्रभावित नहीं किया, अपितु उन के अत्याचार से भारतीय समाज का समस्त ढांचा ही नष्ट-भ्रष्ट हो गया। देवमन्दिरों को गिराया गया, देवमूर्तियों को तोड़ा गया, धार्मिक ग्रंथ अग्नि में जला कर राख कर दिए। शिखा-सूत्र की होली जलाई गई। आर्यों का उच्च आदर्श मिट्टी में मिलाने में कोई कसर न रखी गई। उनका स्वर्गीय जीवन नरकतुल्य बना दिया गया। खुल्लम-खुल्ला उनके पूर्वजों का अपमान किया जाने लगा। उनका मान सुरक्षित न रह सका। शक्तिहीन आर्य अनार्यों से त्रस्त और अनार्य जीवन व्यतीत करने के अभ्यस्त हो गए। उस समय नारी जाति का पतन काल आरम्भ हुआ। नरपिशाचों के हाथों अबला की लाज भला कैसे बच सकती थी। दानवीय सभ्यता ने नारी के महान् गौरव को ताक में रख उसे भोग-वासना का एक साधन मात्र समझा। मातृशक्ति के साथ यह अनाचार अत्यन्त घृणित था। विवश होकर नारी चहार दीवारी में बन्द दासी का सा जीवन बिताने लगी। परदे की कुप्रथा भी उस समय की विशेष घटना थी।

नारी के इस ह्रास का आभास तत्कालीन साहित्य में भी देखा जा सकता है। वज्रयानी सिद्धों ने जहां सुरा और सुन्दरी सेवन को अपनी पंचम-कारो-

पासना मे सम्मिलित किया और इस प्रकार अपनी क्षुद्र वासनापूर्ति का उसे साधन बनाकर नारी के महत्त्व पर बट्टा लगाया, वहां कबीर आदि ज्ञान-पंथियों ने 'समाज सुधारक' की उपाधि को भूषित करते हुए समाज के एक अविभाज्य अंगभूत नारी जाति के लिए निम्नलिखित घृणित उक्तिएँ कहीं -

नारी की झाई परत अंधा होत भुजंग।
कबिरा तिनकी क्या गति, जो नित नारी के संग॥

और हिन्दी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवि महात्मा तुलसीदास जैसे नारी प्रशंसक भी उस समय बहती हुई उक्त विचारधारा से प्रभावित हुए बिना न रह सके। उन्होंने भी अपनी उत्कृष्ट काव्य रचना में एक स्थान पर पद लिख ही दिया—

ढोल गंवार शूद्र पशु नारी।
ये सब ताड़न के अधिकारी॥

पुरुष जाति के लिए नारी की शान में उक्त शब्द चाहे किसी कारण और प्रसंग में क्यों न कहे गए हो, नितांत आपत्तिजनक और असभ्य हैं। वैराग्य प्राप्ति के लिए नारी को हेय बताने का बहाना न्याय की दुहाई देने वाले पुरुषो को शोभा नही देता। अपनी दुर्बलताओं को छुपाने के लिए अथवा आलङ्कारिक प्रतिभा दिखाने के लिए नारी का मातृत्व शक्ति का अपमान करके पुरुष ने निःसन्देह पौरुष को कलङ्कित किया है। अस्तु,

यह सब कुछ तात्कालिक नारी जाति की पतनावस्था तथा समाज की रुचि-विशेष को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त है। किन्तु भारतीय संस्कृति में जो स्थान नारी को प्रदान किया गया, वह एक कठोर सत्य के समान कभी खंडित नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार हज़ारों तूफानों के आने पर भी भारतीय संस्कृति की नौका डुबाये नहीं डूब सकी, उसी प्रकार नारी-महत्व की भावना भारतीयता का अभिन्न अंग होने के कारण इस सीता-सावित्री की जन्म-भूमि से मिटाये नहीं मिट सकती। इस दिव्य भावना का ह्रास तो संभव है परन्तु नाश संभव नहीं। फलतः नारी के पतनकाल मे भी कुछ स्त्री रत्नो का प्रादुर्भाव हुआ। साहित्यिक क्षेत्र में सहजोबाई, दयाबाई, आदि अनेक कवयित्रियों के अतिरिक्त मीराबाई का नाम विशेष उल्लेखनीय है। राष्ट्रनिर्माण

के क्षेत्र में शिवाजी को महाराष्ट्र शासक बनाने वाली उनकी वीर माता जीजा बाई ही तो थी। राजपूत काल में अगणित वीरांगनाओ की मर्मस्पर्शी कथाएं और उनके रोमांचकारी बलिदान आज भी भारत का मस्तक ऊंचा किए हुए हैं। त्याग और तपस्या के ऐसे ज्वलन्त उदाहरण विश्व के इतिहास में भी नहीं मिल सकेंगे। यूरोप एक जोन आफ आर्क पैदा करके फूला नहीं समाता, और भारत के मरुस्थल मे हजारो जोन जलती हुई चिताओ की ज्वालाओ मे हंसते-हंसते कूद कर अन्याय और अत्याचार के मुंह मे राख डाल गई है। दुर्गावती और झांसा की रानी के वीर कारनामे भारत के स्वतंत्रता-इतिहास में स्वर्ण-अक्षरों मे लिखे जायेंगे।

इस प्रकार एक बार पुनः नारी का भाग्य जागने लगा। पश्चिमीय सभ्यता में विज्ञान के नये युग का प्रभात काल हुआ, इसका प्रभाव पूर्व पर भी पड़ना स्वाभाविक था। स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा महात्मा गांधी के शुभ प्रयत्नो द्वारा नारी जाति में जागरण की भावना उत्पन्न हुई। नारी के प्रति उपेक्षा का अन्त हुआ। समाज मे नारी का आदर होने लगा। उसे भी मानवीय अधिकार मिले। पुरुष की भांति वह भी शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ने लगी। केवल शिक्षा ही नहीं, राजनीति में भी उसने भाग लेना आरंभ कर दिया। विदेशो में तो नारी ने विश्व-महा युद्धो में पुरुषो के समान ही वीरता और त्याग का प्रमाण दिया। विज्ञान के क्षेत्र मे भी उसने पांव रखा। निदान नर के सदृश नारी भी सामाजिक जीवन के विकास मे पूर्ण सहयोग देने लगी। भारत मे भी आर्यसमाज के प्रयत्नो से उसको पुनः पूज्य पदवी प्राप्त हुई, तो गाँधीजी ने उसे राष्ट्रीय स्वतंत्रता सग्राम की सैनिका बना दिया। सत्याग्रह आन्दोलन या शराबबंदी के लिए स्वयं-सेविकाओं की निःस्वार्थ सेवाएं चिर-स्मरणीय रहेगी। उसीका यह सुपरिणाम है कि आज भारत की सुपुत्री श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ससार के सबसे अधिक सम्मानित पद पर शोभा दे रही हैं अर्थात् वह पहली महिला है जो यू. एन. ओ. की जनरल असेम्बली की प्रधान निर्वाचित हुई हैं। भारतीय मंत्री-मंडल मे राजकुमारी अमृतकौर तथा अन्य कई उच्च स्थानों पर आज शिक्षित महिलाएं देखी जा सकती हैं।

परन्तु एक बात ध्यान देने योग्य है, वह यह कि नर और नारी प्रकृति

के दो सुन्दर खिलौने हैं, जिनसे सांसारिक जीवन का खेल चलता रहता है। प्रकृति ने दोनों में कुछ विशेषताएँ भर दी है, जिनका अस्तित्व दोनों के लिए कल्याणकारी है। पुरुष यदि ग्रीष्म का एक संतप्त झोका है, तो स्त्री बरसात की एक शीतल झडी। पुरुष मे मृदंग सा गम्भीर स्वर रहता है और नारी मे मुरली की मृदुल तान भरी रहती है। पुरुष तांडवनृत्य का यदि गगनभेदी कर्कश नाद है तो नारी नूपुर की मधुर झकार। पुरुष एक कठिन प्रश्न और नारी उसका सरल उत्तर है। अतः पुरुष का पुरुषत्व एवं नारी का नारीत्व अपने-अपने स्थान पर एक अवश्यम्भावी विशेषताएँ है, अनिवार्य धर्म है, जिनके बिना न तो पुरुष पुरुष रहता है और न ही नारी नारी कह-लाने योग्य रहती है। आज पश्चिमीय सभ्यता के प्रकाश से जिनकी आँखें चुंधिया सी गई हैं, वे महिलायें समान अधिकारो की रट लगाती हुई नर की तुलना का दुःसाहस कर 'पुरुष' बन जाना चाहती हैं। वे अपने विशेषा-धिकारों को खो कर समान अधिकारो की निम्न मांग प्रस्तुत कर रही हैं। यह सौदाबाजी पश्चिमीय भौतिकवाद का ही प्रभाव है। भारत मे नर और नारी ने कभी अधिकारों के लिए लडाई नही लडी। यह इसी संस्कृति का चिरंतन सिद्धान्त रहा है कि 'पहले कर्तव्य पालन करो, अधिकार स्वयं मिल जायेगे।' अधिकार छीनने से नहीं मिलते, जो छीनने से मिलते है, वे बला-त्कार कहलाते हैं। भारत तो सहजप्रेम के विनिमय को ही 'अधिकार' या 'कर्तव्य' का नाम देता है। यहां सेवा और त्याग का महत्त्व रहा है। अतः भारतीय नारी की शोभा इसी मे है कि नारी सुलभ गुणों को धारण करती हुई लज्जाशीला, तपस्विनी और मातृशक्ति बनकर कल्याणी का रूप धारण करे। भारत की संस्कृति में वह सदा से सहधर्मिणी और सहचरी रही है, अर्धाङ्गिनी रही है, उसे इस गौरवपूर्ण स्थान से नीचे गिरने की कभी आवश्यकता नहीं।

# स्वामी दयानन्द सरस्वती

"दयामयानन्दरसप्रसारी,
'सरस्वती' स्वान्तविकासकारी।
अभूद्वर्य्यां कलुषापहारी,
परोपकारी जगतो हिताय॥"—चारुचरितावली

सहस्राब्दियों की धार्मिक रूढ़ियों की तमिस्राओं ने जब भारत के ज्ञान-सूर्य को अपनी कालिमा के पीछे छिपा रखा था, अनेक मत-मतान्तरों ने वैदिक धर्म को आवृत कर रखा था, जन्मजात वर्ण व्यवस्था से प्रादुर्भूत धर्म के ठेकेदारों ने बाह्याडम्बरों की क्लिष्टताओं से भारत भू के जन-जीवन को दूभर कर दिया था, जातिभेद के प्राचीर प्रत्येक प्राणी के मध्य पर्वताकार होकर जनता में वैमनस्य के अंकुर बो चुके थे, बाल-विवाह, बहु विवाह, आदि की कुप्रथाएँ देश के लिए अभिशाप बन चुकी थीं, जब अछूत परम्परा का नासूर हिन्दु-विग्रह को जर्जरित कर रहा था, आचारानाचार की होड़ में अनाचार को मर्यादा जब जाति को रसातल की ओर ले जा रही थी, स्त्री जाति का जीना भी जब कठिन हो गया था, उन्हें शिक्षा, स्वतन्त्रता आदि से वंचित कर दिया गया था, जब विधवाओं की आहों से भारत का आकाश मेघपूरित हो चुका था, उस समय एक ऐसी ज्योति का जन्म हुआ, जिनकी अध्यात्मिक ज्योति-शिखा का चिरन्तन प्रकाश आज भी असंख्य मानसों को आलोकित करता है। इनका नाम था "स्वामी दयानन्द"। इनका जन्म-नाम मूलशंकर था। इनका जन्म काठियावाड प्रान्त में मौर्वी राज्य के टंकारा नामक छोटे से ग्राम में "अम्बाशंकर" नामक एक औदीच्य ब्राह्मण के यहाँ १८८१ विक्रमी के पौष मास में हुआ। इनके पिता जमींदारी और लेन देन का व्यापार करते थे। रियासत की ओर से इनके पिता तहसीलदारी भी करते थे। आठ वर्ष की आयु में मूलशंकर का यज्ञोपवीत संस्कार किया गया और गायत्री, संध्या, रुद्री आदि कंठस्थ कराये गये। १४ वर्ष की आयु तक वह यजुर्वेद संहिता भी

कंठस्थ कर चुके थे। व्याकरण में भी उनका प्रवेश हो गया था। कुल क्रमागत धार्मिक कृत्यों मे भी भाग लेने लग गये थे। इस समय १८६४ विक्रमी की माघ बदी १४ को गृह-परम्परा के आधार पर मूलशंकर को भी शिवरात्रि का व्रत रखना पड़ा। अन्न और नींद दोनो का लंघन ही श्रेयस्कर और पुण्य-जनक समझा जाता था। शिव का आलौकिक माहात्म्य सुनकर शिवकथा के अनन्तर मूलशंकर भी अन्य भक्तो के साथ जागरण करने लगे। धीरे-धीरे करके सब सो गये, जागते रहे तो केवल मूलशंकर। चारो ओर सन्नाटा था, किन्तु भक्त-हृदय मे एक महान् संघर्ष था। उनकी दृष्टि बराबर शिवलिंग पर थी। इतने मे क्या देखते है कि एक चूहा बार-बार मिष्ठान्न खाकर शिवलिंग पर चढ़ जाता है। बाल-हृदय मे शंका उत्पन्न हुई, कि अवश्य ही दानवों के व्यतिक्रम का त्रिशूल से संहार करने वाले कैलाशनिवासी, अपनी ज्योति से विश्व को भासित करने वाले शंकर इसे अवश्य ही सिर चालन मात्र से ही हटा देंगे, पर ऐसा न हुआ। इस बात ने मूलशंकर के हृदय को झकझोर दिया। उसके हृदय मे प्रश्नो की झडी लग गई, पर उसका उचित उत्तर कोई न दे सका। इसने उसके हृदय में मूर्ति पूजा से प्रति जहां अश्रद्धा पैदा कर दी, वहाँ सच्चे शिव की प्राप्ति की भावना बलवती होती गई। १६ वर्ष की आयु मे उनकी बहिन को हैजा हुआ। वह चल बसी। श्री स्वामी जी के शब्दों में—"जन्म से लेकर इस समय तक मैने पहली बार मनुष्य को मरते देखा था। इससे मेरे दिल को बड़ा कष्ट हुआ और मुझे बहुत डर लगा, और मारे डर के सोचने लगा, कि सारे मनुष्य इसी प्रकार मरेंगे, और ऐसे मैं भी मर जाऊँगा।" इसने उसके हृदय मे वैराग्य का बिन्दु अंकित कर दिया। उसकी आंखो मे आंसू न निकलें, पर १९ वर्ष तक आते-आते चचा भी चल बसे। इनका वर्णन करते हुए श्री स्वामी जी लिखते हैं—"मरते समय उन्होंने मुझे पास बुलाया, लोग उनकी नाड़ी देखने लगे, मैं भी पास ही बैठा हुआ था, मेरी ओर देखते ही उनके आंखों से आसू बहने लगे। मुझे भी उस समय बहुत रोना आया, यहां तक कि रोते-रोते मेरी आंखें फूल गईं। इतना रोना मुझे पहले कभी न आया था। उस दिन मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं भी चचा के समान एक दिन मरने वाला हूँ।" तपे हुए लोहे पर चोट लगी।

सारे संसार के घर में मृत्यु होती है, सब शिवलिंग पर चूहा चढ़ता देखते हैं, पर किसी को वैराग्य नहीं होता; किन्तु मूलशकर तो एक महान् विभूति बनने वाले थे। संसार के प्रलोभन अब उसे न बांध सके। उन की आत्मा इन बंधनों को तोडने के लिए छट-पटाने लगी और १६०२ विक्रमी के ज्येष्ठ मास में घर से निकल पडे। पिता ने पकडवा लिया, पर अवसर पाकर फिर निकल गये। उनके हृदय मे एक धुन थी, "सच्चा शिव पाने की धुन," "मृत्यु से छूटने की लगन।" इसका साधन है योग। वह सच्चे योगी की खोज में चल पड़े। संसार उन्हे न पहचान न सका, उन्होंने अपना नाम शुद्ध चेतन ब्रह्मचारी रखा। नर्मदा तटपर घूमते-घूमते उन्हें पूर्णानंद सरस्वती नामक विद्वान् साधु के दर्शन हुए। इनसे दीक्षा पाकर वह "स्वामी दयानन्द सरस्वती" बने।

इसके बाद सच्चे शिव जी की खोज में यह अनेक स्थानों पर घूमें। केदारनाथ, रुद्र प्रयाग, सिद्धाश्रम आदि का भ्रमण करते हुए इन्होंने मठो और मन्दिरो की दुर्दशा को अपनी आखों से देखा। ओखी मठ में भी उन्हें सुल्फे, भांग और चरस के लोभी साधुओं के दर्शन हुए। यहां के एक महन्त ने इन्हे अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहा, उसका अतुल ऐश्वर्य भी उसके मुक्त्यभिलाषी हृदय को न बांध सका। बद्रीनारायण पहुँचे, पर वहां भी उन्हें घोर निराशा हुई। उसके पश्चात् वह स्थल मार्ग की ओर मुड़े। आप रामपुर, द्रोणसागर, मुरादाबाद, गढमुक्तेश्वर गये और उनके कानों में मानों किसी ने आकर कहा कि "यदि तू सच्चा ज्ञान पाना चाहता है, तो मथुरा जा।" इसके बाद वह "दण्डी स्वामी विरजानन्द" के पास कार्तिक सुदी २ सं० १६१७ तदनुसार १४ नवम्बर १८६० के दिन पहुँचे। यहाँ आकर उन्हें सच्चे ज्ञान की प्राप्ति हुई। मानो सदियों से प्यासे मानव को अमृत-कण पीने को प्राप्त हुए। एक यति के रूप में जीवन व्यतीत करते हुए अन्त में विद्याध्ययन समाप्त हुआ। इसके पश्चात् वह दक्षिणा रूप में आध सेर लौंग लेकर गुरुचरणों में उपस्थित हुए। गुरु ने कहा—"मैं तुझसे ऐसी चीज मांगूंगा, जो तेरे पास उपस्थित है।" दयानंद के बद्धांजलि होने पर गुरु ने आदेश किया, "देश का उपकार करो। सत्शास्त्रों का उद्धार करो। मत-मतान्तरो की अविद्या को मिटाओ और वैदिकधर्म को फैलाओ।"

दयानंद ने आदेश को स्वीकार किया। अन्त में आशीर्वाद देते हुए दण्डी जी ने और भी कहा, "मनुष्यकृत ग्रंथों में परमेश्वर और ऋषियों की निंदा है, और ऋषिकृत ग्रंथों में नहीं, इस कसौटी को हाथ से न छोड़ना।"

गुरुचरणों का आशीर्वाद पाकर प्रचारार्थ श्री स्वामी जी आगरा, धौलपुर, ग्वालियर और अजमेर गये। यहां से वह कुम्भ के मेले पर हरिद्वार गये। यहां का जो चित्र स्वामी जी ने अपनी आंखों से देखा, उससे उन्हें ग्लानि हुई। यहां से उनकी प्रसिद्धि फैलने लगी। दो वर्ष तक गंगा तट पर इन कुरीतियों का नाश करते रहे और उसके पश्चात् ऋषिकेश, लंढौरा, अनूपशहर, कर्णवास, अतरौली, जलेसर, सोरों, पीलीभीत, शहबाजपुर, ककोड़े घाट, नरोली, कायमगंज आदि में प्रचार करते हुए फर्रुखाबाद पहुँचे। मार्ग में कई स्थानों पर शास्त्रार्थ और विचार हुए। शहबाजपुर में जब उनके कानों में विरजानंद जी की मृत्यु का समाचार आया, तो हठात् उनके मुख से निकल पड़ा, "आज व्याकरण का सूर्य अस्त हो गया।" फर्रुखाबाद से अनेक स्थानों पर भ्रमण करते हुए वह पौराणिकों के गढ़ काशी में पहुंचे। यहां आते ही उन्होंने हलचल मचा दी। वह भारत के पराजित पंडितों की रक्षा भूमि थी। स्वामी विशुद्धानंद और पं० राजाराम शास्त्री तथा पं० ताराचरण को उनकी गुफा में जाकर नरकेसरी ने ललकारा। काशी शास्त्रार्थ की चर्चा ने श्री स्वामी जी के यशःसूर्य को प्रतिष्ठा के आकाश तक पहुँचा दिया। इसके पश्चात् अनेक स्थानों पर प्रचार करते हुए श्री स्वामी जी बम्बई पहुँचे, यहां पर प्रथम बार आपने अपने विचारों को मूर्त्त रूप देने के लिए चैत्र सुदी ५ सं० १९३१ तदनुसार १० अप्रैल १८७५ के दिन गिरगांव में डा० मानिकचन्द्र जी की वाटिका में आर्यसमाज की स्थापना कर दी। अब तक स्वामी जी ने संस्कार विधि, आर्याभिविनय और सत्यार्थप्रकाश का प्रकाशन करवा लिया था। गोकरुणानिधि, वेदान्तध्वांत निवारण, व्यवहारभानु आदि कई छोटी-छोटी पुस्तिकायें भी छप चुकी थीं। वेदभाष्य प्रकाशित होने की तय्यारियां हो चुकी थीं। महारानी विक्टोरिया के भारत की महारानी घोषित होने पर जब दिल्ली दरबार हुआ। यहां उनके आने का प्रमुख उद्देश्य केवल धर्मप्रचार ही नहीं, अपितु नेताओं से मिलकर एक सर्वमान्य

धर्म की स्थापना कर सकें। वे मिले भी सही, पर असफल रहे। इसके पश्चात् वह पंजाब भी गये और तत्पश्चात् राजस्थान भी। जहां ३० अक्टूबर १८८३ को ७ बजे शाम को उनका अमर लोक गमन हुआ। उनकी मृत्यु से भारत का कर्णधार खो गया। उनकी मृत्यु पर दुख प्रकट करते हुए श्री बालकृष्ण भट्ट ने लिखा, " हा! आज भारतोन्नति कमलिनी का सूर्य अस्त हो गया। हा! वेद का खेद मिटाने वाला सद्वैद्य लुप्त हो गया। हा! दया-नंद सरस्वती! आर्यों के सरस्वती जहाज का पतवार बिना दूसरो को सौंपे तुम क्यो अन्तर्धान हो गये। हा! सच्ची दया के समुद्र, हा! सच्चे आनन्द के वारिद! अपनी विद्यामयी लहरी और हितोपदेश रूपी धारा से परितप्त भारत भूमि को आर्द्र कर कहां चले गये! हा! चार दिन के चतुरानन इस असभ्यता प्रिय मडली मे आपने अपनी विलक्षण चतुराई को क्यो इस प्रकार सरल भाव से फैलाया।"

ऋषि दयानंद सरस्वती की विशेषताएँ:—

(१) ऋषिजी वेदो को ही सब कुछ मानते थे। उनका धर्म, कर्म और आचरण वेद विहित ही था। उनका धर्म नया धर्म नहीं, किन्तु वेदो पर आधारित सबसे प्राचीन धर्म है, जिसे आज १,९७,२९,९७,२३२ वर्ष व्यतीत हो चुके है। उनके दस नियमो मे तीसरा नियम भी यही है:—

"वेद सब सत्य विद्याओ की पुस्तक है, उसका पढ़ना पढ़ाना सब आर्यों का परम धर्म है।"

(२) वह दृढ़ ईश्वर भक्त थे। वह कहा करते थे मै तो विश्व में केवल दो वस्तुओ से भय खाता हूँ। एक ईश्वर और दूसरा धर्म। उनका सबसे प्रथम नियम यही है:—

"सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।"

(३) वह वेदों और वैदिक धर्म को संकरी सीमाओं में नहीं बांधना चाहते थे, अपितु उन्होंने वेद के धर्म को देश, जाति तथा वर्ण की संकीर्णता से मुक्त करके उसका द्वार उन्होने सबके लिए खोल दिया। अन्य जाति तथा धर्मों के अनुयायी भी उनके अनुसार वैदिक धर्म के अनुयायी बन सकते हैं।

(४) वह आर्य संस्कृति के स्वप्नदर्शी ही नहीं किन्तु प्रचारक भी थे। वह फिर से प्राचीन निशुल्क शिक्षा के माध्यम से गुरु चरणों मे बैठकर गुरु-कुल शिक्षा को प्रचलित करने का विचार भी रखते थे, जिसे कि उनके अनन्य शिष्य श्री श्रद्धानंदजी ने पूरा कर दिखाया।

(५) वह अभूतपूर्व समन्वयवादी थे। वह अतीत और वर्तमान तथा प्राच्य और पाश्चात्य के अद्भुत सामंजस्य से नव-भारत निर्माण की कल्पना करते थे। ऋषि दयानंद एक ऐसे "अन्वर्थ" ऋषि थे, जिन्होंने अपनी तपस्या, ऋतम्भरा प्रज्ञा और आध्यात्मिक उत्कर्ष के द्वारा ऋत और सत्य का दर्शन किया था।

(६) वे सच्चे अर्थों में देश-भक्त थे, एक ऐसे देश-भक्त जिन्हें इस सीमा में बाँधा नहीं जा सकता। वह संकीर्णता से उठकर विश्व हित के सच्चे प्रचारक और समर्थक थे। वह आज की विषसम्पृक्त साम्प्रदायिक धारा से कोसों दूर थे। स्वराज्य और खादी का विचार भी सर्व प्रथम उन्हे ही आया था। वह अपने निकम्मे राज्य को भी दूसरे के स्वर्गोपम राज्य से श्रेयस्कर समझते थे।

(७) "अछूतोद्धार" का नारा भी सर्वप्रथम आपने ही लगाया था। कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था का मोटा डंडा लेकर पाखंडवाद के ऊपर, जो उन्होंने गहरी चोट की थी, उससे रूढ़िवादी समाज झनझना उठा।

(८) वह स्त्री जाति के सच्चे हित-चिन्तक थे। उन्होंने सर्व-प्रथम स्त्री-जाति के समानता के अधिकारो के विषय मे आवाज उठाई। उन्होंने शैक्षिक, सामाजिक, धार्मिक सभी क्षेत्रो में उन्हे महत्व दिलाया। श्री स्वामी जी का नारी जाति पर महान् ऋण है।

(९) उनके हृदय में गौओं के प्रति दया थी। "गोकरुणा-निधि" उनकी इस विषय में सर्वांगीण पुस्तिका है, जिसमे सभी दृष्टियो से गौ का महत्व प्रदर्शित किया गया है। आज जिस गोरक्षा का आन्दोलन पाया जाता है, श्री स्वामीजी ने उसकी चर्चा ७५ वर्ष पूर्व की थी।

कुछ विद्वानो के स्वामीजी के प्रति उद्‌गार :—

"स्वामी दयानन्द का चरित्र मेरे लिए ईर्ष्या और दुःख का विषय है।"

- महात्मा गांधी

"मेरा सादर प्रणाम हो उस महान् गुरु दयानन्द को, जिसकी दृष्टि ने भारत के आध्यात्मिक इतिहास मे सत्य और एकता को देखा और जिसके मन ने भारतीय जीवन के सब अंगो को प्रदीप्त कर दिया।"

—डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर

"वह दिव्य ज्ञान का सच्चा सैनिक, विश्व को प्रभु की शरण मे लाने वाला योद्धा और मनुष्य व संस्थाओ का शिल्पी तथा प्रकृति द्वारा आत्मा के मार्ग में उपस्थित की जाने वाली बाधाओं का वीर विजेता था और इस प्रकार मेरे समक्ष आध्यात्मिक क्रियात्मकता की एक शक्तिसम्पन्न मूर्ति उपस्थित होती है।"

—श्री अरविन्द घोष

"ऋषि दयानन्द ने भारत के शक्ति-शून्य शरीर में अपनी दुर्धर्ष शक्ति, अविचलता तथा सिंह पराक्रम फूंक दिए हैं।" —रोम्यां रोला

'मैं ऋषि को शक्ति-सुत अर्थात् कर्मवीर योद्धा समझकर उनका आदर करता हूं। उनका जीवन राष्ट्र निर्माण के लिए स्फूर्तिदायक और मननीय है।"

—साधु टी० एल० वास्वानी

"मेरी सम्मति में स्वामी दयानन्द एक सच्चे जगत गुरु और सुधारक थे।"

—मि० फौक्स पिट

"उनकी मृत्यु से भारत-माता ने अपने योग्यतम पुत्रों में से एक को खो दिया।" - कर्नल अलकाट

"जब भारत के उत्थान का इतिहास लिखा जायेगा तो नंगे फकीर स्वामी दयानन्द सरस्वती को उच्चासन पर बिठाया जायेगा।

—सर यदुनाथ सरकार

"महर्षि दयानन्द भारत माता के उन प्रसिद्ध और उच्च आत्माओं में से थे, जिनका नाम संसार के इतिहास में सदैव चमकते सितारो की तरह प्रकाशित रहेगा।" —खदीजा बेगम एम० ए०

---

# सच्चरित्रता

सृष्टि में मानव श्रेष्ठ है यद्यपि बल और आकार के विचार से अनेक प्राणी मानव से बढ़-चढ़ कर हैं परन्तु 'प्रतिभा' को मानव ही अपनी चेरी बनाने मे सफल हुआ है । इसीलिए इस प्रतिभा-पति पशु पर गुण-अवगुण तथा भलाई-बुराई के नियम लागू होते हैं । इन गुणो अथवा अवगुणो का प्रदर्शन उस व्यवहार से होता है जो एक मनुष्य अन्य किसी मनुष्य के साथ करता है। मानव का यह व्यवहार कालान्तर मे उसके स्वभाव-रूप में परिणत हो जाया करता है। मानव के इसी गुण अथवा अवगुण-पूर्ण व्यवहार तथा उसके स्वभाव के सामूहिक योग को साधारण भाषा में 'चरित्र' कहा जाता है। चरित्र में, गुणों की अधिकता मनुष्य में 'सच्चरित्रता' उत्पन्न करती है। 'सच्चरित्रता' मानव की वह निहित शक्ति है जो उसको संसार रूपी जल में 'कमल' के समान ऊपर उठाए रखती है । यह मानव का वह पवित्र ज्ञान है जो मानव को मानव के प्रति 'मानवता' का सदुपदेश देता है ।

मनुष्य की यह भावना उसके अपने चरित्र पर निर्धारित होती है और उसके चरित्र निर्माण मे कई बातें कार्य करती हैं। परन्तु उनमें दो प्रवृत्तियाँ बहुत ही महत्व-पूर्ण होती हैं । (१) पैत्रिक प्रवृत्ति (Heredity)—चरित्र निर्माण-कार्य में इस प्रवृत्ति को आधार-शिला कहा जा सकता है क्योंकि बालक जब इस जीवन और संसार से सर्वथा अनभिज्ञ होता है उस समय घर का वातावरण ही अमुक बालक की चेष्टाओं और प्रवृत्तियों का निर्माण करता है । घर के इस वातावरण में जन्मजात संस्कार सबसे अधिक प्रबल होते हैं जिनका प्रभाव अदृश्य रूप में ही बालक पर अपना प्रभुत्व जमा लेता है । साथ ही बड़े भाई-बहन जो उन्हीं संस्कारों, विचारों और प्रवृत्तियों की सजीव मूर्तियाँ होती हैं, नए बालक को भी उसी ढांचे मे लाने का प्रयत्न करती हैं जिनके द्वारा वे स्वयं पोषित हैं। (२) संगति प्रवृत्ति—पैत्रिक संस्कारों के अतिरिक्त चरित्र बाह्य-वातावरण पर भी बहुत कुछ अवलम्बित होता है।

मित्रगण और सहपाठी अपनी पैत्रिक संगति के अनुसार अपने चरित्र को लेकर बाहर आते है। उनमे कुछ अच्छे होते है तो कुछ बुरे भी होते है। यहां इस संगति में अच्छी बुरी प्रवृत्तियां संपर्क मे आती है। उनका संघर्ष आरम्भ होता है। शक्ति प्रवृत्ति दुर्बल प्रवृत्ति को दबा लेती है और इस प्रकार मनुष्य का चरित्र अच्छा या बुरा इसी विजय के अनुसार बन जाता है।

इन दोनो प्रवृत्तियो के अतिरिक्त मनुष्य का स्वभाव तथा रुचि भी उस के चरित्र-निर्माण मे बहुत सीमा तक उत्तरदायी हैं परन्तु इनका कार्य गौण रूप में होता है मुख्य मे नही। स्वभाव और रुचि के साथ मनुष्य के चरित्र मे उसके बाल्यकाल के प्रारम्भिक आवेष्टन के प्रभाव का भी हाथ होता है जो कभी-कभी उसके सन्मार्ग की ओर जाने मे बाधाएँ उपस्थित करता है परन्तु एक दृढ़-निश्चय व्यक्ति इन सब कठिनाइयो को आत्म-संयम द्वारा पराजित कर अपने लक्ष्य की ओर बढता ही रहता है। दृढ़-निश्चयी व्यक्ति की यह लक्ष्य-प्रेम की संलग्नता उसके मार्ग की कठिनाइयो तथा बाधाओ को समाप्त कर देती है और उसका विश्वास एवं धैर्य ही उस को वास्तव मे एक 'चरित्रवान्' व्यक्ति बना देता है।

व्यक्ति और समाज—

इन सभी गौण और मुख्य कारणो के अतिरिक्त 'समाज' का भी व्यक्ति-विशेष पर बहुत प्रभाव पडता है। एक प्राचीन प्रसिद्ध दार्शनिक रूसी ने कहा था कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी' है वह बिना समाज के जीवित नहीं रह सकता। अन्य शब्दो मे इसी भाव को इस प्रकार भी रखा जा सकता है कि समाज व्यक्तियो से बनता है और व्यक्ति 'समाज' को अपने कुछ अधिकार 'कर्त्तव्य' रूप में सौंप देते हैं। इन कर्त्तव्यों के उपलक्ष्य में समाज भी अपने सदस्यों को कुछ अधिकार प्रदान करता है परन्तु जब समाज मे अधिक मत या वर्ग किसी व्यक्ति विशेष के अधिकारो को कुचलता है तो उस व्यक्ति-विशेष का उस अधिक मत वाले वर्ग के प्रति क्षोभ जागृत हो उठता है और इस संघर्ष में जो व्यक्ति उसके अधिकारो की रक्षा के लिए कटिबद्ध होते हैं उन के लिए उसके हृदय में सहानुभूति का प्रादुर्भाव होता है। दमन के प्रति घृणा और सहयोग के लिए सहानुभूति मनुष्य के व्यवहार मे परिवर्तन

उत्पन्न करती हैं जिससे मनुष्य के चारित्रिक दृष्टि कोण में भी अन्तर पड़ जाता है। विशेषकर हमारे भारतीय समाज में जो धर्म और आर्थिक समस्याओं क कारण वर्ग-विभाजित है, चरित्र इन वर्ग-जनित समस्याओ से प्रभावित होता है। अतः किसी भी राष्ट्र के व्यक्तियों के 'चरित्र' के लिए उस राष्ट्र के समाज और समाजिक-वर्ग बहुत कुछ उत्तरदायी हैं।

### चरित्र और सरकार—

समाज का प्रतिनिधित्व वहाँ की सरकार करती है। सरकार के कुछ नियम और कानून ही समाज की बुराइयों का पालन-पोषण करते हैं। जिस के कारण ये बुराइयां समाज में अपना अस्तित्व बनाए रखती हैं। समाज का वर्ग-विभाजन और आर्थिक-संकट इन बुराइयो का स्रोत होता है। सरकार समाज की प्रतिनिधि होने के कारण इन दोषों के लिए जिम्मेवार है। इस प्रकार सरकार की कार्य-शिथिलता और अयोग्यता का ही रूप व्यक्तियों की चारित्रिक और मानसिक दुर्बलताओं में स्पष्ट झलकता है अर्थात् जिस सरकार के पदाधिकारी घूस, चोर-बाजारी और व्यभिचार द्वारा धन संचय करते हैं वहाँ का समाज अपने चरित्र को किस प्रकार दूषित होने से बचा सकता है? इसके विपरीत जिन राष्ट्रो की सरकार का आधार न्याय और सत्य होगा, वहाँ चारित्रिक पतन की भी अधिकता न होगी। अतः चरित्र-निर्माण में सरकार भी अपना प्रभाव परोक्ष रूप में डालती है।

### परिस्थिति और सच्चरित्रता—

इन सब कारणों के साथ ही यह न भूल जाना चाहिए कि 'सच्चरित्रता' की परिभाषा भी बदलती रहती है। आज से दो हजार वर्ष पूर्व जो कार्य शुभ था आज अशुभ है और आज का शुभ कार्य उस काल और समय के विचार से अशुभ था। विधवा पत्नी का पति-चिता के साथ भस्म होना 'सच्चरित्रता' का एक सराहनीय रूप था परन्तु आज के युग में सच्चरित्रता को यह पवित्र भावना मूर्खता के प्रदर्शन के अतिरिक्त कुछ नहीं। कहने का अभिप्राय यह है कि काल और समय की परिस्थितियां जहाँ 'चरित्र' और 'सच्चरित्र' के रूप में परिवर्तन करती हैं वहां उन के बनने और बिगड़ने में भी योग देती हैं क्योंकि प्रत्येक युग और काल का मनुष्य 'सच्चरित्रता'

जैसी भाववाचक भावनाओ को अपनी परिस्थितियों के ही दृष्टि-कोण के अनुसार देखता है अतः सच्चरित्रता के लिए प्रत्येक युग मे लागू कोई 'मापदण्ड' निर्धारित नहीं किया जा सकता। वर्णाश्रम धर्म वैदिक काल तथा पुराण काल मे 'सच्चरित्रता' के अङ्ग थे, परन्तु आज के युग में गत दो सौ वर्ष से प्रत्येक देश मे 'राष्ट्रीयता' और 'शिष्टाचार' ही किसी व्यक्ति की 'सच्चरित्रता' की कसौटी है। प्राचीन काल मे प्रचलित "धर्म" संज्ञा ने आज राष्ट्र-प्रेम तथा देश सेवा का रूप धारण कर लिया है। देश के लिए, राष्ट्र के लिए अपना सर्वस्व त्याग आज महानता है, सच्चरित्रता है।

### सच्चरित्र और कर्त्तव्य—

सच्चरित्र व्यक्ति का कर्तव्यनिष्ठ और कर्तव्यनिष्ठ का चरित्रवान होना एक सैद्धांतिक सत्य है क्योकि साधारण समाज मे सच्चरित्र व्यक्ति से सभी मनुष्य यह आशा करते है कि वह अपने कर्त्तव्यों से विमुख न हो और जो व्यक्ति सर्वदा अपने कर्तव्य पर दृढ़ रहता है उसे सच्चरित्र ही कहा जाता है। यद्यपि कर्त्तव्य भी अपनी परिभाषा का स्पष्टीकरण चाहता है परन्तु यहाँ कर्त्तव्य का पारिभाषिक उल्लेख असंगत जान इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि कर्त्तव्य परिस्थिति, मित्रगण अथवा किसी भी सम्बन्धी के विरोध की चिंता नहीं करता। कर्त्तव्य का पालन ही मनुष्य मे श्रेष्ठता उत्पन्न करता है और कर्त्तव्य से गिरा व्यक्ति पतित और स्वार्थी कहा जाता है। 'जयचन्द' भारतीय इतिहास मे स्वार्थ-सिद्धि के कारण ही देश-द्रोही कहलाया और 'भामाशाह' अपने वैश्योचित कर्त्तव्य-पालन के लिए ही 'सच्चरित्र' वैश्य बना। अब यह कह देना अनुचित न होगा कि सच्चरित्रता तथा कर्त्तव्यनिष्ठा एक दूसरे के पूरक है अथवा एक मूल भावना की दो पर्यायवाची संज्ञाएं हैं जिनके अस्तित्व अछिन्न हैं; अभिन्न हैं।

### सहानुभूति और सच्चरित्रता—

'सच्चरित्रता' मानव के सम्मुख सभी के लिए उचित सहायता की मांग रखती है। किसी को दुःख से पीड़ित देख आवश्यक नहीं कि कोई व्यक्ति उसकी सहायता धन द्वारा ही कर सकता है और यदि कोई निर्धन मनुष्य

उसकी सहायता नहीं करता तो वह चरित्रवान् नहो यहां धनसे अधिक महत्व-पूर्ण मनुष्य की वह पवित्र भावना आती है जिसे हम सहानुभूति कहते हैं। वह निर्धन होते हुए भी अपने सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार द्वारा अपने शारीरिक श्रम से किसी दुखी को बहुत सीमा तक सुख दे सकता है। जो सम्भवतः एक धनवान् अपने सोने और चांदी से न दे सकता।

सच्चरित्रता और उसका प्रभाव—

विश्व-विख्यात एक अंग्रेज कवि अपनी Sympathy (सहानुभूति) शीर्षक कविता मे कहता है कि एक बार कोई व्यक्ति दु:खी था। एक धनवान् ने उसे देखा और उसकी धन से सहायता की। कुछ समय पश्चात् दुःखी व्यक्ति ऐसी अवस्था मे पहुँचा कि उसने धन्यवाद सहित उस धनवान् के ऋण से मुक्ति प्राप्त की। वह व्यक्ति अनृण होने पर बहुत प्रसन्न था, परन्तु थोडे ही दिनों बाद पुनः वह आपत्ति मे पडा। इस बार एक निर्धन मनुष्य ने उसे देखा। वह उसे अपने घर ले गया। उसकी शुश्रूषा की, भोजन का प्रबन्ध किया और कई रात उसके पास बैठ व्यतीत कर दी। फलतः वह स्वस्थ हो गया, परन्तु वह अब भी दु:खी था, क्योंकि इस बार वह अपने कृपालु के 'सहानुभूति' रूपी ऋण से मुक्त न हो सकने के कारण अप्रसन्न था। कवि कहता है धन लौटाया जा सकता है, परन्तु इस दैवी भावना से किसी भी वस्तु द्वारा अनृण होना असम्भव है। अत: सहानुभूति हमारे चरित्र को इतना उज्ज्वल बना देती है जिसके सौंदर्य का आकर्षण सर्वदा सफल ही रहता है।

मूल्यांकन या उपसहार—

सच्चत्रिता मनुष्य के आत्म-विश्वास का फल है जो उसको बड़ी साधना और तपस्या के पश्चात् प्राप्त होता है। सच्चरित्र द्वारा मनुष्य कठिनाइयों और बाधाओं मे केवल अपने ही लिए मार्ग नहीं बनाता, अपितु अन्य को भी अपना अनुयायी बना लेता है। उसके प्रशंसनीय कार्य दूसरों को भी अच्छे कार्यों के लिए प्रोत्साहन एवं प्रेरणा देते हैं। उस सच्चरित्र व्यक्ति के ये साहसपूर्ण कार्य मानव जाति की अतीत शक्ति के स्मृति-चिन्ह होते हैं और उससे सम्बन्धित जाति के लिए अनुसरण करने योग्य उदाहरण।

नेपोलियन, स्टालिन, सुभाष आदि चरित्रवान् व्यक्ति शारीरिक रूप में नष्ट हो जाते हैं परन्तु उनकी आत्माओं की उच्च भावनाएं मानव जाति मे अपने कार्यों द्वारा फिर नेपोलियन, स्टालिन और सुभाष उत्पन्न करन का सन्देश देती रहती हैं। राष्ट्र मे ये सच्चरित्र मानव झंझावात और प्रलय के समय अचल एवं अमर प्रकाश स्तम्भ का कार्य करते है।

---

# सह-शिक्षा

भूमिका—प्राचीन भारत की आर्य संस्कृति में विद्याध्ययन का साधन आरण्यक आश्रम थे जिनमे पुरुष २५ वर्ष की आयु तक शिक्षा ग्रहण करते थे। स्त्रियां विदुषी तो अवश्य थीं परन्तु उनके शिक्षा-साधन का विशेष उल्लेख नहीं मिलता। बौद्ध काल मे आरण्यक-आश्रमों का स्थान 'विहारों' ने लिया जिनमे स्त्री-पुरुष दोनों भिक्षु और भिक्षुणी के रूप मे अपनी धार्मिक शिक्षा लेते थे। बौद्ध काल मे इस पाठन-प्रणाली का प्रचलन बहुत अधिक रहा, परन्तु बुद्ध धर्म की 'महायान' शाखा के समय बौद्धों के आदर्शहीन जीवन ने इस प्रणाली को भी दूषित कर दिया। स्त्री-पुरुषों का इस प्रकार साथ-साथ एक स्थान पर पढ़ना 'सह-शिक्षा' कहलाता है, परन्तु अर्वाचीन भारत में यह पश्चिमी सभ्यता की देन है जिसका अंग्रेजी शासन काल मे प्रचलन आरम्भ हुआ। आधुनिक समाज में सह-शिक्षा एक विवाद का विषय है परन्तु किसी भी बात का निर्णय करन से पूर्व उस विषय पर सभी दृष्टि-कोणों से देख लेना आवश्यक होता है क्योंकि दोष-गुण तो सभी वस्तुओं मे होते हैं, परन्तु उसका अच्छा या बुरा होना उसके उपयोग और उसमे निहित उपयोगिता पर निर्भर है।

अवगुणः चरित्रहीनता—'सह-शिक्षा' के प्रति हमारे समाज में एक यह प्रवृत्ति सी बन गई है कि यह प्रणाली पश्चिम का भारत को अभिशाप है क्योंकि जब विद्यार्थीगण अपने भिन्न-लिङ्गी सहपाठियों के संपर्क में आते हैं तो उनका मानवी निहित स्वाभाविक आकर्षण सजग हो उठता है। साथ ही यह किशोरावस्था जीवन के सुन्दर, असुन्दर, उपयोगी, अनुपयोगी तथा हितकर

और अहितकर चित्रों से सर्वथा अनभिज्ञ होती है। अज्ञात के ज्ञान की जिज्ञासा मानव-प्राणी का एक विशेष गुण है। इसी गुण के वशीभूत हो बालक और बालिकाएँ प्रेम-क्रीडा के राग आलापने लगते हैं। प्रथम कक्षा का साधारण परिचय क्रमशः भेंट, स्पर्श, आलिंगन के विभागों से होता हुआ व्यभिचार तक पहुँचता है जिसका अन्तिम रूप या तो गन्धर्व विवाह अथवा अन्य किसी अमानुषिक क्रिया में समाप्त हो जाता है। ये दोनो ही कार्य समाज को दूषित और घृणित रूप प्रदान करते हैं। इन विचारो की पुष्टि के लिए यह वर्ग भारतीय शास्त्रो के विधान की ओर संकेत करता है, जिसके अनुसार लड़के और लड़कियों के गुरुकुलो मे भी पर्याप्त अन्तर होना आवश्यक है। मनुस्मृति मे तो यहाँ तक लिखा है कि पिता-पुत्री, भाई-बहिन तथा माँ और पुत्र को भी एकान्त मे रहना उचित नहीं, क्योंकि मानव मे कामसम्बन्धी ( Sexual desires ) उत्तेजना बहुत अधिक और प्रबल होती है। उस समय मनुष्य की चितन शक्ति लोप हो जाती है और वह भावावेश मे ऐसे कुत्सित कार्य कर बैठता है, जो समाज के ललाट पर अमिट-कलङ्क होते है। महात्मा दयानन्द सरस्वती ने सह-शिक्षा की आलोचना करते हुए बालक-बालिकाओ के सम्पर्क को घी और अग्नि की उपमा दी है। इन्ही विचारों के विचारक वर्ग ने महात्मा कबीर की वाणी का भी लाभ उठाया है, जहाँ उन्होने कहा है:—

नारी पराई आपनी, भोगे नरके जाय।
आग आग सब एक हैं, हाथ दिये जल जाय॥

संक्षेप में 'नारी' एक 'आग' है, जिसका स्पर्श-मात्र ही पुरुष को भस्म करने की सामर्थ्य रखता है, बल्कि पुरुष की तो शक्ति ही क्या.........? साँप जैसा धर्म-शून्य भयङ्कर जन्तु भी इस आग से डरता है। इसी भाव को कबीर ने एक स्थान पर प्रकट किया है:—

नारी की छाईं परत, अन्धा होत भुजंग।

फिर भला ऐसे तुच्छ, भयङ्कर तथा दोषपूर्ण साथी के होते हुए विद्यार्थी-जीवन की यात्रा कैसे पूर्ण हो सकती है।

और यदि कुछ कारणवश सह-शिक्षा की प्रणाली ग्रहन भी कर ली जाय

तो इस से लाभ क्या ... ? भारतवर्ष तो एक आध्यात्मिक देश है। सोवियट रूस या यूरोप तो यह है नहीं कि राष्ट्र और देश की सेवा के लिए यहाँ पुरुषों की संख्या कम हो। स्त्रियां शिक्षित होने के पश्चात् पद-लिप्सा से दु:खी रहती है। इस लालसा की पूर्ति सामाजिक जीवन पर दूसरा प्रहार करती है। एक ओर व्यभिचार का अवसर मिलता है, दूसरी ओर घरेलू जीवन नष्टप्राय. हो जाता है और इन की इस लालसा का सब से बड़ा प्रभाव उन शिक्षित नवयुवकों पर पड़ता है जो उपाधि प्राप्त करने पर भी नौकरी प्राप्त करने मे असफल रहते हैं।

इस के अतिरिक्त यह भूल जाना भी एक बडी भारी भूल होगी कि भारतीय समाज ने स्त्री का कार्य-क्षेत्र घर चुना है; व्यापार नहीं। उनकी शिक्षा उनके कार्य-क्षेत्र मे परिवर्तन का साहस देती है, जो शास्त्रीय-विधान का विरोध करती है और भारतीय धर्मनिष्ठ समाज इस प्रकार के विरोध को, इस प्रकार की क्रान्ति को, नहीं-नहीं इस प्रकार के षड्यन्त्र को कदापि सहन नहीं कर सकता। उन को तो उच्च शिक्षा का ही निषेध है तो फिर सह-शिक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता।

इन उपरोक्त दोषों के अतिरिक्त इस प्रणाली मे एक और कठिनाई अनुभव होती है और वह है पाठ्यक्रम की समानता। पाठ्यक्रम की समानता वास्तव में एक बहुत बड़ा दोष है, क्योंकि अध्यापक कक्षा में युवतियों के सम्मुख 'साहित्य और विज्ञान' दोनों ही विषयों के अध्यापन मे प्रायः असफल रहते हैं। उनकी इस असफलता का कारण है उन का संकोच। साहित्य में शृङ्गार विशेषकर विद्यापति और बिहारी सम्बन्धी, शारीरिक विज्ञान में शरीर के कुछ अंगों का वर्णन ऐसे ही विषय है। फिर इस से भी बढ़ कर 'फैशन' की बला सिर पर मण्डराती रहती है। बालिका ने प्रतिदिन नई साडी बदल कर और युवक ने नया सूट पहन कर अपने बड़प्पन का परिचय देना ही है। इस 'बला' के प्रहार से अध्यापक महोदय भी प्राण नहीं बचा पाते। यह 'फैशन' इस समस्त खेल को विलासिता की ओर ले जाता है और इन्ही सब कारणों से महाविद्यालय का जीवन निरपराध समझने में संकोच किया जाता है।

ये हैं कुछ त्रुटियां जिनको हमारे भारतीय समाज में विशेषकर प्राचीन-गौरव की डींग मारने वाले (Orthodox) इस अभिशाप का फल समझते हैं, परन्तु यह चित्र का एक पहलू है। केवल इस पर निर्भर करना इस प्रणाली का पूर्ण ज्ञान नही कहा जा सकता। कोई भी वस्तु संसार मे केवल अवगुण के कारण ही प्रचलित नही होती। वास्तविकता तो यह है कि उसमे कोई न कोई महान् गुण निहित है जिसने उसका प्रचलन आरम्भ किया और वह कहीं न कहीं लोक-प्रिय बन गई। यही रहस्य 'सह-शिक्षा' में भी अवश्य है। 'सह-शिक्षा' को अंग्रेजों की राजनैतिक चाल कहना भूल है। माना कि अंग्रेज जाति भारतवर्ष को दास बनाए रखना चाहती थी, परन्तु यह मानना कि उनके उद्देश्य की पूर्ति किसी भी अंश में 'सह-शिक्षा' के माध्यम से होती हो, यह मन्द-बुद्धि के परिचय के अतिरिक्त कुछ नही, क्योंकि यह प्रथा पश्चिम के लगभग सभी स्वतन्त्र देशों में प्रचलित है। इंग्लैण्ड देश मे भी विद्यमान है, वहां अंग्रेज किस को दास बनाना चाहते हैं, कुछ समझ मे नहीं आता। उन देशों मे शिक्षा के इस रूप की सफलता इसके कुछ गुणों का प्रमाण अवश्य है। निर्णय से पूर्व उन गुणों का विवेचन भी असङ्गत न होगा।

जहां तक सह-शिक्षा के गुणो का सम्बन्ध है, सम्भवतः प्रयत्न करने पर इनकी सूची का विस्तार अवगुणो की अपेक्षा अधिक होगा, परन्तु विस्तार से सर्वथा विमुख हो यदि कुछ सार-पूर्ण बिन्दुओं को ही विचारगत किया जाए तो सर्वप्रथम हमें ज्ञात होगा कि यदि इस प्रणाली को दोषपूर्ण समझ कर लड़के-लड़कियों के लिए भिन्न-भिन्न विद्यालय निर्माण किए जाएँ तो राष्ट्र और सरकार की आय का अधिकांश इसी मद पर व्यय हो जाएगा। दूसरे कम जन-संख्या वाले नगर अथवा ग्राम मे जहां बालिकाओं की संख्या पर्याप्त न होने के कारण अलग विद्यालय नहीं हो सकेगा, वहाँ ऐसी परिस्थिति में उन बालिकाओं के लिए आवश्यक हो कि वे या तो किसी नगर में माता-पिता से दूर महिला-विद्यालय में प्रविष्ट हो स्वतन्त्रता-पूर्वक पतन की ओर अग्रसर हों, अथवा जीवन में शिक्षा के विचार को सर्वदा के लिए त्याग दें। और यदि भाग्यवश किसी भावी सुसंगठित सरकार द्वारा यह कार्य सम्पन्न हो,

भी हो गया तो भी केवल विद्यालय-भवन निर्माण से तो कार्य पूर्ण हो नही सकता। अध्यापन कार्य के लिए भी सुशिक्षित, अनुभवी तथा प्रमाणीकृत शिक्षकवर्ग की आवश्यकता पडती है। इस अभाव को पूर्ति सुगमता से नहीं हो सकती। हाँ 'सह-शिक्षा' द्वारा इस अपव्यय को बचाया जा सकता है और साथ ही अध्यापक-वर्ग के अभाव की पूर्ति भो हो जाती है। इतना कुछ ही नही, बालिकाएँ माता-पिता के पास नियंत्रण मे भली-भाँति शिक्षा-ग्रहण भी कर सकती हैं।

प्राय: देखा गया है कि बालक अपने सहपाठी बालको के साथ अधिक असभ्य और द्वेषपूर्ण व्यवहार करते है परन्तु इस के विपरीत 'स्त्री' के प्रति प्रत्येक उद्दण्ड बालक भी नम्रता और कोमलता से बोलता है। इसका कारण भी एक मनोविज्ञानिक सत्य है और वह है कि पुरुष मे 'क्रूरता' और 'स्त्री' मे करुणा जैसे गुण जन्म-जात आन्तरिक प्रेरणा (Natural Instincts) के रूप मे विद्यमान रहते है। 'स्त्री' की करुणा पुरुष की क्रूरता को शनैः-शनैः लोप कर देती है और पुरुष इस वातावरण मे बर्बरता और पाशविकता को तिलांजली दे सभ्यता की ओर बढ़ता है और वह सीखता है सामाजिक शास्त्र के उन मूल सिद्धान्तो को जिनका अभ्यास सम्भवतः उस को इस जीवन मे न हो पाता। सभ्यता-साधन के इस 'सह-शिक्षा' रूपी माध्यम को पुनरपि हेय समझा जाए तो खेद है।

सभ्यता की इस देन के साथ ही यह प्रणाली एक और महत्वपूर्ण कार्य करती है। विद्यार्थी-जीवन मे प्रतिस्पर्धा बहुत होती है। विद्यार्थियों की यह प्रतिस्पर्धा सह-शिक्षा मे एक उग्र रूप धारण कर लेती है। प्रत्येक बालक और बालिका इस पारस्परिक प्रतियोगिता की भावना से प्रभावित हो, शिक्षा-ग्रहण की ओर अपनी इन्द्रियों को केन्द्रित करने का प्रयत्न करता है। विद्यार्थियों का यह प्रयत्न अच्छे परिणाम का कारण सिद्ध होता है। यह तो प्रतियोगिता और सभ्यता की बात हुई कि पुरुष स्त्रियों के सम्पर्क से नम्रता और प्रतियोगिता को प्राप्त करता है। स्त्रियाँ भी जब पुरुषो के सम्पर्क मे आती है तो उनका संकोच धीरे-धीरे 'साहस' का स्थान ग्रहण करता है और वे 'अबला' के स्थान पर 'सबला' बनना और कहलाना चाहती हैं। अतः जहाँ

सह-शिक्षा सभ्यता सिखाती है, वहाँ यह दोनों वर्गों से संकोच-निवारण कार्य भी करती है और उन पारस्परिक वाद-विवाद द्वारा वासना का भयमिश्रित आनन्द अपने लाभ-हानि के विचार का ज्ञान उत्पन्न कर देता है।

इन गुणों के अतिरिक्त विद्यार्थी जीवन मे यह प्रणाली विद्यार्थियो को एक दूसरे की मनोवृत्ति तथा स्वभाव को समझने का अवसर प्रदान करती है। वे एक दूसरे के साथ मिल कर चलना सीखते है और उनके इस पारस्परिक मेल से उन मे सहिष्णुता का प्रादुर्भाव होता है, जो समाज के दो आदरणीय सदस्यों मे होना आवश्यक है। इस सहिष्णुता और विवेक का एक यह लाभ भी होता है कि वे भावना की काल्पनिक मधुरता पर कर्त्तव्य की कठोर सत्यता को अपनाते है और इन्द्रियों की नमनशीलता सयम को अङ्गीकार करना आरम्भ कर देती है। यही संयम-प्रेम दाम्पत्य जीवन को सुखी और आनन्दमय बना देता है। इससे अधिक उपहार क्या हो सकता है? इस हेय प्रणाली का।

इन उपरोक्त गुणों के अतिरिक्त सह-शिक्षा से यह भी लाभ है कि व्यवसायो-शिक्षा (Professional Education) में बालक और बालिकाएँ एक ही प्रयोगशाला द्वारा प्रयोगात्मक रीति से रहस्यपूर्ण तत्त्वों का परीक्षण कर लेते है। सह-शिक्षा की अनुपस्थिति में यह कार्य कठिन क्या असम्भव ही हो जाता है क्योंकि डाक्टरी की चार युवतियों के लिए एक अलग प्रयोगशाला (                ) बनाने का विचार तो एक निर्मूल कल्पना के अतिरिक्त कुछ भी नहीं।

निर्णयात्मक विवेचना से पूर्व उपरोक्त युक्तियों में निहित सार को आलोचनात्मक दृष्टि से देख लेना भी उचित होगा। इस पद्धति का सब से बड़ा अवगुण 'चारित्रिक पतन' बताया जाता है और इसकी पुष्टि मनु, कबीर, तुलसी तथा दयानन्द जी द्वारा कराने का प्रयत्न किया जाता है। इन महान् आत्माओं के विचारों और सिद्धान्तों पर सन्देह, निस्सन्देह अवांछनीय होगा परन्तु प्रकृति, प्रकृति का मानव और उस मानव का सांसारिक आवेष्टन परिवर्तनशील है; प्रकृति के इस सैद्धान्तिक तथ्य की भी अवहेलना नहीं की जा सकती अर्थात् मनुष्य अपने सामाजिक आवेष्टन के अनुसार बदलता है,

उसका यह परिवर्तन पुरातन का अपमान और नूतन का सम्मान नहीं कहला सकता। एक महान् मुस्लिम नेता ने दाढ़ी-मूंछ न रखने का उत्तर देते हुए कहा था "शरीयत के विरुद्ध जाना कुरान का अपमान नहीं, क्योंकि कुरान आज से चौदह सौ वर्ष पूर्व की संस्कृति का धर्मग्रन्थ है।" वाक्य बहुत संक्षिप्त होते हुए भी अर्थपूर्ण है कि उक्त ग्रन्थ तत्कालीन परिस्थितियों की विचारधारा का निष्कर्ष है। उस काल का सत्य आज मिथ्या हो सकता है। इतना ही कहना पर्याप्त होगा क्योंकि उर्दू भाषा के सुप्रसिद्ध कवि गालिब ने भी पूर्वजों के सम्बन्ध मे कहा है—

"अगले वक्तों के है वे लोग, उन्हे कुछ न कहो।"

अर्थात् मनु, कबीर, तुलसी आदि पूर्वज अपने समय में ठीक थे। उनके विषय मे मौन ही उचित है परन्तु इस आरोप में आज के आलोचक वर्ग की अपनी चारित्रिक दुर्बलता अवश्य झांक रही है क्योंकि वे मनोविज्ञान के इस तथ्य को न जाने क्यो भूल जाते हैं कि मानव अप्राप्य वस्तु की ओर अधिक आकर्षित होता है जब कि सुन्दरतम वस्तु भी सामीप्य के कारण अपना आकर्षण खो बैठती है। हरिद्वार का यात्री दिन में तीन बार स्नान करता है और हरिद्वार-निवासी मास में सम्भवतः एक बार भी नहीं; भ्रमणार्थ आया प्रत्येक व्यक्ति पुष्प प्राप्त करने का अभिलाषी है परन्तु उद्यान के माली की उनके सौन्दर्य मे, उनकी सुगन्ध में कोई रुचि नहीं; 'ताज' की श्वेत शिलाओं में कवि शाहजहां के पवित्र प्रेम को, उसके बाग और नहर में चित्रकार स्वर्ग के दृश्य आंकता है, कोई पूर्णिमा मे 'मुमताज' को चन्द्रमा से अठखेलियां करता पाता है परन्तु वहां रहने वाले इसे केवल एक सुन्दर समाधि समझते हैं इसके अतिरिक्त कुछ नहीं, सहोदर पुत्री को बहन कहा जाता है पत्नी नहीं क्यों ......? केवल सामीप्य के कारण, प्रत्येक घूमती बाला को संभोग की सामग्री समझा जाता है क्यों—केवल अप्राप्य होने के कारण। सह-शिक्षा इसी सामीप्य को उपस्थित कर प्रत्येक युवक को युवती के लिए भाई और प्रत्येक युवती को युवक के लिए बहन कहने का अवसर प्रदान करती है।

दूसरे 'चारित्रिक पतन' का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बताता है कि 'स्त्री' अपने चरित्र

( character ) के बारे मे अधिक चिन्तित होती है परन्तु 'प्रलोभन' उस की इस आत्मिक पवित्रता का हनन करता है। 'प्रलोभन' अभाव के कारण सफलता प्राप्त करता है, और 'अभाव' आर्थिक संकट से आता है। संक्षेप में 'चारित्रिक पतन' का आधार 'आर्थिक संकट' पर अवलम्बित है और 'आर्थिक संकट' सह-शिक्षा का नहीं अपितु समाज और सरकार का अपनी जनता को विनाशकारी उपहार होता है जिस के लिए समाज और सरकार उत्तरदायी हो सकते हैं सह-शिक्षा नहीं।

रहा भारत के यूरोप और रूसी बनने का प्रश्न वह न तो भारतवर्ष है और न होगा और संभवत: कोई तुच्छ भारतीय इस बात का इच्छुक भी हो परन्तु यह बात अवश्य है कि जिस प्रकार कोई भी चट्टान नदी के आवेग का अधिक समय तक विरोध नही कर सकती, उसकी यह हठ उसके विनाश का कारण बनती है ठीक उसी प्रकार राष्ट्र और देश भी जो समय का विरोध करते हैं, नष्ट हो जाया करते हैं। हठ 'संकीर्ण' विचारो का द्योतक है जब कि बहाव का विरोध न करना 'उदारता' का प्रतीक है। मानव को बिना किसी भेदभाव के ऊपर उठने देना 'उदारता' का प्रमाण है और रूस की यही उदारता सराहनीय है। सह-शिक्षा का विरोध 'स्त्री' को कुचलने का एक सुन्दर एवं सरल साधन है। यही विनाशरूपी संकीर्णता अप्रशंसनीय है केवल अप्रशंसनीय ही नहीं 'कण्व' से उदार अध्यापक तथा 'जनक' सरीखे विशाल-हृदय पिता के देश भारत में हेय है, तुच्छ है, त्याज्य है। राष्ट्र का जीवन उस की नीति-उदारता होती है जिसके प्रसार का माध्यम बहुत सीमा तक 'सह-शिक्षा' हो सकती है। इसके अतिरिक्त जहां तक पाठ्यक्रम समानता की कठिनाई है उसमें सुधार किया जा सकता है क्योंकि स्त्रियां ललित कलाओं में अधिक रुचि रखती हैं जब कि बालक गणित आदि विषयों में निपुण होते हैं। इन्हीं विषयों के आधार पर इन सुधारो का प्रश्न उठता है परन्तु यह सब कुछ भी सह शिक्षा के अन्तर्गत बहुत सुचारु रूप से किया जा सकता है।

यद्यपि देश-हित क्रान्ति मे 'सन्धि प्रस्ताव' देश-द्रोह होता है फिर भी जब तक देश मे उदार समाज और सुसंगठित सरकार की स्थापना न हो जो राष्ट्र को मिथ्या भ्रम और आर्थिक संकट से मोक्ष दे सके उस समय तक

प्रारम्भिक और उच्च शिक्षा मे इस पद्धति का प्रयोग अधिक लाभप्रद होगा। बीच के काल में (१४ से २० वर्ष तक) किसी अनिष्ट की शंका से यदि इस प्रणाली का लाभ संतोषजनक न हो तो यह प्रबन्ध और अनुशासन की शिथिलता है 'सह-शिक्षा' का दोष नहीं।

---

# भारत की शिक्षा-प्रणाली

संकेत—१. भारत की प्राचीनता। २. प्राचीन शिक्षा-प्रणाली। ३. मध्यकालीन शिक्षा-प्रणाली। ४ मुस्लिम काल की शिक्षा-प्रणाली। ५. ब्रिटिश कालीन शिक्षा-प्रणाली। ६. वर्तमान शिक्षा-प्रणाली—के गुण-दोष। ७. शिक्षा-प्रणाली मे क्या-क्या सुधार आवश्यक हैं।

भूमिकाः—विश्व मे सर्वप्राचीन उन्नत देशों में भारत का स्थान सर्वप्रथम आता है। ऐतिहासिक दृष्टि से अब तक कोई भी देश इतना प्राचीन सिद्ध नहीं हो सका, जितना कि भारत। भारत का सांस्कृतिक उदय वेदों से माना जाता है, तथा वेदों से प्राचीन साहित्य संसार मे अब तक उपलब्ध नहीं हुआ। वेदों मे दर्शन, आयुर्वेद, राजनीति, धर्म, समाजादि सभी प्रकार की शिक्षाओं का परिचय मिलता है। इस प्रकार भारत की शिक्षा प्रणाली वेदों से ही प्रारम्भ हुई मानी जाती है। इससे पूर्व का साहित्य उपलब्ध न होने के कारण नहीं कहा जा सकता कि वेदों से पूर्व शिक्षा की क्या अवस्था थी। वैदिक काल में शिक्षा के केन्द्र ऋषियों के आश्रम हुआ करते थे। आश्रमों में रह कर ही लोग शिक्षा प्राप्त करते थे। शिक्षा की प्रणाली मौखिक रूप में वाद-विवाद द्वारा विषय-ज्ञान कराने की थी। लिपि का ज्ञान भी कराया जाता था, पर विद्या को कण्ठस्थ कराने की प्रणाली प्रधान थी। लगभग आठ वर्ष की आयु में उपनयन संस्कार होता था, जिसका अभिप्राय था—गुरु के समीप पहुँचना। इस संस्कार के द्वारा विद्यार्थी गुरु के निकट सम्पर्क में पहुँचता था और पच्चीस वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य (वेदाध्ययन अर्थात् ज्ञान का उपार्जन) किया करता था। यह काल उसकी साधना, संयम और ज्ञान-पिपासा की

तृप्ति का होता था। गुरु इस काल मे विद्यार्थी को हर प्रकार की शिक्षा देकर उसे पूर्ण योग्य और सांस्कृतिक जीवन के उपयुक्त बना देता था।

आश्रम-शिक्षा की यह प्रणाली रामायण काल, महाभारत काल तक अविच्छिन्न रूप से चलती रही। फिर बौद्धकाल और गुप्तकाल में भी इसी प्रथा की प्रधानता रही, पर आश्रम का स्थान बौद्ध-विहार और मन्दिर ने ले लिया। बौद्ध मतावलम्बी भिक्षु और भिक्षुणियाँ को विहारों में शिक्षा देने का कार्य किया करते थे। इन्हीं के अनुकरण पर हिन्दू धर्म के अनुयायियों ने मन्दिरों को शिक्षा-केन्द्र का रूप दिया। मन्दिरों के साथ-साथ बड़ी-बड़ी पाठशालायें भी स्थापित होने लगी। साथ ही नालन्दा, तक्षशिला जैसे बडे-बडे विश्वविद्यालय भी स्थापित हुए। इनमे हजारों की संख्या में विद्यार्थी विद्या-अध्ययन करते थे। इतना ही नही, काशी, हरिद्वार, रांची आदि सभी तीर्थ स्थान शिक्षा के केन्द्र के रूप मे प्रसिद्ध हुए, तथा शिक्षा का महत्व समाज में निरन्तर बढ़ता गया।

आदि काल से ही भारत मे विद्वानो अथवा शिक्षितों का मान अधिक किया जाता था। विद्यादान को हमारी संस्कृति ने सर्वश्रेष्ठ दान कहा। जो विद्वान् विद्या-दान का कार्य करता था, सारा समाज उसके प्रति श्रद्धालु रहता था और समाज मे उसे धनिक की अपेक्षा अधिक गौरव प्राप्त होता था। राजा भी ऐसे विद्वानो की धन से सहायता करते थे। आश्रमों, मन्दिरों, विश्व-विद्यालय अथवा किसी विद्वान् की व्यक्तिगत पाठशाला का सारा प्रबन्ध राज्य अथवा धनिक सामाजिकों की ओर से ही होता था। इन शिक्षा संस्थाओं को दान के रूप मे स्वेच्छा से लोगों की ओर से धन पहुँचता था। परन्तु शिक्षा संस्था की व्यवस्था, संचालन, शिक्षण आदि मे किसी को हस्तक्षेप करने का अधिकार न था। यह शिक्षा-संस्थाएँ सर्व साधारण के लिए होती थीं, शिक्षा के जिज्ञासु किसी भी पात्र को इन संस्थाओ से निराश नहीं लौटना पड़ता था। पर गुरु लोग शिक्षा पात्र को ही देते थे, अनधिकारी को शिक्षा नहीं दी जाती थी। ज्ञान की सुरक्षा सत्प्रयोगादि की दृष्टि से ही गुरु लोग ऐसा किया करते थे, किसी पक्षपात का भाव इन में नहीं रहता था।

परन्तु मुस्लिम काल में आकर भारतीय शिक्षा-प्रणाली का यह ढाँचा

सर्वथा छिन्न-भिन्न हो गया। मुसलमानों के क्रूरता-पूर्ण आक्रमणों ने देश के सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक संगठन को ही हानि नहीं पहुँचाई अपितु शिक्षा-व्यवस्था को भी नष्ट कर दिया। मुस्लिम राज्य में मस्जिदों में जो शिक्षा दी जाती थी, वह मुसलमानों तक ही सीमित रही। हिंदू वहाँ जाकर पढ़ना पसन्द नहीं करते थे। संस्कृत की पाठशालाएँ दिन-प्रतिदिन समाप्त होती जा रही थीं, क्योंकि संस्कृत के पढ़े-लिखों का राज्य में कोई स्थान न रह गया था। तत्कालीन डिंगल, पिंगल आदि भारतीय भाषाओं को सिखाने का कोई सुप्रबन्ध नहीं रहा था। पंडितों की कृपा से ही कोई कुछ सीख पाता था। उधर देववाणी संस्कृत की रक्षा में पंडित इतने तल्लीन थे कि उसका ज्ञान वे अपनी सन्तानों तक ही सीमित रखते थे। परिणाम यह हुआ कि भारत में अशिक्षितों की संख्या बढ़ती गई। यहाँ तक कि राजा लोग भी अशिक्षित ही रहने लगे।

विस्तार—जब अंग्रेजों का शासन भारत में स्थापित हो गया तो उन्हें राज्य-संचालन के लिये कर्मचारियों की आवश्यकता हुई। अंग्रेजी भाषा में वे यहाँ पर काम कर नहीं पाते थे, तथा भारतीयों पर उन्हें पूरा विश्वास नहीं था। इसलिए आरम्भ में कर्मचारी इंगलैंड से ही लाये गये। जिन्हें भारतीय भाषा का ज्ञान कराने के लिए कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना हुई। वहाँ अंग्रेजों को हिंदी और उर्दू सिखाने के लिए लल्लूलाल, सदल मिश्र आदि कुछ भारतीय विद्वान् नियुक्त किये गये। इस प्रकार अँग्रेज भारतीय भाषा सीख-सीख कर कुछ काल तक कार्य चलाते गये। परन्तु जैसे-जैसे राज्य का विस्तार होता गया, वैसे ही वैसे भाषा की कठिनाई भी बढ़ती गई। अन्त में लार्ड मैकाले ने यह निर्णय किया कि भारतीयों को अँग्रेजी भाषा सिखा कर उनके द्वारा ही राज्य का कार्य चलाया जाय।

मैकाले के इस व्यापार में केवल राज-व्यवस्था ही निहित नहीं थी, अपितु वह यह भी जानता था कि भारतीयों को अंग्रेजी रङ्ग में रङ्गने के लिए उन्हें अंग्रेजी भाषा का ज्ञान कराना आवश्यक है। परिणाम-स्वरूप मैकाले की योजनानुसार भारतवासियों को अंग्रेजी सिखाई जाने लगी। सरकार की ओर से बहुत से स्कूल खोले गये, जिनमें भारतीय भाषाओं के साथ-साथ अंग्रेजी

भाषा की शिक्षा आवश्यक कर दी गई। कालान्तर में भारत के समस्त प्रान्तों, नगरो और ग्रामों मे उन स्कूलो का जाल बिछ गया, जो अंग्रेजो के लिए राजकर्मचारी ही नहीं अपितु उनके धर्म के भक्त भी तैय्यार करने लगे। प्राइमरी स्कूल से लेकर विश्वविद्यालयों को शिक्षा-प्रणाली अंग्रेजों ने इस ढङ्ग की बनाई कि जिसके द्वारा भारतीय युवक-युवतियां पूर्णतः अंग्रेजो के रंग में रंगने लगी, तथा नौकरी के लिए साहबों के द्वार खटखटाए जाने लगे।

अंग्रेजों के शासन काल मे शिक्षितो की संख्या बारह प्रतिशत से अधिक कभी नहीं रही, जिनमे पूर्ण शिक्षित व्यक्ति चार-पांच प्रतिशत ही होते थे। पर इतने प्रतिशत व्यक्तियों को भी जीविकोपार्जन करने मे बडी कठिनाई का सामना करना पडता, जिसका एक मात्र कारण केवल नौकरी की ओर झुकना था! इन शिक्षित युवक-युवतियो में एक भी ऐसा नहीं होता था जो नौकरी की अपेक्षा अन्य कार्य करने को उद्यत हो, इस प्रकार अंग्रेजी राज्य शिक्षा का लक्ष्य नौकरी प्राप्त करना ही बना रहा। क्योंकि नौकरी बिना सर्टिफिकेट के नही मिलती थी, इसलिए विद्यार्थियों का लक्ष्य केवल सर्टिफिकेट प्राप्त करना ही रह गया। स्कूल, कालिज शिक्षा की इस प्रणाली में विद्यार्थी के चारित्रिक-निर्माण, शारीरिक-गठन, नैतिकता आदि पर कोई ध्यान नहीं देते थे। स्कूल और कालिजों में जाकर छः-सात घण्टे तक लड़के लड़कियां पुस्तकों का ही ज्ञान प्राप्त करने में लगे रहते थे। एक वर्ष में छः महीने से भी अधिक छुट्टियाँ हो जाती थीं। परीक्षा का ढंग प्रश्नोत्तर रूप में वार्षिक था। प्रतिवर्ष विद्यार्थियों से परीक्षा के रूप में उनकी पुस्तकों के कुछ प्रश्न पूछ लिए जाते थे, जिनके उत्तर विद्यार्थी तीन घण्टे में लिख कर अपनी प्रतिभा का परिचय दिया करते। इस प्रकार के प्रश्नोत्तर समझाने की शैली अध्यापकों ने भी ग्रहण करली। परिणामतः प्रत्येक पुस्तक पर आठ-आठ, दस-दस प्रश्न स्मरण करके विद्यार्थी सर्टिफिकेट लेने लगे। स्कूल और कालिजों में साल भर में दो मास पूर्व ही परिश्रम करने की आदत अध्यापकों और विद्यार्थियों को पड़ गई।

अंग्रेजों के प्रभाव के कारण स्कूलों, कालिजों और विश्वविद्यालयो का वातावरण भारतीय न रह कर एकान्ततः यूरोपीय बन गया। अंग्रेजो की

डिग्री के साथ-साथ विद्यार्थी अंग्रेजी संस्कृति, सभ्यता, खान-पान, रहन-सहन और विचारधारा के भी अनुयायी होने की डिग्री स्वभावतः लेने लगे। भारतीय विचारधारा का विरोध, रहन-सहन और शिक्षा का विरोध करना, अंग्रेजी पढ़े-लिखों का काम हो गया। वे भारत को भूल कर यूरोप के गान गाने लगे।

नवीनता के मोह, विज्ञान के चमत्कार और विदेशीपन के प्रभाव में भारतीय समाज इतना जकड़ गया कि अपनेपन का नाम लेना ही उसके लिये संकीर्णता समझी जाने लगी। इस प्रकार राजनैतिक पराधीनता के साथ-साथ भारत में भाषा, वेष-भूषा, चिन्तन आदि पराधीनताओं को भी सहर्ष स्वीकार कर लिया गया, जिसका एक मात्र कारण अंग्रेजों की शिक्षा-प्रणाली ही थी।

अंग्रेजों के राज्य में भारत का आर्थिक शोषण होने के कारण तथा उच्च शिक्षा के अभाव के कारण भारतीय जीवन की समस्त विशेषताएँ जाती रहीं। जो भारत किसी समय सत्य का प्रकाश समस्त विश्व को दिखलाता था, वह स्वयं असत्य के अंधकार में डूब गया। परिणामस्वरूप देश का नैतिक पतन हो गया। जिसका प्रभाव अध्यापकों, प्रोफेसरों और कालिज के सञ्चालकों आदि पर भी पड़ा। जो शिक्षक सामाजिकों को आचार का पाठ पढ़ाते थे, नैतिकता की शिक्षा देते थे और ज्ञान का प्रकाश दिखलाते थे, वे स्वयं आचारहीन, नैतिकताहीन और ज्ञानहीन हो गये। अंग्रेजी प्रभाव से आच्छादित विश्वविद्यालय ने जिस शिक्षित वर्ग को जन्म दिया वह बौद्धिक विकास की दृष्टि से तो पर्याप्त विकसित हो गया पर मानवीय गुण उसमें न आ सके। शिक्षा और ज्ञान को पश्चिम में धनोपार्जन का साधन समझा जाता है, इसलिए हमारा यह बुद्धि-जीवी शिक्षित वर्ग भी ज्ञान को धनोपार्जन का साधन ही समझने लगा। किसी ने भी वकील बनकर, डाक्टर बनकर, पी. एच. डी. की डिग्री लेकर या न्यायधीश होकर यह नहीं सीखा कि समाज की सेवा करना उसका धर्म है, बल्कि वह समाज को अपने शोषण का साधन समझने लगा। जिसका अधिकतर दोष शिक्षण-संस्थाओं तथा शिक्षकों पर ही अधिक लगाया जा सकता है। पर क्योंकि शिक्षण-संस्थाएँ अंग्रेजों के

आधीन थीं इसीलिए यह दोष समस्त तत्कालीन सरकार के ऊपर लादा जा सकता है।

गुरुकुल कांगडी, ऋषिकुल आश्रम जैसी कुछ संस्थाओं ने अंग्रेजों के शासनकाल में संस्कृत की ऊँची शिक्षा का ऊँचा प्रबन्ध कर दिया। भारतीयता की रक्षा का बहुत कुछ प्रयत्न किया पर वे भी पूर्ण सफल नहीं हो सके। क्योंकि भारतवासियों के मस्तिष्क में अंग्रेजियत की गन्ध इतनी समा गई थी कि ये संस्थाएँ भी अंग्रेजी के प्रवेश से वंचित न रह सकी। इन संस्थाओं का वातावरण संस्था के आन्तरिक क्षेत्र की दृष्टि से तो निःसन्देह भारतीय ही रहा, पर बाहर के जिस क्षेत्र मे संस्कृत का ऊँचा ज्ञान लेकर गुरुकुलों के विद्यार्थी आए, उसकी चमक-दमक और ठाट-बाट से वे अपनी रक्षा न कर सके, बाहर आकर वे भी अंग्रेजों का चोला धारण करने के लिए विवश थे। इसलिए संस्कृत मे विद्यालङ्कार की उपाधि लेकर भी वे अंग्रेजी वेश-भूषा में रंग गये। साधारण हिन्दी और पाठशालाओं मे शिक्षा पाकर जो विद्यार्थी निकलते थे उनका तो कहना ही क्या, संस्कृत के कई कई विषयो के आचार्य तक को अंग्रेजी शासनकाल मे किसी ने नही पूछा।। इसलिए संस्कृत और हिन्दी के प्रति ही नहीं अपितु सभी भारतीय भाषाओ के प्रति भारतवासी उदासीन हो गये तथा इंगलिश की ओर दौड़ने लगे। हर प्रान्त मे अंग्रेजी की ऐसी लहर दौडी कि इस भाषा के ज्ञान के बिना किसी को शिक्षित ही नहीं समझा जाता था। मैट्रिक पास के सामने संस्कृत का आचार्य कोई मूल्य नहीं रखता था।

उधर अंग्रेजी के स्कूलों मे यह अनिवार्य समझा जाने लगा कि बच्चों को आरम्भ से ही अंग्रेजी में शिक्षा दी जानी चाहिए। परिणामस्वरूप भारत में जन्म पाकर भी भारत के बच्चे विदेश भाषा सीखने लगे तथा माता-पिता भी इसी मे गौरव का अनुभव करने लगे।

सन् १९४७ में पंद्रह अगस्त को भारत स्वतन्त्र हुआ, अंग्रेज भारत से चले गये, परन्तु स्कूल कालिजो और यूनिवर्सिटियो में जिस प्रकार की शिक्षा प्रणाली को छोड़ गये थे, वह अब तक ज्यो की त्यों चल रही है तथा उसके समस्त दोष भी वैसे ही विद्यमान हैं। स्कूल कालिजों में जो शिक्षा जिस

ढंग से अब तक दी जा रही है, वह विद्यार्थियो को क्लर्क बनाने के अतिरिक्त और कुछ नही बना पाती।

शिक्षा वास्तविक रूप मे इस पद्धति के द्वारा विद्यार्थी नही सीख पाता। विद्यार्थी को यह ज्ञात है कि सर्टिफिकेट ले लेने पर उसके पास योग्यता का प्रमाण हो जाता है, चाहे उसमें वह योग्यता हो या न हो। इसलिए किसी न किसी रूप मे सर्टिफिकेट प्राप्त करना ही आज के विद्यार्थी का लक्ष्य रह गया है। स्कूलो मे जो शिक्षा दी जाती है वह स्त्री-पुरुषो के लिए समान ही है, उसमे यह भेद नही रखा गया कि इनमे किसे किस ज्ञान की आवश्यकता अपेक्षित है। व्यावहारिक शिक्षा का वर्तमान शिक्षाप्रणाली में सर्वथा अभाव है। विद्यार्थी ऊँची-ऊँची डिग्रियाँ तो पा जाते हैं, पर जीवन-क्षेत्र में प्रवेश करके उन्हे जिन कठिनाइयो का सामना करना पडता है उनसे वे सर्वथा अनभिज्ञ रहते हैं। हर विद्यार्थी को एक ही प्रकार की शिक्षा मिलती है चाहे वह उसको उपयोगी हो या न हो। यदि किसी विद्यार्थी की इच्छा एक अच्छा इंजिनियर बनने की हैं और उसमें इसके तत्व भी है, तो भी वह विवश होकर क्लर्क ही बन पाता है।

अधिकतर विद्यार्थी आर्थिक अभाव मे अच्छी, ऊंची और उपयोगी शिक्षा प्राप्त नहीं कर पाते। शिक्षा का अर्थ हमारे यहां संकुचित रूप में समझा जाने लगा। केवल साहित्यिक शिक्षा को ही लोग शिक्षा समझते हैं। कला-कौशल आदि को लोग शिक्षा नहीं समझते। इसका बहुत कुछ कारण इस प्रकार की शिक्षा-सस्थाओ का अभाव है जो लोगो की जीवनोपयोगी शिक्षा है। दस्तकारी और उद्योग-धंधे सिखाने वाले स्कूलो का हमारे यहां नितान्त अभाव है। रूस अमेरिका आदि उन्नतिशील देशों ने शिक्षा को केवल साहित्य तक ही सीमित नहीं रखा अपितु शिल्प, व्यापार आदि को भी उसके अन्तर्गत लिया है। इसलिए वहाँ की शिक्षा प्रणाली मे कोरा किताबी ज्ञान नहीं रहता। रूस मे तो बारह-तेरह वर्ष की आयु तक के बच्चों को खेलो के द्वारा ही समस्त व्यावहारिक शिक्षा दे दी जाती है। वहाँ के बच्चे खेलों द्वारा ही यह ज्ञान प्राप्त कर लेते है कि रेलगाड़ी कैसे बनती है और कैसे चलती है। इसी

प्रकार रेडियो, टेलीफोन, हवाई जहाज बड़े-बड़े व्यवसाय आदि का ज्ञान खेलों में ही हो जाता है। इन खेलों में ही उनकी रुचि देखी जाती है फिर उसी प्रकार की किताबी शिक्षा भी उनको दी जाती है।

जापान जैसे छोटे से देश ने अपनी शिक्षा-प्रणाली इस प्रकार की बना ली है, जिसका भार माता-पिता पर बिल्कुल नहीं पड़ता। स्कूल समय में ही बच्चों से उनकी आयु और योग्यतानुसार इस प्रकार का कार्य करा लिया जाता है जिससे स्कूल का सारा खर्च उस काम की आय से पूर्ण हो जाता है। बच्चों को मां-बाप से पैसा लेने की आवश्यकता ही नहीं रहती। इसी प्रकार अन्य उन्नत देशों में भी शिक्षा-प्रणाली इतनी अधिक खर्चीली नहीं जितनी कि भारत में। चीन, जापान, रूस, अमेरिका या जर्मन आदि किसी भी देश के विश्व-विद्यालय में पढ़कर वहां का विद्यार्थी वहां की सभ्यता संस्कृति, आदि सीखता है। पर भारतीय विश्व-विद्यालयों की चाल निराली ही चल रही है कि इनमें पढ़ कर विद्यार्थी भारतीयता से सर्वथा अनभिज्ञ रह जाता है। इस-लिए आज हमे ऐसी शिक्षा-प्रणाली की आवश्यकता है जो कम खर्च वाली, उन्नत और उपयोगी हो, तथा जिसके द्वारा विद्यार्थी वास्तविक रूप में शिक्षित, योग्य और भारतीय बन सके।

उपसंहार—भारत की इस अंग्रेजी कालीन शिक्षा-प्रणाली में परिवर्तन लाने के लिए गांधीजी द्वारा प्रतिपादित बेसिक शिक्षा प्राइमरी स्कूलों में भारत सरकार ने आरम्भ करदी है। प्राथमिक शिक्षा के लिए इस शिक्षा-प्रणाली को उपयोगी हल माना जाता है, पर अभी तक जिस प्रकार की दस्तकारी बेसिक-स्कूलों में सिखलाई जाती है उसका कोई उपयोग अब तक सिद्ध नहीं हो सका। कातना, बुनना, चटाई बनाना, टोकरियां बनाना आदि इतनी साधा-रण नौकरी की कलाएं हैं कि इनके जानने वाले भारत मे पहिले ही भूखे रह रहे हैं। इसलिए इस प्रकार की दस्तकारी सीखकर कोई व्यक्ति जीविकोपार्जन नहीं कर सकता। हमें तो स्कूलों में ऐसे उद्योग-धंधों को सिखाने की आव-श्यकता है कि जो जीविकोपार्जन में सहायक सिद्ध हो सकें। भले ही विद्यार्थी टोकरी बनाना ही सीखे, पर जब तक उस माल की मांग नहीं होगी तब तक वह उपयोगी नहीं बन सकता। पैंसिलें, सुइयां, रबड़, स्लेट के कलम, चाक,

खिलौना आदि जैसी दस्तकारियों को स्कूलों से सम्बन्धित नहीं किया जाता, तब तक. हमारे स्कूल उन्नत नहीं बन सकते। फिर इस प्रकार के उद्योग-धंधे कालिज की शिक्षा तक अपेक्षित हैं।

विद्यार्थियों को ऊंची साहित्यिक-शिक्षा के साथ-साथ व्यावसायिक शिक्षा की व्यवस्था की आवश्यकता है। साहित्यिक शिक्षा की ओर तो ऐसे ही विद्यार्थियों को आना चाहिए जिनमे कि इस शिक्षा के तत्व विद्यमान हैं। बारह वर्ष की आयु तक विद्यार्थी के लिए यह निश्चित हो जाना चाहिए कि वह किस प्रकार की शिक्षा मे रुचि रखता है। जब तक हमारे यहां औद्योगिक-शिक्षा के लिए स्कूल नही खोले जाते, तब तक शिक्षा की समस्या हल नहीं हो सकती और साथ ही बेकारी का भी रूप नही बदल सकता। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली को ऊंचा उठाने के लिए धन की समस्या का सबसे सुन्दर हल व्यापारियों के दानखाते, मन्दिर, मस्जिदों की आय तथा इसी प्रकार के अन्य दानों की सम्पत्ति का उपयोग इस क्षेत्र मे करके हो सकता है। इस धन से समस्त देश को शिक्षित किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त स्कूल और कालिजों में होने वाली छुट्टियों को भी कम करने की भी आवश्यकता है। उसके साथ ही साहित्यिक-शिक्षा के लिये ३ घंटे से अधिक समय की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार जो समय मिलता है उसके द्वारा व अपना शारीरिक विकास और सामाजिक सेवा कर सकते हैं। स्कूलों मे शिक्षा केवल पुस्तकों के रूप मे न देकर व्यावहारिक रूप में दी जानी चाहिए। परीक्षा लेने की वर्तमान प्रणाली सर्वथा दूषित है। विद्यार्थियों की परीक्षा साप्ताहिक अथवा मासिक होनी चाहिए तथा वर्ष की अधिक से अधिक परीक्षाओं मे विद्यार्थी को ही उत्तीर्णता का प्रमाण-पत्र मिलना चाहिए। वर्तमान परीक्षा की प्रणाली से विद्यार्थी के ज्ञान का पूर्ण परीक्षण नहीं हो पाता।

शिक्षा का माध्यम भारतीय भाषाएँ हो होनी चाहिएँ। ऊंची शिक्षा सब प्रान्तों में हिन्दी मे ही होनी चाहिए, तभी भारत संगठन के एक सूत्र में बन्ध कर सुदृढ़ बन सकता है। पाठ्यक्रम मे ऐसी पुस्तकों का रहना आवश्यक है जो विद्यार्थियों को भारतीय परम्परा, इतिहास, गौरव आदि सिखाने

में सहायक हो सके, साथ ही पाठ्य क्रम इस प्रकार का होना चाहिए, जो विद्यार्थियो को विकासोन्मुख बना सके। जिसे पढ़ कर विद्यार्थी वर्तमान युग के अनुकूल अपने को बना सके। शिक्षित मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषताएं, उदारता, नैतिकता आदि मानी गई हैं। इसलिए हमारी शिक्षा-प्रणाली इस प्रकार की होनी चाहिए कि जिसके द्वारा शिक्षित वर्ग सेवा, सरलता, मानवता, सामाजिकता आदि विशेषताओ का महत्व समझ सके तथा शिक्षित बन कर देश समाज और जाति के प्रति अपना उत्तरदायित्व समझ सके। ऐसा होने पर ही भारत की स्वतंत्रता का महत्व सिद्ध हो सकेगा।

---

# भारतीय दर्शन

मनुष्य मननशील प्राणी है। जिस दिन से उसने ससार में आंख खोली, वह उसी दिन से ही कुछ जिज्ञासु बन गया। उसे आकाश पर लटकते हुए चन्द्र, सूर्य और तारागण को देख कर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने बहुतेरा जोर लगाया, किन्तु वहां तक पहुँच न हो सकी। बड़ा उछला, कूदा, पेड़ों और पर्वतो की चोटियो पर चढ़कर भी तो उसके हाथ इन विचित्र सुन्दर ज्योति पिंडो तक न पहुँच सके। मनुष्य मुग्ध होकर विचित्र असमंजस में फँसा रहा। ये प्रकाश के पुंज यहां किस ने लटकाये हैं, इन मे से प्रकाश कैसे आता है? आकाश पर ये किसके सहारे लटक रहे हैं। प्रति-दिन और प्रति-रात इन दीपकों में तेल कौन डालता होगा? वह स्वयं कहां बैठा है, वह ऐसा क्यों करता है? यह सब कुछ सोचने पर भी उसकी समझ में न आता था। उस समय मानव ने अपना समय इसी तत्त्वचिंतन में लगाया। जीवन की आवश्यकताएं थोडी थीं, प्राकृतिक वैभव अपार था, अतः जीवन संघर्ष का उस समय कोई प्रश्न ही न उठ सकता था। निश्चिन्तता के उस युग में मानव ने अपने चिंतन का विषय सृष्टि और सृष्टिकर्ता को बनाया। बौद्धिक रूप से उस मनन का स्वरूप 'अध्यात्मवाद' वेदों, ब्राह्मणग्रंथों, उपनिषदो और आगे चलकर दर्शनों में मिलता है। वैदिक कालीन आर्य जहां केवल आत्म-परमात्म चिंतन में अधिक लीन रहे, वहां दर्शनकारों ने

और समय आने पर अपनी जन शक्ति (सैनिक शक्ति) से भी उनकी सहायता करते। राजा के सभी सुख-दुःख के अवसरों पर ये उपस्थित होते। शुभ अवसरों पर ये सामन्त बड़ी-बड़ी भेंट भी भेजा करते, जिन्हें कि राजा सगर्व स्वीकार करते। यह सामन्त अपनी बडी सेनाएँ रख सकते और उन का यथोचित समय उपयोग कर सकते थे। यह प्रणाली संसार के प्रायः सभी भूभागों मे पाई जाती थी। ये राजा लोग निश्चित अवसरों विशिष्ट अवसरों पर भूमि वितरण भी किया करते थे। इन अवसरों में युद्ध विजय का अवसर विशेष महत्वपूर्ण माना जाता है। इस समय राजा लोग युद्ध में विशेष पराक्रम दिखाने वाले वीर सैनिकों को जागीरों द्वारा पुरस्कृत किया करते थे। कला कौशल, संगीत, काव्य आदि में विशेषता रखने वालों को भी पुरस्कृत किया जाता था। इस प्रकार जमींदारी की एक प्रथा सामूहिक रूप से चल पड़ी। मुगल और मराठा युग मे तो बड़े-बड़े राजा तो वेतन न देकर जागीरों द्वारा ही अपने सैनिकों को सन्तुष्ट रखा करते थे।

यह तो हुआ साधारण प्रथा का रूप। अब हम उसकी उस शाखा पर प्रकाश डालेंगे, जिसका कि हमारे इस लेख से संबन्ध है। अकबर के युग में टोडरमल ने भारत की सारी भूमि का पुनः पैमायश (Survey) कराया। इस के लिए कर राशि निश्चित कर दी और वह भूमि अनिश्चित वर्षों के लिए लोगों में बांट दी। जिनके पास धन शक्ति होती थी, वह उसे खरीद लेते और अपने आधीन कुछ व्यक्तियों को करके उन पर राज्य शासन चलाते। इसके बाद अंग्रेजी युग में हेष्टिंग्ज ने वह भूमि पांच वर्ष के लिए देनी प्रारंभ कर दी, किन्तु कुछ ही वर्षों के पश्चात् उसकी अवधि और भी कम कर दी गई। इससे प्रत्येक जमींदार यह समझने लगा कि यह भूमि अगले वर्ष तो मेरे पास रहती नहीं, अतः इसे उपजाऊ बनाने का क्या लाभ? जैसे भी हो वह उसी से ही काम चलाकर संतुष्ट हो जाता। पर इस से भूमि की स्थिति बिगड़ने लगी। बंजर भूमि का विस्तार होने लगा। इसके बाद लार्ड कार्नवालिस ने स्थायी बन्दोबस्त प्रणाली के द्वारा तो बंगाल में इस प्रथा को दृढ़ कर दिया। इसकी चाहे धनीय रूप से तो कम्पनी को हानि हुई, पर अप्रत्यक्ष रूप से उन्हे बड़ा लाभ हुआ और

वह यह कि उनकी एक ऐसी सेना बन गई, जो सच्चे अर्थों में राजभक्त कहलाने लगी। १८५७ के विद्रोह के पश्चात् तो यह सेना और भी बढ़ने लगी। क्योंकि सरकार न इस समय उन व्यक्तियों को बड़ी बड़ी जागीरों से पुरस्कृत करना प्रारम्भ कर दिया। बंगाल, बिहार और उत्तर-प्रदेश में तो विशेष रूप से ऐसे बड़े जमींदार पाये जाते हैं, जो हजारो गांवो के स्वामी हैं और जिनकी जमींदारी से वार्षिक आय करोडो रुपये तक पाई जाती है। क्योंकि इनके निर्माण में राज्य-शक्ति पाई जाती थी, अतः वे धन, जन से उनके सच्चे अर्थों मे सहायक माने जाते थे और इन्ही के बल से ही तो अंग्रेज भारत पर राज्य करते रहे।

जमींदारी प्रथा के भेद: ऊपर की पंक्तियों के पढ़ने से यह पता चलता है कि इस प्रथा के प्रारम्भ करने के प्रमुख रूप से प्राचीन काल में तीन कारण थे, अतः कारण के आधार पर उसके भेद भी तीन हो गये।

(१) प्राचीन राजा महाराजाओं ने अपनी सन्तानो को सामन्त बनाया, उन्हें कुछ भूमि प्रदान की। ये ही भूमि अधिकारी सामन्त जमींदार के नाम से पुकारे जाने लगे।

(२) मध्यकाल में कुछ लोगों को राज्य की किसी सेवा में नियुक्त किया गया और उस सेवा के प्रतिदान अथवा उसके पोषण के लिए भूमि-प्रदान कर दी गई। मनसबदारों को भूमि-दान कुछ इसी प्रकार ही था। कितनी जागीरें ऐसे ही खड़ी हुईं।

(३) किसी कलाविद् से अथवा किसी अन्य व्यक्ति से किसी कारण प्रसन्न होकर राजा-महाराजा ने भूमि दे दी।

यह तो प्राचीन परिपाटी थी, किन्तु अंग्रेजों ने इसे नया रूप प्रदान किया। अंग्रेजों ने यह सोचा कि कर संग्रह की झंझट को कौन मोल लेता फिरे। उन्होंने जमींदारों को जन्म दिया और उनसे कहा—"तुम भूमि लो, कुछ बंधा हिस्सा कर रूप में हमें दो, शेष तुम जानो"

जमींदारी उन्मूलन में मूल भावना:—जमींदारी प्रथा बाहर से तो बुरी प्रतीत नह होती, किन्तु यदि उसकी गहराई में झांका जाय तो रोंगटे भी खड़े हो जायें। यह वह प्रथा है, जहाँ दानवता मानवता पर राज्य करती

बैठ कर दूसरे के गाढ़े पसीने से कमाई हुई वस्तुओं का उपभोग करे।

(२) उत्पत्ति के साधनों पर किसी एक व्यक्ति का अधिकार न होकर समूचे राष्ट्र का अधिकार होना चाहिए, और विशेषकर उनका कि जो कि दूसरे के कठिन परिश्रम के द्वारा उत्पादित संपत्ति के स्वामी बन जायें और दूसरो को निर्धन् बनाने का हेतु बनें।

(३) इसके द्वारा देश की संपत्ति का विनाश होता है। क्योंकि जमींदार स्वयं तो अनुपस्थित रहते हैं, अतः भूमि के सुधारने का कोई भी प्रयत्न नहीं करते। उन्हें तो उपज के भाग से मतलब है और वह उसे किसान को दबाकर के ही प्रयोग कर सकते हैं। इधर किसान भी अपना अधिकार न होने के कारण उसपर पूरी मेहनत नहीं करते। इससे खाद्य समस्या को प्रश्रय मिलता है।

(४) किसान बरबाद होता है। क्योंकि जमीन का उत्पादन कम होता जाता है, पर भूमि का मूल्य बढ़ता जाता है। इससे वे किसान ऋणी और दरिद्र होते जाते हैं।

(५) जमींदार को अपने कर के लिए, महाजन के मूल और ब्याज के लिए किसान को सताना पड़ता है।

(६) जमींदार और किसान के पारस्परिक संबन्ध अधिक बिगड़ गए।

(७) ऐसे वर्ग का जन्म हुआ, जो कि दूसरो के लिए, मन माने अत्याचार करने लगे इसके द्वारा स्वातंत्र्य युद्ध में एक अड़चन पैदा हो गई।

(८) जमींदार और किसान में इतना वैषम्य हो गया कि दोनो में नैतिक पतन की पराकाष्ठा होने लगी।

(९) राज्य की आय कम होती चली गई, पर उसका अपव्यय बढ़ता ही चला गया।

(१०) जमींदार राजा बने और किसानों को उन्हें प्रसन्न करने के लिये अनेक कष्ट सहन करने पड़े।

जमींदारी उन्मूलन के लाभ:— (१) इससे आर्थिक वैषम्य दूर होगा।

(२) साधारण वर्ग और अभिजात वर्ग में जो जाति-भेद का वैषम्य पैदा हो चुका है, वह भी समाप्त हो जायेगा।

(३) प्रत्येक व्यक्ति अपने परिश्रम का उचित पारिश्रमिक प्राप्त कर सकेगा।

(४) सामाजिक न्याय की स्थापना की जा सकेगी। अर्थात् यह नहीं हो सकेगा कि एक तो गुलछर्रें उड़ाता रहे और दूसरा तड़पता रहे।

(५) प्रजातंत्र राज्य का सच्चा स्वप्न पूर्ण हो सकेगा अर्थात् राज्य का प्रत्येक व्यक्ति सुखी और अधिक संपन्न हो सकेगा।

(६) इसके द्वारा राष्ट्र में उत्पादन की शक्ति में विकास होगा। वैसे तो महाजन, व्यवसायपति भी शोषक है, पर उनका आधार भी तो उत्पादन है अतः यह प्रथा अन्य सभी प्रथाओं से अधिक घातक और अनावश्यक है।

(७) एकतंत्र प्रणाली अथवा वैयक्तिक एकच्छत्र राज्य प्रणाली का अन्त हो जायेगा।

(८) भूमि का अधिक से अधिक उत्पादन हो सकेगा, जिससे कि राष्ट्र आर्थिक दृष्टिकोण से उन्नत हो सकेगा।

उपसंहार:—इसलिये यह आवश्यक है कि इस प्रथा का, आर्थिक हित, देशहित और समाजहित के लिये, शीघ्र ही समूलोच्छेदन हो जाना चाहिए। ऐसा करने से ये किसान भूमिधर के रूप में अधिक उन्नत, सशक्त और सम्पन्न हो सकेंगे और राष्ट्र का विकास हो सकेगा। पर प्रश्न पैदा होता है कि क्या जमींदारों को उसका प्रतिकर (Compensation) दिया जाय या नहीं ? रूसने तो बिना एक पाई प्रतिकर दिये सारी भूमि को राष्ट्रीय सम्पत्ति के रूप में कर दिया था। अच्छा तो यही है कि भारत में भी ऐसा ही होना चाहिए, पर यदि दिया भी जाय, तो इतना ही जितसे कि आर्थिक वैषम्य न हो पाये। यह क्रान्ति होगी और अवश्य होगी। पर अच्छा है कि इसे अहिंसक बनाने के लिए सरकार इसे अपने हाथों में ले ले जैसे कि उत्तर प्रदेश और बंगाल ने किया है।

# रंगमंच और सिनेमा

समुद्र का मंथन हो रहा था। अथाह जलराशि में मंदराचल को डाल तथा वासुकि नाग को रस्सी बना कर देवता और असुर अमृत प्राप्ति के लिए सिर तोड़ प्रयत्न करने में लगे हुए थे। वासुकि को खींचते-खींचते उनका सांस फूलने लगा था। उसके विषैले फूत्कारों से अग्निकण निकल रहे थे। संघर्षण के फलस्वरूप मन्दर पर्वत के तरु-लताओं में दावानल भड़क उठी थी। अग्नि की ज्वालाओं से वातावरण अत्यन्त सन्तप्त हो रहा था। सब का शरीर पसीना-पसीना हो गया था। सुधा प्राप्ति के शुभ काल तक पहुँचते-पहुँचते न जाने कितने विकट संकटों का सामना करना पड़ा। श्रांत-क्लांत देवताओं को विश्राम की आवश्यकता अनुभव हुई। अब वे कुछ मनोरंजन चाहते थे। सब मिल प्रजापति के पास गये। ब्रह्मा से प्रार्थना की 'भगवान्! हम थक कर चकनाचूर हो चुके हैं, कृपया हमारे श्रम को दूर करने का कुछ उपाय कीजिये, कुछ मन बहलाने की सामग्री जुटाइये।' ब्रह्मा ने यह प्रार्थना सुनी। उनके लिये ऐसा करना कुछ भी कठिन नहीं था। उन्होंने चारों वेदों में से अभिनय, संवाद, संगीत और वस्तु लेकर एक पंचम वेद ( नाट्यवेद ) की रचना की और देवताओं से कहा—'लो, यह तुम्हारे मनोविनोद का साधन प्रस्तुत है। इसकी विशेषता यह है कि इसमें किसी के लिए निषेध या प्रतिबंध नहीं है। शूद्र हो या ब्राह्मण, स्त्री हो या पुरुष नाट्य सब के आनन्द हेतु सिद्ध होगा।' बस फिर क्या था, देवताओं के इंजिनीयर विश्वकर्मा ने एक विशाल रंगमंच बनाया। भरत मुनि ने अपने शिष्यों और पुत्रों के द्वारा इन्द्रध्वज के उत्सव पर समुद्र-मंथन का एक नाटक खेला। उसमे गंधर्वों ने संगीत, किन्नरियों ने नृत्य प्रदान किया। इस प्रकार रंगमंच पर प्रथम वार नाटक का अभिनय किया गया।[1]

यह पौराणिक कथा कहां तक सत्य है, इस का विशेष ध्यान न करते हुए भी इतने तथ्य उक्त कथा से अवश्य निकाले जा सकते हैं कि नाटकों का मूल

तत्त्व वेदों में पाया जाता है और नाटकों के इन्द्रध्वज जैसे धार्मिक त्योहारों पर खेले जाने से इसकी उत्पत्ति धर्म-उत्सवों से मानी जा सकती है। अन्त में सबसे महत्त्वपूर्ण बात जो ज्ञात होती है, उससे भारतीय रंगमंच के पूर्ण विकास का परिचय मिलता है। भरतमुनि के समय में पुरुषों के साथ-साथ स्त्रियां भी रंगमंच पर आकर नृत्य-संगीत आदि द्वारा नाट्य कला की सेवा करती थीं। पुरुषों के साथ स्त्रियों का रंगमंच पर आना निःसन्देह सभ्यता के चरम विकास का ही सूचक कहा जा सकता है। शैक्सपियर के समय को अंग्रेजी रंगमंच की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व दिया जाता है, परन्तु उस समय तक भी प्रायः पुरुष ही स्त्रियों के रूप में रंगमंच पर अभिनय करने आया करते थे। आज से बीस वर्ष पूर्व तक तो भारत के हिन्दी, उर्दू या हिन्दुस्तानी रंगमंच की भी यही दशा थी। परन्तु भरतकालीन रंगमंच अपने आप में कितना विकसित था, इसका पता कुछ और बातों से भी लगाया जा सकता है। 'नाट्यशास्त्र' में भरतमुनि ने रंगमंच के निर्माण का सारा चित्र क्रमशः दे दिया है। उसके अनेक भेदों के साथ-साथ हर एक की लंबाई-चौड़ाई तक का ब्योरा मिलता है। देवों, मानवों तथा छोटे परिवारों के लिए पृथक-पृथक् रंगमच की कल्पना थी। फिर सब के अनेक प्रकार के 'माडल' थे—बहुत बड़े, बहुत छोटे और मध्यम। इसके अतिरिक्त रंगमंच के स्थान की दृष्टि से कई खण्ड किए गए थे। सारा रंगमंच दो प्रधान भागों में विभक्त होता था—एक को 'प्रेक्षागृह' कहते थे और दूसरे को 'रंगशाला'। प्रेक्षागृह में दर्शकों के बैठने का स्थान होता था। दर्शकों के स्तर के अनुसार विविध वर्णों के बैठने की अलग-अलग व्यवस्था भी कर दी गई थी। ब्राह्मणों के लिए पृथक्, शूद्रों के लिए पृथक् स्थान निश्चित थे। (आजकल भी 'सिनेमा घरों' में प्रवेश के विचार से प्रथम, द्वितीय, तृतीय श्रेणियां रखी जाती हैं।)

'रंगशाला' के भाग को भी तीन छोटे खंडों में बांटा गया था। सबसे पिछले भाग को 'नेपथ्य' कहा जाता था। इस स्थान में आकाशवाणी या कोलाहल आदि पर्दे के पीछे का अभिनय हुआ करता था। उसके आगे का भाग 'रंगशीर्ष' कहलाता था। यही वह स्थान था, जिसमें मुख्य अभिनय होता था। नेपथ्य की दीवार पर अनेक चित्र सजाये जाते थे। रंगशीर्ष के

आगे वाले खुले भाग को 'रंगपीठ' कहते थे। रंगपीठ और रंगशीर्ष के मध्य 'यवनिका' (पर्दा) होती थी। आवश्यकता के अनुसार जब 'यवनिका' गिरा दी जाती थी तो अभिनेता 'रंगपीठ' में जाकर कुछ समय के लिए सामाजिकों का मनोरंजन करने तथा उनको व्यस्त रखने का उपक्रम करते रहते थे और इतने में यवनिका के पीछे 'रंगशीर्ष' में मुख्य अभिनय की पूरी तैयारी कर ली जाती थी। कुछ विद्वान् 'यवनिका' शब्द यूनानी या यवन से निकला हुआ मानते हैं, उनका मत है कि 'यवनिका' यूनानी प्रभाव से भारतीय रंगमंच में आया। इस प्रकार यूनानी रंगमंच की श्रेष्ठता सिद्ध की जाती है। किन्तु यूनानी रंगमंच भारतीय रंगमंच से कितना निम्न और अपूर्ण था इस का संकेत उनमें प्रचलित 'संकलनत्रय' अर्थात् Three Unities से मिलता है। यूनानी रंगमञ्च में समय, स्थान और कार्य की एकता का बहुत ध्यान रखा जाता था। समय की एकता से उनका तात्पर्य था कि जो घटना जितने समय मे घटी हो, उसके अभिनय में भी उतना समय लगाया जाये। प्राचीन काल में आवश्यकताओं का अभाव होने से जीवन-संघर्ष भी कम था, अतः उस समय लोगों के पास रिक्त समय अधिक रहा करता था, फलस्वरूप यूनानी नाटक चौबीस-चौबीस या छत्तीस-छत्तीस घण्टों तक खेले जाते थे। स्थान की एकता से तात्पर्य था कि यदि झोंपड़ी का दृश्य एक बार दिखाया गया है, तो सारे नाटक की घटना उसी झोंपड़ी के दृश्य में ही दिखाई जाती। आजकल के समान कभी नगर, कभी ग्राम, कभी वन, कभी क्लब आदि के दृश्यों की अनेकता यूनानी नाटकों में नहीं थी क्योंकि उनमें 'यवनिका' या पर्दों की प्रथा नहीं थी। खुले वातावरण में ही उनके नाटक होते थे, अतः दृश्य विभाजन में उनको कठिनाई न पड़े, अतः एक स्थान के ही दृश्य उनके नाटकों में रखे जाते थे। दृश्य परिवर्तन की सूचना यवनिका के अभाव में एक सम्मिलित गान (कोरस) द्वारा दी जाती थी। कार्य की एकता से उनका अभि-प्राय यह होता था कि नाटक कथावस्तु में एक ही रस रहे। यदि आरम्भ करुणा रस से होता है, तो समस्त अभिनय में रोना-धोना ही चलता रहे। उक्त नियम रंगमञ्च की शैशवदशा को ही प्रमाणित करते हैं और कुछ अंश तक अव्य-वहार्य और अस्वाभाविक भी हैं। सारे अभिनय में रोते रहना या हंसते रहना

कितना हास्यास्पद है। स्थान की एकता भी मन को उकताने का कारण बन सकती है और समय की एकता तो राम के चौदह वर्ष के वनवास जैसी स्थिति में असंभव ही है। कदाचित् यही कारण है कि भारतीय नाटकों में उक्त 'तीन एकताओं' को नहीं अपनाया गया। स्वयं यूरोप में भी शैक्सपियर ने अपने नाटकों में इनका अनुसरण नहीं किया। उसके केवल एक नाटक 'टैम्पेस्ट' में ही किसी सीमा तक 'संकलनत्रय' मिलता है। अतः यूनानी नाटकों की श्रेष्ठता असिद्ध है। ईसा की प्रथम शताब्दी में ही भारतीय रंगमञ्च ने जितनी उन्नति कर ली थी, इस का उदाहरण आधुनिक काल के सभ्य रंगमंच में भी कुछ वर्ष हुए, अभी दृष्टिगोचर होता है। भारतीय रंगमच को सर्वथा सम्पन्न और उस का प्रबन्ध सुचारु रूप से रखने के उद्देश्य से अनेक कार्यकर्ताओं का भी उल्लेख भरतमुनि ने किया है, जिनका अस्तित्व आज के सुसंस्कृत युग में ही कहीं देखने को मिला है। भरतमुनि ने सूत्रधार, भरत, नट, माल्यकृत, आभरण कृत, वेषकृत, रजक, चित्रकार (संगीतकार) आदि अनेक कलाकारों का नाम दिया है।

आज रंगमंच का स्थान प्रायः सिनेमा ने ले लिया है। सिनेमा मनोरंजन के नवीन आधुनिक साधनों में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। इस वैज्ञानिक आविष्कार को 'रंगमंच का अमर रूप' भी कहा जाता है। रंगमंच की अपेक्षा सिनेमा में अपनी कुछ विशेषताएँ भी हैं। रंगमंच एक समय में एक ही नाटक प्रस्तुत कर सकता है, परन्तु सिनेमा द्वारा एक ही नाटक को अनेक स्थानों में देखा जा सकता है। रंगमंच के पात्र जीवित रहने तक ही दर्शकों के सामने आ सकते हैं, किन्तु सिनेमा के स्वर्गीय पात्र चन्द्रमोहन, सहगल, श्याम आदि आज भी रजत पट पर उसी रूप में अभिनय करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। परन्तु रंगमंच में सभी प्रकार के दृश्य नहीं दिखाये जा सकते। उसका क्षेत्र सीमित और शक्ति अल्प होती है जबकि सिनेमा में सागर, तूफान, भयानक युद्ध, वायुयान, मोटर, रेलगाड़ी आदि असम्भव दृश्य भी रजत पट पर सम्भव रूप में दिखाये जाते हैं। किन्तु इतना होने पर भी रंगमंच का स्थान सिनेमा नहीं ले सकता। रंगमंच में पात्रों को अभिनय करते समय

जो प्रोत्साहन जनता द्वारा प्राप्त होता है, सिनेमा के कलाकार उस सौभाग्य से वंचित ही रहते हैं। रंगमंच में त्रुटि को सुधारने का भी अवसर रहता है और यथा समय उसमें आवश्यक परिवर्तन घटना-स्थल पर ही किये जा सकते हैं, किन्तु सिनेमा में जो त्रुटि एक बार रह गई वह पत्थर की लकीर बन जाती है। 'महल' चित्र के अन्तिम दृश्य का अस्वाभाविक अभिनय उस श्रेष्ठ चित्र की सर्वाङ्गीण सुन्दरता में एक अमिट दोष बनकर खटकता रहता है। इसी प्रकार रंगमंच पर अभिनय का जैसा कुशल प्रदर्शन और मानवीय भावनाओं की जैसी सजीव अभिव्यक्ति हो सकती है, वैसी सिनेमा मे नहीं दिखाई जाती। कला की दृष्टि से आधुनिक चलचित्र रंगमंचीय नाटको की अपेक्षा अधिक निम्न कोटि के होते है। रंगमंच निःसन्देह असल की नकल है, किन्तु सिनेमा तो नकल की भी नकल है। यद्यपि सिनेमा जगत् मे आज थ्री-डी ( 3rd Diamentional ) के आविष्कार ने प्रगति की ओर एक नया कदम उठाया हैं और 'सिनेमा स्कोप' के आविष्कार ने तो सिनेमा को भी रंगमंच के बहुत निकट ला खड़ा कर दिया है, तथापि रंचमंच का अतुल गौरवशाली स्थान सिनेमा के हाथो हानि प्राप्त नहीं कर सकता। आज अमेरिका आदि देशों में जहां सिनेमा का अधिक प्रचार हो रहा है, रंगमंचीय नाटकों का भी समान आदर होता है। भारत में भी महाराष्ट्र आदि कुछ प्रदेशों मे रंगमंच जीवित है किन्तु हिन्दी-रंगमंच की प्रगति आशा के विपरीत रुक सी गई है।

आज प्रधान रूप से सिनेमा ने संसार के मनोरंजन के साधव के रूप में जो व्यापक प्रगति की है, उस पर ध्यान देते हुए उसके वर्तमान रूप का भी विचार कर लेना आवश्यक है। आज संसार में सबसे अधिक चित्रो का निर्माण अमेरिका और भारत में होता है। जहां अमेरिका में निर्मित चित्रों में अभिनय की श्रेष्ठता, कला की कुशलता, वातावरण की स्वाभाविकता और आकर्षण का सुन्दर निर्देश रहता है, वहां भारतीय चित्रों में इन सभी विशेषताओं का किसी अंश में अभाव अवश्य खटकने वाली बात है। यद्यपि अपवाद सर्वत्र होते हैं, किन्तु अधिक संख्या भारतीय चित्रों की ऐसी है, जिनसे न तो कला की सेवा हो रही है और

न ही लोक का कल्याण। हां, व्यवसाय को लाभ अवश्य हो रहा है। आये दिन के चित्रों में कथावस्तु की दुर्बलता और संवाद तथा गीतों की असाहित्यिकता चिंतनीय है। 'शहनाई', 'खिड़की' आदि भोंडे चित्रों का अनुसरण करके निर्माताओं ने धन लोभ में आकर जनरुचि को जितना बिगाड़ा है, वह किसी से छुपा नहीं। गाने इतने भद्दे और गंवारू टाइप के हैं कि सिनेमा के 'महाकवियों' पर दया आती है। समाधि, शहीद, स्वयंसिद्धा, आन, झांसी की रानी, आवारा, नन्हे मुन्ने, अनारकली, लैला-मजनू, जोगन, छोटा भाई, दो बीघा जमीन, हम लोग आदि निःसन्देह कुछ ऐसे भारतीय चित्र हैं, जो कला के विभिन्न क्षेत्रों का सच्चा प्रतिनिधित्व करते हैं और किसी भी अंतर्राष्ट्रीय कला क्षेत्र की शोभा बढ़ा सकते हैं।

आज आवश्यकता है कि भारतीय निर्माता केवल धन प्राप्ति के संकीर्ण क्षेत्र से बाहर निकल कर कला की सेवा और लोक-कल्याण की भावना को ही परमोद्देश्य बनावें। कुछ समय के लिए यदि उन्हें हानि भी उठानी पड़े, जिस की संभावना तक भी नहीं की जा सकती; तो भी उन्हें लोक-हित व समाज-सेवा के लिए सहर्ष यह बलिदान करना चाहिये। आज भी पतिता, परिणीता, आदि चित्रों ने दर्शकों से प्रशंसा प्राप्त की है और कुछ क्लासिकल 'बैजू बावरा' आदि 'बाक्स आफिस हिट' भी सिद्ध हुए हैं, अतः केवल साहस और धैर्य की आवश्यकता है। जनता फोश, गंदे, भोंडे और अश्लील चित्र कदापि देखना पसंद नहीं करती। उसे आज तक ऐसे चित्र दिखाए गए हैं, अतः वह समझ ही नहीं सकती कि अच्छा चित्र किसे कहते हैं। यदि उसे अच्छे चित्र दिखाये जायें, तो निश्चयात्मक रूप से वह उन्हे पसंद करेगी। उसकी रुचि को परिष्कृत करने का भी दायित्व अब उन्हीं पर है, जिन्होंने उसे बिगाड़ा है।

दूसरी बात यह है कि इस क्षेत्र में उच्च कोटि के साहित्यकारों का प्रवेश होना चाहिये। हिन्दी के अनेक सुन्दर उपन्यासों तथा अनेक प्रादेशिक भाषाओं की उन्नत रचनाओं के आधार पर अत्यन्त सफल चित्र बनाए जा सकते हैं। अंग्रेजी के प्रायः सभी चित्रों के आधार अंग्रेजी लेखकों की प्रसिद्ध

रचनाएँ ही होती हैं। पैसे के लालची निम्न कोटि के लेखकों द्वारा लिखी गई', भावनाहीन, भद्दी कहानियां दूसरे देशों में हमारे अपमान का कारण बनती हैं। लेखकों की स्वतंत्रता तथा मौलिकता की भी गारंटी होनी चाहिये। निर्देशकों को इस विषय में विशेष उदारता का परिचय देना चाहिये। अंत में अभिनेताओं और अभिनेत्रियों का भी कुछ कर्तव्य रह जाता है। उनको 'कलाकार' बनने की साधना करनी चाहिये। केवल अंग परिचालन मात्र को ही अभिनय नहीं कहा जाता। भावनाओं की अभिव्यक्ति ही प्रधान लक्ष्य होना चाहिये। इस क्षेत्र में 'पृथ्वी थियेटर' की देन अति प्रशंसनीय और अनुकरणीय है। अतः समष्टिगत रूप से यदि उचित प्रयत्न किया जाये, तो भारतीय संस्कृति से ओत-प्रोत कला के उत्कृष्ट नमूने और व्यवसाय की दृष्टि से भी लाभप्रद चित्र बनाए जा सकते हैं। मनोरंजन के अतिरिक्त 'डाक्यु-मैंटरी फिल्मों' से भी शिक्षाप्रद कार्य का महान् पुण्य मिल सकता है। इस दिशा में भी हमें अंग्रेजी चित्रों से उचित प्रेरणा मिल सकती है।

---

# विज्ञान अभिशाप है या वरदान !

विज्ञान की उन्नति जिस युग में, और जब कभी भी हुई, मानव संहार का दृश्य सामने आया— फिर यदि मानव यह सोचने को बाध्य हो कि विज्ञान अभिशाप है या वरदान तो कुछ अस्वभाविक नहीं। उपनिषदों के 'दत्त, दयध्वम्, दाम्यत; शांतिः शांतिः शांतिः' की भावना लेकर आधुनिक युग के विचारकों ने भी विज्ञान के विरोध में अपना मत प्रकट किया है। इलियट तो 'Hiranyamaya is mad again, Datta, Dayadh-vam, Damyata; Shantih, Shantih, Shantih कह कर सभी प्रकार अपना सिर उपनिषद् के ऋषियों के चरणों में झुका देता है। गेटे भी जीव को मार कर जीवन की गति विधि परखने का दोषी विज्ञान को बताता है। 'He who some living thing would study, drives first the spirit out of the body.' की छाया में उसके हृदय की घृणा ही विज्ञान को मिलती है।

और वर्तमान समय में तो विज्ञान के विरुद्ध कुछ कहने के लिए लोग सोचने-समझने का अवसर ही नहीं चाहते । अणु-शक्ति के आविष्कार ने विज्ञान को मनुष्य की दृष्टि मे सर्वथा संहारकारी सिद्ध कर दिया है । तो क्या विज्ञान वास्तव में अभिशाप ही है ?

हिरोसिमा और नागासाकी का प्रलयंकर दृश्य विज्ञान के ही उपकरणों से उपस्थित किया जा सका— यह सही है, युद्ध में प्रयुक्त अनेकानेक अत्यन्त विनाशकारी यंत्र भी विज्ञान की देन कहे जा सकते हैं, उनके पीछे युद्ध पीड़ित मानव की दुख-भरी आहों का उद्रेक भी असत्य नहीं है । देखने में, विज्ञान मनुष्य की समस्त कठिनाइयों का मूल कारण दिखाई पड़ता है, वह भविष्य के विनाश का अग्रदूत ही दर्शित है; किन्तु वास्तव में यह अमंगल रूप विज्ञान का नहीं है । विज्ञान के अनुचित उपयोग को लेकर विज्ञान को अमंगलकारी बताना उचित नहीं ।

अणुशक्ति का मंगल उपयोग यदि मानव संसार नहीं करे तो इसमें विज्ञान का क्या दोष, अमृत के समान दूध देने वाली गाय के स्तनों से जोंक रक्त ही खींचता है, इसे सब जानते हैं । हम तो कहेंगे, मानव हृदय को जिस प्रकार कला आह्लाद और मंगल भावना प्रदान करती है, विज्ञान उससे बढ़ कर हर्ष और उन्नति का उपचार प्रदान करने में समर्थ है । विज्ञान की छाया मे ही मानव की सभ्यता और संस्कृति पलती है । वैज्ञानिक अनुसंधानों के तामस रूप को लेकर हम विज्ञान के उज्ज्वल रूप को भुला नहीं सकते । आज की जितनी विभूतियाँ मानव-जीवन को समृद्ध बना रही हैं, सभी में विज्ञान की प्रेरणा काम करती रहती है । विज्ञान कभी मानव के लिए कब्र खोदने का काम नहीं करता, न उसके लिए बंदीगृह बनाता है, वह तो कला की भाँति ही उसके संमुख सुन्दर की सृष्टि करता है और वह सुन्दर सत्य होता है । यह काम मानव-जगत् का है कि वह सुन्दर और सत्य को शिव बनाए । पौराणिक उपाख्यानों को ही लीजिए—एक शिव का ही उपयोग हृदय की धारणा के अनुसार पृथक्-पृथक् व्यक्ति के लिए पृथक्-पृथक् रहा है । शिव के मंगल रूप से किसी ने लाभ उठाया तो कोई उसकी तीसरी आँख में

जल मरा। शिव का काम रहा है— अवढ़र दानी का, उससे मांगने वाला जो मांगे। विज्ञान सोलह आने शिव रूप है।

विश्व का वैज्ञानिक दृष्टिकोण, अनुभवों से प्रतिपादित मनुष्य की भावुक विचार धारा को एक ठोस शक्ति का रूप देता है। इस दृष्टिकोण की सफलता इसमें है कि मनुष्य इन निर्माणकारी साधनों का प्रयोग मंगल कार्य में करे। वस्तुओं की निश्चयात्मिका शक्ति और व्यक्तित्व पर प्रकाश डाल कर विज्ञान दोषों की सृष्टि नहीं करता है, कहना तो यह चाहिए कि इस ज्ञान के अभाव में मनुष्य कुछ कर ही नहीं सकता है। ललितकला, स्थापत्य, कविता, दर्शन, सभी की नींव इसी भूमि पर सम्भव है। वैज्ञानिक आधार सभी के लिए अपेक्षित है। कला और विज्ञान के प्रश्न पर पिकासो का एक ही उत्तर है— मैं अपनी कृतियो में वैज्ञानिक सत्य की कितनी सहायता लेता हूँ, यह मेरी कृतियां ही बता सकेंगी, पर मुझसे पूछिए तो मै कहूँगा, विज्ञान का मेरी कला से उतना ही सम्बन्ध है जितना सम्बन्ध कला से आत्मा का है।

आज के महान् शिल्पकार मार्शल ब्रयूर ने 'सर्किल' नामक अपनी पुस्तक में शिल्प कला पर विज्ञान के प्रभाव का सुन्दर वर्णन देते हुए कहा है— 'आधुनिक स्थापत्य का मूलाधार, उसके नवीनतम वस्तु-साधन नहीं हैं, बल्कि वह नई प्रवृत्ति, वह नई भावधारा— विज्ञान सम्मत प्रेरणाएँ हैं जिससे मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। वैज्ञानिक साधन ही सर्जन कार्य की विशेषता है, सर्गनिर्माण में विज्ञान का जबरदस्त हाथ है।

फिर भी जैसा कि लोकमत सामने है— हम विज्ञान के विपक्ष में एक बड़ी संख्या को कटिबद्ध देख रहे हैं। विज्ञान के विपक्ष में बड़ी भयंकर धारणाओं ने मनुष्य के हृदय में घर बना लिया है। आज के जैसा उन्नतिशाली वैज्ञानिक अनुसंधान भी मनुष्य हृदय का स्नेह क्यों नहीं अपना पा रहा है? इसका मूल कारण मनुष्य का विकृत हृदय है। विज्ञान की शक्तियों को नियन्त्रित एवं प्रयोग करने वाले स्वार्थी मनुष्यों, राजनीतिज्ञों ने ही विश्व में विज्ञान के विरुद्ध कटुता का बीज बोया है। कभी-कभी तो ऐसा ज्ञात होता है कि यह राजनीतिज्ञ अपनी चालों से मनुष्य और विज्ञान के बीच की खाईं कभी भरने न देंगे। यह तो कहना ही व्यर्थ है कि जब तक किसी कला, ज्ञान

या आन्दोलन के लिए मनुष्य के हृदय में घृणा है तब तक उसका विकास एवं भविष्य अंधकारमय है। सत्ता और शक्ति के पीछे पागल रहने वाले यह राजनीतिज्ञ अपने स्वार्थ के लिए विज्ञान की चामत्कारिक शक्तियों को जनता की दृष्टि मे घृणास्पद बना रहे हैं, विज्ञान को जन समुदाय के संमुख मुँह दिखाने लायक भी नहीं रहने देने की ठान चुके हैं।

विज्ञान का दुरुपयोग जब कभी भी हुआ है—सत्ता और शक्ति के मोह मे हुआ है। महाभारत की एक बड़ी मोहक कहानी का उद्धरण हम यहाँ दे दें तो बुरा नहीं। महाभारत युद्ध के अंत में अश्वत्थामा अपनी रक्षा के लिये भग रहा है-भगा जा रहा है। द्रौपदी अर्जुन से कहती है अश्वत्थामा के पास अमूल्य मणि है, आप इसे छीन कर ला दीजिए। अर्जुन उसके पीछे दौड़ने को विवश होते हैं। बहुत दूर जाकर एक बार फिर भयानक संघर्ष का अवसर आ जाता है। अश्वत्थामा मणि देना नहीं चाहता है, अर्जुन को मणि चाहिए ही—चाहे अश्वत्थामा जीवित अवस्था मे मणि दे, या मृत्यु की गोद में सोकर अपनी मणि को अर्जुन के लिए अरक्षित छोड दे। फलत: अर्जुन के हाथो उसे प्राण-संकटकारी आघातों को सहना पडता है। जब वह देखता है कि अब किसी प्रकार मेरे प्राण बचने को नहीं, तो अंत मे ब्रह्मास्त्र का प्रयोग करता है। अर्जुन का हृदय उसके हाथों में ब्रह्मास्त्र देखकर शंकित होता है—यदि अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र की रोक वह भी ब्रह्मास्त्र से नहीं करता तो उसे अपने प्राणों से भी हाथ धोने पडते हैं, मणि प्राप्ति की बात दूर रही और यदि वह भी ब्रह्मास्त्र को चलाकर अश्वत्थामा के प्रयोग को निष्फल कर देता है तो उस श्यामल आर्यभूमि मे युग भर के लिए मरुस्थल का दृश्य लाने वाला वह बनता है। कुछ समय तक अर्जुन सोचता रहा, अंत में वह भी ब्रह्मास्त्र के प्रयोग पर आ गया। चारों ओर हा-हाकार मच गया। स्वयं वेदव्यास दौड़े आये, बोले, यह क्या सर्वनाश ला रहे हो अर्जुन! विश्व-रक्षा को दृष्टि मे रखते हुए ब्रह्मास्त्र का दुरुपयोग तो मत करो। अश्वत्थामा से भी कहा—गुरु द्रोण का नाम कलंकित मत करो। ब्रह्मास्त्र के प्रयोग से इस पवित्र भूमि को विनष्ट मत करो। वेदव्यास की बातों को हृदयं-

गम कर अर्जुन तो अपना अस्त्र लौटाने को तैयार हुआ, किन्तु अश्वत्थामा ने बताया—उसे अस्त्र लौटाने की क्रिया का ज्ञान नहीं है वह क्या करे ? ब्रह्मास्त्र तो बलि लेगा ही, जन कल्याण से भीरु द्वापर के राज-सत्ता लोभी ने हृदय-त्याग का परिचय दिया। अर्जुन को कहना पड़ा—अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से परीक्षित, गर्भस्थ परीक्षित का विनाश मैं सह लूँगा। परीक्षित उत्तरा के गर्भ में जीवनहीन हो गया जन कल्याण की छाई घटा दूर हो गई। शोक है कि आज का स्वार्थी राजनीतिज्ञ इतना त्याग भी अपना नहीं सकता।

तो एक शब्द में कहना पड़ेगा—आज के वैज्ञानिक अभिशाप के उत्तरदायी राजनीतिज्ञ हैं। एक मार्मिक और निष्पक्ष विवेचना में यह बात अस्पष्ट नहीं रह जायगी कि आज भी वास्तविक दोष विज्ञान की अद्भुत शक्तियों के प्रयोग करने वाले कुटिलहृदय राजनीतिज्ञों का है, अनुसंधानकर्ता वैज्ञानिकों का नहीं। हिरोसिमा और नागासाकी में प्रलय ढाने वाले अमेरिका के नर-राक्षस राजनीतिज्ञ ही कहे जायेंगे।

सन् १९५० के नोविल पुरस्कार विजेता और विश्व के महान् दर्शनिक बरट्रेंड रसल का अभिमत है कि मनुष्य अपनी कलुषता में पवित्र को भी अपवित्र कर रहा है। जीवनदायिनी शक्ति को मनुष्य ही जीवननाशिनी बना रहा है। मनुष्य ही प्रधान कारण है कि विज्ञान संसार को सर्वनाश की ओर ले जा रहा है, अन्यथा यह आशा व्यर्थ नहीं कि विज्ञान इस कष्टपूर्ण संसार की काया-पलट कर दे और सबके लिए एक नए सुखदायक और शक्तिशाली सर्ग को जन्म दे। यह भावना एक व्यर्थ का स्वप्न नही है, वास्तविकतापूर्ण विचार है। यदि मनुष्य चाहे तो शांति स्थापना के बाद विश्व में वैज्ञानिक अनुसंधान का प्रभाव बौद्धिक कार्यक्रम का रूप ले सकता है।

निष्कर्ष रूप में कोई भी विचारशील व्यक्ति यह स्वीकार करेगा कि विज्ञान मनुष्य-जगत् के लिए अभिशाप तो किसी अवस्था में नहीं है, मनुष्य चाहे तो वरदान रूप में उसका प्रयोग कर सकता है। द्वितीय महायुद्ध की चिनगारी अभी बुझी नहीं है, फिर भी तृतीय महायुद्ध की गूंज सुनाई पड़

रही है। आए दिन हाइड्रोजन और नाइट्रोजन बम की व्यवस्था सुनाई पड़ती है। अपने को सभ्यता का पुजारी बताने वाला अमेरिका हाइड्रोजन बम की भीषणता बताकर संसार को भयत्रस्त करने का प्रयोग चला रहा है—इसका दोष किसे दिया जाय?

शांति का कपोत विश्व व्योम में निसंबल उड़ रहा है, हमारे लिए जीवन का गान प्रस्तुत करना उसका काम है। अपना कर्तव्य तो हमें सोचना है कि उसे मंगल गान के गायक रूप में विमुक्त उड़ने दें, या उसे पृथ्वी पर मार गिराएं। विज्ञान हमें इसके लिए प्रेरित नहीं करता है कि हम अशांति के कारण बनें। वह तो उस बिन्दु पर हमें पहुँचाता है, जहां हमारा मस्तिष्क विकास प्राप्त करता है।

—

# रचना-तत्त्व

## १. विशेषण निर्माण

| मूल शब्द | विशेषण | मूल शब्द | विशेषण |
|---|---|---|---|
| अंग | आंगिक | चमत्कार | चामत्कारिक |
| वाच् | वाचिक | विचारना | विचारक |
| काय | कायिक | सिद्धान्त | सैद्धान्तिक |
| सत्व | सात्विक | भूख | भूखा |
| अस्मद् | मदीय | धोना | धोबी |
| तद् | तदीय | प्रवेश | प्रविष्ट |
| मल | मलिन | भय | भयानक |
| तालु | तालव्य | मोह | मुग्ध |
| ओष्ठ | ओष्ठ्य | समाज | सामाजिक |
| पुराण | पौराणिक | नरक | नारकीय |
| मन | मानसिक | नारद | नारदीय |
| मुख | मौखिक, मुखर | स्वर्ग | स्वर्गीय |
| इतिहास | ऐतिहासिक | माया | मायावी |
| शरीर | शारीरिक | तपः | तपस्वी |
| वेद | वैदिक | विद्या | विद्यार्थी |
| दर्शन | दार्शनिक | देना | दानी |
| पूजा | पुजारी, पूज्य | गाना | गवैया |
| अड़ना | अड़ियल | रंग | रंगीला |
| विष्णु | वैष्णव | पिता | पैतृक |
| स्मृति | स्मार्त | दूध | दूधिया |
| शिव | शैव | मास | मासिक |
| ब्रह्म | ब्राह्म | दिन | दैनिक |
| कमाना | कमाऊ | सप्ताह | साप्ताहिक |

| मूल शब्द | विशेषण | मूल शब्द | विशेषण |
|---|---|---|---|
| पक्ष | पाक्षिक | नाश | नष्ट |
| वर्ष | वार्षिक | हित | हितैषी |
| रचना | रचित | आचार | आचार, निष्ठ-हीन |
| निज | निजी | अध्यात्म | आध्यात्मिक |
| ठहरना | स्थित | भूत | भौतिक |
| अवयव | अवयवी | पृथ्वी | पार्थिव |
| नीति | नैतिक | जल | जलीय |
| कल्पना | काल्पनिक | नाम | नामी |
| स्वभाव | स्वाभाविक | साहस | साहसी |
| देश | देशीय | शोध | शुद्ध |
| विदेश | विदेशीय | आधार | आधारित |
| मद | मत्त | अपमान | अपमानित |
| विस्तार | विस्तृत | तिरस्कार | तिरस्कृत |
| मधु | मधुर | धर्म | धार्मिक |
| शरद | शारदीय | नाथ | सनाथ, अनाथ |
| शिक्षा | शिक्षित | अविराम | अविरत |
| विनय | विनीत | स्त्री | स्त्रैण |
| शरण | शरणागत | अतिथि | आतिथेय |
| हिंसा | हिंसक | अनुरोध | अनुरुद्ध |
| मुक्ति | मुक्त | आयोग | आयुक्त |
| भारत | भारतीय | अभियोग | अभियुक्त |
| आत्मा | आत्मीय | अनुग्रह | अनुगृहीत |
| अपेक्षा | अपेक्षित | आश्रय | आश्रित |
| नयन | अनयन | उपसर्ग | औपसर्गिक |
| आलस्य | आलसी | आगमन | आगत |
| सीमा | सीमित | अन्तर्देश | अन्तर्देशीय |
| अवस्था | अवस्थित | राष्ट्र | राष्ट्रीय |

| मूल शब्द | विशेषण | मूल शब्द | विशेषण |
|---|---|---|---|
| अन्तर्राष्ट्र | अन्तर्राष्ट्रीय | उदय | उदयी, उदयोन्मुख |
| अपहार | अपहृत | अस्त | अस्तंगत |
| आरंभ | आरब्ध | अभ्युदय | अभ्युदयी |
| निरीक्षण | निरीक्षक | आशा | आशान्वित |
| निगम | नैगम | अनुकृति | अनुकृत |
| आपत्काल | आपत्कालीन | पश्चिम | पाश्चात्य |
| विधि | विहित | पाखंड | पाखण्डी |
| निषेध | निषिद्ध | विरोध | विरुद्ध |
| निवृत्ति | निवृत्त | पाश | पाशित |
| अनुपात | आनुपातिक | बन्धन | बद्ध |
| पर्व | पार्वण | पावन | पावनी, पावक |
| दूरभाष | दौरभाषिक | चाल | चालित |
| संकेत | सांकेतिक | असुर | आसुरी |
| शिशिर | शैशिर | दानव | दानवी |
| विषाद | विषण्ण | पशु | पाशविक |
| मिट्टी | मटियाल | कर्म | कर्मण्य |
| देहली | देहलवी | गुणा | गुणित |
| मूर्धा | मूर्धन्य | विभाजन | विभक्त |
| स्वास्थ्य | स्वस्थ | मारना | मृत |
| श्रद्धा | श्रद्धालु | भवत् | भवदीय |
| अंत | अंतिम | प्रथम | प्राथमिक |
| अनुभव | अनुभवी | प्रादुर्भाव | प्रादुर्भूत |
| अस्त्र | निरस्त्र | सेना | सैन्य; सैनिक |
| शस्त्र | सशस्त्र | ग्राम | ग्राम्य |
| अभिषेक | अभिषिक्त | कुल | कुलीन |
| अनुमति | अनुमत | काम | कामुक |
| आसक्ति | आसक्त | पंक | पंकिल |
| | | जटा | जटिल |

| मूल शब्द | विशेषण | मूल शब्द | विशेषण |
| --- | --- | --- | --- |
| वरा | त्वरित | प्रज्ञा | प्रज्ञावान् |
| मांस | मांसल | अग्नि | आग्नेय |
| णय | प्रणयी | वायु | वायवीय |
| मेधा | मेधावी | जनपद | जानपद |
| स्वर्ण | स्वर्णिम | ध्यान | ध्यानी |
| तेज | तेजस्वी | पेट | पेटू |
| वर्च | वर्चस्वी | द्रव | द्रवित |
| ओज | ओजस्वी | इन्द्रिय | ऐन्द्रियिक |
| जीवन | जीवित | ईश्वर | ईश्वरीय |
| श्री | श्रीमान्,-मती | प्रेम | प्रेमी |
| पूर्व | पौरस्त्य | विश्वास | विश्वस्त |
| प्राची, प्राक् | प्राच्य | क्षण | क्षणिक |
| न्याय | न्यायी | धारना | धारित |
| विश्लेषण | विश्लेषणात्मक | हरना | हृत |
| संश्लेषण | संश्लेषणात्मक | अभिमान | अभिमानी |
| दर्शन | दर्शनीय | आदर | आदृत |
| श्रवण | श्रवणीय | ईर्ष्या | ईर्ष्यालु |
| जरा | जरठ | उद्यम | उद्यमी |
| ध्वंस | ध्वस्त | एक | एकाकी |
| ऋषि | आर्ष | घर | घरेलू |
| सूर्य | सौर | जिज्ञासा | जिज्ञासु |
| दिवा | दिव्य | दान | दानी |
| पथ | पथिक | मान | मानी |
| हृदय | हार्दिक | नगर | नागरिक |
| लोक | लौकिक | पर्वत | पर्वतीय |
| मानव | मानवीय | नोक | नुकीला |

| | | | |
|---|---|---|---|
| बुद्धि | बौद्धिक | इच्छा | इच्छुक |
| व्यवसाय | व्यावसायिक | शीत | शीतल |
| नभ | नभचर | विजय | विजयी |
| क्लेश | क्लिष्ट | संचय | संचित |
| अवमर्श | अवमृष्ट | लोभ | लोभी |
| राज | राजकीय | प्रगति | प्रगतिशील |
| चार | चौथा | उद्दीपन | उद्दीप्त |
| दो | दूसरा | तर्क | तार्किक |
| तीन | तीसरा | | |
| कलुष | कलुषित | | |

## २. भाववाचक संज्ञा-निर्माण

| | | | |
|---|---|---|---|
| युवा | यौवन | एक | एकाकीपन |
| सुकुमार | सौकुमार्य | गमन | गति |
| मधुर | माधुर्य | चलना | चाल |
| लवण | लावण्य | मारना | मार |
| मृदु | मार्दव | स्त्री | स्त्रीत्व |
| ऋजु | आर्जव | इन्द्रिय | ऐन्द्रियिकता |
| रोचक | रोचकता | पठन | पाठ |
| लघु | लघुता, लाघव | देव | देवत्व |
| कुशल | कौशल | अन्तर्जातीय | अन्तर्जातीयता |
| तरुण | तारुण्य | राष्ट्र | राष्ट्रीयता |
| महात्मा | माहात्म्य | संघ | संघटन |
| शूर | शौर्य | हारना | हार |
| कायर | कायरता | पापी | पाप |
| सुन्दर | सौन्दर्य | महान् | महत्ता |
| गुरु | गौरव, गरिमा | रोगी | रोग |

| | | | |
|---|---|---|---|
| स्वस्थ | स्वास्थ्य | घबराना | घबराहट |
| पालना | पालन | चौड़ा | चौड़ाई |
| करना | कार्य | लंबा | लंबाई |
| पावन | पावनता | मोटा | मुटापा |
| दानव | दानवता | ऊँचा | ऊँचाई |
| मानव | मानवता | चतुर | चातुर्य |
| पिशुन | पिशुनता | | |
| प्रवीण | प्रवीणता | चोर | चोरी, चौर्य |
| त्रिलोक | त्रैलोक्य | जड़ | जड़ता |
| | | तीव्र | तीव्रता |
| विशेष | विशेषता | दुर्जन | दौर्जन्य |
| पृथु | पृथुता | सुजन | सौजन्य |
| ईश्वर | ऐश्वर्य | पंडित | पांडित्य |
| | | धार्मिक | धार्मिकता |
| टिकना | टिकाव | | |
| अपना | अपनत्व | बड़ा | बड़ाई |
| अनुचित | अनौचित्य | बुद्धिमान् | बुद्धिमत्ता |
| निज | निजता | | |
| आस्तिक | आस्तिकता | मंद | मंदी |
| नास्तिक | नास्तिकता | मूक | मूकता |
| अच्छा | अच्छाई | भूखा | भूख |
| बूढ़ा | बुढ़ापा | मम | ममत्व, ममता |
| पढ़ना | पढ़ाई | मीठा | मिठास |
| लिखना | लिखावट | भला | भलाई |
| उचित | औचित्य | मनुष्य | मनुष्यता |
| कृतघ्न | कृतघ्नता | ठग | ठगी |
| कृत्रिम | कृत्रिमता | विषम | वैषम्य |

| | |
|---|---|
| शिशु | शैशव |
| सम | समता, साम्य |
| असमंजस | असमंजसता |
| वृद्ध | वार्धक्य |
| स्वाभाविक | स्वाभाविकता |
| लौकिक | लौकिकता |
| सरल | सरलता |
| प्रभु | प्रभुता |
| मित्र | मित्रता |
| बंधु | बंधुत्व |
| सुहृद् | सौहार्द |
| सखा | सख्य |
| आत्मीय | आत्मीयता |
| उग्र | उग्रता |
| विस्तृत | विस्तार |
| कृपण | कार्पण्य |
| सीमित | सीमा |
| चतुर | चातुर्य |
| विद्वान् | विद्वत्ता |
| भिन्न | भिन्नता |
| अन्यमनस्क | अन्यमनस्कता |
| स्वच्छ | स्वच्छता |
| मलिन | मलिनता |
| खिन्न | खिन्नता |
| धनवान् | धनवत्ता |
| बुद्धिमान् | बुद्धिमत्ता |

| | |
|---|---|
| खट्टा | खटास |
| गाना | गीत |
| तथा | तथ्य |
| यथार्थ | यथार्थता |
| आदर्श | आदर्शवाद |
| सन्नद्ध | सन्नद्धता |
| शान्त | शान्ति |
| करुणा | कारुण्य |
| खोजना | खोज |
| फैलना | फैलाव |
| चढ़ना | चढ़ाई |
| मानना | मनौती |
| समझना | समझ |
| सजना | सजावट |
| सुनना | सुनवाई |
| देखना | दिखाई |
| बोना | बुवाई |
| छापना | छपाई |
| बुनना | बुनाई |
| पहुँचना | पहुँच |
| मिलना | मिलावट |
| उड़ना | उड़ान |
| बोलना | बोली |
| बहुत | बहुतायत |
| छोटा | छुटपन |

| | | | |
|---|---|---|---|
| बच्चा | बचपन | पुरुष | पौरुष |
| लड़का | लड़कपन | प्रकट | प्रकाश |
| घाम | घमस | प्रतापी | प्रताप |
| अहं | अहंकार | विधि | विधान |
| पूज्य | पूजा | तल्लीन | तल्लीनता |
| यजन | यज्ञ | स्त्री | स्त्रीत्व |
| मृग | मृगया | अपहरण | अपहार |
| परिष्कृत | परिष्कार | व्यवहृत | व्यवहार |
| परिमार्जित | परिमार्जन | बलवान् | बलवत्त |
| दीन | दैन्य | मृदुल | मृदुलता |
| क्लीब | क्लैब्य | सृजन | सृष्टि |
| प्रयुक्त | प्रयोग | तत्पर | तत्परता |
| वत्स | वात्सल्य | सुधारना | सुधार |

## ३. विपरीतार्थक शब्द

| | | | |
|---|---|---|---|
| ह्रस्व | दीर्घ | सृष्टि | प्रलय |
| हित | अहित | संतुलन | असंतुलन |
| लाभ | हानि | सुअवसर | कुअवसर |
| कायर | वीर | हर्ष | खेद |
| अहिंसक | हिंसक | स्रष्टा | नाशयिता |
| परकीय | स्वकीय | स्पष्ट | अस्पष्ट |
| सरस | नीरस | संसर्ग | विसर्ग |

| | | | |
|---|---|---|---|
| सुभेद्य | दुर्भेद्य | श्लाघ्य | निंद्य |
| सूक्ति | दुरुक्ति | विभूषित | विदूषित |
| रुदन | हास | सर्वज्ञ | अल्पज्ञ |
| विशेष | सामान्य | संकोची | प्रगल्भ |
| व्यवहित | सन्निहित | विग्रह | संग्रह |
| संहार | समाहार | सविघ्न | निर्विघ्न |
| सर्ग | प्रतिसर्ग | निंदा | स्तुति |
| अपचय | संचय | समस्या | समाधान |
| विनाश | निर्माण | उलझन | सुलझन |
| रोग | स्वास्थ्य | जीवन | मरण |
| स्वार्थ | निःस्वार्थ | आवागमन | मुक्ति |
| सरल | वक्र-कठिन | स्थावर | जंगम |
| समष्टि | व्यष्टि | समीप | दूर |
| शान्त | अशान्त | संज्ञा | व्यामोह |
| शिष्ट | अशिष्ट | जड़ | चेतन |
| बहुल | विरल | स्वस्थ | अस्वस्थ |
| विकल | अविकल | संपद् | विपद् |
| वैधानिक | अवैधानिक | समृद्धि | दारिद्र्य |
| पोषण | शोषण | संधि | विग्रह |
| श्वेत | कृष्ण | आशा | निराशा |
| शूर | कातर | स्थायी | अस्थायी |
| सभ्य | असभ्य | सुसंवाद | दुसंवाद |
| वक्ता | मूक | सर्वोत्तम | सर्वाधम |
| विरोध | समर्थन | सद्गति | दुर्गति |
| स्वर्ग | नरक | स्वस्थ | अस्वस्थ |
| सिद्ध | असिद्ध | धृष्ट | विनयी |
| सदाचार | कदाचार, दुराचार | निकट | दूर |

| पूर्ण | अपूर्ण |
|---|---|
| उत्कर्ष | अपकर्ष |
| पूर्व | पश्चिम |
| प्राच्य | पाश्चात्य |
| नेता | अनुयायी |
| धर्मात्मा | पापी |
| नर | नारी |
| निर्णीत | अनिर्णीत |
| पुरातन | नवीन |
| पति | पत्नी |
| प्रगति | अधोगति |
| प्राचीन | अर्वाचीन |
| निभृत | प्रकट |
| निर्माण | विनाश |
| निर्मित | ध्वस्त |
| नग्न | आवृत |
| पतिव्रता | कुलटा |
| पुंश्चली | साध्वी |
| प्रकृति | विकृति |
| निश्चित | अनिश्चित |
| निर्गुण | सगुण |
| प्रसिद्ध | अप्रसिद्ध |
| विधि | निषेध |
| कृश | पुष्ट |
| सबल | दुर्बल |
| पुरुष | स्त्री |
| नियंत्रण | अनियंत्रण |

| श्लील | अश्लील |
|---|---|
| माता | पिता |
| प्रभु | दास |
| पालन | उल्लंघन |
| प्रत्यक्ष | अप्रत्यक्ष |
| परुष | कोमल |
| निंदित | प्रशस्त |
| धनवान् | निर्धन |
| जागरण | निद्रा |
| तटस्थ | पक्षस्थ |
| दास | स्वामी |
| पौरस्त्य | पाश्चात्य |
| निःसृत | प्रविष्ट |
| कुख्यात | प्रख्यात |
| प्रेम | घृणा |
| नियति | पुरुषार्थ |
| नश्वर | अनश्वर |
| आदान | प्रदान |
| पवित्र | अपवित्र |
| प्रौढ | शिशु |
| आयात | निर्यात |
| निर्जीव | सजीव |
| प्रस्तुत | अप्रस्तुत |
| मंगल | अमंगल |
| प्रकर्ष | अपकर्ष |
| मानवीय | अमानवीय |
| परिमेय | अपरिमेय |

| | | | |
|---|---|---|---|
| भव्य | अभव्य | लोभ | संतोष |
| प्रवर्तन | निवर्तन | शुचि | अशुचि |
| भय | अभय | लोलुप | संतुष्ट |
| परा | अपरा | शुष्क | आर्द्र |
| भैरव | मधुर | लौकिक | अलौकिक |
| पुरोहित | यजमान | शृंखलाबद्ध | विशृंखल |
| भाव | अभाव | विवाहिता | कुमारी |
| बन्ध्या | पुत्रवती | सभ्यता | असभ्यता |
| भद्र | अभद्र | विनीत | उद्दण्ड |
| बहु | अल्प | साक्षर | निरक्षर |
| भक्ष्य | अभक्ष्य | विद्वान् | मूर्ख |
| बृहदाकार | सूक्ष्माकार | सधवा | विधवा |
| भूत | भविष्यत् | व्यापक | संकुचित |
| बली | निर्बल | विकास | ह्रास |
| दाता | भिक्षुक | विकसित | मुकुलित |
| अभोज्य | भोज्य | विवेक | अविवेक |
| बंधुता | शत्रुता | दिन | रात |
| भेद्य | अभेद्य | वैध | अवैध |
| बहिःसाक्ष्य | अन्तः साक्ष्य | मानी | मुखर |
| भीरु | निर्भीक | रति | विरति |
| भूषण | दूषण | महिमा | अणिमा |
| योगी | भोगी | गरिमा | लघिमा |
| मौलिक | अनूदित | रुचिकर | अरुचिकर |
| शक्त | अशक्त | राग | विराग |
| रंजन | उत्पीड़न | मृदु | कठिन |
| श्रान्त | विश्रान्त | यथार्थ | अयथार्थ |
| लंपट | संयमी | मार्दव | काठिन्य |
| शाकाहारी | मांसाहारी | योग | वियोग |

| | | | |
|---|---|---|---|
| पंडित | मूढ़ | क्षर | क्षार |
| मानुषी | अमानुषी | गिरि | रज |
| दाता | याचक | गद्य | पद्य |
| मूल्य | अमूल्य | द्रव | घन |
| मूर्त | अमूर्त | गौण | मुख्य |
| मोही | निर्मोही | मुखर | गंभीर |
| मित्र | शत्रु | गूढ़ | लघु |
| मुक्ति | बंधन | चपल | शान्त |
| उदार | अनुदार | क्षय | वृद्धि |
| ऐन्द्रिय | अतीन्द्रिय | प्रच्छन्न | प्रकट |
| अपकार | उपकार | जन्म | मृत्यु |
| औपचारिक | अनौपचारिक | आज | कल |
| कटु | मधुर | जय | पराजय |
| सपूत | कपूत | दिवा | रात्रि |
| हेय | उपादेय | द्वैत | अद्वैत |
| ग्राह्य | त्याज्य | दूरदर्शी | अदूरदर्शी |
| उपहार | अपहार | दान | प्रतिग्रह |
| कलियुग | सतयुग | संयोग | वियोग |
| कुलीन | अकुलीन | सुश्लेषण | विश्लेषण |
| कुपथ | सुपथ | दैवी | आसुरी |
| शाश्वत | क्षणिक | शीत | उष्ण |
| ऋजु | कुटिल | तार | मंद्र |
| एक | अनेक | ज्ञेय | अज्ञेय |
| ऐहिक | आमुष्मिक | दुष्कर | सुकर |
| एकत्र | सर्वत्र | दुर्लभ | सुलभ |
| दीर्घसूत्री | क्षिप्रकारी | दुर्गम | सुगम |
| कृतज्ञ | कृतघ्न | सम | विषम |

## ४. वाक्य संकोचन तालिका

१. चिरकाल से चली आती हुई परम्परा = रूढ़ि
२. जिसका नाम प्रातःकाल लिया जाय = प्रातःस्मरणीय
३. आय और व्यय की उचित व्यवस्था = लेखा
४. जो बात हृदय पर चोट करे = मर्मवेधी
५. जो व्यक्ति बोलने में चतुर हो = वाग्मी
६. जो व्यक्ति अधिक बोलता हो = वाचाल
७. जो प्रेम बच्चों के प्रति दिखाया जाय = वात्सल्य
८. जो प्रेम देश के प्रति दिखाया जाय = देश प्रेम
९. जो प्रेम ईश्वर के प्रति दिखाया जाय = ईश्वरभक्ति
१०. जो भिन्न-भिन्न जाति के माता-पिता की संतान हो = वर्णसंकर
११. जो विचार करने में असमर्थ = विचारमूढ़
१२. जो विचार न कर सके कि क्या किया जाय = किंकर्तव्यविमूढ़
१३. जो मांस खाने वाला हो = मांसाहारी
१४. जो शाक खाने वाला हो = शाकाहारी
१५. जो केवल दूध पर जीवित रहे = दुग्धाहारी
१६. जो मरना चाहे = मुमूर्षु
१७. जो मुक्ति पाना चाहे = मुमुक्षु
१८. ऐसी रचना जो कवि की अपनी रचना हो = मौलिक
१९. जिस को किसी अन्य भाषा से अनुवाद किया जाय = अनूदित
२०. जिस स्त्री का पति परदेश गया हो = प्रोषितपतिका
२१. जिस स्त्री का पति परदेश जा रहा हो = प्रवस्यत्पतिका
२२. जिस स्त्री का पति मर गया हो = विधवा
२३. जो अपने पति में भक्ति रखती हो = पतिव्रता
२४. जिस की पत्नी मर गई हो = विधुर

२५ वीर पुत्र को जन्म देने वाली स्त्री = वीरप्रसू
२६. जिन दो स्त्रियों का समान पति हो = सपत्नी
२७. जो स्त्री पति के साथ परलोक में जाय = सहगामिनी, सती
२८. जिस में स्त्रियों के गुण हों = स्त्रैण
२९. व्यभिचारिणी स्त्री = कुलटा
३०. जो स्त्री प्रियतम द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर जाय = अभिसारिका
३१. जिस भूमि मे जल का सर्वथा अभाव हो = मरुस्थल
३२. जिस भूमि के चारों ओर जल हो = द्वीप
३३. जो बात परम्परा से चली आती हो = वंशानुगत
३४. मोर की बोली = केका
३५. कोयल की बोली = काकली
३६. पक्षियों की बोली = कूजन
३७. हाथी का शब्द = चिंघाड़
३८. शेर का शब्द = दहाड़
३९. अलंकारों की आवाज = क्वणन
४०. भंवरों का शब्द = गुंजन
४१. जहां न जाया जा सके = दुर्गम।
४२. जिसे पराजित न किया जा सके = दुर्धर्ष
४३. जिसे कठिनाई से समझा जा सके = दुर्बोध
४४. जिसकी कोई उपमा न हो = निरुपम
४५. जो किसी आधार पर टिका न हो = निराधार
४६. जो शक्ति का पुजारी हो = शाक्त।
४७. जो विष्णु का पुजारी हो = वैष्णव
४८. जिस के छः मुख हों = षण्मुख
४९. जिस के चार पैर हों = चतुष्पद
५०. जिस के दस मुख हों = दशानन
५०. जो सब कुछ खा जाय = सर्वभक्षी

५०. जो सब कुछ जानता हो = सर्वज्ञ
५१. जो थोड़ा जानता हो = अल्पज्ञ
५२. जो सब से द्वेष करे = सर्वद्वेषी
५३. जिस का कोई शत्रु पैदा न हुआ हो = अजातशत्रु
५४. जिसे सब प्यार करें = सर्वप्रिय
५५. जिसे सब मानते हो = सर्वमान्य
५६. जो सब में प्रमुख हों = सर्वप्रधान्
५७. जो सब जगह वर्तमान हो = सर्व व्यापक
५८. जो एक युग से सम्बन्धित हो = एकयुगीन
५९. जो सब युगों से सम्बन्धित हों = सर्वयुगीन
६०. समय के अनुकूल होने वाला कार्य = सामयिक
६१. सब देशो से संबंध रखने वाला = सार्वदेशिक
६२. सम्पूर्ण जनता से संबंध रखने वाला = सार्वजनिक
६३. जो आसानी से किया जा सके = सुकर
६४. जिसे आसानी से पाया जा सके = सुलभ
६५. जहाँ आसानी से जाया जा सके = सुगम
६६ जो बात कही न जा सके = अकथनीय
६७. जो निकम्मा हो = अकर्मण्य
६८. जहाँ जाया न जा सके = अगम्य
६९. जिसे पाया न जा सके = अप्राप्य
७०. जिसका जन्म न हुआ हो = अजन्मा
७१ जो सब शक्तियों से युक्त हो = सर्वशक्तिमान्
७२. जो मर न सके = अमर
७३. जो बूढ़ा न हो = अजर
७४. जिसकी आने की तिथि निश्चित न हो = अतिथि
७५. जो इन्द्रियों का विषय न हो = अतीन्द्रिय
७६. जो ईश्वर को न मानता हो = नास्तिक
७७. जो ईश्वर पर विश्वास रखता हो = आस्तिक

७८. जिसके वंश का पता न हो = अज्ञातपितृक
७९. जिसके नाम का पता न हो = अज्ञातनामा
८०. जिसका कोई नाम न हो = अनाम
८१. जिसे पहले कभी न देखा हो = अदृष्टपूर्व
८२. जिसके मां-बाप का ज्ञान न हो = अज्ञातपितृक
८३. जिसके कुल स्वभाव का पता न हो = अज्ञातकुलशील
८४. जिससा कोई दूसरा न हो = अद्वितीय
८५. जिसका निर्णय न हुआ ो = अनिर्णीत
८६. जिसको टाला न जा सके = अनिवार्य
८७. जो दूसरों के चलाये सम्प्रदाय का अनुगमन करे = अनुयायी
८८. गुरु के पास रह कर ही विद्या पढ़ने वाला। = अन्तेवासी
८९. जो कार्य विधान के विरुद्ध हो = अवैध
९०. जो बात होनी सम्भव न हो = असंभव
९१. जिसके कहने में लज्जा हो = अश्लील
९२. जो छूआ न जा सके = अस्पृश्य
९३. जिसे देखा न जा सके = अदृश्य
९४. जिसे सुना न जा सके = अश्रव्य
९५. बाहर से आये व्यक्ति का सत्कार = आतिथ्य
९६. बाहर से आया हुआ व्यक्ति = आगन्तुक
९५. किसी वंश का प्रवर्त्तक = आदि पुरुष
९८. किसी दूसरे के द्वारा लिखी हुई किसी की जीविनी = जीवन चरित्र
९९. अपनी जीवनी स्वयं लिखना = आत्मकथा
१००. स्वयं को मारने वाला = आत्मघाती
१०१. विदेश से वस्तु मंगाना = आयात
१०२. विदेश को वस्तु भेजना = निर्यात
१०२. पहले से अविद्यमान वस्तु का निर्माण = आविष्कार
१०३. किसी विषय में की जाने वाली खोज = अनुसन्धान
१०४. किसी पद को पाने की योग्यता का न होना = अनर्हता

१०५. जिस पद के लिए कोई वेतन न हो = अवैतनिक
१०६. वह नीति जिससे वस्तु का मूल्य कम किया जाय = अवमूल्यन
१०७. जो क्रिया में न लाया जा सके = दुष्कर
१०८. जो भूमि उपजाऊ न हो = ऊषर
१०९. जो भूमि उपजाऊ हो = उर्वरा
११०. वीर्य का नीचे जाना = अधोरेता
१११. वीर्य का ऊपर जाना = ऊर्ध्वरेता
११२. इस लोक से सम्बन्धित = ऐहलौकिक
११३. जो इस लोक से परे को वस्तु हो = अलौकिक
११४. जो परलोक से सम्बन्धित हो = पारलौकिक
११५. जिसका कोई मूल न हो = निर्मूल
११६. जिसे पढ़ा न जा सके = अपाठ्य
११७. जिसे बोला न जा सके = अवाच्य
११८. जिस में कोई विकार न हो = अव्यय
११९. जो भोजन प्रातःकाल किया जाय = प्रातराश
१२०. ऊंचे कुल में उत्पन्न = कुलीन
१२१ जो किये उपकार को माने = कृतज्ञ
१२२. जो किये उपकार को न माने = कृतघ्न
१२३. जनता में कर्ण-परम्परा से फैली बात = किंवदन्ती
१२४. जो वस्तु खान से निकले = खनिज
१२५. जो अंडे से पैदा हो = अंडज
१२५. प्रजा का राज = गणतंत्र, प्रजातन्त्र
१२७. किसी हानि को पूरा करने के लिए दिया जाने वाला धन = क्षतिपू
१२८. इन्द्रियों से ज्ञेय वस्तु = गोचर
१२९. जिस भूमि पर गाय या अन्य पशु चरें = गोचर
१३०. एक ही स्थान से सम्बन्ध रखने वाला = स्थानीय
१३१. जो स्वयं जन्म ले = स्वयंभू
१३२. जो चारों ओर व्याप्त हो = परिभू

१३३. जो सर्वथा क्रिया रहित हो = निष्क्रिय
१३४. दूसरे के काम में हाथ डालना = हस्तक्षेप
१३५. जो दूसरे का हित चिन्तन करे = हितैषी
१३६. जिसके पास कुछ न हो = अकिंचन
१३७. जो थोड़ा जानता हो = अल्पज्ञ
१३८. जो जीव रेंग कर चले = सरीसृप
१३९. जो शीघ्र प्रसन्न हो जाय = आशुतोष
१४०. जो शीघ्र कविता करे = आशुकवि
१४१. जो सब कुछ गंवाने वाला हो = सर्वहारा
१४२. जो प्रयोग व्यर्थ न जाय = अमोघ
१४३. विधान बनने वाला कानून = विधेयक
१४४. जो किसी विषय का विद्वान् हो = विशेषज्ञ
१४५. सम्पूर्ण संसार को अपना समझने की भावना = विश्वबंधुता
१४६. दो राज्यों के मध्य चलने वाला अघोषित युद्ध = शीतयुद्ध
१४७. जो अपने परिश्रम से निर्वाह करे = श्रमजीवी
१४८. जिसका क्षेत्र बहुत छोटा हो = संकीर्ण
१४९. जहां पिछला समाप्त होकर नया युग प्रारम्भ हो = संक्रमणकाल
१५०. जो रोग स्पर्श से फैले = संक्रामक
१५१. ऐसा स्थानीय शासन जो जनता के हाथ में हो = स्वायत्त शासन
१५२. जिसका हाथ किसी कार्य के करने में अभ्यस्त हो = सिद्धहस्त
१५३. संसद् में अपने दल का उत्तरदायी = सचेतक
१५४. जो एक साथ पढ़े हों = सहपाठी
१५५. किसी बात को संक्षेप में कहना = समास
१५६. इधर उधर फैले हुए विषयों को एकत्र करना = समाहार
१५७. पारिश्रमिक रूप से लिया जाने वाला धन = शुल्क
१५८. जिस व्रत मे कुछ भोजन न लिया जाय = निराहार
१५९. जिसमें किसी प्रकार का विकार न हो = निर्विकार
१६०. जिसको कोई भ्रम न हो = निर्भ्रान्त

१६१. देश से किसी व्यक्ति का निकालना = निर्वासन
१६२. जो दूसरों के दोष ही खोजता रहे = परछिद्रान्वेषी
१६३. पथ का भोजन = पाथेय
१६४. जो प्रत्येक विषय पर समान अधिकार रखता हो = सर्वतंत्रस्वतंत्र
१६५. पितामह से चली आती सम्पत्ति = पैतृक
१६६. सद् और असद् का ज्ञान कराने की शक्ति = बुद्धि
१६७. नये अर्थ का ज्ञान कराने वाली बुद्धि = प्रतिभा
१६८. जिसे तुरन्त उत्तर सूझे = प्रत्युपन्नमति
१६९. योग्य अधिकारी न होते हुए भी अपने को मानना = दंभ
१७०. जो सुख दुख में मन की स्थिरता न खोये = धीर
१७१. एक देश से दूसरे देश मे ले जाने वाला पत्र = पार पत्र
१७२. प्राचीन इतिहास की खोज संबंधी विद्या = पुरातत्त्व विद्या
१७३. दूसरों के आरोपों का खंडनकर्ता = प्रतिवादी
१७४. जो मानव होकर भी पिशाच हो = नरपिशाच
१७५. भाग्य पर विश्वास करने वाला = नियतिवादी
१७६. आत्मा और परमात्मा के विषय पर विचार करने वाला = अध्यात्मवादी
१७७. किसी वस्तु को दूसरे के पास जमा करना = निक्षेप
१७८. जिस भोजन में मांस न हो = निरामिष
१७९. दर्शन शास्त्र में पारंगत = दार्शनिक
१८०. जिसकी भुजाएँ लम्बी हों = दीर्घबाहु
१८१. लंबी आँखों वाला = दीर्घलोचन
१८२. प्रत्येक कार्य में विलंब करने वाला = दीर्घसूत्री
१८३. संसद् में दर्शकों के लिए निश्चित स्थान = दीर्घा
१८४. जिसका कोई आकार न हो = निराकार
१८५. शासन की बिखरी शक्ति को केन्द्र में लाना = केन्द्रीयकरण
१८६. गुप्त समाचारों के लिए नियुक्त व्यक्ति = गुप्तचर
१८७. जो कुछ जानने की इच्छा करे = जिज्ञासु
१८८. वर्षा सहित आने वाली आंधी = झंझावात

## ५—परस्परभिन्नार्थक शब्दमाला

१. तरणि=सूर्य
   तरणी = नौका।
२. तरल=द्रवणशील पदार्थ।
   चपल=चंचल।
३. गतानुगति=बिना सोचे-समझे किसी वस्तु के पीछे लग जाना।
   अनुकरण=नकल करना-पीछे चलना।
४. चरित=जीवन कथा, Biography।
   चरित्र = आचरण, Behaviour।
५. तत्कालीन = किसी काल विशेष से संबंधित।
   तात्कालिक = उसी समय की।
६. दान = सात्विक प्रवृत्ति से किसी वस्तु का देना।
   दक्षिणा = किसी पूज्य व्यक्ति को धर्मभाव से कुछ देना।
   उपहार=भेंट।
७. नद = बड़े-बड़े दरिया।
   नदी=छोटी-छोटी नदियाँ।
   कुल्या = नहर।
८. अनुसंधान=पहले से उपस्थित वस्तु की खोज
   आविष्कार = किसी नई वस्तु का निर्माण।
९. अंस = कंधा।
   अंश = भाग।
१०. उद्धार=किसी को गिरी अवस्था से उठाना।
   सुधार=किसी बिगड़े का सुधार करना
११. उन्मत्त = उन्माद (एक प्रकार का रोग) से पीड़ित।
   मत्त = किसी नशे से होने वाली पागलों की स्थिति।

१२. लोकोत्तर = इस संसार से ऊँचा, दिव्य ।
अलौकिक=इस संसार में असंभव ।

१३. असाधारण = जिस में साधारण से विशेषता हो ।
अस्वाभाविक=जो मनुष्य की प्रकृति के प्रतिकूल हो ।

१४. अज्ञ=जिसे कुछ ज्ञान न हो ।
मूर्ख=जो जड़ बुद्धि हो ।

१५. अनभिज्ञ=जिसे किसी वस्तु का अनुभव न हो ।
अज्ञान=जिस में बुद्धि का अभाव हो ।

१६. अस्त्र=जो किसी यन्त्र द्वारा चलाया जाय ।
शस्त्र=जो हाथ से समीपस्थ होकर चलाया जाय ।

१७. अर्पित=जो वस्तु छोटों की ओर से बड़ों को दी जाय ।
प्रदान=जो ,, बड़ों ,, ,, ,, छोटों ,, ,, ,, ।

१८. अहंकार=जो कुछ होवे, उससे अपने को अधिक मानना ।
अभिमान=किसी वस्तु मे अपने को बड़ा समझ कर दूसरों को छोटा मानना ।

१९. आधि=मानसिक पीड़ा ।
व्याधि=शारीरिक कष्ट ।

२०. आयु = सम्पूर्ण जीवन काल ।
अवस्था=जन्म से चलने वाली वर्षों की गणना ।

२१. आयास = किसी कार्य को पूरा करने की इच्छा ।
प्रयास=कार्य को समाप्त करने के लिए किये जाने वाला यत्न ।

२२. उल्लास = विजय की प्राप्ति से होने वाली प्रसन्नता ।
हर्ष = आनन्द की प्राप्ति पर होने वाली मानसिक क्रिया ।

२३. उत्साह = जिसके उत्पन्न होने पर काम करने की इच्छा होती है
उद्योग = [illegible] पूरा करने के लिए किया गया प्रयत्न ।

२४. उपादान = वह कारण सामग्री जिससे कोई पदार्थ बने ।
उपकरण = वह ,, ,, ,, ,, कार्य सिद्ध हो ।

२५. तीर = पानी से सटी हुई भूमि ।
 तट = समुद्र या नदी के पास की भूमि ।
२६. कलंक = निंदा के परिणाम स्वरूप प्राप्त होने वाला ।
 अपयश = यह कलंक के समान ही होता है, पर इसमें स्थायित्व पाया जाता है ।
२७. प्रेम = समान आयु वालों मे प्रीति ।
 प्रणय = स्त्री और पुरुष का प्रेम ।
२८. भक्ति = छोटो की बड़ों के प्रति प्रीति ।
 श्रद्धा = अच्छी बातो में विश्वास श्रद्धा कहाता है ।
२९. प्रार्थना = किसी इच्छा से प्रेरित होकर प्रार्थना की जाती है ।
 निवेदन = इस मे निष्काम भावना पाई जाती है ।
३०. मित्र = जिनकी सम क्रियाएँ हो ।
 सखा = जो समप्राण हो ।
३१. प्रमाद=जो अज्ञान वश अथवा जान-बूझ कर भूल हो ।
 भ्रम = असावधानी वश जो भूल हो जाय ।
३२. मन = संकल्प-विकल्प करने वाला मन होता है ।
 बुद्धि = करने अथवा न करने का निश्चय करने वाली बुद्धि होती है ।
३३. मुनि = धर्म तत्त्व वेता ।
 ऋषि = मन्त्रद्रष्टारः ऋषयः ।
३४. प्रलाप = अस्पष्ट शब्दो में प्रकट किये गये वाक्य ।
 विलाप = वाणी के द्वारा प्रकट किया हुआ शोक ।
३५. परिश्रम = शरीर और मन दोनो से किया गया कार्य ।
 श्रम=केवल शारीरिक शक्ति से किया गया कार्य ।
३६. ग्लानि = बुराई करने पर लज्जावश जो पश्चात्ताप होता है ।
 लज्जा = प्रकट होने के भय से बुरे कर्म मे प्रवृत्ति होना ।
३७. सहसा = ऐसी घटना, जिसकी एक पल पूर्व कल्पना भ. हो ।
 अकस्मात्=जिसके विषय मे यह न कहा जा सके कि वह कब और कहाँ हुआ, अकस्मात् कहाता है ।

३८. सन्तोष = जो कुछ मिल जाय, उसी में तृप्त हो जाना।
तृप्ति = इच्छा की पूर्ति को तृप्ति कहते हैं।
३९. सेवा = बड़ों की परिचर्या (खातिरदारी)।
शुश्रूषा = रोगी अथवा दुःखी की परिचर्या।
४०. सभ्यता = उन्नति और विकास के भौतिक साधन।
संस्कृति = मानसिक विकास की उच्चतम स्थिति।
४१. संघर्ष = मुठभेड़।
युद्ध = दो सेनाओं अथवा दलों में लड़ाई।
४२. सर्वजनीन = जनता का कल्याणकारी।
सार्वजनिक = सारी जनता से संबंधित।
४३. समीक्षा = किसी वस्तु के गुण दोषों का विवेचन करना।
विश्लेषण = अलग-अलग करना।
४४. सम्प्रदाय = धर्म के छोटे-छोटे भागों का नाम संप्रदाय होता है।
धर्म = नित्य एक रस रहने वाला।
४५. समवेदना = सहानुभूति।
संवेदना = हृदय के भाव या मनोविकार।
४६. सान्त्वना = आश्वासन।
धैर्य = धीरज।
४७. सूचना = समाचार
घोषणा = किसी निर्णय की सारी जनता को सूचना देना।
४८. समन्वय = परस्पर पृथक् बातों को एक स्थान पर लाना।
सामंजस्य = बेमेल वस्तुओं में संगति उत्पन्न करना।
४९. संकेत = इशारा।
निर्देश = किसी बात का पता देना।

२२. ऊंची दुकान फीका पकवान = केवल बाहरी टीपटाप।
२३. ऊँट के मुंह में जीरा = बहुत खाने वाले को थोड़ा चीज दे देना।
२४. एक अनार सौ बीमार = थोड़ी वस्तु के लेने वाले अधिक।
२५. एक करेला दूसरा नीम चढ़ा = बुरा होकर और भी बुराई करना।
२६. एक पंथ दो काज = एक काम के साथ दूसरा काम भी हो जाना।
२७. कोयले की दलाली में हाथ काले = बुराई करने में बुराई होती है।
२८. कौवा चला हंस को चाल, अपनी चाल भी भूल गया = दूसरों की नकल बुरी होती है।
२९. खरबूजे को देखकर खरबूजा भी रंग बदलता है = देखा देखी काम करना।
३०. खोदा पहाड़, निकला चूहा = काम करने पर थोड़ा लाभ।
३१. घर का भेदी लंका ढाये = जगत में घर की फूट बुरी।
३२. घर का जोगी जोगना, आन गांव का सिद्ध = घर में इज्जत नहीं होती।
३३. चार दिन की चांदनी, फिर अन्धेरी रात = थोड़े दिन का सुख।
३४. चोर की दाढ़ी मे तिनका = किसी बात को अपने ऊपर समझना।
३५. जल में रह मगर से बैर = किसी के आश्रय में रह कर उससे वैर करना।
३६. जिसकी लाठी उसकी भैंस = बलवान् की विजय होती है।
३७. जैसे कन्ता घर रहे, तैसे रहे विदेश = निकम्मे का घर या बाहर एक ही होता है।
३८. टेढ़ी उंगली से ही घी निकलना = सीधे होने से काम नहीं होता।
३९. डूबते को तिनके का सहारा = संकट मे थोड़ी सहायता भी बहुत होती है।
३९ (अ) ढाक के तीन पात = सदा एक सा रहना।
४०. तबेले की बला, बन्दर के सर = करे कोई, भरे कोई।
४१. तेल देखो तेल की धार देखो = हर एक काम को सोचकर करना।
४२. थोथा चना बाजे घना = सारहीन व्यक्ति ही बहुत बोलता है।
४३. दूध का [illegible] भी फूँकता है = किसी में हानि उठाकर फिर सावधानी बर्तना।
४४. धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का = कहीं का न रहना।

४५. न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेगी = काम करने के लिए कोई असभव शर्त लगा देना।

४६. न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी = झगडे की जड़ ही नष्ट कर देना।

४७. नाच न जाने आंगन टेढ़ा = काम न कर सकने पर फजूल बातें बनाना।

४८. नौ नकद न तेरह उधार = उधार के अधिक से नकद का थोड़ा लाभ अच्छा।

४६. पत्थर को जोक नहीं लगती = कठोर का हृदय नहीं पसीजता।

५०. बंदर क्या जाने अदरक का स्वाद = किसी वस्तु के गुण न जानना।

५१. बिल्ली के भागो छींका टूटा = कोई काम एक दम हो जाना।

५२. भागते चोर की लंगोटी ही सही = जहां किसी वस्तु की आशा न हो, फिर भी थोड़ी सी प्राप्त हो जाना।

५३. भैंस के आगे बीन बजानी = अज्ञानी के आगे उपदेश झाड़ना।

५४. मन चंगा तो कठौती मे गंगा = शुद्ध हृदय वाले के लिए घर में ही गंगा होती है।

५५. मान न मान मैं तेरा महमान = जबरदस्ती गले पडना।

५६. मुल्ला की दौड़ मस्जिद तक = सीमित काम व साधन।

५७. यह मुँह और मसूर की दाल = शक्ति से अधिक काम करना।

५८. रस्सी जल गई, पर बल न गया = नष्ट होने पर भी अकड़ न छोडना।

५६. राम राम जपना पराया माल अपना = मक्कारी करना।

६०. सौ सौ चूहे खाय के बिलारी बैठी जप को = सारी जिन्दगी पाप करके भक्त हो जाना।

६१. सांच को आंच नहीं = झूठे को भय नहीं।

६२. सांप मरे और न लाठी टूटे = काम भी हो जाय और हानि भी न होवे।

६३. सिर मुंडाते ही ओले पड़ना = काम शुरू करते ही हानि हो जाना।

६४. सौ सुनार की एक लोहार की = बलवान् की एक ही चोट काफी होती है।

६५. हड़ लगे न फटकरी रंग चोखा हो = मुफ्त [illegible] अच्छा हो।

६६. हाथ कंगन को आरसी क्या = प्रत्यक्ष को क्या प्रमाण ?

६७. हाथी के दांत खाने के और, दिखाने के और = कहना कुछ और करना कुछ का कुछ।